भारतीय स्वाधीनता-संग्राम
का
इतिहास

इन्द्र विद्यावाचस्पति



१९६०
सस्ता साहित्य मंडल-प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

पहली बार : १९६०
मूल्य
छः रुपये

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक को पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हुए हमें जहां एक ओर हर्ष हो रहा है, वहां खेद भी। हर्ष इसलिए कि एक महत्वपूर्ण कृति पाठकों को प्राप्त हो रही है। खेद इसलिए कि पुस्तक के प्रकाशित होते-होते इसके विद्वान लेखक महायात्रा पर चले गए। उनकी बड़ी इच्छा थी कि पुस्तक जल्दी प्रकाशित हो जाय। अपनी मृत्यु के तीन दिन पूर्व उन्होंने हमें सूचित किया था कि यदि पुस्तक के छपे फर्मे हम उन्हें भिजवा दें तो वह इसकी भूमिका लिख दें। पर काल की गति को कौन जानता है! दूसरे ही दिन उनको ब्रांको-निमोनिया का हमला हुआ और वह एकाएक चले गए!

पुस्तक के लेखक से हिन्दी के पाठक भलीभांति परिचित हैं। वह न केवल अच्छे लेखक तथा पत्रकार थे, अपितु भारत के स्वाधीनता-संग्राम के एक प्रमुख सेनानी भी रहे थे। आजादी के लिए जितने आन्दोलन हुए, उन सबमें उन्होंने सक्रिय भाग लिया और कई बार जेल गये। इतना ही नहीं, अपनी वाणी, लेखनी तथा दैनिक पत्र के द्वारा आजादी के संदेश के व्यापक प्रसार में भी उन्होंने सहायता दी।

हमारे लिए निस्संदेह यह बड़े सौभाग्य की बात है कि लेखक ने परिश्रम-पूर्वक आजादी का यह इतिहास लिखकर पाठकों के लिए सुलभ कर दिया। सन् १८५७ की सुविख्यात क्रांति से आरंभ करके स्वाधीनता-प्राप्ति तक की सभी प्रमुख घटनाओं तथा आंदोलनों का इस पुस्तक में समावेश कर दिया है। वैसे इस विषय पर डा० पट्टाभि सीतारमैया का लिखा हुआ 'कांग्रेस का इतिहास' उपलब्ध है, लेकिन इस पुस्तक का अपना महत्व है। इसमें विस्तारों से यथासंभव बचने का प्रयत्न किया गया है, साथ ही इस बात की सावधानी भी रक्खी गई है कि कोई भी महत्व-पूर्ण घटना छूटने न पाये।

पुस्तक की दूसरी विशेषता इसकी प्रामाणिकता है। जो कुछ सामग्री लेखक ने इसमें दी है, उसके चुनाव और वर्णन में उन्होंने एक इतिहासज्ञ की दृष्टि रक्खी है। अतः यह पुस्तक स्थायी महत्व की है।

हमें आशा है, पाठक इस पुस्तक को उपयोगी पायेंगे और इसके प्रचार एवं प्रसार में सहायक होंगे।

—मंत्री

विषय-सूची

भारतीय
स्वाधीनता-संग्राम का इतिहास

: १ :

सत्तावन की क्रान्ति का सिंहावलोकन

सन् सत्तावन की राज्य-क्रान्ति भारत में ब्रिटिश राज्य-काल की सबसे बड़ी घटना थी। अधिकतर अंग्रेज लेखकों ने, और उनके जादू से प्रभावित भारतीय लेखकों ने भी, उस घटना को 'म्युटिनी आव दि इण्डियन आर्मी—सिपाही विद्रोह या ग़दर' का नाम देते हुए यह सम्मति प्रकट करने का दुःसाहस किया है कि सन् '५७ का ग़दर एक असफल विद्रोह था।

हम इन दोनों सम्मतियों को सचाई के सर्वथा विरुद्ध मानते हैं। सन् ५७ का विद्रोह केवल सिपाहियों का उत्पात नहीं था, और वह निष्फल भी नहीं हुआ। वह एक विशाल क्रान्ति का पूर्वार्द्ध था, और इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं कि वह एक अंश में पूर्णरूप से सफल हुआ।

पहले इस प्रश्न पर विचार कीजिये कि क्या वह केवल बंगाल आर्मी की कुछ टुकड़ियों का उत्पात था? जो दावानल जंगल को जलाकर भस्मसात् कर देता है, उसका प्रारम्भ एक छोटी-सी चिनगारी से ही होता है। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का सूत्रपात पेरिस के उन उपद्रवों से हुआ था, जो अन्न की कमी के कारण उत्पन्न हुए थे। सन् ५७ की क्रान्ति का प्रारम्भ उन उपद्रवों की अपेक्षा बहुत बड़ा था। मेरठ की चिनगारी ने दो ही दिनों में दिल्ली पहुंचकर विशाल रूप धारण कर लिया। ११ मई को दिल्ली में अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध लड़नेवाले केवल सिपाही ही नहीं थे, दिल्ली की जनता भी उनमें सम्मिलित थी।

जून का महीना आरम्भ होते-होते मेरठ की चिनगारी कई केन्द्रों में धधकती हुई आग के रूप में परिणत हो गई थी। यदि वह केवल विद्रोह ही था, तो भी उसमें नवाब, राजा, सिपाही और सर्वसाधारण प्रजा—सभी हिस्सेदार बन गए थे। लखनऊ या झांसी के युद्धों के विषय में केवल इतिहास से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति ही यह कह सकता है कि उनमें केवल बंगाल आर्मी के कुछ विद्रोही सिपाही लड़ रहे थे। जो कुछ लखनऊ या झांसी में हुआ, वही क्रान्ति द्वारा प्रभावित सब प्रदेशों में हुआ। अंग्रेजी सेनाओं को गांवों और शहरों में भारत की जनता से लड़ना पड़ा—केवल सिपाहियों से नहीं। स्पष्ट है कि ऐसी दशा में सन्

सत्तावन के विद्रोह को केवल सिपाहियों का ग़दर कहना सत्य का अपलाप करना है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या वह क्रान्ति असफल हुई ?

अंग्रेज इतिहास-लेखक क्रान्ति के इतिहास को तात्या टोपे के बलिदान के साथ समाप्त करके अन्तिम सम्मति दे देते हैं कि इसके पश्चात् विद्रोह को सर्वथा दबा दिया गया, और देश में फिर से ब्रिटिश राज्य का जय-जयकार होने लगा। अनेक भारतीय इतिहास-लेखक भी उनका अनुकरण करते हुए 'सिपाही विद्रोह' की निष्फलता के कारणों पर कुछ पंक्तियां लिखकर उस प्रसंग को समाप्त कर देते हैं।

कभी-कभी बहुत छोटी-सी बिन्दु की भूल से पहाड़-जितनी बड़ी भूल पैदा हो जाती है। इतिहास-लेखक तात्या की फांसी के साथ विद्रोह की कथा को समाप्त कर देते हैं, यही उनकी भूल है। विद्रोह की कहानी तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अन्त, विक्टोरिया के घोषणा-पत्र, और १८६१ के इण्डिया बिल के साथ समाप्त होती है। किसी भी राज-विद्रोह या राज्य-क्रान्ति की मारकाट का सिलसिला अमर नहीं होता। मारकाट तो क्रान्ति के नाटक का केवल एक अंक होता है—नाटक की पूर्ति तो अन्तिम परिणाम के साथ होती है। ५७ की क्रान्ति के अन्त में हम भारत की सारी काया को पलटा हुआ पाते हैं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी समाप्त हो चुकी थी, भारत का शासन इंग्लैण्ड की रानी ने संभाल लिया था, और संभालते हुए रानी ने भारतवासियों के नाम जो घोषणा प्रकाशित की थी, उसका कोई संवैधानिक महत्व हो या न हो, परन्तु वह भारतवासियों के प्रति एक नई भावना की सूचिका थी। उसमें सहृदयता का रस था, न्याय की आशा थी, और समान व्यवहार करने का आश्वासन था। वह राजनीतिक क्रान्ति तो थी ही, मानसिक क्रान्ति भी थी। यदि हम परिणाम को दृष्टि में रखते हुए सन् सत्तावन के विद्रोह पर सम्मति बनायें, तो हमें मानना पड़ेगा कि वह प्रारम्भिक दशा में चाहे सिपाहियों का विद्रोह रहा हो, पर अन्त में उसने एक प्रबल क्रान्ति का रूप धारण कर लिया था। वह क्रान्ति न केवल अपने तात्कालिक उद्देश्य में सफल हुई, वह एक सर्वतोमुखी व्यापक क्रान्ति को जन्म देने का कारण भी बनी।

हमारी सम्मति है कि ईसवी सन् १९४७ के १५ अगस्त के दिन जो राज्य-क्रान्ति पूर्णता को प्राप्त हुई, उसका सूत्रपात १ नवम्बर १८५८ को की गई रानी विक्टोरिया की घोषणा के साथ हुआ था।

सन् सत्तावन की राज्य-क्रान्ति अपने तात्कालिक उद्देश्य को सिद्ध करने में सफल हुई—इसका यह अभिप्राय नहीं कि हम सामरिक दृष्टि से उसकी असफलता को स्वीकार नहीं करते। १० मई १८५७ के दिन मेरठ में जो सैनिक विद्रोह आरम्भ हुआ, यदि कहीं देश की सामान्य दशा उसके अनुकूल होती, तो जो कुछ सन् १९४७ में हुआ, वह सन् १८५७ में हो गया होता। सोचकर देखिये कि उस समय सशस्त्र क्रान्ति को सफल बनाने के कितने कारण विद्यमान थे। यह सर्वसम्मत बात है

कि भारत को जीतकर अंग्रेजों के हाथों देने का अधिकतर श्रेय या अपश्रेय उस सेना को ही प्राप्त था, जिसे उस समय 'बंगाल आर्मी' के नाम से पुकारा जाता था। जब विद्रोह की आग भड़की, तो प्रतीत हुआ कि बंगाल आर्मी का बड़ा भाग उससे प्रभावित है। राज्य की रक्षा का मुख्य भरोसा सेना पर रहता है। उस समय की देशी सेनाओं का बहुत बड़ा भाग असन्तुष्ट था, अतः विद्रोह में सम्मिलित हो गया।

दूसरी बड़ी बात यह थी कि साधारण जनता के पास हथियार थे। प्रत्येक नागरिक चाहता तो सिपाही बन सकता था। यदि जनता हथियार लेकर खड़ी हो जाय, तो बड़े-से-बड़ा शक्तिशाली राज्य भी देर तक उसका मुकाबला नहीं कर सकता।

तीसरी, और सबसे बढ़कर महत्वपूर्ण बात यह थी कि उस समय भारत में ऐसे सैनिक नेताओं की कमी नहीं थी, जिनमें से एक को भी यदि अन्य अनुकूल परिस्थितियां मिल जातीं, तो वह महान्-से-महान् साम्राज्य के तख्ते को पलटकर रख देता। राना कुमारसिंह की युद्ध-कला ने कुछ समय के लिए अंग्रेज सेनापतियों को लट्टू की तरह घुमा दिया था। तात्या टोपे का नाम संसार के गुरिल्ला युद्ध करनेवाले सेनापतियों में सबसे पहले नम्बर पर लिखा जाने योग्य है। वह चतुर खिलाड़ी कई महीनों तक भारत में इंग्लैण्ड की सारी युद्ध-शक्ति की छाती पर मूंग दलता रहा—अन्त में पकड़ा गया, तो एक देशद्रोही के मित्र-द्रोह के कारण।[1] और सबसे बढ़कर, उस क्रान्ति के समय रानी लक्ष्मीबाई-जैसी वीरांगना विद्यमान थीं, जो न केवल स्वयं वीरों में वीर थीं, पर पत्थरों में जान डालने और कायरों को शूर बनाने की शक्ति रखती थीं। संसार के इतिहास के पन्नों में ढूंढ़कर देखो, तो लक्ष्मीबाई की उपमा मिलनी कठिन है। ये सब विभूतियां ऐसी थीं कि यदि अन्य परिस्थितियां अनुकूल होतीं, तो उनमें से एक-एक में राज्य पलट देने की शक्ति थी। परन्तु....



महारानी लक्ष्मीबाई

बस यहीं आकर तो भारतीय लेखक का दिल रो देता है। हम मानते हैं कि इतिहास-लेखक को भावनाओं से प्रभावित नहीं होना चाहिए, तो भी वह जब लिखने

---

१. तात्या टोपे की गिरफ्तारी और मृत्यु के बारे में मतैक्य नहीं है। इस सम्बन्ध में, और विद्रोह-सम्बन्धी अन्य जानकारी के लिए श्री हर्डीकर द्वारा लिखित और 'मंडल' द्वारा प्रकाशित 'अठारह सौ सत्तावन' पढ़नी चाहिए।

बैठता है, तब हृदय को किसी तिजोरी में बन्द करके नहीं रख सकता। हम इतना लिखे बिना नहीं रह सकते कि उस समय अनेक कारण ऐसे थे, जिन्होंने उन और उसी प्रकार की अन्य विभूतियों को शत्रुओं के हाथों कीड़े-मकोड़ों की तरह मर जाने दिया। यह देश का दुर्भाग्य था।

वे कारण कौन-से थे? संक्षेप में उन्हें हम पांच शीर्षकों के नीचे ला सकते हैं:

१. पहला कारण यह था कि क्रान्ति का क्षेत्र परिमित था। दक्षिण और पश्चिम के अनेक बड़े-बड़े प्रदेश उससे सर्वथा अप्रभावित रहे। पंजाब में थोड़ी-सी गड़बड़ अवश्य हुई, परन्तु अंग्रेजी सरकार को सिखों की सहायता मिल जाने से वह प्रान्त क्रान्ति के दायरे के बाहर हो गया था।

२. अंग्रेजी सरकार का सौभाग्य था कि ठीक उस समय अफगानिस्तान की ओर से उसे अभयदान मिल गया। अमीर दोस्त मुहम्मद ने दोस्ती को पूरी तरह निभाया। फलतः पश्चिमोत्तर की ओर से अंग्रेजी सरकार सर्वथा निश्चिन्त रही। नेपाल ने उदासीनता से आगे बढ़कर अंग्रेजों की सक्रिय सहायता की।

३. ये दो कारण तो थे ही, परन्तु इन सबसे अधिक प्रभावशाली कारण यह था कि क्रान्ति के नेता स्वयं नहीं जानते थे कि उनका अन्तिम लक्ष्य क्या है। मेरठ और दिल्ली के विद्रोहियों ने अन्य किसी की राय लेने से पहले ही बूढ़े बहादुरशाह को देश-भर का शहन्शाह उद्घोषित कर दिया था। यह बहुत ही मौलिक भूल हुई। देश के मराठे, सिख और गोरखे स्वभावतः इस निर्णय को पसन्द नहीं कर सकते थे। वस्तुतः क्रान्ति के प्रति सिखों और गोरखों की विरोध-भावना का यही मुख्य कारण था। स्वतन्त्र भारत का बादशाह मुगल-वंशज हो, यह बात भारत के थोड़े-से मध्य भाग को छोड़कर अन्यत्र स्वीकार नहीं की जा सकती थी। बहादुरशाह का बादशाह घोषित होना क्रान्ति की पहली राजनीतिक भूल थी।

उस भूल ने अन्य भूलों को जन्म दिया। कानपुर में नाना साहब पेशवा बन गए और अवध में वाजिदअली शाह के नाबालिग़ लड़के नवाब को गद्दी पर बिठा दिया गया। इन फुटकर घोषणाओं ने क्रान्ति का रूप सर्वथा विकृत कर दिया। वह राष्ट्र का उत्थान न होकर मरे हुए राजवंशों का पुनर्जन्म-सा बन गया, जो असम्भव था। देश के लिए अनुपयोगी होने के कारण जो राजवंश समाप्त-प्रायः हो चुके थे, उनके कन्धों पर खड़ी होकर क्रान्ति कैसे सफल हो सकती थी? अधिकतर नरेशों और रईसों की क्रान्ति के प्रति उपेक्षा का एक बड़ा कारण यही हुआ कि दिल्ली, कानपुर और लखनऊ के समाचारों ने देश के अन्य शासकों के हृदयों में अविश्वास और बेचैनी के भाव उत्पन्न कर दिये।

४. विद्रोह के सैनिक पराजय का एक बड़ा कारण यह था कि विद्रोहियों के शस्त्रास्त्र अंग्रेजी सरकार के सैनिकों की अपेक्षा घटिया थे। सिपाहियों की तोड़ेदार बन्दूकें अंग्रेजी सेना की बीच लोडर बन्दूकों का सामना कैसे कर सकती थीं?

अनुशासन में भी बहुत भेद था। अंग्रेजी सेना को संगीनों के वार में जो सफलता मिलती थी, वह अनुशासन के ही कारण थी। विद्रोही भारतीय सेनाओं में प्रायः कई शहरों और प्रान्तों से आये हुए परस्पर असम्बद्ध सिपाहियों का जमघट रहता था और अंग्रेजी सेना दृढ़ अनुशासन में बंधकर अपने अभ्यस्त सेनानियों की कमान में लड़ती थी। अंग्रेजी सेनाओं को एक बड़ा लाभ यह था कि वे डाक और तार से पूरा लाभ उठा सकती थीं, जिस सुविधा से विद्रोही सेनाएं सर्वथा वंचित थीं।

५. इन सब कारणों का परिणाम यह हुआ कि आदि से अन्त तक क्रान्तिकारियों की शक्ति बिखरी रही। क्रान्ति के प्रत्येक नेता को प्रायः अकेले ब्रिटिश सरकार की समूची शक्ति से लड़ना पड़ा। ऐसी दशा में सैनिक सफलता की आशा ही कैसे हो सकती थी? नेतृत्व में एकता का अभाव हो, तो संसार की बड़ी-से-बड़ी और वीर-से-वीर सेना भी परास्त हो जायगी।

ये थे सन् सत्तावन की राज्य-क्रान्ति की सामरिक हार के कारण। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि वह क्रान्ति क्रान्ति नहीं थी, या उसे राजनीतिक सफलता प्राप्त नहीं हुई। वह पहले दर्जे की राज्य-क्रान्ति थी और उसे राजनीतिक दृष्टि से असाधारण सफलता प्राप्त हुई। १८५८ के अन्त में राजनीतिक दृष्टि से वह भारत सर्वथा लुप्त हो चुका था, जो १८५७ के मई मास के आरम्भ में था। ५७ की क्रान्ति ने उसकी अन्तरात्मा में ऐसा भारी परिवर्तन कर दिया था कि लगभग एक सदी तक उसे दबाने की चेष्टा करके भी अंग्रेज सफल न हो सके। सन् १९४७ का राज्य-परिवर्तन सन् १८५७ की क्रान्ति की प्रेरणा का ही अन्तिम फल था।

: २ :

क्रान्ति के पश्चात

तात्या टोपे के बलिदान के साथ सशस्त्र क्रान्ति का अन्त हो गया; परन्तु उससे भी पूर्व, एक विशाल और गहरी विचार-क्रान्ति के अंकुर उत्पन्न हो चुके थे, जो लगभग एक शताब्दी तक, परिस्थितियों के अनुसार कभी मन्द गति से तो कभी तीव्र गति से बढ़ते हुए, २०वीं शताब्दी के आरम्भ तक वृक्ष-रूप में परिणत हुए और उसी शताब्दी के मध्य-काल तक पहुंचते-पहुंचते सफल भी हो गए।

हमें देखना चाहिए कि उस विचार-क्रान्ति का प्रारम्भिक रूप क्या था?

सन् ५७ के विद्रोह की सैनिक असफलता का एक कारण यह था कि देश के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में एकता और समन्वय का अभाव था, परन्तु इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं कि वह विद्रोह एकता की भावना को उत्पन्न करने का साधन भी बना। यह परिवर्तन दो कारणों से हुआ। एक कारण तो यह था कि यद्यपि विद्रोह का प्रारम्भ बैरकपुर की बारकों में हुआ था, तो भी वह शीघ्र ही भारत के उत्तरी और

मध्य प्रदेशों में फैल गया। फैलानेवाले थे या तो क्रान्ति के अग्रदूत साधु, फकीर और ब्राह्मण, अथवा वे असन्तुष्ट सिपाही, जो १० मई से बहुत पहले असन्तोष के बीज झोली में भरकर देश के कोने-कोने में बो आये थे। वह देश में राजनीतिक एकता की भावना का सूत्रपात था। उस भावना का मूल रूप इतना ही था कि फिरंगी (अंग्रेज) हमारे धर्म और अधिकारों के शत्रु हैं, उन्हें देश से निकालना प्रत्येक भारतीय का—हिन्दू और मुसलमान का—कर्तव्य है।

एकता की भावना को अंकुरित करने का दूसरा कारण था, विद्रोही सैनिकों और सेनापतियों का एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में यातायात और सम्मिश्रण। मेरठ में जिन सिपाहियों ने विद्रोह किया, उनमें अधिक संख्या पूरब के निवासियों की थी। अंग्रेज लोग उन्हें प्रायः 'पाण्डे' कहते थे। वे मेरठ से दिल्ली पहुंचकर मुसलमानों के सम्पर्क में आये। धीरे-धीरे वहीं अवध और रुहेलखण्ड के विद्रोही सैनिक इकट्ठे होने लगे, जिनमें हिन्दू भी थे, और मुसलमान भी। आगे चलकर नाना-साहब, झांसी की रानी, तात्या टोपे और राना कुमारसिंह के युद्धक्षेत्र में उतर आने पर मध्यभारत और बिहार के सैनिकों और सेनापतियों का परस्पर मिलना भी आरम्भ हो गया। पंजाब की कई छावनियां भी असन्तोष के दायरे में आ चुकी थीं। इस प्रकार विद्रोह से प्रभावित प्रदेशों के सिपाहियों में परस्पर और जनता से सम्पर्क तथा परिचय द्वारा सहानुभूति और समन्वय का एक ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया, जो राष्ट्रीय एकता की भावना को उत्पन्न करने का मुख्य कारण बना।

क्रान्ति से पहले—लगभग १०० वर्षों तक अंग्रेजों का रथ रणभूमि में आगे-ही-आगे बढ़ता गया था। उसके सामने जो आया, वह शीघ्र या विलम्ब में चकनाचूर हो गया। साम्राज्य की सीमाएं बढ़ते-बढ़ते पेशावर तक जा पहुंची थीं। इस विजय-यात्रा का भारतवासियों के हृदयों पर यह प्रभाव पड़ रहा था कि अंग्रेज अजेय हैं—उनको जीतना तो क्या, उनका सामना करना भी असम्भव है। ५७ की क्रान्ति ने इस मानसिक निर्बलता के किले की दीवारों को जड़-मूल से हिला दिया। हिन्दुस्तानियों ने अंग्रेज अफसरों को डोलियों पर चढ़कर भागते, डरकर हिन्दुस्तानियों के घरों में घुसते, प्राणों की भीख मांगते और मरते देख लिया। उन्होंने अंग्रेज सेनापतियों को राना कुमारसिंह, रानी लक्ष्मीबाई और वीर तात्या टोपे-जैसे सेनापतियों से मात खाते भी देख लिया। यह सब-कुछ देखकर उनका यह विचार बदल गया कि अंग्रेज हम लोगों से कोई ऊंचे, अजेय और अमर प्राणी हैं। उन्होंने उनका क्षुद्रतम रूप भी देख लिया। एक जाति की मनोवृत्ति में आमूल-चूल परिवर्तन करने के लिए वे दृश्य पर्याप्त थे।

भारतवासियों ने एक और चीज भी देख ली, और वह थी, अंग्रेजों की हिंसक मूर्ति। क्रान्ति से पूर्व भारतवासियों के सामने उनके दो रूप आते थे—व्यापारी का या योद्धा का। क्रान्ति में वे एक तीसरे—बदला लेनेवाले हिंस्र जन्तु के रूप में प्रकट हुए। गोरे सिपाहियों ने अपने सेनापतियों की अनुमति से विद्रोह से प्रभावित प्रदेशों की सामान्य निरीह प्रजा पर जो अत्याचार किये, उनकी जानकारी

सभी को है। विद्रोह को दबाने में लगे हुए अंग्रेज अफसरों के अपने बयानों और उस समय के अंग्रेज लेखकों की स्वीकारोक्तियों से उन अत्याचारों की पुष्टि हो चुकी है।

उस समय के अंग्रेज शासकों की मनोवृत्ति के कुछ दृष्टान्त निम्नलिखित हैं:

पेशावर में १० जून, १८५७ को कुछ हिन्दुस्तानी सिपाहियों को मृत्यु-दण्ड दिया गया था। जिन पर आरोप लगाया गया, उनकी संख्या १२० थी। पेशावर के बड़े अफसर एडवर्ड्स ने प्रान्त के मुख्य शासक सर जान लारेन्स से पूछा कि क्या उन सब अभियुक्तों को मृत्यु-दण्ड दे दिया जाय। सर जान के उत्तर का कुछ अंश मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। उसमें कहा गया था :

> "...हमारा उद्देश्य उन्हें (भारतवासियों को) डराकर एक दृष्टान्त कायम करना है। यह उद्देश्य सिद्ध हो जायगा, यदि हम उनमें से एक चौथाई से लेकर एक तिहाई तक की किसी संख्या को नष्ट कर दें। मैं चाहूंगा कि (नष्ट करने के लिए) उन लोगों को चुना जाय, जिनका सामान्य चाल-चलन खराब है, या जो उपद्रवी, असन्तोष फैलाने में अगुआ या २६ ता० से पहले अफसरों के सामने गुस्ताख रह चुके हैं। यदि इनसे नष्ट किये जानेवालों की आवश्यक संख्या पूरी न होती हो, तो सबसे बूढ़े सिपाहियों को भी शामिल कर दिया जाय।..." (के—भाग ६)

वैसा ही किया गया। स्पष्ट है कि उस समय के अंग्रेज शासकों की दृष्टि में मृत्यु-दण्ड किसी अपराध के लिए ही नहीं, मारे जानेवालों की संख्या पूरी करने के लिए भी सर्वथा उचित समझा जाता था।

एक अन्य आज्ञापत्र में सर जान ने लिखा था—"सबसे अधिक प्रभावशाली मृत्यु-दण्ड यह है कि उसे तोप के मुंह पर रखकर उड़ा दिया जाय।"

विद्रोह के सम्बन्ध में कैद किये गए भारतवासियों को तोप से उड़ाने का दृश्य देखकर उस समय के अंग्रेज भी दहल गए थे। एक पादरी की विधवा मिसेज़ कूपलैण्ड ने लिखा था :

> "युद्ध के बाद बहुत-से कैदियों को फांसी का दण्ड दिया गया। परन्तु जब देखा गया कि वे फांसी की परवाह नहीं करते, तो निश्चय किया गया कि उन्हें तोप से उड़ाया जाय।...एक अफसर का कहना था कि वह दृश्य बहुत वीभत्स था।...एक बेचारे का सिर (तोप से उड़कर) दूर जा पड़ा, जहां एक देखनेवाले के चोट लग गई।"

जो दण्ड विद्रोह के अपराधियों को दिये गए, उनका एक नमूना निम्नलिखित है :

पंजाब में कुछ अंग्रेज और सिख सिपाहियों ने मिलकर एक घायल कैदी को जीते-जी जला दिया। लेफ्टिनेण्ट मैजंडा को उसे देखने का अवसर मिला। वह तिलमिलाकर लिखता है:

"जलते और फटते हुए मांस की घिनौनी गन्ध आकाश में फैलकर वायु को विषैला बना रही थी—और यह इस १९वीं सदी में हो रहा था, जिसे अपनी सभ्यता और मानवता का अभिमान है कि एक मनुष्य आग में भुनकर मर रहा हो और अंग्रेज और सिख सिपाही टोलियां बांधकर चारों ओर से उसे देख रहे हों।"

रसल नाम के आयर्लैण्ड-निवासी ने 'टाइम्स' में जो लेख लिखे थे, उनमें उन अत्याचारों की चर्चा की थी, जो विद्रोह के दिनों में भारतवासियों पर गोरों की ओर से किये गए थे। उसने मारने से पहले मुसलमानों को सूअर की खाल में सीकर और सूअर की चर्बी पोतकर आग में जलाने और हिन्दुओं को अपवित्र करने की भी चर्चा की थी।

अंग्रेज सिपाही भारतीयों के प्रति अपनी निर्दयता का अभिमान करते न थकते थे। रौबर्ट्स ने १८५८ के फरवरी मास में अपनी बहन को लिखा था:

"प्यारी हेरियट, यह न समझना कि मैं विद्रोही सिपाहियों या बदमाशों पर दया दिखाता हूं। उल्टा मुझसे ज्यादा निर्दय शायद ही कोई होगा। जब कोई कैदी मेरे सामने लाया जाता है, तो मैं पहला व्यक्ति होता हूं, जो उसे फांसी का हुक्म सुनाता है।"

कानपुर को जीतने के पश्चात् जनरल नील ने अपने सहायकों को जो आज्ञा दी थी, उसका कुछ भाग निम्नलिखित है:

"कुछ उपद्रवी ग्रामों के बारे में निश्चय किया गया है कि उनका सर्वनाश कर दिया जाय और उनके सब निवासी मार दिये जायं। विद्रोही या बिगड़ी हुई सब रेजिमेण्टों के सिपाहियों को फांसी चढ़ाया जाय। फतहपुर गांव ने विद्रोह किया था, वहां के सब पठान निवासियों और उनके घरों को नष्ट कर दिया जाय।...यदि डिप्टी कलैक्टर पकड़ा जाय, तो उसे फांसी चढ़ा दो और उसका सिर काटकर शहर की किसी मुख्य इमारत के सामने टांग दो।"

इन अत्याचारों का भारतवासियों के हृदयों पर जो प्रभाव पड़ा, उसका कुछ अनुमान अवध की बेग़म के घोषणा-पत्र के निम्नलिखित शब्दों से लगाया जा सकता है:

"किसी ने स्वप्न में भी नहीं देखा कि अंग्रेजों ने किसी को क्षमा किया हो।"[1]

दिल्ली पर अधिकार करने के पश्चात अंग्रेज अफसरों तथा सैनिकों की ओर से दिल्ली के निवासियों और उनके घरों के साथ जो सलूक किया गया, उसका

---

१. मांटगुमरी मार्टिन—'राईज एण्ड प्रोग्रेस आव दि इण्डियन म्यूटिनी'।

कुछ विवरण कैम्ब्रिज के मि० पर्सिवल स्पियर की पुस्तक 'ट्वाईलाइट आव दि मुगल्स' के नीचे दिये गए उद्धरणों से मिलेगा:

"(विद्रोहियों के) सैनिक शासन के समय उन्हें अन्न की कमी और असुरक्षा तथा छीनाझपटी और लूट का सामना करना पड़ता था, परन्तु अंग्रेजों के पुनरागमन के पश्चात कुछ सप्ताहों तक वे शहर से सर्वथा बाहर निकाल दिये गये, और जो सामने आया, उसे मार दिया गया।" (परिच्छेद ११)

"मैनुद्दीन ने रिपोर्ट दी कि शहर में किसी व्यक्ति का जीवन सुरक्षित नहीं था। जो स्वस्थ शरीर का पुरुष देखा गया, उसे विद्रोही करार देकर गोली का शिकार बना दिया जाता था।"

दिल्ली के कमिश्नर की स्त्री मिसेज़ सौण्डर्स ने लिखा था—"आक्रमण के बाद कई दिनों तक जो भी नेटिव सिपाहियों के हाथ आता, विद्रोही करार देकर मार दिया जाता था।"

विद्रोहियों को दण्ड देने के लिए एक स्पेशल कमीशन बनाया गया था, जिसने २०२५ आदमियों को मृत्यु का या आजन्म कारावास का दण्ड दिया।

शहर की इमारतों पर भी गुस्सा उतारा गया। बड़ी-बड़ी सब मस्जिदों में गोरों की छावनियां बना दी गईं, लाल किले के चारों ओर ४४८ गज के घेरे के मकान तो गिरा ही दिये गए, कुछ थोड़ी-सी मुख्य इमारतों को छोड़कर लाल किले का अन्तर्भाग भी खाली कर दिया गया। खाली स्थान में सरकार की सेनाओं की बारकें बनाकर राजधानी पर अंग्रेजी राज्य की पक्की मुहर लगा दी गई। फौजों की और शासन की सुविधा के लिए शहर के कई अन्य भागों के मकान भी भूमिसात कर दिये गए।

उस समय अंग्रेजों का दिल्ली के मुसलमानों पर विशेष कोप था। यह आज्ञा प्रचारित कर दी गई थी कि केवल उन्हीं मुसलमानों को सरकारी नौकरियां दी जायं, जिनकी राजभक्ति प्रमाणित हो चुकी हो, शेष को नहीं। मुसलमानों की बहुत-सी जायदादें नीलाम कर दी गईं, जिन्हें नगर के अन्य निवासियों ने खरीद लिया। कहा जाता है कि फतहपुरी के पूर्व-दक्षिण का अधिकांश भाग उसी गर्दी में हस्तान्तरित हुआ था।

कई अंग्रेज लेखकों ने गोरों द्वारा किये गए नृशंसतापूर्ण अत्याचारों का समर्थन इस आधार पर किया था कि गोरे सिपाही विद्रोहियों द्वारा अंग्रेज स्त्रियों पर किये गए बलात्कारों और अत्याचारों के समाचारों से इतने विक्षुब्ध हो गए थे कि उन्हें अच्छे-बुरे का ज्ञान नहीं रहा था। उन दिनों इस प्रकार के सर्वथा निर्मूल झूठे समाचारों का प्रचार इंग्लैण्ड और भारत के अंग्रेजी अखबारों में खूब किया जाता था। जब परीक्षा की गई, तो वे सब आरोप मनगढ़न्त और मिथ्या निकले। परीक्षा अंग्रेजों ने ही की। उस समय भी ऐसे अंग्रेज थे, जिन्होंने न्यायबुद्धि को नहीं खोया और सत्य को प्रकट करने का साहस किया। उन सबने स्पष्ट रूप से यह मत प्रकट

किया कि सारे विद्रोह में एक भी ऐसी घटना नहीं हुई, जिसमें किसी अंग्रेज महिला से बलात्कार किया गया हो।

मि० जस्टिस मैकार्थी ने लिखा है:

"उन कहानियों से, जिनके बारे में प्रसन्नतापूर्वक कहा जा सकता है कि वे सर्वथा झूठी थीं, जिनमें स्त्रियों पर बलात्कार और शारीरिक अत्याचार करने की चर्चा है, लोगों के नैसर्गिक मनोविकारों में उत्तेजना पैदा हो गई...। सच्ची बात यह है कि चक्की पिसवाने को छोड़कर अंग्रेज स्त्रियों पर कोई सख्ती नहीं की गई। स्त्रियों पर कोई बलात्कार नहीं हुए, न किसी अंग्रेज स्त्री को नंगा किया गया, न किसी की बेइज्जती की गई और न जान-बूझकर किसीका अंग-भंग किया गया।"

१८५७ के दिसम्बर मास की ३० तारीख को मि० डब्लू म्यूर ने गवर्नर जनरल लार्ड केनिंग के पास एक मेमोरेण्डम भेजा था, जिसमें अंग्रेज स्त्रियों पर किये गए बलात्कारों की खबरों की जांच का परिणाम दिया गया था। मि० म्यूर ने जिन ऊंचे अंग्रेज अफसरों और पादरियों के बयानों के आधार पर रिपोर्ट की थी, वे अत्यन्त सम्मानित व्यक्ति थे। उनका इंग्लैण्ड और भारत दोनों देशों में मान था। फलतः उनकी रिपोर्ट को प्रामाणिक माना जा सकता है।

रिपोर्ट का सारांश यह है कि सारे देश में एक भी ऐसी घटना नहीं हुई, जिसमें किसी भारतवासी की ओर से अंग्रेज स्त्री से अपमानजनक व्यवहार या बलात्कार किया गया हो। एक सज्जन (मि० रीड) ने राय दी है कि हिन्दुस्तानियों को अंग्रेज औरतों का रंग बहुत बुरा लगता है, इस कारण वे अवसर मिलने पर भी उन पर बलात्कार नहीं करते। कुछ साक्षियों ने यह भी राय दी कि भारतवासियों की मनोवृत्ति स्त्रियों के सम्बन्ध में सौम्य है, इस कारण उन्होंने मेमों पर कुदृष्टि नहीं डाली। कारण कुछ भी समझा गया हो, परन्तु इस विषय में सभी साक्षी एकमत थे कि भारतीय सैनिकों द्वारा अंग्रेज स्त्रियों से न अपमानजनक व्यवहार किया गया और न उनपर बलात्कार किया गया।

ऐसी दशा में, सैनिक क्रान्ति को दबाने के पश्चात, अंग्रेज अफसरों की अनुमति से गोरे सिपाहियों ने न केवल विद्रोही सिपाहियों पर, अपितु साधारण प्रजा पर भी जो बर्बरतापूर्ण अत्याचार किये, जो अपमानजनक व्यवहार किये, और जो नृशंस हत्याएं कीं, वे भारतवासियों के हृदयों के अन्तस्तलों तक घुस गईं। ऊपर की लीपा-पोती, शब्दों का मायाजाल और प्रत्यक्ष में दीखनेवाली समृद्धि की आभा के आगामी लगभग १०० वर्ष भी उन गड़ी हुई कीलों को न निकाल सके। आगामी शताब्दी के राजनीतिक आन्दोलन में कटुता का जो अंश रहा, विद्रोह की ये विषैली स्मृतियां ही उसका कारण थीं। प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक लार्ड क्रोमर ने यही सब-कुछ सोचकर लिखा था:

"मैं चाहता हूं कि अंग्रेजों की नई पीढ़ी भारतीय सिपाही विद्रोह की शिक्षाओं और चेतावनियों से परिपूर्ण इतिहास को पढ़े, उसपर ध्यान दे, उससे शिक्षा ले और उससे प्राप्त शिक्षाओं को आत्मसात करे।"[1]

लार्ड क्रोमर ने जिन शिक्षाओं और चेतावनियों की ओर इशारा किया है, उनका परिचय 'टाइम्स' के विशेष संवाददाता मि० रसल के निम्नलिखित लेख से मिलता है:

"विद्रोहों ने दोनों जातियों में परस्पर बहुत तीव्र घृणा और विक्षोभ की भावनाएं उत्पन्न कर दी हैं। उनसे भारत पर जो बुरा प्रभाव पड़ा है, वह केवल शासकों के परिवर्तन से दूर नहीं हो सकता, क्योंकि जो मूलभूत बुराइयां हैं, भावनाएं तो उनके केवल बाह्य चिह्न हैं।"[2]

पढ़े-लिखे और अनुभवशील भारतवासियों के हृदयों पर क्रान्ति की सैनिक निष्फलता का जो प्रभाव हुआ और उसकी जो प्रतिक्रिया हुई, उनका कुछ अनुमान निम्नलिखित दो उर्दू पद्यों से लग सकता है।

बादशाह बहादुरशाह कवि था। उसका कविता का उपनाम 'ज़फर' था। विद्रोह की असफलता, दिल्ली की बरबादी और अपनी बेबसी से खिन्न होकर उसने निम्नलिखित शेर कहा था:

दमदमे में दम नहीं अब खैर मानो जान की।
ऐ ज़फर ठण्डी हुई शमशीर हिन्दुस्तान की॥

एक तेजस्वी नौजवान ने उसका उत्तर दिया था:

ग़ाज़ियों में बू रहेगी जब तलक ईमान की।
तब तो लन्दन तक चलेगी तेग़ हिन्दुस्तान की॥

इस उत्तर में जो जलन और तड़प है, वह उस कठोर व्यवहार का परिणाम थी, जो सैनिक क्रान्ति के दब जाने के पश्चात गोरों की ओर से भारतवासियों के साथ किया गया था।

प्रायः मनुष्य सुख में प्रमादी हो जाता है, और दुःख में पुरुषार्थी। हमारे देश की भी वही दशा हुई। सैनिक क्रान्ति की निष्फलता से समझदार भारत-

---

1 "I wish the young generations of English would read, mark, learn and inwardly digest the history of Indian Mutiny, it abounds in lessons and warnings."

2 "The mutinies have produced too much hatred and ill-feeling between the two races, to render any mere change of rulers is not a remedy for evils which effect India, of which those angry sentiments are the most serious exposition."

वासियों के हृदयों पर एक ठोकर लगी, जिससे अद्भुत जागृति उत्पन्न हो गई। पराधीनता की बेबसी के साथ-साथ उन्हें एक प्रकार की चेतना का अनुभव होने लगा। एक ओर उन्होंने देखा कि उनका देश राना कुमारसिंह, रानी लक्ष्मीबाई और तात्या टोपे-जैसे वीर और कुशल योद्धा उत्पन्न कर सकता है, तो दूसरी ओर उन्हें संगठन और साधनों के सामने अपनी बेबसी का अनुभव हुआ। यह अनुभूति उस राष्ट्रीय जागृति का मूल कारण बनी, जिसके विकास का इतिहास हम अगले पृष्ठों में अंकित करेंगे।

सन् सत्तावन की क्रान्ति ने देश में अनेक प्रकार की सुधारणाओं का सूत्रपात किया। विद्रोही सिपाहियों में तीन श्रेणियां मुख्य थीं। मराठे, पूरबिये ब्राह्मण और मुसलमान। ये सब एक लक्ष्य को सामने रखकर, और कन्धे-से-कन्धा मिलाकर महीनों तक लड़ते रहे। इससे जहां ब्राह्मण और अब्राह्मण के मध्य में खुदी हुई खाई भरने लगी, वहां राष्ट्र के नाम पर हिन्दू-मुसलमानों के मिलकर लड़ने का भी सूत्रपात हुआ। सिपाहियों के परस्पर मिश्रण और दूरस्थ प्रदेशों में आने-जाने से भाषा और भावों की एकता ने जन्म लिया। लक्ष्मीबाई के चमत्कारी व्यक्तित्व ने भारतीय स्त्रियों के सामने एक नया आदर्श रखा और क्रान्ति के दिनों में अन्तरिक्ष में फैले हुए 'निकालो फिरंगियों को' के घोष ने सन् १८५९ के आरम्भ में एक अव्यक्त अंग्रेज-विरोधी भावना को उत्पन्न कर दिया, जो 'वन्देमातरम्' और 'हिन्दू-मुसलमान की जय' आदि अनेक रूपों में परिणत होती हुई अन्त में 'क्विट इण्डिया—भारत छोड़ो' के उग्र रूप में प्रकट हो गई।

: ३ :

शासन का नया रूप

१ नवम्बर, १८५८ को लार्ड कैनिंग ने प्रयाग में जो घोषणा की, उसके दो भाग थे। पहले भाग में यह सूचना दी गई थी कि भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से ले लिया गया है, भविष्य में इंग्लैण्ड की रानी स्वयं भारत का शासन करेंगी। १८५८ के जिस ऐक्ट द्वारा यह परिवर्तन किया गया था, उसमें शासन के भावी संविधान की रूपरेखा का भी विधान था। वह ऐक्ट भी उसी समय प्रकाशित किया गया।

दूसरे भाग में महारानी विक्टोरिया का वह घोषणा-पत्र था, जो आगामी ४० वर्षों तक भारतवासियों की आशाओं का केन्द्र बना रहा।

उनमें से पहले हम १८५८ के उस ऐक्ट पर दृष्टिपात करेंगे, जिसे सरकारी भाषा में 'An Act for Better Government of India' कहा गया था। भारत के शासन के कम्पनी से निकलकर इंग्लैण्ड के राजमुकुट के

अधीन आने से जितना भेद शासन-यन्त्र के बाह्य रूप में आया, उतना आन्तरिक रूप में नहीं आया। भारत का राजनीतिक प्रबन्ध पहले भी चिरकाल से ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की अनुमति से ही होता था। एक मन्त्री था, जो 'सेक्रेटरी आव स्टेट फार इण्डिया' कहलाता था। शासन की बागडोर बहुत-कुछ उसी के हाथों में थी। १८५८ के ऐक्ट ने केवल इतना परिवर्तन किया कि उसकी शक्ति में वृद्धि कर दी। पहले वह भारत के गवर्नर जनरल का पथ-दर्शक था, अब उसके हाथ में भारत के शासन की लगाम दे दी गई।

सेक्रेटरी आव स्टेट को परामर्श देने के लिए एक कौन्सिल की योजना की गई, जिसके १५ सदस्य थे। यह कौन्सिल केवल परामर्श के लिए बनाई गई थी। सेक्रेटरी उस परामर्श को मानने के लिए बाधित नहीं था।

गवर्नर जनरल के साथ, राजा का प्रतिनिधि होने के कारण, 'वाइसराय' का एक और उप-पद लगा दिया गया। अन्य सब अधिकारी तथा कर्मचारी, जो कम्पनी के समय काम कर रहे थे, अपने-अपने पद पर प्रतिष्ठित रहे।


रानी विक्टोरिया

गवर्नर की कार्यकारिणी (Executive Council) के चार सदस्य थे, जिनमें से तीन न्यून-से-न्यून १० साल पुराने कर्मचारी और एक के बैरिस्टर होने का विधान किया गया था। प्रधान सेनापति (Commander-in-Chief), विशेष सदस्य माना गया और इन सभी का अंग्रेज होना आवश्यक था।

१८५३ में इन ५ में ६ और सदस्य जोड़कर एक विधान-निर्मात्री कौन्सिल (Legislative Council) की व्यवस्था कर दी गई थी।

विद्रोह के दमन के पश्चात रानी के घोषणा-पत्र के अनुसार 'लैप्स' के सिद्धान्त[1] को वापिस लेकर उस समय विद्यमान भारतीय नरेशों-नवाबों को अभयदान दे दिया गया था। उन्हें यह आश्वासन दे दिया गया कि उनके साथ तबतक जो सन्धियां या इकरारनामे किये जा चुके हैं, उनका पूरी तरह पालन किया जायगा। रियासत के अन्दर कुप्रबन्ध या उपद्रव की दशा में गवर्नर जनरल के हस्तक्षेप का अधिकार पूर्ववत कायम रखा गया था।

---

१. लैप्स का सिद्धांत (Doctrine of Lapses)—ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के लिए इस सिद्धांत को लार्ड डलहौजी ने निकाला था। इसके अनुसार निस्सन्तान मरनेवाले देशी नरेशों का राज्य ब्रिटिश भारत में मिला लिया जाता था; और उन्हें अपनी इच्छानुसार गोद लेने का अधिकार भी न था।

इस संविधान पर गहरी दृष्टि डालें, तो प्रतीत होगा कि भारत का शासन राजमुकुट के नीचे आ जाने से केवल बाहर के रूप में ही परिवर्तन हुआ, वस्तुतः प्रजा के अधिकारों की दृष्टि से कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। जो अधिकार पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी और सीक्रेट कौन्सिल को प्राप्त थे, वे, और उनसे भी कुछ अधिक अधिकार सेक्रेटरी आव स्टेट को प्राप्त हो गए। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी और विधान निर्मात्री कौन्सिलों के सब अंग्रेज सदस्य सेक्रेटरी आव स्टेट द्वारा निर्वाचित थे। शासन में प्रजा का न कोई भाग था और न शब्द। भारत का पूरा-पूरा शासनाधिकार इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट ने अपने हाथों में ले लिया था।

यह तो था नये शासन का असली रूप। उस पर जो मुलम्मा चढ़ाया गया, वह था रानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र। उसके निम्नलिखित अंश विशेष रूप से मोहक थे:

"हम अपने भारतीय प्रदेश के निवासियों के साथ अपने को कर्तव्य के उन्हीं बन्धनों से बंधा हुआ मानते हैं, जिनसे हम अपने अन्य प्रजाजनों से बंधे हुए हैं, और प्रभु की कृपा से हम उन कर्तव्यों को ईमानदारी से पूरा करेंगे।

"और हमारी यह भी अभिलाषा है कि जहांतक सम्भव हो, हमारे प्रजाजन—चाहे वे किसी जाति और धर्म के हों—यदि योग्यता, शिक्षा और ईमानदारी से उस काम को पूरा करें, जिस पर लगाये जायं, तो बिना किसी रोक-टोक या पक्षपात के हमारी (सरकार की) नौकरियों पर नियुक्त किये जायं। हमारी हार्दिक इच्छा है कि भारत के शान्तिमय शिल्प को बढ़ावा दिया जाय, सार्वजनिक उपयोगिता और उन्नति के कार्यों को प्रोत्साहित किया जाय और शासन-कार्य राज्य में रहनेवाले सब लोगों के हित के लिए किया जाय। प्रजाजनों की समृद्धि से ही हमारा बल बढ़ेगा, उनके सन्तोष से ही हमें सुरक्षा मिलेगी, और उनकी कृतज्ञता ही हमारा पारितोषिक होगा। हमारी सर्व-शक्तिमान प्रभु से प्रार्थना है कि वह हमें और जिन्हें हम शासनाधिकार में नियुक्त करें, उन्हें, ऐसा बल प्रदान करें कि हमारी प्रजा-हित की कामनाएं पूरी हो सकें।"

रानी विक्टोरिया के ये वाक्य वस्तुतः बहुत ही आशाजनक और मधुर थे, परन्तु ये वाक्य एक ऐसे देश की रानी की घोषणा के भाग थे, जहां राजा की शक्ति बहुत परिमित थी। रहस्य की बात यह थी कि ये वाक्य घोषणा के अन्तर्गत थे, पार्लियामेण्ट के ऐक्ट के अन्तर्गत नहीं। यह आवश्यक नहीं कि एक रिवाजी शासक की जो इच्छा हो, वही राष्ट्र की भी इच्छा हो। उस समय तक भारतवासी रानी की घोषणा और पार्लियामेण्ट के ऐक्ट के मौलिक भेद को नहीं समझे थे। इस कारण अंग्रेजी पढ़े-लिखे बहुत-से भारतवासियों का हृदय एक नई आशा से भर गया। पढ़े-लिखे लोगों की मार्फत छनता-छनता वह आशावाद किसी-न-किसी रूप में साधारण जनता में फैल गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत की प्रजा १९वीं

सदी के उत्तर भाग में क्रान्ति के अवसर पर लगे हुए आघातों को भूलकर उत्साह से जीवन के नये मार्ग पर पड़ गई। राजा और नवाब अपनी गद्दियों को सुरक्षित समझकर, पढ़े-लिखे लोग सरकारी नौकरियों और पदों की बाधा-रहित आशा से और साधारण प्रजाजन सुख और शान्ति से जीवन निर्वाह करने के भरोसे पर रानी विक्टोरिया के गुण गाने और जय मनाने लगे। नई आशा की उमंग में देश कुछ वर्षों के लिए विद्रोह की व्यथा को भूल-सा गया।



लार्ड कैनिंग

लार्ड कैनिंग को उस समय की अंग्रेज जनता व्यंग्य में 'दयालु कैनिंग (Clemency Canning) के नाम से पुकारती थी। इसका कारण यह था कि लार्ड कैनिंग ने विद्रोह का पूर्णरूप से दमन होने से पहले ही रानी की घोषणा के अभिप्राय के अनुसार विद्रोहियों के साथ नर्मी का व्यवहार जारी कर दिया था। साधारण अंग्रेज पूरा बदला लेने के पक्ष में थे। वे भारतवासियों से घृणा करते थे। अंग्रेजी सरकार का यह निश्चय समयानुकूल था कि यदि भारत को ब्रिटिश साम्राज्य का भाग बनाये रखना है, तो विद्रोह के घाव पर मरहम लगाना पड़ेगा, अन्यथा रोग बढ़ता जायगा। रानी की घोषणा में यही भावना ओत-प्रोत थी। लार्ड कैनिंग ने उस भावना को निभाने का भरसक प्रयत्न किया। इसमें सन्देह नहीं कि यदि उस समय ब्रिटिश सरकार सान्त्वना की नीति का प्रयोग न करती, तो विद्रोह की अग्नि अभी न जाने कितने समय तक सुलगती रहती।

इस प्रकार विद्रोह के राजनीतिक और सामरिक पहलू उस समय समाप्त हो गये, परन्तु एक ऐसा भी पहलू था, जो समाप्त होने की जगह उत्तरोत्तर बढ़ता गया। वह था आर्थिक पहलू। सामरिक और राजनीतिक अंश प्रत्यक्ष थे, इस कारण सामने आ गए, परन्तु आर्थिक पहलू परोक्ष होने के कारण उस समय आंखों से ओझल रहा। वस्तुतः वह बहुत महत्वपूर्ण और स्थिर प्रभाव उत्पन्न करनेवाला पहलू था। आगामी वर्षों में उसकी उग्रता निरन्तर बढ़ती गई, यहांतक कि बीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन और भारत में कटुता उत्पन्न करने का सबसे बड़ा कारण वही बन गया।

: ४ :

देश की तत्कालीन दशा

देशों की आर्थिक स्थिति का भवन इन चार स्तम्भों पर खड़ा होता है : (१) कृषि, (२) व्यापार, (३) कारीगरी और (४) अच्छा शासन। कम्पनी ने जिस समय भारत का शासन इंग्लैण्ड की रानी के हाथों में सौंपा, उस समय इन चारों स्तम्भों की जो दशा थी, यहाँ उस पर दृष्टिपात करना आवश्यक है, ताकि भविष्य में होनेवाले घटनाचक्र को भली प्रकार समझा जा सके।

भारत सदा से कृषि-प्रधान देश रहा है। प्रकृति की कृपा से इसके भिन्न-भिन्न प्रदेशों में जो जीवनोपयोगी वस्तुएं पैदा होती हैं, उनका यदि ठीक प्रकार से वितरण किया जाय, तो वह सब देशवासियों के लिए पर्याप्त हो सकती हैं, और किसान तो कभी भूखा मर ही नहीं सकता। अच्छे वर्षों में यदि वह कुछ बचाता रहे तो अकाल के समय को सुख से गुज़ार सकता है। भारत में वही शासन प्रजा के लिए सुखकारी समझा जा सकता है, जो भूमि-जीवियों अर्थात् कृषकों का शोषण न करे, और अन्न के विभाजन का ऐसा प्रबन्ध रखे कि आवश्यकता पड़ने पर अन्न की कमीवाले प्रदेशों में अन्नवाले प्रदेशों का फालतू अन्न पहुंचाया जा सके। भारत की कोई सरकार अपने कर्तव्य का पालन कर रही है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही समझा जाता है कि वर्षा के अभाव में देश के किसी भाग में अन्न का अभाव होने पर भी प्रजा मृत्यु का ग्रास बनने से बच जाय। कृत्रिम आंकड़ों या भ्रामक विवरणों की सहायता से यह सिद्ध करना आसान है कि कोई देश बहुत समृद्ध है। अपनी दशा का परिचय तब मिलता है जब देश की समृद्धि दुर्भिक्ष-जैसे संकट की कसौटी पर कसी जाती है। जब हम उस कसौटी पर कसकर देखते हैं तो हमें प्रतीत होता है कि १९वीं शताब्दी के मध्य में भारत के कृषकों की अवस्था बहुत शोचनीय थी।

१७७० ईस्वी में बंगाल में भयानक दुर्भिक्ष पड़ा। १८३३ में गुन्तूर और मस्लीपटम में भीषण अकाल पड़ा। कैप्टेन वाल्टर कैम्बल ने तहकीकाती कमेटी के सामने बयान देते हुए कहा था कि अन्न के अभाव में भूखे लोग कुत्तों और घोड़ों का मांस खाते थे। उसने एक बन्दर की घटना सुनाई कि वह अकेला शहर में चला गया तो लोग भूखे भेड़ियों की भांति उस पर टूट पड़े और उसके टुकड़े-टुकड़े करके खा गए। गुन्तूर में सारी आबादी का तीसरा भाग अकाल का शिकार हो गया था।

एक कृषि-प्रधान देश में, एक प्रान्त की अनावृष्टि से ऐसा भीषण विनाश तभी होता है यदि वहां की साधारण प्रजा अत्यन्त दरिद्र हो, और शासनकर्ता अन्नवाले प्रान्तों से लाकर उनकी भूख मिटाने का उपाय न कर सकें। कम्पनी के समय में ये दोनों ही कारण विद्यमान थे। प्रजा दरिद्र थी, और प्रतिदिन अधिक दरिद्र

होती जा रही थी। सरकार को अपनी जेब की चिन्ता अधिक थी, और प्रजा के सुख की कम।

उस समय भूमिकर की दो प्रणालियां प्रचलित थीं। बंगाल में तथा कुछ अन्य प्रदेशों में स्थायी बन्दोबस्त हो गया था, और अन्य प्रान्तों में रैयतवारी प्रणाली प्रचलित थी। पहली प्रणाली का परिणाम यह हुआ कि उस प्रणालीवाले प्रान्तों में मध्यम वर्ग के निवासियों की एक ऐसी श्रेणी तैयार हो गई, जो जागीरदार, जमींदार आदि नामों से पुकारी जाने लगी। वह श्रेणी समृद्ध थी, और अपनी समृद्धि का मूल कारण सरकार को समझकर उसकी खैरख़्वाह थी। यह सर्व-सम्मत सत्य है कि ज्यों-ज्यों जागीरदारों की समृद्ध श्रेणी बढ़ती गई, त्यों-त्यों सर्व-साधारण कृषकों की दशा दीन-हीन होती गई। भूमि का स्वामित्व किसानों के हाथों से निकल गया, जिससे वे सर्वथा अर्थ-शून्य और अधिकार-शून्य दासों की दशा को पहुंचते गए।

रैयतवारी प्रणाली में हर बीसवें या तीसवें वर्ष नया बन्दोबस्त होता था, जिसमें भूमिकर बढ़ा दिया जाता था। प्राचीन काल में भारत के कृषिकारों को अपनी उपज का छठा भाग राज्य को देना पड़ता था। मुसलमान काल में वह बढ़कर कहीं एक-तिहाई, तो कहीं आधे तक पहुंच गया। अंग्रेजी राज्य के आरम्भिक काल में ही उसकी मात्रा उपज के आधे से ऊपर चली गई थी। श्री रमेशचन्द्र दत्त ने अपनी 'India in the Victorian age' नाम की गवेषणापूर्ण पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि "यदि भूमि पर लगाए गए सब करों को मिलाकर हिसाब लगायें तो पूरे भूमिकर की मात्रा कर-सम्बन्धी आय की ५६ फ़ीसदी, या ५८ फ़ीसदी और कहीं-कहीं ६० फ़ीसदी तक पहुंच जाती थी। इस तरह प्रणाली चाहे कोई हो, साधारण प्रजा की दरिद्रता निरन्तर बढ़ती जाती थी।"

राष्ट्र की समृद्धि का दूसरा आधार कारीगरी तथा व्यापार है। कम्पनी और उसकी सरकार द्वारा भारतीय कारीगरी और व्यापार को नष्ट करके ब्रिटेन को बढ़ावा देने का वृत्तान्त ऐतिहासिक सत्य है और इतिहास के किसी भी जानकार से छिपा नहीं है। नैपोलियन बोनापार्ट ने एक बार कहा था कि अंग्रेज जाति स्वभाव से दूकानदार है। वह कोई कार्य करे, उसकी दृष्टि सदा आर्थिक लाभ पर रहती है। भारत में भी वे व्यापार करने के लिए ही आये थे। यह ठीक है कि उनके कुछ बेचैन एजेण्टों ने व्यापार की रक्षा और वृद्धि के नाम पर देश को जीतने का काम जारी कर दिया, और उसे अंग्रेजों ने स्वीकार कर लिया, परन्तु उसमें भी उनका मुख्य लक्ष्य अर्थप्राप्ति ही था।

प्रारम्भ से ही कम्पनी की यह नीति रही कि भारत की कारीगरी का दमन करके ब्रिटिश कारीगरी और ब्रिटिश माल के भारत में आयात को प्रोत्साहित किया जाय। बंगाल के वस्त्र-व्यवसाय को नष्ट करने के लिए कई स्पष्ट और अस्पष्ट उपाय किये गए। तैयार माल पर दुहरी चोट की गई। भारत से विलायत जानेवाली वस्तुओं पर भारी निर्यात-कर लगा दिया गया और ब्रिटेन से भारत

आनेवाले माल पर से बोझ हल्का कर दिया गया। इस दुहरी मार के प्रभाव से धीरे-धीरे जहाँ भारत में विदेश भेजने योग्य माल का बनना शिथिल हो गया, वहाँ निर्यात-कर की वृद्धि कर देने से उसके दाम बढ़ गए। इधर अंग्रेजी माल पर आयात-कर हल्का कर दिया गया, जिससे न केवल भारत के माल का विदेशों में जाना रुक गया, भारत के बाजारों में भी देशी माल की जगह अंग्रेजी माल की खपत में वृद्धि हो गई। अंग्रेजी सरकार की नीति यह थी कि भारत से कच्चा माल इंग्लैण्ड को भेजा जाय, और इंग्लैण्ड से निर्मित माल भारत में लाया जाय। इस नीति का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि १९वीं शताब्दी के मध्य में भारत का शिल्प और विदेशी व्यापार बिलकुल पंगु हो गया। अंग्रेज इतिहास-लेखक होरेस हेमैन विल्सन ने ठीक ही लिखा था :

"अंग्रेज निर्माता ने राजनीतिक अन्याय की सहायता से एक ऐसे प्रतिद्वन्द्वी का गला घोंट दिया, जिसे वह बराबरी की व्यापारिक लड़ाई में नहीं जीत सकता था।"*

अंग्रेजों की व्यापारिक नीति का जो परिणाम हुआ, उसका एक ही दृष्टान्त पर्याप्त है। ब्रिटेन से भारत को जो तैयार सूती माल आता था, उस पर $3\frac{1}{2}$ फ़ीसदी तट-कर लगाया गया था, और ऊनी माल पर २ फ़ीसदी। इसके विपरीत भारत से बाहर जानेवाले तैयार सूती माल पर १० फ़ीसदी तट-कर और ऊनी माल पर ३० फ़ीसदी तट-कर लगा हुआ था। परिणाम यह हुआ कि १९वीं सदी के प्रथम भाग में जहां भारत से तैयार माल का निर्यात निरन्तर घटता गया, वहां इंग्लैण्ड से आनेवाले तैयार माल का आयात छलांग मारकर बढ़ता गया।

१९४० में, ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने भारतीय व्यापार पर रिपोर्ट करने के लिए एक सिलेक्ट कमेटी नियुक्त की थी। उसके सामने प्रश्नों के उत्तर देते हुए श्री० जे० सी० मैलविल ने जो सम्मति प्रकट की थी, वह उस समय की परिस्थिति को स्पष्टता से सूचित करती है। कमेटी में और मैलविल में निम्नलिखित प्रश्नोत्तर हुए :

"प्रश्न—'क्या यह ठीक है कि देशी कारीगरों का स्थान ब्रिटिश कारखानों ने ले लिया है ?'

"उत्तर—'हां, बहुत कुछ।'

"प्रश्न—'कब से ?'

"उत्तर—'मैं समझता हूँ कि मुख्य रूप से १८१४ से।'

"प्रश्न—'क्या भारत की बनी वस्तुओं का स्थान अंग्रेजी माल ने इतना अधिक ले लिया है, कि अब भारत उन वस्तुओं के लिए इंग्लैण्ड के बने हुए माल पर ही आश्रित हो गया है ?'

---

*"The British manufacturer employed the arm of political injustice to keep down and ultimately strangled a competitor with whom he could not have contended on equal terms."

"उत्तर—'मैं ऐसा ही समझता हूं।'

उन्नीसवीं सदी के मध्य में भारत के शिल्प की कमर टूट चुकी थी, और वह नित्य व्यवहार की चीज़ों के लिए भी इंग्लैण्ड का मुंह देखने लगा था। इस परिवर्तन के कारण भारत के जो कारीगर बेरोजगार हो गए, उनके लिए कोई नये रोजगार नहीं थे। परिणाम यह हो रहा था कि कारीगर श्रेणी धीरे-धीरे समाप्त हो रही थी।

रह गया अच्छा शासन। उसकी दशा हम दिखाते आ रहे हैं। यह ठीक है कि जहां अंग्रेजी सरकार की प्रबन्ध-व्यवस्था जारी हो जाती थी, वहां अराजकता दब जाती थी, परन्तु साथ ही यह स्पष्ट था कि सम्पूर्ण शासन इंग्लैण्ड के हित में हो रहा था, भारत के हित में नहीं। उसका उद्देश्य सोने के अण्डे देनेवाली मुर्गी को जीवित रखना था, भारतवासियों की सुख-समृद्धि को बढ़ाना नहीं। हमारा अभिप्राय सर्वथा स्पष्ट हो जायगा, यदि हम 'होम चार्जेज़' और 'सार्वजनिक ऋण' (Public Debt of India) की कहानी संक्षेप में सुना दें।

'होम चार्जेज़' संज्ञा के अन्तर्गत वह धनराशियां आती थीं, जो प्रतिवर्ष भारत के कोष से इंग्लैण्ड को भेजी जाती थीं। वह राशियां तीन तरह की होती थीं—(१) भारत के सार्वजनिक ऋण पर सूद, (२) रेलवे पर लगे रुपये का सूद, और (३) दीवानी तथा फौजी (Civil and military) प्रबन्ध का खर्च। इन तीनों मदों में मिलाकर भारत से इंग्लैण्ड को जो धनराशि चली जाती थी, वह भारत की सरकार की सारी आमदनी का एक चौथाई भाग था। भारत में जो अंग्रेज सरकारी नौकर थे, वह अपने वेतन का जो भाग प्रतिवर्ष इंग्लैण्ड को भेजते थे, यदि उसे भी जोड़ दिया जाय तो भारत से इंग्लैण्ड को भेजी हुई धनराशि भारत की प्रजा से वसूल किये गए सम्पूर्ण कर के एक चौथाई भाग से भी ऊपर चली जाती थी। यह कैसा न्याय था, इसका अनुमान लगाने के लिए इतना और जान लेना आवश्यक है कि उन दिनों एक अंग्रेज की औसत आमदनी ४२ पौण्ड थी तो एक भारतवासी की केवल २ पौण्ड थी। प्रति व्यक्ति इक्कीस गुना अधिक आमदनी रखनेवाला देश अपने अधीन देश की गरीब प्रजा से वसूल की हुई सम्पूर्ण कर-राशि का लगभग एक-तिहाई भाग 'होम चार्जेज़' का लेबल लगाकर ले जाता था।

अब जिन बहानों से यह बड़ी राशि भारत से चली जाती थी, उनकी परीक्षा कीजिये। 'होम चार्जेज़' की तीन मदें थीं। उनमें से सबसे बड़ी मद ऋण की थी। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत का शासन राजमुकुट के सुपुर्द किया तब भारत पर इंग्लैण्ड के ऋण की मात्रा ७ करोड़ पौण्ड कही जाती थी। इस ऋण में कई चीज़ें शामिल थीं। अफ़ग़ानिस्तान से लड़ाई, चीन से लड़ाई आदि ऐसी कार्रवाइयां जिनसे भारत का कोई सम्बन्ध नहीं था, भारत के सिर मढ़ी गईं, और उन पर जो, व्यय हुआ वह भारत के नाम डाला गया। कम्पनी से हस्तान्तरित होने पर भारत पर ४ करोड़ का एक और बोझ लाद दिया गया, जो विद्रोह को दबाने का व्यय बतलाया गया। जो राशि न भारत के हित में खर्च हुई, और न भारतवासियों की

इच्छा से ख़र्च हुई, उसे भारत की ग़रीब प्रजा के सिर थोपकर प्रतिवर्ष उसका मनमाना सूद वसूल करना कहाँ तक न्याय था, आज यह समझना कठिन है। 'होम चार्जेज़' का दूसरा मद थी रेलवे पर लगे हुए रुपये का सूद। यह स्पष्ट है कि अंग्रेज सरकार ने भारत में रेलवे का निर्माण अपने राज्य की रक्षा के लिए किया था। उसका सूद भारत की प्रजा पर क्यों पड़ना चाहिए था? तीसरी मद थी, शासन और सेना के उन ख़र्चों की, जो इंग्लैण्ड में किये जाते थे। राज्य इंग्लैण्ड का था, और उसके संभालने के लिए इंग्लैण्ड में जितना व्यय किया जा रहा था, उसका सारा-का-सारा बोझ भारत पर डाला जाता था। ये थे 'होम चार्जेज़', जिनके नाम पर भारत की औसतन ३० रुपये सालाना कमानेवाली भारतीय प्रजा से वसूल किये हुए वार्षिक कर का एक चौथाई से अधिक भाग विलायत भेज दिया जाता था।

परिणाम यह था कि भारत के निवासी दिनोदिन निर्धन होते जाते थे, और इंग्लैण्ड के निवासियों पर सोना बरस रहा था, जिससे इंग्लैण्ड में आर्थिक वसन्त का मौसम आ रहा था, तो भारत पर पतझड़ का दौर-दौरा हो रहा था।

देश की शिक्षा की दशा अत्यन्त शोचनीय हो रही थी। हम देख आये हैं कि अंग्रेजी सरकार की शिक्षा-सम्बन्धी नीति के कारण शहरों और गांवों की वे पाठशालाएं, जिनसे आम जनता शिक्षित हुआ करती थी, बन्द हो गई थीं। कुछ ऐसे शिक्षणालय बन गए थे, जिनका उद्देश्य अंग्रेजी शिक्षा देकर सरकारी कर्मचारी तैयार करना या विलायती माल के ग्राहकों का दायरा बढाना था। सर्वसाधारण प्रजा की शिक्षा की ओर सरकार का कोई ध्यान नहीं था। लगभग ३० करोड़ निवासियों के देश पर सरकार यदि लाख-दो लाख रुपया व्यय कर देती थी तो उसे एक भारी कारनामा समझा जाता था।

इन सब विपरीत दशाओं में भी देश में जो कुछ बचा-खुचा सार्वजनिक जीवन था, सन् ५७ के विद्रोह ने उसे तोड़-फोड़ दिया था। एक समय ऐश्वर्य और विद्या के लिए जगत् में विख्यात भारतवर्ष का राष्ट्रीय जीवन क्षत-विक्षत होकर धूल में मिल गया था।

: ५ :

जागरण का उषःकाल

इस प्रकार, यद्यपि ऊपर से देखने में वह समय अन्धकार के गहरे आवरण से ढका हुआ प्रतीत होता था, परन्तु वस्तुतः वह नये प्रभात का उषःकाल था। क्रान्ति ने देश में ऐसी प्रवृत्तियों के बीज बो दिये थे, जो अन्धकार को छिन्न-भिन्न करनेवाली थीं। सशस्त्र क्रान्ति की समाप्ति के साथ ही देश-भर में एक ऐसी मानसिक और

सामाजिक क्रान्ति के अंकुर उद्भूत हो गये, जो सैकड़ों विघ्न-बाधाएं आने पर भी निरन्तर पनपते और वृक्ष-रूप में परिणत होते गये। भारत के इतिहास में १८५९ से लेकर १८८५ तक के काल को हम जागरण का उषःकाल कह सकते हैं।

उस समय जागृति की जो लहरें प्रकट हुईं, वे मूलरूप से मानसिक थीं। एक शताब्दी तक अंग्रेजों से निरन्तर पराजित होते रहने का परिणाम यह हुआ था कि सचमुच भारतवासी अपने को अंग्रेजों से घटिया, और भोग्य-वस्तु मानने लगे। यह मानसिक दासता थी, जो सदा राजनीतिक और सामाजिक दासता की जननी बन जाती है। क्रान्ति के प्रचार और क्रान्ति की घटनाओं ने तो उस मनोवृत्ति को ठोकर पहुंचाई ही थी, देश को शान्त करने के लिए रानी विक्टोरिया की ओर से जो घोषणा प्रकाशित हुई, उसने भी देश की मनोवृत्ति को बदलने में पर्याप्त सहायता दी। उस घोषणा में स्वीकार कर लिया गया था, कि भारत में राजनीतिक अधिकारों की दृष्टि से भारतवासी अंग्रेजों के समान हैं। इंग्लैण्ड के शासन की ओर से ऐसी घोषणा यदि तीन वर्ष पहले हुई होती तो शायद उसका भारत की मनोवृत्ति पर कोई असर न होता, परन्तु क्रान्ति के पश्चात् समानता की घोषणा होने से देशवासियों पर उसका चमत्कारी प्रभाव हुआ। उन्होंने अनुभव किया कि इंग्लैण्ड के शासक को भारतवासियों का समान अधिकार मानना पड़ा, यह विद्रोह का परिणाम है। उससे भारतवासियों ने परोक्ष रूप में अपनी शक्ति को अनुभव किया, और इसमें सन्देह नहीं कि अपनी शक्ति की अनुभूति ही जातियों के जागरण का मूल कारण हुआ करती है।

१. ब्राह्म-समाज और श्री केशवचन्द्र सेन

जागरण के चिह्नों में, समय की दृष्टि से, पहला स्थान राजा राममोहनराय और उनके द्वारा स्थापित ब्राह्म-समाज का है। ब्राह्म-समाज की स्थापना यद्यपि क्रान्ति से पहले हुई थी, तो भी उसका पूर्ण विकास पश्चात् ही हुआ। यह सर्व-सम्मत बात है कि ब्राह्म-समाज को एक प्रार्थना-समाज की स्थिति से उठाकर सक्रिय और क्रान्तिकारी समाज बनाने का श्रेय श्री केशवचन्द्र सेन को है। श्री केशवचन्द्र सेन के सार्वजनिक जीवन में पदार्पण का वर्ष १८५७ ईस्वी है। उस वर्ष, १९ साल की आयु में सेन महाशय ब्राह्म-समाज के सदस्य बने। उन्हीं दिनों पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने भी समाज के कार्यों में विशेष सक्रिय भाग लेना शुरू किया।


राजा राममोहन राय

पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर कट्टर समाज-सुधारक थे। १८५९ में विद्यासागर कुछ प्रबन्ध-सम्बन्धी मतभेद के कारण समाज से अलग हो गये, और श्री केशवचन्द्र सेन संयुक्त मन्त्री चुने गए। श्री केशवचन्द्र के हाथ में समाज

का संचालन आने के पश्चात ब्राह्म-समाज के कार्यक्रम में भारी परिवर्तन आ गया। जो मन्दिर केवल ईश्वरोपासना का स्थान समझा जाता था, वह मानसिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्रान्ति का केन्द्र बन गया, और उसके प्रत्येक कार्य में सर्वतोमुखी जागृति के चिह्न दिखाई देने लगे। बंगाल को, उस युग में, राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में जो प्रधानता मिली, उसका श्रेय मुख्य रूप से राजा राममोहन राय, उनके द्वारा स्थापित ब्राह्म-समाज, और श्री केशवचन्द्र सेन की सार्वजनिक प्रवृत्तियों को है।

२. महर्षि दयानन्द और आर्य-समाज

सन् ५७ की क्रान्ति के पश्चात के उन महापुरुषों की सूचि में, जिन्हें हम उस क्रान्ति के मानसिक, सामाजिक, और सांस्कृतिक उत्तराधिकारी कह सकते हैं, पहला नाम महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का है।

स्वामीजी का पहला नाम मूलशंकर था। उनका जन्म सौराष्ट्र प्रदेश के मौरवी राज्यान्तर्गत टंकारा स्थान में, विक्रमी संवत् १८८१ (ईस्वी १८२४) में हुआ था। बचपन में ही उनका मन अत्यन्त विवेचनाशील था। शिवरात्रि के व्रत के अवसर पर, रात्रि में, जब अन्य व्रती लोग सो गए, तब मूलशंकर ने देखा कि एक चूहा आया, और जो भोग शिवजी की मूर्ति पर चढ़ाया गया था, उसे उठाकर भाग गया। बालक मूलशंकर के मन में उस दृश्य को देखकर यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि जो भगवान् सारे विश्व का पालक और रक्षक माना जाता है, वह अपने पर चढ़ाये हुए भोग की रक्षा क्यों नहीं कर सका? इस प्रश्न का उत्तर बालक को न उस समय मिला, और न पीछे से मिला। फलतः उसके मन में सत्य के विषय में तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न हो गई, जो उसे घर से खींचकर जंगलों में ले गई। माता-पिता ने बच्चे को संसार में फाँसने के लिए विवाह आदि की जो योजनाएँ बनाईं, वे भी व्यर्थ गईं, और बालक शंकर, सत्य और अमृत की तलाश में साधु बनकर भ्रमण करता हुआ हिमालय की चोटियों तक जा पहुंचा। उसने हिमालय की कन्दराओं में सच्चे योगियों और महात्माओं की तलाश की, वहां भी उसे निराशा हुई। तब आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर, स्वामी दयानन्द (मूलशंकर ने संन्यास लेकर 'दयानन्द' नाम ग्रहण किया था) नीचे लौट आये, और मथुरा पहुंचकर प्रसिद्ध विद्वान् दण्डी विरजानन्दजी के शिष्य बने। दण्डीजी के पास लगभग ४ वर्षों तक रहकर स्वामीजी ने व्याकरण से लेकर वेद-पर्यन्त शास्त्रों का अध्ययन किया। विद्या समाप्त करके और गुरु से आदेश प्राप्त



स्वामी दयानन्द सरस्वती

करके स्वामी दयानन्द सरस्वती १८६३ में कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए, और १८८३ तक निरन्तर सुधार और प्रचार का कार्य करते रहे।

स्वामीजी का कार्यक्रम बहुत विस्तृत और संघर्षमय था। वह सर्वतोमुखी था। आध्यात्मिकता, तत्त्वज्ञान, राजनीति, समाज-सुधार आदि मनुष्य-समाज के व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन के सभी अंगों को स्वामीजी ने 'धर्म' शब्द के अन्तर्गत रखा, और धार्मिक सुधारणा की एक ऐसी योजना को कार्यान्वित करने का यत्न किया, जिसे 'क्रान्तिकारी' शब्द से ही विभूषित किया जा सकता है।

महर्षि दयानन्द एक निराकार ईश्वर का प्रचार करते थे। उनका मत था कि यदि धर्म को उसके असली और विशुद्ध रूप में जानना चाहो तो सब से आदि-ज्ञान 'वेद' का अध्ययन करो। वह सत्यासत्य निर्णय में बुद्धि और तर्क का प्रयोग उचित और आवश्यक मानते थे। सभी प्रकार की हानिकारक रूढ़ियों के वह कट्टर विरोधी थे। वह उद्भट वक्ता और लेखक थे। काठियावाड़ में जन्म लेकर भी उन्होंने देश में प्रचार-कार्य करने के लिए हिन्दी भाषा को अपनाकर भाषा के क्षेत्र में भविष्य में होनेवाली एक महती क्रान्ति का सूत्रपात कर दिया था। प्रायः सभी सुधारकों को, चिरन्तन रूढ़ियों का विरोध करने के लिए खण्डनात्मक शैली का आश्रय लेना पड़ता है। स्वामीजी को भी वैसा करना पड़ा। उन्होंने अपने मुख्य ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' में उन सिद्धान्तों का ज़ोरदार मण्डन किया है, जिन्हें वे वेदोक्त और सत्य मानते थे, साथ ही उन सिद्धान्तों और रूढ़ियों का बहुत ज़ोरदार और कहीं-कहीं तीखी भाषा में खण्डन किया है, जिन्हे वे असत्य मानते थे। अपने विचारों के समर्थन के लिए उन्होंने वेदों का भाष्य किया, और अन्य अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये। यह अंग्रेजी से अनभिज्ञ थे, फिर भी यह आश्चर्य की बात है, कि उन्होंने अपने शिक्षा-क्रम में विदेशी भाषाओं और उनमें विद्यमान विविध ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन को प्रमुख स्थान दिया है।

सामाजिक क्षेत्र में वह पूरे क्रान्तिकारी थे। उस समय हिन्दू जाति में जो सामाजिक बुराइयां विद्यमान थीं, उनका स्वामीजी ने प्रबल विरोध किया। जात-पांत (Cast system) को वह सर्वथा अवैदिक और अनार्य मानते थे, इस कारण उनके धर्म में अस्पृश्यता नाम की कोई जन्मसिद्ध वस्तु नहीं थी। वह स्त्रियों को वेद तक पढ़ने का अधिकारी और पुरुष का सहकारी मानते थे, अधीन या दास नहीं। बहुविवाह, बालविवाह, वृद्धविवाह आदि के घोर विरोधी और समुद्र-यात्रा, विधवा-विवाह आदि सुधारों के पक्षपाती थे। इन क्रान्तिकारी विचारों के कारण रूढ़ि-वादी दल ने उनका घोर विरोध किया, परन्तु वह एक पग भी पीछे नहीं हटे और जीवन के अन्त तक अपने लक्ष्य की पूर्ति में लगे रहे।

राजनीति में स्वामी दयानन्द को नवीन राष्ट्रीयता का अग्रदूत कहें तो अत्युक्ति न होगी। उन्होंने अपने मुख्य ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' में (जिसका प्रामाणिक संस्करण १८८३ में प्रकाशित हुआ था) स्वराज्य, स्वदेशी, स्वभाषा और स्ववेष के पक्ष में जो स्पष्ट विचार प्रकट किये थे, वह भारत की राजनीति में १९०१ से पहले

व्यक्त रूप में नहीं आये थे। व्यावहारिक रूप में उनका प्रयोग तो बंग-विच्छेद के पश्चात् ही हुआ। एक त्रिकालबाधित और सर्वसम्मत सिद्धान्त, जो चिरकाल पीछे तक भारत की राजनीति में मन्तव्य के रूप में घोषित नहीं हुआ, निम्नलिखित था :

"कोई कितना ही कहे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह-रहित, अपने और पराये का पक्षपात-शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ भी विदेशी राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं हो सकता।" (सत्यार्थप्रकाश)

स्वामी दयानन्द के पूर्वोक्त वाक्यों के प्रकाशित होने के बहुत वर्षों के पश्चात् जब इंग्लैण्ड के उस समय के एक उदाराशय प्रधानमन्त्री ने कहा था कि Good Government is no substitute for self Government ('सुराज्य स्वराज्य का स्थानापन्न नहीं हो सकता।') तब संसार ने समझा था कि एक बिल्कुल नई सचाई का आविष्कार हुआ है।

स्वामी दयानन्द अंग्रेजी नहीं जानते थे, फिर भी उन्होंने अपने ग्रन्थों में स्वदेशीय शासन, और प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का प्रबल समर्थन किया। अपने विचारों के प्रचार और सुधार के कार्यक्रम को स्थूल रूप देने के लिए १८७५ में बम्बई में जब उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की, तब उसका संविधान पूरे प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर बनाया, जो आज तक उसी रूप में चल रहा है।

३. श्री रामकृष्ण मिशन और स्वामी विवेकानन्द

बंगाल के सन्त श्री रामकृष्ण परमहंस का जन्म १८३६ में हुआ था। उनके पिता साधारण स्थिति के ब्राह्मण थे। बचपन में उन्हें पुस्तकीय विद्या प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला, इस कारण उनकी विद्वानों में गिनती नहीं हो सकती, परन्तु उनकी आध्यात्मिक चेतना इतनी बढ़ी हुई थी कि छोटी आयु से श्रोताओं पर उनके उपदेश वाक्यों का अद्भुत प्रभाव पड़ता था। वह बड़े होकर कलकत्ते के समीप एक मन्दिर में पुजारी का काम करने लगे। थे तो साधारण-से मन्दिर के पुजारी, परन्तु उनके उपदेशों में ऐसा आकर्षण था कि दूर-दूर से बंगाल की भावुक-जनता उनके निकट आकर आध्यात्मिक रस का पान करने लगी। उनके उपदेशों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह मतमतान्तरों के वादविवाद से अलग रहकर एक ब्रह्म की उपासना का उपदेश करते थे। उनका कहना था कि अल्लाह, हरि, क्राईस्ट और कृष्ण सब एक ही ईश्वर के नाम हैं। धर्मों के मार्ग अलग-अलग हैं, परन्तु उनका लक्ष्य एक ही है। धर्म के बाह्य चिह्नों और विधि-विधान को गौण और व्यर्थ मानकर वह उसके आत्मिक पक्ष पर बल देते थे।

जो जिज्ञासु उनके समीप आकर धर्म की शिक्षा ग्रहण करते थे उनमें एक नवयुवक नरेन्द्रनाथ दत्त था; संन्यास लेने पर उसका नाम स्वामी विवेकानन्द हुआ। स्वामी विवेकानन्दजी में वे सब गुण विद्यमान थे, जो एक प्रचारक तथा जन-नेता

में होते हैं। भव्य रूप, उत्कृष्ट प्रतिभा, असाधारण वक्तृत्व-शक्ति, त्याग की भावना और उद्देश्य के साधन में तन्मयता—ये सब गुण थे, जिनके एक स्थान पर समागम से थोड़े ही दिनों में स्वामी विवेकानन्द ने न केवल भारत में, अपितु भारत के बाहर भी असाधारण ख्याति प्राप्त कर ली। सुन्दर बात यह थी कि स्वामी विवेकानन्द ने विदेशों में जो ख्याति प्राप्त की, उसका मुख्य आधार यह था कि उनके भाषणों से संसार में भारत की ख्याति में वृद्धि हुई। विवेकानन्द का यश भारत का यश बन गया।



स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द उदार भारतीय धर्म के निपुण व्याख्याता थे। १८९३ में शिकागो में 'संसार-धर्म-सम्मेलन' का जो अधिवेशन हुआ था, उसमें हिन्दू धर्म की व्याख्या करते हुए भूमिका रूप से उन्होंने जो वाक्य कहे थे, वह उनकी सम्पूर्ण विचार-धारा के परिचायक हैं। आपने कहा था :

"मुझे उस धर्म का अनुयायी होने का अभिमान है, जिसने संसार को सहिष्णुता और विश्व-प्रेम की शिक्षा दी है। हम केवल विश्वव्यापिनी सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं रखते, हम यह भी मानते हैं कि सब धर्म सच्चे हैं। मुझे उस जाति में उत्पन्न होने का अभिमान है, जिसने अत्याचार-पीड़ितों को, मतवादियों द्वारा सताये हुए लोगों और पृथ्वी की सब जातियों को आश्रय दिया है।. . .मैं आपके सामने एक मन्त्र की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करता हूँ, जिसका पाठ मैं बचपन से करता रहा हूँ, और जिसका मेरे देश के करोड़ों आदमी प्रतिदिन पाठ करते हैं :

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णवइव।

"जैसे सब नदियाँ भिन्न-भिन्न मार्गों से चलकर एक समुद्र में ही मिल जाती हैं, इसी प्रकार हे प्रभु, सब भिन्न-भिन्न नामों और उपायों से उपासना करनेवाले मनुष्यों का अन्तिम लक्ष्य तू ही है।"

इस एक ही उद्धरण में स्वामी विवेकानन्द की उद्भट देशभक्ति और उन्नत धार्मिक भावना के सब पहलू प्रकट हो जाते हैं। वे जितने भगवद्भक्त थे, उतने ही देशभक्त। उनके भाषणों ने न केवल संसार में भारतीय संस्कृति के नाम को उज्ज्वल किया, अपने देशवासियों के हृदयों में स्वधर्म और स्वदेश के लिए सात्विक अभिमान भी उत्पन्न किया। उनके प्रति विदेशों के पक्षपातशून्य लोगों की कैसी भावना थी, यह उनकी योरपियन शिष्या सिस्टर क्रिस्टाइन की निम्नलिखित श्रद्धांजलि से प्रकट होता है। स्वामीजी की मृत्यु पर सिस्टर क्रिस्टाइन ने लिखा था :

"एक सन्त साधारण मनुष्यों से अधिक पावन, अधिक पवित्र और अधिक

एकाग्रमनवाला होता है। परन्तु स्वामी विवेकानन्द से उसकी कोई तुलना नहीं हो सकती। वह अपनी उपमा आप ही हैं। वह किसी दूसरी ही प्रतिभा के व्यक्ति थे। वह एक तेजःपुंज था, जो किसी दूसरे लोक से और ऊंचे पद से एक विशेष लक्ष्य को लेकर उत्पन्न हुआ था।"

स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस के नाम पर देश और विदेश में सेवाकार्य के अनेक केन्द्र खोले, जो 'रामकृष्ण सेवाश्रम' के रूप में आज भी मनुष्य जाति की सेवा कर रहे हैं। इस संस्था-रूपी स्थिर कार्य के अतिरिक्त स्वामीजी अपने व्याख्यानों और लेखों के रूप में बहुत ऊंचे दर्जे का साहित्य छोड़ गए हैं।

४. सर सय्यद अहमद

उस समय के प्रभावशाली भारतीय महापुरुषों में सर सय्यद अहमद खाँ का नाम भी उल्लेखनीय है। प्रारम्भ में सय्यद अहमद खाँ राष्ट्रीय विचार रखने-वाले सुधारक थे। उन्होंने मुसलमानों की आर्थिक और सामाजिक दुर्दशा को दूर करने के लिए लेख और वाणी द्वारा जोरदार प्रचार किया। मुसल-मानों में अंग्रेजी शिक्षा की ओर प्रवृत्ति नहीं थी। अंग्रेजी को वे अपने मजहब का विरोधी समझते और उससे बच-बचकर चलते थे। फलतः न उन्हें सरकार की बड़ी नौकरियां मिलती थीं, और न वे आर्थिक क्षेत्र में आगे बढ़ रहे थे। सर सय्यद ने उन्हें समझाया कि यदि तुम शिक्षा से वंचित रहोगे तो लकड़हारों का काम करते रहोगे और समाज में तुम्हारा कोई मान न होगा।



सर सय्यद अहमद

अपने प्रारम्भिक सार्वजनिक जीवन में सर सय्यद राष्ट्रीय विचारों के प्रचारक थे। विद्रोह के बाद अंग्रेजों का मुसलमानों की ओर रुख बहुत ही सन्देहपूर्ण था। वे उन्हें भारत में अपना असली शत्रु समझते थे। सर विलियम हंटर ने अपनी 'इण्डियन मुसल्मान्ज़' नामक पुस्तक में लिखा था कि "After the mutiny the British turned upon the mussalmans as their real enemies—विद्रोह के बाद ब्रिटिश लोग मुसलमानों को अपना असली शत्रु समझकर उन पर टूट पड़े।" स्वभावतः अंग्रेजों की यह द्वेष-भावना मुसलमानों में प्रतिबिम्बित हुई। सर सय्यद अहमद खाँ जैसे रोशन दिमाग मुसलमान सरकार के रवय्ये से असन्तुष्ट होकर हिन्दुओं के राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित हो रहे थे। स्वयं सर सय्यद ने राष्ट्रवादियों की कई सभाओं में प्रमुख भाग लिया। उन दिनों वह नैतिक आन्दोलन करनेवाले बंगाली नेताओं की भरपूर प्रशंसा किया करते थे।

सरकार की नीति में १८७० ई० के लगभग परिवर्तन आना शुरू हुआ। उसका मूल कारण यह था कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतवासियों की ओर से राजनीतिक अधिकारों की जो मांग की जा रही थी, उसे ब्रिटिश सरकार पसन्द नहीं करती थी। वह उस आन्दोलन की रोक के लिए एक ऐसी दीवार खड़ी करना चाहती थी जो भारतवासियों की छातियों से ही बनी हुई हो। हमने सर विलियम हंटर की जिस पुस्तक का उद्धरण ऊपर दिया है, उसका प्रतिपाद्य विषय यही था कि अब मुसलमानों को सन्तुष्ट करके अपनी गोद में लेने का समय आ गया है। वह भारत के शासन को भेदनीति के आधार पर चलाने की ब्रिटिश प्रथा का सूत्रपात था।

सर सय्यद के उद्योग, और सरकार के सहयोग से १८७५ में, अलीगढ़ में उस स्कूल की स्थापना हुई, जो शीघ्र ही कालेज बनकर अन्त में अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के रूप में परिणत हुआ। उसके प्रिंसिपल पद पर मि० बक नाम के एक अंग्रेज को नियुक्त किया गया। मि० बक बहुत योग्य परन्तु अनुदार विचारों का व्यक्ति था। उसके प्रभाव से सर सय्यद की विचारधारा में शीघ्र ही बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया। सर सय्यद के दिमाग में यह बात बैठने लगी कि मुसलमानों का भला हिन्दुओं का साथ देने में नहीं, अपितु अंग्रेजी सरकार का साथ देने में है। इस विचार की बुनियाद में सर सय्यद और उनके साथियों के हृदयों में छिपा हुआ यह विश्वास था कि सरकार हिन्दुओं के राजनीतिक आन्दोलन से नाराज है, इस कारण वह मुसलमानों की पीठ ठोकने को तैयार हो जायगी।

अलीगढ़ में राष्ट्रीयता-विरोधी मुस्लिम केन्द्र बनने के पश्चात सर सय्यद अहमद और उनके अनुयायियों की प्रवृत्तियां निरन्तर साम्प्रदायिक भेदभाव को उत्पन्न करनेवाली होती गईं। सर सय्यद के विचारों का झुकाव, दो दृष्टान्तों से जाना जा सकता है। जब १८८५ में, कांग्रेस का प्रारम्भिक अधिवेशन हुआ, तब सर सय्यद ने उसका विरोध किया और मुसलमानों को उसमें सम्मिलित होने से रोका। सर सय्यद ने १८८६ के दिसम्बर मास में, 'मुस्लिम एजुकेशनल कांग्रेस' के अधिवेशन में, भाषण देते हुए कहा कि "मैं उनमें से नहीं हूं जो मानते हैं कि राजनीतिक मामलों में दिलचस्पी लेने से मुसलमानों का भला होगा, क्योंकि मेरी सम्मति में उन्हें जिस चीज़ की ज़रूरत है, वह शिक्षा है।"

सर सय्यद, और मुसलमान नेताओं के विचारों में जो परिवर्तन उस समय आया, और आगे चलकर उनका जो भयानक रूप बना, उसका विस्तृत इतिहास भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने, अपनी 'India Divided' नाम की पुस्तक में बहुत सुन्दरता से दिया है। वह पुस्तक देश का विभाजन होने से दो वर्ष पहले, १९४५ में, लिखी गई थी। जब हम आज उस पुस्तक को पढ़ते हैं तो यह देखकर आश्चर्य होता है कि भारत के विभाजन से होनेवाले बुरे परिणामों के बारे में डा० प्रसाद ने जो भविष्य-कल्पनाएँ की थीं, वे लगभग ठीक निकली हैं। ब्रिटिश सरकार की भेदनीति के शिकार बनकर सर सय्यद अहमद-जैसे हिन्दुस्तान का निवासी होने के कारण अपने को हिन्दू कहनेवाले व्यक्ति ने, साम्प्रदायिकता

के विष-वृक्ष को बोने में क्यों भाग लिया, इसे अपनी पुस्तक में डा० प्रसाद ने बहुत विशदता से प्रदर्शित किया है।

५. अन्य सुधारक संस्थाएं

इसी युग में कुछ अन्य सुधारक संस्थाएं भी स्थापित हुईं, जिनसे अपने-अपने क्षेत्रों में जागृति को प्रोत्साहन मिला। उनमें से एक प्रार्थना-समाज था। यह एक प्रकार से ब्राह्म-समाज की ही शाखा थी। जो कार्य बंगाल में ब्राह्म-समाज कर रहा था, वही बम्बई में प्रार्थना-समाज द्वारा होने लगा। प्रार्थना-समाज का संचालन उस समय के महापुरुष न्यायमूर्ति श्री महादेव गोविन्द रानडे की देखरेख में होता था। रानडे महोदय महान् देशभक्त होने के साथ-साथ प्रकाण्ड पण्डित और समाज-सुधारक भी थे। वह एक प्रकार से नवीन महाराष्ट्र के आदिनिर्माता थे। उनके नेतृत्व में प्रार्थना-समाज ने अनेक दिशाओं में समाज-सुधार का काम किया। विधवा-विवाह और अन्य सुधारों के प्रचार द्वारा प्रार्थना-समाज ने महाराष्ट्र के जड़ीभूत वातावरण में पर्याप्त गति पैदा कर दी थी, जिसका एक शुभ परिणाम यह हुआ कि १८८४ में पूना में दक्षिण शिक्षा समिति (Deccan Education Society) की स्थापना हो गई। फर्गुसन कालेज और महाराष्ट्र की अन्य अनेक शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाएं इस समिति के प्रयत्नों से ही स्थापित हुईं।

जस्टिस रानडे यथार्थवादी थे। वे सुधार के जोश में भारतीय परम्पराओं को नष्ट करने के विरोधी थे। यह उनके और ब्राह्म-समाज के विचारों में मुख्य भेद था। इसी कारण बम्बई में जो समाज स्थापित हुआ, उसका नया नामकरण करने की आवश्यकता हुई।

दूसरी संस्था, जिसने सुधार की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया, थियोसोफिकल सोसायटी थी। इस सोसायटी की स्थापना अमरीका में मैडम ब्लैवेट्स्की और कर्नल एच० सी० स्काट ने १८७५ में की थी। वे दोनों ४ वर्ष बाद भारत में आ गए और उन्होंने मद्रास में अपना केन्द्र स्थापित किया। थियोसोफिकल सोसायटी के संचालक हिन्दू धर्म के योग-मार्ग तथा अन्य आध्यात्मिक सिद्धान्तों से आकृष्ट हुए, और शीघ्र ही यहां के पुराने धर्म और संस्कृति के उद्धारकों में सम्मिलित हो गए। भारत में सोसायटी की बहुत-सी शाखाएं स्थापित हो गईं, जिनमें हिन्दू धर्म के प्राचीन और मध्यकालीन ग्रन्थों की नवीन ढंग पर व्याख्या करने के अतिरिक्त हिन्दुओं के प्रचलित हानिकारक रीति-रिवाजों के विरुद्ध प्रचार भी किया जाता था। प्रारम्भ में तो यह संस्था राजनीति से बहुत कुछ अलग रही, परन्तु १९वीं सदी की समाप्ति पर, श्रीमती एनी बेसेण्ट के सम्मिलित हो जाने पर, उसने राजनीति में भाग लेना जारी कर दिया, जिसकी चर्चा आगे यथास्थान की जायगी।

पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की चर्चा हमने ब्राह्म-समाज के प्रसंग में की है, परन्तु उनका कार्य इतना महान् था कि उन्हें स्वयं एक अलग संस्था कहना उचित

होगा। सामान्य रूप से भारतीय स्त्रियों के कष्टों को दूर करने, और विशेष रूप से विधवा को पुनर्विवाह का अधिकार दिलाने में विद्यासागर महोदय ने अनथक प्रयत्न किया। वह बड़े विद्वान् और सुलेखक थे। पुरातन विचारों के लोगों ने उनके स्वतन्त्र विचारों से चिढ़कर उनके विरुद्ध घोर आन्दोलन किया, परन्तु विरोध की कोई पर्वाह न करके वे जीवन के अन्त तक सुधार कार्य में लगे रहे।

जिन सुधारक संस्थाओं और महापुरुषों की हमने यहाँ चर्चा की है, राष्ट्रीय जागृति का विस्तार उन्हीं तक परिमित नहीं था। उस समय जागृति वातावरण में व्याप्त हो रही थी—यद्यपि उसका रूप अभी प्रारम्भिक दशा में था।

कुछ लेखक उस युग की मानसिक जागृति का मुख्य कारण अंग्रेजी शिक्षा को मानते हैं। हम उनसे पूरी तरह सहमत नहीं। हम समझते हैं कि वह जागृति मुख्य रूप से सन् ५७ की सशस्त्र क्रान्ति, और उसके अन्त में हुए राजनीतिक परिवर्तनों से उत्पन्न हुई थी। अंग्रेजी शिक्षा को केवल एक गौण कारण माना जा सकता है, मुख्य कारण नहीं। इसका सबसे स्थूल और प्रबल प्रमाण यह है कि सन् १८५७ के मई मास की १० तारीख को मेरठ से जो सशस्त्र विद्रोह आरम्भ हुआ था, वह उन लोगों के साहस का परिणाम था, जिन्हें अंग्रेजी ने छुआ भी नहीं था। यदि भारतवासी अंग्रेजी भाषा की प्रेरणा के बिना इतना भारी सशस्त्र विद्रोह खड़ा कर सकते थे, तो यह कहना कहाँ का न्याय है कि वे स्वयं मानसिक विद्रोह के सर्वथा अयोग्य थे? हमारी सम्मति है कि यदि भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार न होता तो भी सिपाही विद्रोह होता, और जागरण भी होता। वह परिस्थिति-सम्बन्धी बहुत गहरे और व्यापक कारणों का परिणाम था, केवल एक विदेशी भाषा सीखने का परिणाम नहीं।

: ६ :

चौमुखी जागृति का प्रारम्भ

जब लम्बी दासता से बंजर हुई भारत की भूमि को सशस्त्र क्रान्ति के विशाल हल ने खोदकर तैयार कर दिया, और जब सुधारकों के दल ने उसमें मानसिक स्वाधीनता के बीज बो दिये, तब यह सम्भव हो गया कि उसमें से राजनीतिक स्वाधीनता के अंकुर उत्पन्न हों। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि मानसिक स्वाधीनता के बिना सामाजिक स्वाधीनता, और सामाजिक स्वाधीनता के बिना राजनीतिक स्वाधीनता असम्भव है। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में देश के पूर्व और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में राजनीतिक जागृति के चिह्न दिखाई देने लगे।

इस युग में, राजनीतिक अधिकारों के लिए आन्दोलन करनेवाली सबसे पहली दो संस्थाएं 'ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन' और 'बाम्बे एसोसियेशन' थीं,

जो एक ही वर्ष में—१८५१ में—स्थापित हुईं। पहली बंगाल में और दूसरी बम्बई में बनी। यों तो मद्रास में भी 'मद्रास नेटिव एसोसियेशन' नाम की एक संस्था उन्हीं दिनों बन गई थी, परन्तु वह लगभग सरकारी घेरे में ही सीमित थी। मद्रास में असली राजनीतिक जीवन तब उत्पन्न हुआ, जब १८७८ में दैनिक 'हिन्दू' ने जन्म लिया। उत्तरी भारत में यद्यपि कोई अलग राजनीतिक संस्था नहीं बनी, तो भी आर्य-समाज तथा अन्य सुधारक संस्थाओं की हलचलों से पर्याप्त गर्मी पैदा हो चुकी थी, जिसकी राजनीतिक प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी; यही कारण था कि जब कांग्रेस का आन्दोलन उत्तर की ओर आया, तो उसे क्षेत्र बिलकुल तैयार मिला। पूना की 'सार्वजनिक सभा' कुछ पीछे स्थापित हुई, परन्तु महाराष्ट्र की राजनीति को विकसित करने में वह अन्य संस्थाओं से पीछे न रही।

ये संस्थाएं राजनीतिक उद्देश्य से स्थापित हुई थीं; इससे यह न समझ लेना चाहिए कि इनके सामने एक भारतीय राष्ट्र का, या राष्ट्रीय स्वाधीनता का लक्ष्य विद्यमान था। यद्यपि एक राष्ट्र और राष्ट्रीय स्वाधीनता के भाव राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द-जैसे परोक्षदर्शी महापुरुषों के लेखों और भाषणों में व्यक्त हो चुके थे, तो भी अभी राजनीति में उनका प्रवेश नहीं हुआ था। उस समय की राजनीति की दो सीमाएं थीं। प्रायः सभी संस्थाएं अपने-अपने प्रान्त की समस्याओं पर विचार करती थीं, और वे समस्याएं भी सरकारी नौकरी-सम्बन्धी शिकायतों अथवा सरकारी आज्ञाओं की आलोचना तक सीमित रहती थीं। इनमें भाग लेनेवालों में एक बड़ी संख्या ऐसे लोगों की थी, जिनका सरकारी नौकरियों से पास या दूर का कोई-न-कोई सम्बन्ध था।

एक अन्य विशेषता यह थी कि ये सभी संस्थाएं अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों ने बनाई थीं, और चिरकाल तक उनके सदस्य भी अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग ही रहे। इस आधार पर प्रायः अंग्रेज इतिहास-लेखक और उनके अनुकर्ता भारतीय लेखक भी यह परिणाम निकाल लेते हैं कि भारत की राजनीतिक जागृति अंग्रेजी शिक्षा का परिणाम है। यह उनका भ्रम है। भ्रम उत्पन्न होने का कारण यह है कि उस समय अंग्रेजी सरकार की शिक्षा-सम्बन्धी विषैली नीति की कृपा से अन्य सब प्रकार की शिक्षा लगभग लुप्त हो चुकी थी। मैकाले और उनके मित्रों के मनसूबे सफल हो रहे थे, जिसका परिणाम यह हुआ था कि अंग्रेजी शिक्षा को ही उपयोगी और आदर-योग्य माना जाने लगा था। वही सरकारी सम्मान और नौकरी का साधन थी, और उसी में कही गई बात को आंग्ल-प्रभु सुनते थे। हमारा मत है कि उस समय भी राष्ट्रीयता और स्वाधीनता की भावनाएं देश में विद्यमान थीं; परन्तु जिन हृदयों में वह विद्यमान थी उनका सम्पर्क उस समय की राजभाषा से नहीं हुआ था। यही कारण है कि भारत का प्रत्यक्ष राजनीतिक आन्दोलन चिरकाल तक केवल अंग्रेजी पढ़े-लिखों का, और अतएव देश के अन्तस्तल से सम्पर्करहित आन्दोलन रहा। फिर भी हमें यह मानना पड़ेगा कि वे प्रारम्भिक राजनीतिक संस्थाएं, विचार और कार्य के क्षेत्र में चाहे कितनी ही परिमित रही

हों, थीं राजनीतिक जागृति का ही परिणाम। उनकी सबसे बड़ी उपयोगिता यह थी कि उनमें बैठकर भारतवासी अंग्रेजी सरकार की त्रुटियों और अपनी मांगों पर विचार करने, और फिर उन्हें खुले तौर पर प्रकट करने लगे। वे संस्थाएं भविष्य में आनेवाली विशाल राष्ट्रीय संस्थाओं की छोटी-छोटी प्रस्तावनाएं थीं।

पहले से ही देश के राजनीतिक जागरण में समाचारपत्रों का काफ़ी हाथ रहा है। विद्रोह से पहले जो समाचारपत्र निकलते थे, वे या तो अंग्रेजों द्वारा सम्पादित होते थे, और इस कारण सरकारी गजट की हैसीयत रखते थे, या केवल स्थानीय होते थे, जिनका देशव्यापी महत्व नहीं था। विद्रोह से कुछ महीने पहले दिल्ली के दो-तीन स्थानीय उर्दू पत्रों ने अशान्ति फैलाने में जबर्दस्त भाग लिया था। लेकिन वैसे छोटे-छोटे पत्र विद्रोह के साथ ही समाप्त हो गए।

नये युग में जिन समाचार तथा सामयिक पत्रों ने जन्म लिया, वे नवीन भावों के द्योतक और अधिक प्रभावशाली थे। आदिपत्रों में से एक राजा राममोहन राय द्वारा सम्पादित 'संवाद कौमुदी' का नाम उल्लेख योग्य है। वह सुधारक विचारों का प्रचारक था। राजनीति में वह केवल समाचार प्रकाशित करता था, सरकार के कामों की आलोचना नहीं करता था।

देशी भाषा के पत्रों में सबसे प्रथम स्थान पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के 'प्रभाकर' का है। इसके पश्चात् बंगाल से कई पत्र निकले। अंग्रेजी पत्रों में 'हिन्दू पेट्रियट', 'हरकारा', 'इण्डियन मिरर', 'अमृत बाजार पत्रिका' आदि का नाम उल्लेखनीय है। बम्बई के 'रास्तागुफ्तार, 'बौम्बे समाचार', 'इन्दु प्रकाश', 'जाम ए जमशेद' आदि पत्रों ने और मद्रास से 'हिन्दू', 'स्टैण्डर्ड' और 'स्वदेशमित्रन्' ने भी सार्वजनिक जीवन को बनाने में काफ़ी भाग लिया। कुछ समय पीछे लाहौर से 'ट्रिब्यून', बिहार से 'हैरल्ड' और लखनऊ से 'एडवोकेट' निकले और राष्ट्रीय अग्नि के वायुवाहन बनकर उत्तरी भारत में जागृति की ज्वाला फैलाने लगे। हमने केवल कुछेक मुख्य पत्रों के नाम लिखे हैं; सरकारी आंकड़ों से पता चलता है सेंसरशिप तथा अन्य अनेक प्रकार की असुविधाओं के होते हुए भी १८७५ में प्रकाशित होनेवाले सामयिक पत्रों की संख्या ४७५ थी।

भारतीय समाचारपत्रों में प्रारम्भ से ही सरकार के कानूनों और कार्यों की कड़ी आलोचना होती थी। उन दिनों अंग्रेजी सरकार भारत की माई-बाप बनी हुई थी, उसे थोड़ी-सी और हल्की-सी भी आलोचना सह्य नहीं थी। आलोचनाओं से झुंझलाकर सरकार ने प्रेस पर क्या-क्या वार किये, और प्रेस ने उनका कैसे सामना किया, यह कहानी एक पृथक् अध्याय में सुनाई जायगी।

जब उषःकाल आता है, तब अन्धकार हल्का होने लगता है, और फूल खिलने लगते हैं। उसके साथ ही पक्षी भी डालियों पर चहचहाने लगते हैं। भारत के उस उषःकाल में देश के अनेक केन्द्रों में उन महान् साहित्यिकों ने जन्म लिया, जिन्हें हम वर्तमान भारतीय वाङ्मय का जन्मदाता कह सकते हैं। उस युग में

माइकेल मधुसूदन दत्त और बंकिमचन्द्र चटर्जी ने बंगला में, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी में, नर्मद ने गुजराती में, चिपलूणकर ने मराठी में, भारती ने तमिल में और अन्य कई साहित्यकारों ने अपनी-अपनी भाषाओं में जिस सजीव और देशभक्ति-पूर्ण उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण किया, वह आज तक देश के साहित्यिकों का पथदर्शक बना हुआ है। उस समय उस साहित्य ने देशवासियों में सुधार और जागृति के लिए अनिवार्य उमंग पैदा कर दी थी।

इन सब कारणों ने मिलकर देश में एक नई चेतना उत्पन्न कर दी थी। पढ़े-लिखे भारतवासी राजनीतिक दासता की पीड़ा और लज्जा को अनुभव करने लगे थे। उनकी इस असन्तोष की भावना को रानी विक्टोरिया के घोषणा पत्र से उत्तेजना प्राप्त हो गई। घोषणा-पत्र में आश्वासन दिया गया था कि केवल धर्म, रंग या जाति के कारण किसी भारतवासी को सरकारी ओहदों से वंचित न किया जायगा। व्यवहार में उन्होंने देखा कि ऊंचे दर्जे के सभी ओहदे और सभी नौकरियां अंग्रेजों के लिए सुरक्षित हैं। यह भेदभाव अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतवासियों को बहुत अखरने लगा। खूब पढ़-लिखकर और हर प्रकार से तैयार होकर जब वे सरकारी नौकरी के मार्ग पर चलने लगते थे, तब थोड़ी दूर तक जाकर उनके मुंह के सामने दरवाज़े बन्द कर दिये जाते थे। उससे जो क्षोभ उपन्न होता था, वह राजनीतिक आन्दोलन का तात्कालिक कारण बना।

यहां हमें सामान्य रूप से योरप के और विशेषतः इंग्लैण्ड के उन उदार और स्वाधीन विचारकों के उपकार को स्वीकार करना आवश्यक प्रतीत होता है, जिनके लेखों और भाषणों ने भारत के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के हृदयों में स्वाधीनता और उदारता का वलवला उत्पन्न करने में सहयोग दिया। बर्क, ब्राईट, शैरीडन आदि वक्ताओं ने वारन हैस्टिंग्ज तथा अन्य अंग्रेज शासकों के अत्याचारों का भण्डाफोड़ करते हुए भारत के प्रति जो सद्भावना प्रकट की थी, और जिस उन्नत मानवता का परिचय दिया था, वह भारतवासियों के अन्तस्तल तक घर कर गई थी। उनके पश्चात् हेनरी फौस्ट, चार्ल्स ब्रैडला, और एनी बैसेण्ट आदि 'भारत के मित्रों' ने समय-समय पर भारत के पक्ष का समर्थन करके इस बात का परिचय दिया कि इंग्लैण्ड में मानवता और न्याय-बुद्धि का अभाव नहीं है।

इंग्लैण्ड में उन दिनों लिबरल (उदार) और स्वच्छन्द विचारकों का बल बढ़ रहा था। हर्बर्ट स्पेंसर, जेम्स तथा स्टुआर्ट मिल-जैसे ओजस्वी विचारक और लेखक रूढ़ियों को तोड़कर स्वाधीनता की भावना को जगा रहे थे। उनके लेखों का भारत के शिक्षित व्यक्तियों पर भरपूर प्रभाव पड़ रहा था। १९वीं सदी के उत्तरार्ध में भारत में जो राजनीतिक जागरण हुआ, उसको अन्य अनेक मौलिक कारणों को योरप की तत्कालीन उदार विचारधारा से भी पर्याप्त पुष्टि मिली।

: ७ :

सरकार की गतिविधि

हमने देखा कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की समाप्ति और भारत का शासन इंग्लैण्ड के राजमुकुट के नीचे आने के पश्चात के, लगभग ३० वर्षों में, देश में, चौमुखी जागृति का विकास हुआ। सभी क्षेत्रों में एक नया जीवन और उन्नति के लिए एक नई बेचैनी ने जन्म लिया। धर्म, समाज, साहित्य और राजनीति में से राष्ट्र का कोई भी पहलू अछूता न रहा। जब इधर नवजीवन की चेतना उल्लसित हो रही थी, उधर राष्ट्र का शासन करनेवाली सरकार क्या सोच और क्या कर रही थी, अब इस प्रश्न का उत्तर देने का अवसर आ गया है। सरकार ने सन् १८५८ ईस्वी और १८८५ ईस्वी के मध्यकाल में, भारत की शासन-व्यवस्था को सुधारने और ठीक तरह से चलाने के लिए जो विधि-विधान बनाये उनका विवरण दिया जायगा।

लार्ड कैनिंग नये राज्य-युग का पहला वायसराय और गवर्नर जनरल था। उसे उस समय के अंग्रेज 'क्लीमेन्सी कैनिंग' (दयालु कैनिंग) के नाम से पुकारते थे। उनकी सम्मति थी कि सन् ५७ के विद्रोह को दबाने में कैनिंग ने बहुत दयालुता से काम लिया है। अंग्रेजों की ओर से कैसी दयालुता बरती गई, हम यह तो दिखा आये हैं, इस पर भी अंग्रेजों का कैनिंग को 'दयालु' कहना सूचित करता है कि साधारण अंग्रेजों के हृदय में जो प्रतिहिंसा की भूख थी, वह अनन्त थी। वह शायद भारत को निर्जीव कर देना चाहते थे। कैनिंग उनकी दृष्टि में दया करने का अपराधी था।

उस समय के अंग्रेजों द्वारा व्यंग्य-रूप में दिये हुए विशेषण से पूरी तरह सहमत न होते हुए भी हम इतना अवश्य कहेंगे कि लार्ड कैनिंग अन्य बहुत-से गवर्नर जनरलों की अपेक्षा अधिक दूरदर्शी और ठण्डे दिमाग का था। उसके समय में शासन के बिगड़े हुए ढांचे को सुधारने और नई परिस्थितियों के अनुकूल ढालने के लिए जो कदम उठाये गए, वे अंग्रेजी राज्य के हित में, और जनता के लिए भी बहुत उपयोगी थे।

लार्ड कैनिंग के समय के शासन-सम्बन्धी सुधारों में से मुख्य तीन हैं। उसके समय फौजदारी और दीवानी ज़ाप्ते के वे कोड कानून के रूप में स्वीकृत होकर चालू किये गए, जिन्हें लार्ड मैकाले ने तैयार किया था। कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में हाइकोर्टों की स्थापना हुई, और गवर्नर जनरल की कौंसिल में पोर्टफोलियो पद्धति चालित की गई। इस पद्धति का अभिप्राय यह था कि कौंसिल के सब सदस्यों को अलग-अलग विषय बाँट दिये गए। यह मंत्रिमंडल पद्धति (Cabinet system) का प्रारम्भ था।

कैनिंग के शासन-काल की एक विशेष स्मरणीय बात यह है कि कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में विश्वविद्यालय स्थापित किये गए।

कैनिंग के सामने जो सबसे कठिन समस्या थी, वह आर्थिक थी। विद्रोह से पहले भी भारत पर इंग्लैण्ड के कर्ज का बहुत बड़ा बोझ पड़ा हुआ था, विद्रोह के ख़र्चों ने तो उसमें ४० लाख पौण्ड की वृद्धि कर दी। अन्य कई मार्गों से, जिनकी चर्चा पहले हो चुकी है, भारत से विपुल धन-राशि प्रतिवर्ष इंग्लैण्ड को जाती रही थी। अब बढ़े हुए ऋण के सूद की राशि उसमें और जुड़ गई। बेचारा ग़रीब हिन्दुस्तान इतनी धनराशि कहाँ से लाता? इस समस्या को हल करने के लिए इंग्लैण्ड से जेम्स विल्सन नाम के एक अर्थ-विशेषज्ञ को भारत भेजा गया। उसने आर्थिक समस्या को सुलझाने के लिए तीन नये कर पेश किये। पहला इन्कम-टैक्स था, दूसरा व्यापारों और पेशों पर कर था, और तीसरा भारतीय तम्बाकू पर निर्यात-कर था। इनमें से उस समय तो केवल इन्कम-टैक्स ही स्वीकार किया गया; इस कारण कुछ कसर रह गई, जिसे पूरा करने के लिए विल्सन के उत्तराधिकारी मि० लेंग के परामर्श से सरकार ने वह बदनाम नमक-कर लगाया, जिसे हटाने के लिए महात्मा गान्धी को इतनी तपश्चर्या करनी पड़ी।

देश का वातावरण बहुत कुछ शान्त हो गया था, इस कारण सेनाओं की संख्या में कमी करना आवश्यक समझा गया। गोरे सिपाहियों की संख्या ७६,००० तक और हिन्दुस्तानी सिपाहियों की संख्या १,२०,००० तक परिमित कर दी गई।

ये सब सुधार अच्छे थे; परन्तु यह स्पष्ट है कि इनका भारतवासियों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति से कोई सम्बन्ध नहीं था। वायसराय की कौंसिल और व्यवस्थापिका सभा केवल अंग्रेज सदस्यों से बनी हुई थीं, उनमें कोई भारतवासी नहीं था। सब सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत होते थे—अभी चुनाव-पद्धति की कोई चर्चा ही नहीं थी। सरकार के शासन-यन्त्र में धीरे-धीरे जो परिवर्तन हो रहे थे, उनसे शासन की आत्मा भारत से निकलकर इंग्लैण्ड में चली गई थी। शासन की बागडोर गवर्नर जनरल के हाथों से निकलकर सेक्रेटरी आव स्टेट के हाथ में जा रही थी। सेक्रेटरी आव स्टेट की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि वह न केवल भारत की सरकार के निश्चयों को, अपितु अपनी सलाहकार कमेटी की सम्मति को भी रद्दी की टोकरी में फेंक सकता था।

लार्ड कैनिंग का, जो १८६२ में अपने देश लौट गया, उत्तराधिकारी लार्ड एल्गिन अधिक दिनों तक शासन न कर सका। वह १८६२ के मार्च मास में भारत में आया, और १८६३ समाप्त होने से पहले ही मर गया।

१८६४ के आरम्भ में भारत के गवर्नर जनरल और वायसराय के पद पर सर जान लारेंस को नियुक्त किया गया। सर लारेंस का चुनाव बहुत सोच-विचार के अनन्तर किया गया। भारत में उस समय शान्ति थी, परन्तु उसकी सीमाओं पर दो जगह सरसराहट थी। भूटान का राज्य तो छोटा-सा था, परन्तु भारत सरकार उससे बहुत असन्तुष्ट थी, क्योंकि उस छोटे-से राज्य के शासक का व्यवहार 'गुस्ताखी

से भरा हुआ' समझा जा रहा था। भारत सरकार को बड़ी चिन्ता रूस की हो रही थी, जिसका भूत उन दिनों भी ब्रिटिश नीतिज्ञों की नींद हराम कर रहा था। भारत की ओर रूस की प्रगति को रोकने के लिए अफगानिस्तान का नियन्त्रण आवश्यक समझा जा रहा था। इन दोनों कार्यों के लिए किसी दृढ़ इच्छाशक्ति-वाले ज़ोरदार शासक की आवश्यकता थी। सर जान लारेंस को ऊँचे सरकारी हल्कों में बहुत आदर से देखा जाता था। विशेष रूप से क्रान्ति के दिनों में उसने पंजाब को जिस सफलता से संभाला, और क्रान्ति के दबाने में भारत सरकार का सहायक बना दिया, उसके कारण सर लारेंस को बहुत ही भरोसे का व्यक्ति माना जाता था। जब अकस्मात् एल्गिन की मृत्यु हो गई, तब लारेंस इण्डिया कौंसिल का सदस्य था। वह भारत को ख़ूब जानता था, और सबसे बड़ी बात यह थी कि भारत की भाषाएं बोल भी सकता था। गवर्नर जनरल के पद पर उसकी नियुक्ति से प्रायः सभी को सन्तोष हुआ।

देश की शासन-व्यवस्था में, सर लारेंस के समय में, कोई विशेष महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुए। लाहौर में एक दरबार हुआ, जिसमें लारेंस ने हिन्दुस्तानी में भाषण दिया। ब्रिटिश राज्य में यह पहला अवसर था कि एक गवर्नर जनरल सार्वजनिक रूप से लोगों की भाषा में बोला। इस बात को बहुत महत्वपूर्ण समझा गया।

सर लारेंस किस ढंग का शासक था, इसका अनुमान उस मूर्ति से लगाया जा सकता है, जो किसी दिन लाहौर के एक प्रमुख स्थान पर खड़ी थी। उसके नीचे लिखा था:

"क्या तुम तलवार से शासित होना चाहते हो या कलम से?"

जब भारतवासियों ने तलवार और कलम दोनों से शासित होने से इनकार कर दिया, तब वह मूर्ति उठाकर अजायबघर में रख दी गई, परन्तु लगभग एक सौ वर्षों तक वह गर्व-भरी मूर्ति भारतवासियों के आत्मसम्मान को ललकारती रही।

१८६६ में उड़ीसा में भयंकर अकाल पड़ा। उन दिनों उड़ीसा में रास्तों की व्यवस्था अच्छी नहीं थी। किसान लोग बहुत निर्धन थे। अनावृष्टि के कारण अन्न-कष्ट होने पर सरकार विशेष सहायता न पहुंचा सकी। परिणाम यह हुआ कि प्रान्त के कई प्रदेशों के निवासी भूखों मर गए। दुर्भिक्ष-कमीशन की रिपोर्ट की निम्नलिखित पंक्तियां दुर्भिक्ष-पीड़ितों की दयनीय दशा को सूचित करती हैं:

> "मार्ग-रहित जंगलों और दुस्तर समुद्र के बीच में फंसे हुए निवासियों की दशा जहाज के उन यात्रियों-जैसी थी, जिनके पास खाने को कुछ नहीं।"

उस अकाल से लगभग २० लाख व्यक्तियों के मरने का अनुमान लगाया गया है।

यद्यपि लारेंस अपने शासन-काल में देश के लिए कोई बहुत उपकार या उपयोग का काम नहीं कर सका, तो भी यह लगभग सर्वसम्मत बात है कि वायसराय

की हैसीयत से उसकी तबीयत का झुकाव प्रजा के हित की ओर था। उसने बार-बार भूमि-कर की वृद्धि और देश की प्रजा पर नये कर लादने का ज़ोरदार विरोध किया। इण्डियन कौंसिल के सदस्य सर एर्स्किन पैरी को एक निजी पत्र में सर लारेंस ने लिखा था :

"इन मामलों में सर्वथा न्यायपूर्ण मार्ग पर चलने में, भारत सरकार के सामने बहुत भारी कठिनाई आती है। यदि नेटिव लोगों की भलाई की दृष्टि से कोई काम किया जाय, या करने की चेष्टा भी की जाय, तो भारतीय गोरों की ओर से एक व्यापक बावेला मचाया जाता है, जिसकी प्रतिध्वनि इंग्लैण्ड में भी सुनाई देती है, जो सहानुभूति और सहायता प्राप्त कर लेती है। मैं तो कभी-कभी किंकर्तव्यता के बारे में चकरा जाता हूँ। प्रत्येक का दावा है कि वह सिद्धान्त रूप में न्याय, नरमी और ऐसे ही अन्य गुणों का समर्थक है, परन्तु जब कोई ऐसा मामला सामने आता है, जिसमें अपने हितों का सवाल होता है, तो दशा एकदम बदल जाती है।"

इसे हम उस समय भारत में रहनेवाले, या भारत से सम्बन्ध रखनेवाले अंग्रेजों की मनोवृत्ति का यथार्थ चित्र कह सकते हैं। न्याय, स्वाधीनता और नरमी उस समय योरप की राजनीति के प्रचलित शब्द थे; जो कुछ किया जाता था, इन्हीं शब्दों के पर्दे में किया जाता था—वस्तुतः कोरा स्वार्थ ही उस समय का मूलमंत्र था—जिसे इंग्लैण्ड के दार्शनिकों ने "utility" (उपयोगिता) का नाम देकर ऊंचे सिद्धान्त की गद्दी पर बिठाने का यत्न किया था।

एक और मामले में भी लारेंस को भारत का पक्ष लेकर, ब्रिटिश सरकार के निश्चय का विरोध करना पड़ा। १८६७ में इंग्लैण्ड की अबीसीनिया से लड़ाई हुई। उस लड़ाई में भाग लेने के लिए भारत के अंग्रेज सेनापति रौबर्ट नैपियर को भी भेजा गया। उस लड़ाई पर जो व्यय हुआ, उसका एक बड़ा भाग भारत पर डाल दिया गया। इस अन्यायपूर्ण निश्चय का विरोध करते हुए लार्ड लारेंस ने लिखा था :

"जहाँ तक मुझे मालूम है, म्यूटिनी को दबाने के लिए इंग्लैण्ड से जो ब्रिटिश सेनाएं भेजी गई थीं, उनका सारा ख़र्च हिन्दुस्तान के कोष से दिया गया था। . . .इस मामले में, अबीसीनिया में जो लड़ाई हुई, उससे भारत का कोई वास्ता नहीं है, और इस कारण मेरी सम्मति है कि उसके ख़र्च का कोई भाग हिन्दुस्तान पर न पड़ना चाहिए।"

लार्ड लारेंस का प्रतिवाद ठीक था, परन्तु ब्रिटिश सरकार के नक्कारखाने में वह कैसे सुना जाता ?

सरकार की विजय-तृष्णा ने एक और बोझ, भूटान-युद्ध के रूप में, भारत की प्रजा पर थोप दिया। भूटान से अंग्रेजी सरकार की नोक-झोंक चिरकाल से चली आती थी। विशेष रूप से १८२६ में बर्मा को जीतने के पश्चात् ब्रिटिश शक्ति छोटे-से भूटान राज्य की सीमा से जा टकराई। इसी में उस बेचारे की मुसीबत

आ गई। पहले यह शिकायत हुई कि भूटान की ओर से बंगाल और आसाम की सीमाओं पर आक्रमण होते रहते हैं, कुछ दिन के बाद यह चिल्लाहट सुनाई दी कि भूटान के लोगों ने लार्ड एल्गिन के विशेष दूत का अपमान कर दिया है। बस इतना बहाना काफ़ी था। अंग्रेजी सरकार की सेनाएं पहले की हुई सन्धि को पांव तले रौंदकर भूटान पर चढ़ गईं। भूटान को अपने कई प्रवेश-द्वार अंग्रेजों को सौंप देने पड़े, जिनके बदले में अंग्रेजों ने भूटान राज्य को एक बड़ी राशि 'सब्सिडी' के रूप में देना स्वीकार किया।

और इस तरह भूटान के युद्ध का खर्च भी भारत के कोष पर पड़ा।

: ८ :

अफगानिस्तान और बर्मा

हमने देखा कि राजमुकुट के अधीन हो जाने पर भी भारत की सरकारी आर्थिक नीति का मुख्य आधार ब्रिटेन का हित था, भारत का हित नहीं। अब हम देखेंगे कि भारत सरकार की विदेशी नीति भी पूर्ण रूप से इंग्लैण्ड की योरोपियन विदेश नीति को दृष्टि में रखकर बनाई जाती थी। भारत या भारतवासियों का किसी देश से मित्रता रखने में भला है या शत्रुता रखने में, भारत पर शासन करनेवालों का इस पर उतना ध्यान नहीं रहता था, जितना इस बात पर कि भारत के समीपवर्ती किस देश पर आक्रमण करने से योरप में इंग्लैण्ड की स्थिति दृढ़ होगी, या ब्रिटिश साम्राज्य की सीमाओं की वृद्धि होगी।

हम यह बतला आये हैं कि सन् ५७ के विद्रोह के समय अफगानिस्तान के अमीर ने अंग्रेजी सरकार से किये हुए वायदों का आदर करते हुए भारत की अशान्त परिस्थिति से लाभ उठाने का यत्न नहीं किया था। वह सरकार का मित्र बना रहा और देश की सीमा पर किसी प्रकार की छेड़छाड़ नहीं की। यह स्पष्ट हो गया था कि अफगानिस्तान की सरकार अंग्रेजी सरकार से मित्रता निभाना चाहती है।

परन्तु ब्रिटिश सरकार तो साम्राज्यवाद के वाहन पर सवार थी। वह तो प्रत्येक घटना को अपने साम्राज्य के विस्तार और दृढ़ता के दृष्टिकोण से देखती थी। उसके साम्राज्य का बढ़ता हुआ कदम जिस दिशा में रुक जाता था या उसके फैले हुए साम्राज्य को जिस ओर से संकट दिखाई देता था, वह अपनी सारी युद्ध-शक्ति को उसी ओर झुका देती थी। १९वीं सदी के आरम्भ में उसकी आशंकाओं का केन्द्र फ्रांस बना हुआ था तो मध्य भाग में रूस उसकी कंपकंपी का कारण बन गया था।

१८५५ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार ने अफगानिस्तान के अमीर

दोस्त मुहम्मद से एक इकरारनामा किया था, जिसमें यह शर्त रखी थी कि अमीर और ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक-दूसरे के दोस्त तो रहेंगे ही, एक-दूसरे के दोस्तों के दोस्त और दुश्मनों के दुश्मन भी रहेंगे।

१८६२ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को यह शिकायत हुई कि दोस्त मुहम्मद ने उनसे सलाह किये बिना ही हिरात पर अधिकार कर लिया है। गवर्नर जनरल ने अमीर के पास विरोध-पत्र भेजकर जवाब-तलबी की। अभी यह मामला चल ही रहा था कि दोस्त मुहम्मद मर गया।

अमीर के मरने पर मुसलमान राज्यों की प्राचीन प्रथा के अनुसार उसके लड़कों में गद्दी के लिए लड़ाई छिड़ गई। सभी लड़कों ने अंग्रेजी सरकार से अपने-अपने लिए सहायता मांगी। उस समय अंग्रेजों में दो मत हो गए। कुछ लोगों की राय थी कि किसी एक उम्मीदवार की पीठ पर हाथ रखकर उसे सफल बना दिया जाय ताकि वह अपना पूरा सहायक बन जाय। दूसरा मत यह था कि अंग्रेजी सरकार गद्दी के झगड़े से सर्वथा उदासीन रहे और सब भाइयों को लड़कर थकने दे। उनमें से जो जीतकर अमीर की गद्दी पर अधिकार प्राप्त कर ले, उसी को बधाई दे दी जाय। लार्ड लारेंस का यही मत था। उस समय उसकी इस उपेक्षा नीति का पर्याप्त विरोध किया गया, परन्तु वह अपनी बात पर दृढ़ रहा, और अपनी सरकार को भाइयों के झमेले से अलग रखा।

अन्त में, सब प्रतिस्पर्धियों को हटाकर शेरअली कामयाब हो गया। उसके गद्दीनशीन होते ही लार्ड लारेंस ने उसे बधाई का सन्देश भेज दिया। उधर शेरअली इस बात से बहुत असन्तुष्ट था कि आड़े वक्त में भारत की सरकार ने उसका साथ नहीं दिया। उसके दिल में अंग्रेजों की नीति के सम्बन्ध में यह भावना बैठ गई कि वह केवल स्वार्थ पर अवलम्बित है, उसमें दोस्ती या उदारता आदि के लिए कोई स्थान नहीं।

उन्हीं दिनों रूस के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि मध्य एशिया में अपने साम्राज्य का विस्तार किया जाय। १८६६ से १८६८ तक, उसकी सेनाएं बुखारा, समरकन्द आदि स्थानों पर अधिकार करती हुई आगे बढ़ने का प्रयत्न करती रहीं।

तब अंग्रेजों को चिन्ता हुई। भारत सरकार को मालूम था कि शेरअली उनके व्यवहार से असन्तुष्ट है। लार्ड लारेंस ने आवश्यक समझा कि उसे सन्तुष्ट किया जाय। मित्रता के चिह्न के रूप में सरकार ने उसके पास हथियार और रुपये भेजे। लार्ड लारेंस के उत्तराधिकारी लार्ड मेयो ने यह रिश्वत जारी रखी। उधर अमीर स्वयं रूस से डर रहा था, और अपने-आपको अंग्रेजों की गोद में डालने को तैयार था। १८६९ में, अम्बाले में, अमीर शेरअली और लार्ड मेयो की परस्पर भेंट हुई। रूस से होनेवाले ख़तरे और तत्सम्बन्धी अन्य मामलों पर बातचीत हुई। अन्त में भारत सरकार की ओर से अमीर के नाम एक पत्र लिखा गया, जिसमें गवर्नर जनरल ने विश्वास दिलाया कि यदि अफगानिस्तान विदेशी नीति में पूरी तरह भारत सरकार की सलाह के अनुसार चलता रहेगा तो उसे धन, जन और

हथियारों की सहायता जारी रहेगी। गवर्नर जनरल का यह पत्र अमीर के लिए बहुत सन्तोषजनक नहीं था, परन्तु लन्दन में बैठे हुए सेक्रेटरी आव स्टेट ने उसे भी आवश्यकता से अधिक उदार समझा। उसने आश्वासन का यह रूप बना दिया कि "हमारी अफगानिस्तान के प्रति वही नीति रहेगी जो अब तक रही है।" स्वभावतः शेरअली का असन्तोष और भी अधिक गहरा हो गया, जिसका अन्तिम परिणाम उस समय प्रकट हुआ जब लगभग ९ वर्षों के पश्चात् भारत सरकार को लाखों रुपये व्यय करके भी फिर अफगानिस्तान को जीतकर मित्र बनाना पड़ा। यदि १८६९ में शेरअली के मन के खटके को दूर कर दिया जाता, तो १८८७ में भारत के करदाताओं की पीठ पर एक और खर्चीले युद्ध का बोझ न लादना पड़ता।

ब्रिटिश सरकार की साम्राज्य को बढ़ाने और अन्य देशों पर विजय पाने की इच्छाओं के विरुद्ध की गई घोषणाओं की परीक्षा तब हुई, जब १८७६ में भारत सरकार ने बर्मा के राजा से स्वयं छेड़छाड़ शुरू कर दी। बर्मा के अराकान आदि तीन दक्षिणी जिलों पर अंग्रेज पहले ही अधिकार जमा चुके थे। १८६२ और १८६७ की सन्धियों से बर्मा के अन्य प्रदेशों में अंग्रेजों के व्यापारिक अधिकार भी सुरक्षित हो चुके थे। परन्तु उतने से भारत सरकार सन्तुष्ट नहीं थी। १८८४ में वह इस निश्चय पर पहुंच गई कि अब सारे बर्मा पर यूनियन जैक का लहराना आवश्यक है। इस निश्चय पर पहुंचने का कारण भी वैसा ही हुआ, जैसा अफगानिस्तान से उलझने का हुआ था। वहां रूस का डर था, यहाँ फ्रांस का डर आ गया। कुछ वर्षों से फ्रांस कोचीन-चाइना पर अधिकार जमाकर बर्मा की सीमा की ओर बढ़ रहा था। जब उसका बढ़ा हुआ पांव टोकिन पर जम गया, तो भारत सरकार को भय हुआ कि कहीं बर्मा की खेती को फ्रांस न काट ले। उसने निश्चय किया कि अब बर्मा को अपनी छत्रछाया में सुरक्षित कर लेना चाहिए।

लड़ाई के लिए कोई बहाना चाहिए और जब मन में लड़ने की ठान ली जाय तो बहाना मिलना क्या कठिन होता है। बम्बई की एक अंग्रेजी कम्पनी स्वतन्त्र बर्मा में व्यापार करती थी। बर्मा की सरकार ने उस पर लगभग अढ़ाई लाख पौण्ड का जुर्माना लगा दिया। कम्पनी ने अंग्रेजी सरकार का दरवाज़ा खटखटाया। अंग्रेजी सरकार ने बर्मी सरकार से यह मांग की कि कम्पनी का मामला किसी स्वतन्त्र पंच के सुपुर्द कर दिया जाय, परन्तु बर्मा की सरकार ने इसे अपनी स्वतन्त्रता में अनुचित हस्तक्षेप समझा। बात बढ़ती गई, जिसका अन्तिम रूप यह हुआ कि भारत के वायसराय लार्ड डफ़रिन ने बर्मा के राजा थीबौ को निम्नलिखित आशय का अल्टीमेटम दिया :

(१) मांडले में अंग्रेजी सरकार का एक स्थायी प्रतिनिधि (रेज़ीडेण्ट) रहेगा, जो बर्मा के राजा के पास जूता उतारने या घुटनों के बल झुकने-जैसी अपमानजनक प्रक्रियाओं के बिना जा सकेगा।

(२) बर्मा की विदेशी नीति अंग्रेजों के हाथ में रहेगी।

(३) बौम्बे-बर्मा ट्रेडिंग कार्पोरेशन का झगड़ा पंच की हैसीयत से वायसराय के सुपुर्द किया जायगा।

(४) बर्मा की सरकार यून्नान के साथ व्यापार करने में अंग्रेजों की सहायता करेगी।

बर्मा के राजा ने इन शर्तों को अपने लिए अपमानजनक समझा और मानने से इनकार कर दिया। इस पर भारत सरकार की सेनाएं १८८५ के नवम्बर मास में मांडले पर चढ़ गईं और राजा को गिरफ्तार कर लिया। राजधानी तो जीत ली गई, परन्तु गाँव और पहाड़ों में गुरिल्ला युद्ध लगभग पांच वर्षों तक जारी रहा, अन्त में बर्मा का उत्तरीय भाग भी पूरी तरह ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया—और इस तरह रानी विक्टोरिया के मुकुट में बर्मा प्रान्त का एक अतिरिक्त फुन्दा लहराने लगा।

विद्रोह के पश्चात विदेश में लड़े गए तीन युद्धों के व्यय का बोझ भारत पर लादा गया। पहला अबीसीनिया का युद्ध था, जिसका भारत से पास या दूर—किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं था। अफगानिस्तान से जो छेड़छाड़ शुरू की गई, उसका भी भारत की जनता के हितों से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह छेड़-छाड़ अन्त में आक्रमण के रूप में परिणत हो गई, जिससे भारतीय कोष पर लाखों की चोट पड़ी। बर्मा को जीतकर ब्रिटिश साम्राज्य का भाग बना लिया गया। उस पर जो व्यय हुआ उसका भारतवासियों की भलाई से कोई सम्बन्ध नहीं था। परन्तु उसके व्यय का बोझ भी भारत की गरीब प्रजा को ही उठाना पड़ा।

ऐसे युद्धों से, आर्थिक बोझ के अतिरिक्त, एक और बहुत भारी हानि भी हो रही थी। भारत के सिपाहियों को युद्ध करने के लिए ऐसे देशों में भेजा जाता था, जिनसे उनके देश का कोई झगड़ा नहीं था। जिन पर आक्रमण किया जाता था, वे देश भारतवासियों को कितनी घृणा की दृष्टि से देखते होंगे, उसका अनुमान लगाया जा सकता है। अंग्रेज उनके शत्रु थे, वे आक्रान्त थे, ऐसी दशा में शत्रु अंग्रेज सिपाहियों पर असीम क्रोध कर सकते थे, उनका सर्वनाश करने का संकल्प भी कर सकते थे; परन्तु उनका यह सोचना भी स्वाभाविक था कि इन हिन्दुस्तानियों का हमने क्या बिगाड़ा है, जो हम पर गोली चलाने आये हैं? इस प्रश्न का एक ही उत्तर था कि हिन्दुस्तानी गुलाम हैं, इस कारण किससे लड़ें और किससे नहीं, यह निश्चय करने की स्वतन्त्रता नहीं रखते। इंग्लैण्ड के युद्धों में गुलाम सिपाही बनकर जाना भारतीय सैनिकों की वीरता पर हीनता की मुहर लगा देता था। फलतः विरोधी देश भारतवासियों को अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखने लगते थे। अंग्रेजी राज्य भारत में ज्यों-ज्यों विस्तृत होता जा रहा था, संसार की दृष्टि में भारत का मान घटता जा रहा था।

: ९ :

इधर घोर दुर्भिक्ष : उधर शाही दरबार

अंग्रेजी शासन की दो सदियों में, भारत सदा बाहर की परिस्थितियों का शिकार बनता रहा, उसकी अपनी भलाई-बुराई गौण समझी गई। कम्पनी के समय डायरेक्टरों की धन-तृष्णा भारत की शासन-नीति का निर्णय करती थी, तो रानी के राज्य-काल में भारत के भाग्यों का निपटारा, इंग्लैण्ड की पार्लमिण्ट में, पार्टियों के जय-पराजय को दृष्टि में रखकर होता था। इंग्लैण्ड की हुकूमत उदार-दल (लिबरल पार्टी) के हाथ में हुई तो भारत के शासन में कुछ नरमी आ जाती थी, और यदि वहाँ का तापमान तेज हो गया और शासन की बागडोर अनुदार दल (कन्सर्वेटिव पार्टी) के हाथ में चली गई तो शिकंजा एकदम कसा जाने लगता था, और कम्पनी के समय से भी अधिक कठोर नीति प्रयोग में आने लगती थी।

१८६९ में, लार्ड लारेंस भारत से विदा हो गया, और उसके स्थान पर लार्ड मेयो ने वायसराय की गद्दी संभाली। इंग्लैण्ड में उन दिनों उदार दल का शासन था। उदार दल का प्रसिद्ध नेता ग्लैडस्टन प्रधानमन्त्री था। वायसराय कोई हो, उसे वही नीति अंगीकार करनी पड़ती थी, जो इंग्लैण्ड के मन्त्रिमण्डल की हो। मेयो के शासन-काल में भारत की विदेशी नीति लगभग वही रही, जो लारेंस के समय में थी। वह अम्बाले में अफगानिस्तान के नये अमीर से मिला, और परस्पर सम्पर्क द्वारा मित्रता बढ़ाने का यत्न किया। आन्तरिक शासन में लार्ड मेयो ने दो कार्य ऐसे किये, जो उसके यश पर दो बड़े-बड़े काले धब्बों के समान दिखाई देते हैं। उसने इन्कम-टैक्स की मात्रा १ से २½ प्रतिशत कर दी और फिर ३⅛ प्रतिशत। उसने नमक-कर की मात्रा भी बढ़ा दी। प्रजा पर यह नया बोझ यह कहकर डाला गया कि इससे उस ऋण में कमी की जायगी, जो इंग्लैण्ड का भारत पर चढ़ा हुआ है। दुहरी ग़रीब मार इसे कहते हैं।

आगे चलकर लार्ड मेयो से भारत को राहत मिलती या कष्ट, यह कहना कठिन है, क्योंकि एक अफगान के छुरे ने उसके जीवन को बीच में ही काट दिया। १८७२ में वह जन्म-कैदियों की बस्तियों के निरीक्षण के लिए अण्डमान द्वीप के दौरे पर गया हुआ था, जब एक पठान कैदी ने उस पर छुरे से वार किया, जिससे उसकी तत्काल मृत्यु हो गई।

उसके स्थान पर लार्ड नार्थब्रुक को वायसराय नियुक्त किया गया। नार्थब्रुक भी मध्यम वृत्ति का आदमी था, उसी लारेंस और मेयो की डाली हुई लीक पर चलता रहा। १८७५ में जब बिहार और बंगाल में दुर्भिक्ष की आशंका हुई तब नार्थब्रुक ने काफ़ी सावधानी और मुस्तैदी का परिचय दिया; जिसका परिणाम यह हुआ कि अकालपीड़ितों को समय पर सहायता पहुँच गई, और मृत्यु-संख्या अधिक नहीं बढ़ी। १८७५ में इंग्लैण्ड का युवराज (जो पीछे से सप्तम एडवर्ड

के नाम से सिंहासनस्थ हुआ) भारत में आया और स्वागत-सत्कार से सन्तुष्ट होकर वापिस गया।

नार्थब्रुक के शासन-काल में एक ऐसी घटना हो गई जिससे उस शान्ति के समय में भी अंग्रेजों और भारतवासियों के दृष्टिकोण की भिन्नता बहुत स्पष्ट रूप से प्रकट हो गई। बड़ौदा के शासक मल्हारराव गायकवाड़ के बारे में यह शिकायत थी कि उसका शासन बहुत रद्दी है। सरकार का आरोप था कि शासनाधिकार प्राप्त करने के समय से ही मल्हारराव कुमार्ग पर चलता रहा है। १८७४ में एक कमीशन बिठाया गया, जिसने सम्मति दी कि राजा ने अपने भाई के सम्बन्धियों से दुर्व्यवहार, स्त्रियों पर अत्याचार और व्यापारियों को लूटने आदि अपराध किये हैं। उस पर सबसे बड़ा आरोप यह लगाया गया था कि उसने अंग्रेज रेज़ीडेण्ट को विष दिलाने का प्रयत्न किया। आरोप संगीन समझे गए, इस कारण उनकी जांच के लिए ५ जजों की कचहरी नियुक्त की गई। उसमें से तीन अंग्रेज थे, और दो हिन्दुस्तानी। जब कचहरी का फैसला प्रकाशित किया गया, तो एक कुहराम-सा मच गया। तीनों अंग्रेजों ने मल्हारराव को दोषी और दोनों हिन्दुस्तानियों ने उसे निर्दोष ठहराया। अब तो सरकार बड़ी उलझन में पड़ी। अन्त में, सरकार ने उन आरोपों को तो उठाकर ताक में रख दिया और अपने चक्रवर्ती शासन के अधिकार को व्यवहार में लाकर और कुप्रबन्ध का दोषी ठहराकर मल्हारराव को गद्दी से उतार दिया। वह अपराधी था या नहीं, परन्तु क्योंकि सरकार उससे रुष्ट थी, इस कारण वह पदच्युत कर दिया गया––सर्वसाधारण जनता का इस परिणाम पर पहुंचना स्वाभाविक ही था।

१८७४ में इंग्लैण्ड का तख्ता पलट गया। शासन-सूत्र उदार दल के हाथ से निकलकर अनुदार दल के हाथ में चला गया। मि० ग्लैडस्टन के स्थान पर मि० बेंजिमन डिज़राईली प्रधानमन्त्री बना। इस परिवर्तन के साथ ही इंग्लैण्ड की भारत-सम्बन्धी नीति में भी उलट-फेर हो गया। ग्लैडस्टन शान्ति-प्रेमी नीतिज्ञ था, वह युद्ध से यथासम्भव बचना चाहता था, मि० डिज़राईली पहले दर्जे का साम्राज्यवादी और आग का परकाला था। वह उग्र नीति का प्रबल समर्थक था। मि० ग्लैडस्टन की नीति यह थी कि रूस से समझौता करके शान्ति स्थापित की जाय। डिज़राईली ने निश्चय किया कि रूस के हाथ-पांव बांधकर उसे असमर्थ कर दिया जाय। इसी नीति के अनुसार उसने अफगानिस्तान पर ब्रिटेन का सिक्का जमाने की योजना बनाई और नये भारत सचिव लार्ड सालिसबरी को आदेश दिया कि वह उस नीति को पूरा करे। लार्ड सालिसबरी ने १८७५ में लार्ड नार्थब्रुक को एक पत्र भेजा, जिसमें यह सुझाव दिया कि अफगानिस्तान में ब्रिटिश राजदूत रखने की व्यवस्था की जाय। लार्ड नार्थब्रुक जानता था कि अफगानिस्तान इस प्रस्ताव को किसी दशा में भी स्वीकार न करेगा। उसने लार्ड सालिसबरी को जो उत्तर दिया, उसमें अफगानिस्तान के सम्बन्ध में उस नीति का समर्थन किया, जिस पर कैनिंग और लारेंस चलते रहे थे। वायसराय की कौंसिल के सभी सदस्यों ने सम-

र्थन के रूप में वायसराय के उत्तर पर हस्ताक्षर कर दिये थे। लार्ड सालिसबरी को वायसराय का पत्र बहुत अप्रिय मालूम हुआ, और उसने फिर वायसराय पर जोर दिया कि वह यदि सीधी तरह नहीं, तो किसी बहाने से ही सही, अफगानिस्तान में ब्रिटिश-मिशन भेजने की व्यवस्था करे। लार्ड नार्थब्रुक इस धोखाधड़ी के भी विरुद्ध था। उसने एक जोरदार पत्र द्वारा भारत मन्त्री के सुझाव का कड़ा विरोध किया और साथ ही, प्रधानमन्त्री के पास अपना त्यागपत्र भेज दिया। प्रधान मन्त्री और भारत सचिव तो शायद पहले ही आज्ञा पालन न करनेवाले वायसराय से ऊब चुके थे। नार्थब्रुक का त्यागपत्र एकदम स्वीकार कर लिया गया, और उसके स्थान पर १८५८ में लार्ड लिटन को भारत का वायसराय नियुक्त कर दिया गया।

लार्ड लिटन के वायसराय का पद संभालने के साथ देश के शासन में जो नया दौर शुरू हुआ उसने वही पुराने कम्पनी के दिन याद करा दिये।

लार्ड लिटन मि० डिज़राईली का विश्वासपात्र आदमी था। डिज़राईली ने लिटन को वायसराय का पद पेश करते हुए जो पत्र लिखा था, वह उसके भरपूर भरोसे का सूचक है। पत्र में लिखा था :

> "लार्ड नार्थब्रुक ने केवल अपने निजी कारणों से भारत के वायसराय-पद से त्यागपत्र दे दिया है। वह भारत से वापिस आ जायगा। यदि तुम अनुमति दो तो मैं तुम्हारा नाम रानी के सामने रख दूं। मध्य एशिया की नाजुक स्थिति को संभालने के लिए एक चतुर नीतिज्ञ की आवश्यकता है। यदि तुम इस पद को स्वीकार कर लोगे, तो न केवल अपने देश की सेवा, अपितु चिरस्थायी यश भी प्राप्त करोगे।"

इन आशाओं और आश्वासनों से उत्साहित होकर लार्ड लिटन ने वायसराय-पद पर नियुक्त होना स्वीकार कर लिया। १८७६ के अप्रैल मास में उसने लार्ड नार्थब्रुक से कार्यभार संभाल लिया।

लिटन का सबसे पहला काम अफगानिस्तान का मान-मर्दन करना था। नये वायसराय ने उसका प्रारम्भ तुरन्त ही कर दिया। उसने अपने दूत के हाथ अमीर को एक पत्र भेजा, जिसमें सूचना दी गई थी कि तीन अंग्रेजों का एक मिशन, वायसराय की ओर से, अमीर को रानी विक्टोरिया के "भारत की महारानी" इस उपाधि को अंगीकार करने का शुभ समाचार देने के लिए भेजा जायगा। अमीर निरा बुद्धू नहीं था। वह अंग्रेजों को बहुत कुछ समझ गया था। वह जानता था कि अंग्रेजों का जो मिशन काबुल आयगा, वह फिर आसानी से नहीं जायगा। उसे यह भी डर था कि अपनी स्वाधीनता को प्राणों से भी अधिक चाहनेवाली अफगान प्रजा मिशन पर आक्रमण भी कर सकती है। फलतः उसने मिशन को भेजने का विरोध किया।

लिटन इससे चिढ़ गया। उसने अमीर को धमकियों से भरे हुए सन्देश भेजकर चाहा कि वह सीधे रास्ते पर आ जाय, परन्तु लिटन का बतलाया हुआ सीधा रास्ता अमीर को उल्टा लगा। उसने वायसराय को अपना दृष्टिकोण समझाने

के लिए एक दूत भेजा, जो शिमले जाकर लार्ड लिटन से मिला। दूत ने वायसराय को बतलाया कि अमीर को अंग्रेजी सरकार के भेजे हुए अस्थायी मिशन के काबुल पहुँचकर स्थायी हो जाने का डर है और स्थायी मिशन को अफगान लोग नहीं चाहते। इस उत्तर से वायसराय असन्तुष्ट हो गया और डरा-धमकाकर दूत को वापिस कर दिया।

अब अफगानिस्तान पर आक्रमण की तैयारी होने लगी। भारत सरकार ने पहला काम यह किया कि किलात के खान को फुसलाकर उससे क्वेटा ले लिया, और दूसरा काम यह किया कि काश्मीर के दीवालिया राजा को आर्थिक सहायता देकर गिलगित की छावनी पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार आक्रमण से पहले लार्ड लिटन ने अफगानिस्तान की सीमाओं पर मानो दो घाव कर दिये।

१८७७ में मद्रास में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ गया। राजमुकुट के नीचे आने के पश्चात भारत पर दुर्भिक्ष का यह छठा आकमण था। पहले आक्रमण १८३७, १८६६, १८६७, १८६९ और १८७४ में हो चुके थे। उनमें से कोई भी दुर्भिक्ष इतना भयानक नहीं था, जितना १८७७ का। ७७ के दुर्भिक्ष ने सारे मद्रास प्रान्त को उजाड़ दिया। गांव-के-गांव बिलकुल खाली हो गए। १८७७ और १८७८ में मद्रास प्रान्त में न्यून-से-न्यून ५० लाख मनुष्य अकाल के ग्रास हो गए। अकाल के पीछे-पीछे बुखार और हैजा आ गए। उन्होंने प्रान्त का सर्वनाश ही कर दिया।

इस दुर्भिक्ष के इतना विकराल और सर्वनाशी रूप धारण करने का एक कारण लार्ड लिटन की अनुदार नीति भी थी। लार्ड नौर्थब्रुक के समय में बिहार-बंगाल में जो अकाल पड़ा था, उसमें सरकार ने सहायता पहुंचाने में बहुत फुर्ती और उदारता से काम लिया था। उसका परिणाम यह हुआ था कि हानि रुक गई थी। लार्ड लिटन की नीति उससे विपरीत थी। उसकी सम्मति थी कि अकाल से लड़ना प्रकृति (नेचर) से लड़ना है, उसमें हमें हारना ही पड़ेगा। १८७४ में बंगाल के दुर्भिक्ष-पीड़ित इलाकों को सहायता देने की जो नीति बरती गई थी, वह लिटन की राय में फिजूलखर्ची से भरी हुई थी। १८७७ में सरकार ने अपनी मुट्ठी बन्द कर ली और 'नेचर' को अपना खेल दिखाने का पूरा अवसर दे दिया।

इधर मद्रास की प्रजा भूख के मारे तड़प रही थी, और उधर दिल्ली में एक शानदार दरबार की तैयारियां हो रही थीं। १८७७ के जनवरी मास की पहली तारीख के दिन दिल्ली में बड़ी सजधज के साथ दरबार किया गया, जिससे लार्ड लिटन ने यह घोषणा की कि रानी विक्टोरिया Empress of India—भारत की राजराजेश्वरी हो गई हैं। इसे मि० डिज़राईली और लार्ड लिटन की बुद्धि का चमत्कार ही समझना चाहिए कि भारत पर रानी का सीधा प्रभुत्व होने के १० वर्ष पश्चात देश के करोड़ों रुपये व्यय करके, और ढोल बजाकर यह घोषणा करना आवश्यक समझा गया कि वह भारत की राजराजेश्वरी हो गई हैं।

रानी की नई उपाधि और लार्ड लिटन के दरबार के सम्बन्ध में स्वयं इंग्लैण्ड में काफ़ी विरोध हुआ। पार्लमेण्ट में उस समय विरोधी दल के नेता मि० ग्लैडस्टन ने एक बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया था और उसका उत्तर प्रधानमन्त्री मि० डिज़राईली से पूछा था। मि० ग्लैडस्टन ने कहा था :

"क्या यह सच हैं कि हम हिन्दुस्तान का शासन केवल उन्हीं कानूनों के अनुसार करते हैं, जिन्हें हम अपनी मर्जी से बना देते हैं? और क्या यह सच है (और मेरी राय में यह सच है) कि हम हिन्दुस्तान को शासन में स्वाधीन भागीदार नहीं बना सके? यदि यह सच है तो मैं यह प्रश्न माननीय प्रधानमन्त्री पर ही छोड़ता हूं कि हमारी रानी को भारत की साम्राज्ञी उद्घोषित करके उस सत्य का डंके की चोट से अभिमानपूर्वक प्रचार करना कहाँ तक उचित है?"

कई सदस्यों ने ब्रिटिश पार्लमेण्ट में यह आपत्ति उठाई कि जब भारतवासियों को यह विश्वास दिलाया गया है कि कानून की दृष्टि में रानी की सारी प्रजा एक समान है तो यह भेद क्यों किया जा रहा है कि इंग्लैण्ड में तो विक्टोरिया कानून से बंधी हुई रानी है, और भारत में वह एम्प्रेस (महारानी) होगी, जिसका अर्थ यह समझा जायगा कि वह कानून से ऊपर होगी।

भारत में उस समय सार्वजनिक जीवन इतना निर्बल था कि घोर दुर्भिक्ष के साथ-साथ खर्चीले दरबार करने, अथवा विक्टोरिया के एम्प्रेस उपाधि धारण करने के विरोध में कोई आवाज़ नहीं उठाई जा सकी। अभी भारतवासी इस विश्वास में मस्त थे कि जब तक महारानी विक्टोरिया की घोषणा विद्यमान है, तब तक अंग्रेजी सरकार चाहे कुछ करे, भारतवासियों का अहित नहीं हो सकता।

यदि लार्ड लिटन केवल दरबार की धूमधाम से ही सन्तुष्ट हो जाता, तो शायद बोझ से दबे हुए भारत की कमर न टूटती, परन्तु प्रतीत होता है कि वह तो वैल्ज़ली और हेस्टिंग्ज़ को मात देने पर तुला हुआ था। उसके सिर पर अफगानिस्तान का सिर झुका देने की धुन सवार थी। उसे लड़ाई के लिए कोई बहाना चाहिए था। वह भी मिल गया। १८७८ के जून मास में रूस की सरकार ने अपना एक दूत सुलहनामा लेकर अमीर के पास भेजने का निश्चय किया। अमीर डरता था कि यदि उसने रूस के राजदूत को काबुल में आने दिया तो वह अंग्रेजों के राजदूत को भी आने से न रोक सकेगा। उसने रूस को रोकने का यत्न किया परन्तु उसकी एक न सुनी गई, और रूस का प्रतिनिधि सन्धि करने के लिए काबुल पहुंच गया।

इस पर लार्ड लिटन ने अमीर को सूचना दी कि अंग्रेज सरकार का राजदूत शीघ्र ही काबुल भेजा जायगा, और इससे पहले कि काबुल से स्वीकृति आती अंग्रेजी सरकार का मिशन दर्रा ए खैबर के रास्ते से अफगानिस्तान में प्रविष्ट हो गया। मिशन कुछ दूर तक निर्विघ्न चला गया, परन्तु अली मस्जिद पर अफगानिस्तान के अधिकारियों ने उसे रोककर वापिस कर दिया। इस पर लार्ड लिटन ने अमीर को एक अल्टीमेटम भेजकर सूचना दी कि २० नवम्बर तक मिशन को अंगीकार

करो, अथवा युद्ध होगा। अमीर ने लार्ड लिटन को तो कोई उत्तर न दिया, और रूस से सहायता की प्रार्थना कर दी। इसी बीच में योरप में बर्लिन की सन्धि द्वारा शान्ति स्थापित हो गई थी। फलतः रूस ने इंग्लैण्ड के विरुद्ध लड़ाई में पड़ने से इनकार कर दिया। भारत सरकार तो ऐसे अवसर की ताक में ही थी। अमीर का उत्तर आने का बहाना करके अंग्रेजी सेनाएं २० नवम्बर को अफगानिस्तान में आक्रमण के लिए घुस गईं।

शेरअली सर्वथा अकेला पड़ गया। वह अंग्रेजों की साधन-सम्पन्न और सुशिक्षित सेनाओं का सामना न कर सका, और तुर्किस्तान भाग गया। उसके लड़के याकूब ने अंग्रेजों की सब शर्तें स्वीकार करके गण्डमक में हीन-सन्धि कर ली। इस प्रकार १८७८ के अफ़ग़ान युद्ध का पहला दौर समाप्त हो गया।

इस सन्धि से अफगानिस्तान बिल्कुल ब्रिटेन के चंगुल में आ गया। उसकी विदेशी नीति पर अंग्रेजों का पूरा अधिकार हो गया। कुर्रम, पथीन और सिबी भारत सरकार ने ले लिये, और काबुल ने ब्रिटिश मिशन की स्थापना स्वीकार कर ली। तदनुसार कुछ सेना के साथ एक अंग्रेज एजेण्ट ने काबुल में पहुंचकर मिशन की इमारत पर ब्रिटेन का झण्डा फहरा दिया।

अमीर ने तो पराजय स्वीकार कर ली, परन्तु अफगानिस्तान की स्वाधीनता पर मर-मिटनेवाली जनता ने हार मानने से इनकार कर दिया। ३ सितम्बर १८७९ के दिन वे लोग ब्रिटिश दूतावास पर चढ़ गए, और उसमें जितने अंग्रेज थे सब को मार डाला। कहा जाता है ब्रिटिश दूत बहुत उद्धत और अदूरदर्शी आदमी था। अफ़ग़ान लोग यूं ही अपनी राजधानी में विदेशी झण्डे से जले हुए थे, एजेण्ट की मूर्खताओं ने उनकी क्रोधाग्नि पर घी का काम किया। मिशन को स्थापित हुए अभी दो मास भी न बीते थे कि उसका सर्वनाश हो गया।

अब तो चीते का रोम-रोम खड़ा हो गया। अंग्रेज सेनापतियों को आज्ञा हुई कि आगे बढ़कर सारे अफ़ग़ानिस्तान पर कब्जा कर लो। जनरल राबर्ट्स (जो पीछे से लार्ड राबर्ट्स के नाम से भारत का प्रधान सेनापति बना) ने आगे बढ़कर काबुल पर अधिकार कर लिया। अमीर ने अंग्रेजों के हाथ में आत्मसमर्पण कर दिया, परन्तु उसे अयोग्य समझकर भारत भेज दिया गया। शेरअली का एक भतीजा, जिसका नाम अब्दुर्रहमान था, और जो समरकन्द में दिन काट रहा था, भलामानस समझा गया, और काबुल की गद्दी पर बिठा दिया गया।

कुछ दिन पीछे एक और सनसनी पैदा करनेवाली घटना हो गई। शेर खां के लड़के अयूब ख़ां ने कन्धार की अंग्रेजी सेनाओं को मरिबन्द में परास्त कर दिया। इस पर लार्ड राबर्ट्स को काबुल से कन्धार जाना पड़ा। वहां जो लड़ाई हुई उसमें अयूब ख़ां पूरी तरह हारकर भाग गया। इस युद्ध में अब्दुर्रहमान ने अंग्रेजों की सहायता की।

इसी बीच इंग्लैण्ड के मन्त्रिमण्डल का तख़्ता फिर पलट गया। अमीर अब्दुर्रहमान से बातचीत चल ही रही थी कि लार्ड बीकन्सफील्ड (डिज़राईली) का कन्ज़र्वे-

टिव मन्त्रिमण्डल परास्त हो गया, और फिर से मि० ग्लैडस्टन का उदार दल अधिकार-सम्पन्न हो गया। सामान्य रूप से यह उचित नहीं समझा जाता था कि इंग्लैण्ड के शासन में पार्टी के बदलने के साथ ही भारत का वायसराय भी बदले, क्योंकि वायसराय का पद पार्टी के बन्धनों से मुक्त माना जाता था; परन्तु लार्ड लिटन के कार्यों ने उसे सोलहों आने लार्ड बीकन्सफील्ड और उसके अनुदार दल का पृष्ठपोषक सिद्ध कर दिया था, इस कारण उसने अनुदार दल के पराजय के साथ ही त्यागपत्र दे दिया। नये प्रधानमन्त्री ने लार्ड रिपन को भारत का वायसराय नियुक्त किया।

लार्ड लिटन से छुट्टी लेने से पूर्व उसके शासन-काल की अन्य घटनाओं का सिंहावलोकन करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उनका भारत के आगामी ७० वर्षों के इतिहास पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

लार्ड लिटन ने अपने शासन-काल में जो कार्य किये, उनमें से ये पांच मुख्य थे: (१) अफगान युद्ध (२) मद्रास के दुर्भिक्ष का प्रबन्ध (३) दिल्ली में दरबार (४) वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट और (५) आर्म्स एक्ट का प्रयोग।

अफगान युद्ध से भारत पर सीधा प्रभाव यह पड़ा कि लगभग २ करोड़ स्टर्लिंग का बोझ ग़रीब प्रजा की पीठ पर लद गया, और अफगानिस्तान में भारतीय सिपाहियों के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न हो गया, अवान्तर हानि यह हुई कि लार्ड लिटन की इंग्लैण्ड में बहुत बदनामी हो गई, जिसने लिटन के साथ ही लार्ड बीकन्सफील्ड को भी गहरे पानी में डूबो दिया। इंग्लैण्ड के लिबरल नेताओं ने दूसरे अफगान युद्ध की 'अन्यायपूर्ण' और 'मूर्खतापूर्ण' कहकर निन्दा की। विशेषतः एजेण्ट की हत्या के बाद तो लिटन की आक्रामक नीति को बहुत ही कोसा जाने लगा।

लार्ड लिटन द्वारा मद्रास के दुर्भिक्ष-पीड़ितों के साथ जो उपेक्षा-भरा व्यवहार किया गया, उसे हम (अपराध) की संज्ञा दे सकते हैं। लिटन के समर्थक अंग्रेज लेखकों को भी यह मानना पड़ा है कि यदि वह अकालग्रस्तों के साथ उपेक्षा का व्यवहार न करता तो जितना प्राण-नाश हुआ, उसका एक चतुर्थांश भी न होता।

दरबार न केवल व्यर्थ था, वह भारत की प्रजा पर अत्याचार भी था। जिस समय दक्षिण के भूखों का आर्तनाद आकाश में गूंज रहा था, उसी समय उत्तर में दरबार का जश्न हो रहा था—इसे उस समय की अंग्रेजी सरकार की हृदयहीनता, और लार्ड लिटन की मानसिक कठोरता का प्रमाण ही समझना चाहिए।

लार्ड लिटन के नाम के चारों ओर काली रेखा खींचने के अनेक कारणों में से एक वह एक्ट था, जिसे अंग्रेजी काल में भारतीय समाचारपत्रों पर किये गए बलात्कारों का भी श्रीगणेश कह सकते हैं। उसका शीर्षक था 'वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट'। उस एक्ट द्वारा मैजिस्ट्रेटों तथा कलेक्टरों को यह अधिकार दे दिया गया था कि वे देसी भाषा के पत्र के सम्पादकों को अपने पत्र के प्रूफ छपने से पूर्व किसी निश्चित अफ़सर को दिखाकर स्वीकृत कराने की आज्ञा दे सकेंगे। लार्ड लिटन की राय थी कि देसी भाषा के पत्र राजद्रोह के प्रचारक बनते जा रहे हैं, इस कारण

उनपर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि उस समय 'राजद्रोह' की व्याख्या विस्तृत थी। सरकार की प्रत्येक कड़ी आलोचना 'राजद्रोह' के अन्तर्गत मानी जाती थी। वायसराय की कौंसिल के कुछ सदस्यों ने भी प्रेस ऐक्ट का विरोध किया, परन्तु लार्ड लिटन ने उनकी एक न सुनी और ऐक्ट लागू कर दिया।

आर्म्स एक्ट के बहुत कड़ाई से प्रयोग करने का अपश्रेय भी लार्ड लिटन को ही है। आर्म्स एक्ट को हम साधारण राजनियमों की सूची में नहीं रख सकते। उसका उद्देश्य किसी एक अपराध को रोकना नहीं था—अपितु भारत की मनुष्यता का दमन करना था। किसी राष्ट्र के व्यक्तियों से आत्मरक्षा के साधन छीन लेना मनुष्य के हाथ-पांव काट देने के समान है। भारत पर अपनी प्रभुता को अमर बनाये रखने के लिए ही ब्रिटिश सरकार ने आर्म्स एक्ट पास करने और उसे कठोरता से लागू करने का पाप किया था। यद्यपि उसका उद्देश्य सिद्ध न हुआ और भारतवासियों का उद्धार निःशस्त्र क्रान्ति से ही हो गया, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कुछ वर्षों के लिए तो अंग्रेजों ने भारत को शारीरिक दृष्टि से अशक्त करके डाल ही दिया था।

लार्ड लिटन का समर्थन करनेवाले अंग्रेज लेखक कई आर्थिक परिवर्तनों की चर्चा करके उसके यश को बढ़ाना चाहते हैं। वे सब परिवर्तन सरकार की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए किये गए थे, भारत की प्रजा को उनसे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। दृष्टान्त के लिए आयात-कर घटाने की बात को ले लीजिए। सर जान स्ट्रैंची की सलाह से, लार्ड लिटन की सरकार ने, फ्री ट्रेड (स्वतन्त्र व्यापार) के नाम पर विलायत से भारत में आनेवाली अनेक वस्तुओं पर से आयात-कर उठा दिया। इससे भारत पर यह प्रभाव पड़ा कि विदेशी वस्तुओं के सस्ता होने से भारत की कारीगरी को एक और धक्का लगा, और विलायत के कारखानेदारों और व्यापारियों की जेबें भरने लगीं। लिटन के अन्य आर्थिक सुधार भी ऐसे ही थे। भारत की प्रजा के लिए तो वह बिगाड़ ही थे।

: १० :

लार्ड रिपन

लार्ड रिपन ने भारत आकर ८ जून १८८० के दिन वायसराय का काम संभाला। उसका पहला काम यह था कि अफगानिस्तान के युद्ध को समाप्त करे। वह युद्ध इंग्लैण्ड के लिए धन और यश दोनों ही दृष्टियों से घाटे का सौदा सिद्ध हुआ था। झूठे दबदबे की पर्वाह न करके, परदेश में युद्ध के लिए भेजी हुई सेनाओं को वापिस बुलाने में जो साहस चाहिए वह मि० ग्लैडस्टन में था। उसकी 'अनुमति से

लार्ड रिपन ने अब्दुर्रहमान को अफग़ानिस्तान का अमीर स्वीकार कर लिया और काबुल तथा कन्धार से अपनी सेनाएं वापिस बुला लीं। युद्ध समाप्त करने के अतिरिक्त उदार मन्त्रिमण्डल ने एक और भी काम किया, जो ब्रिटिश शासन में नया और भारतवासियों के लिए सन्तोषदायक था। उन्होंने ५० लाख की राशि अफगान युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिए ब्रिटेन के कोष से प्रदान की। इससे पहले ब्रिटेन एशिया के सभी युद्धों का व्यय भारत के सिर पर लादता रहा था। यद्यपि यह राशि सारे व्यय का बहुत थोड़ा भाग थी तो भी यह बात कम नहीं थी कि इंग्लैण्ड ने भारत की सीमा पर लड़े गए एक युद्ध के प्रति अपना थोड़ा बहुत उत्तरदायित्व स्वीकार किया।

लार्ड रिपन ने दूसरा प्रशंसनीय कार्य यह किया कि लार्ड लिटन के समय, देसी भाषा के पत्रों पर 'वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट' नाम का जो वज्रपात किया गया था, उसे रद्द कर दिया।

जिन कार्यों ने लार्ड रिपन की लोकप्रियता भारतवासियों के हृदयों में बढ़ा दी, उनमें से मैसूर के हिन्दू राजा को अपनी परम्परा से प्राप्त राजगद्दी पर बिठाना विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मैसूर के पुराने हिन्दू राजघराने के भाग्यों का उतार-चढ़ाव तब आरम्भ हुआ जब हैदरअली ने उसे पदच्युत करके अपनी सल्तनत कायम की। हैदरअली के पीछे उसका लड़का टीपू मैसूर का सुल्तान बना, जो १७९९ में अंग्रेजों से हार गया। मार्क्विस वैल्ज़ली ने मैसूर के पदच्युत राजा को फिर से गद्दी पर आरूढ़ कर दिया, जिसने १८३२ तक सफलतापूर्वक रियासत का शासन किया। परन्तु कम्पनी की सरकार की गृद्ध-दृष्टि निरन्तर मैसूर पर लगी रही, और तिल का ताड़ बनाने की जनश्रुति के अनुसार कुप्रबंध का बहाना बनाकर लार्ड विलियम बैंटिक ने राजा को अलग कर दिया; और रियासत का शासन अंग्रेज कर्मचारियों के सुपुर्द कर दिया गया।

अंग्रेजी सरकार को आशा थी कि उसे मैसूर से कुछ आर्थिक लाभ होगा। वह आशा पूरी नहीं हुई। रियासत पर घाटे का बोझ लदता गया। १८७७ के दुर्भिक्ष ने तो आर्थिक व्यवस्था की कमर ही तोड़ दी। कंजर्वेटिव मन्त्रिमण्डल के समय में ही अंग्रेजी सरकार इस परिणाम पर पहुंच चुकी थी कि मैसूर की कांटों की सेज पर फिर से पदच्युत हिन्दू नरेश को बिठाया जाय। परन्तु जैसे गर्म ग्रास को गले के अन्दर ले जाना जितना कठिन है उससे अधिक कठिन उसे बाहर निकालना है, उसी प्रकार राज्य करनेवालों के लिए हथियाए हुए प्रदेशों को छोड़ना अत्यन्त दुष्कर काम हो जाता है। जिस परिणाम पर अंग्रेजी सरकार ८ वर्ष पूर्व पहुंच चुकी थी, उसे स्थूल रूप देने का सौभाग्य लार्ड रिपन को प्राप्त हुआ। १८८१ ई० के मार्च मास की २५ तारीख के दिन मैसूर की राजगद्दी पर फिर से पुराने राजवंश का उत्तराधिकारी को आसीन किया गया।

लार्ड रिपन ने सारे देश में नमक-कर घटा दिया। यह कर अंग्रेजी सरकार द्वारा देश की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए लगाया गया था। आर्थिक दशा

४

सुधारने का अभिप्राय उस समय यह समझा जाता था कि इंग्लैण्ड के हित मे लड़े गए युद्धों का घाटा पूरा किया जाय, और हर वर्ष भारत से सूद आदि के नाम चढ़ा कर जो मोटी रकम इंग्लैण्ड को ले जाई जाती थी, उसे पूरा किया जाय। उसकी पूर्ति के लिए भारत की गरीब प्रजा पर प्रतिदिन के व्यवहार की अनिवार्य बस्तु नमक पर कर लगाकर भी अंग्रेजी सरकार देश की आर्थिक दशा को न सुधार सकी। यह प्रशंसा की बात थी कि इंग्लैण्ड के उदार मन्त्रिमण्डल की अनुमति से लार्ड रिपन ने नमक-कर में कमी करने का साहस किया।

लार्ड रिपन ने प्रजाहित के और भी कई काम किये। उससे पूर्व सरकार की शिक्षा-सम्बन्धी सहायता मुख्य रूप से विश्वविद्यालयों को दी जाती थी; लार्ड रिपन के समय प्राइमरी और सैकेण्डरी स्कूलों की सहायता में वृद्धि का उपक्रम हुआ। १८८१ में पहला श्रम-सम्बन्धी कानून प्रचारित हुआ, जिसका उद्देश्य कारखानों के श्रमिक लोगों की दशा को सुधारना और उनके हितों की रक्षा करना था। ७ साल से कम आयु के बच्चों का कारखानों में काम करना निषिद्ध किया गया, तथा और भी बहुत-से नियन्त्रणों के द्वारा श्रमिकों पर होनेवाली कठोरताओं को रोकने का यत्न किया गया। नियमों का पालन कराने के लिए निरीक्षक (इन्स्पेक्टर) नियुक्त किये गये।

लार्ड रिपन के शासन-काल का सबसे अधिक प्रसिद्ध और स्थायी प्रभाव उत्पन्न करनेवाला कार्य 'स्थानीय शासन' का पृथक् संगठन था। तहसीलों और ताल्लुकों में स्थानीय बोर्डों को स्थापना की गई, जिनको मालगुजारी की व्यवस्था के अतिरिक्त स्थानीय प्रबन्ध के भी कुछ अधिकार सौंपे गए। बड़े शहरों में निर्वाचित कारपोरेशनों की भी बुनियाद डाली गई। यह एक प्रकार से अंग्रेजी राज्य में चुनाव-पद्धति का श्रीगणेश था।

लार्ड रिपन के इन सब प्रयत्नों का शिक्षित भारतवासियों पर बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ा। वे उसका गुणगान करने लगे। उस समय के अंग्रेजों की साधारण मनोवृत्ति का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि लार्ड रिपन की लोकप्रियता भारतवासियों में जितनी बढ़ी भारत में रहनेवाले अंग्रेजों को वह उतना ही अप्रिय लगने लगा। भारतवासियों को सुविधा या अधिकार मिलने की झलक ने ही भारत का अन्न खानेवाले अंग्रेजों को लार्ड रिपन का शत्रु बना दिया।

१८८३ में लार्ड रिपन की सरकार ने कानून में एक ऐसा सुधार प्रस्तुत किया, जिसने भारत के अंग्रेज हल्कों में तूफान-सा मचा दिया। १८७३ के दण्ड-विधान में यह नियम रखा गया था कि प्रेसीडेंसी शहरों को छोड़कर अन्यत्र अंग्रेज अभियुक्तों पर लगे हुए अभियोग सुनने का अधिकार केवल अंग्रेज़ न्यायाधीशों को है। भारतीय न्यायाधीश अंग्रेज का फौजदारी मुकदमा नहीं कर सकता था। १८८३ में कई हिन्दुस्तानी जज इतने ऊंचे पद पर पहुंच गए कि वे सेशन जज की कुर्सी पर बैठ सकें। यह समझा गया कि उन्हें अंग्रेज अभियुक्तों का न्याय करने

के अधिकार से वंचित करना रानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र की भावना के विरुद्ध है। लार्ड रिपन की सरकार ने अपने कानूनी सदस्य सर सी० पी० इल्बर्ट को आदेश दिया कि वह दण्ड-विधान में उचित संशोधन प्रस्तुत करे। भारत में रहने वाले सरकारी और गैर-सरकारी अंग्रेज पहले ही लार्ड रिपन से जले बैठे थे। इस संशोधन ने तो मानो जलती आग में घी डाल दिया, देश के एक कोने से दूसरे कोने तक के अंग्रेजों में हाहाकार मच गया। वे इसे 'काला कानून' 'कुत्सित इल्बर्ट बिल' आदि नामों से पुकारने और असन्तोषसूचक प्रस्ताव स्वीकार करके विलायत की सरकार को भेजने लगे। अंग्रेजों का क्रोध यहां तक बढ़ा कि लार्ड रिपन की 'मुश्कें बांध कर' इंग्लैण्ड वापिस भेजने की योजना की अफवाहें फैलने लगीं। अंग्रेजों ने वायसराय से मिलना-जुलना तक छोड़ दिया। पहले तो इंग्लैण्ड की सरकार ने बावेले की पर्वाह न की, परन्तु जब असन्तोष का कोलाहल बहुत बढ़ गया, और लन्दन के इण्डिया हाउस की दीवारें भी हिलने लगीं तब अंग्रेजी सरकार अपने सजातियों के आन्दोलन के सामने कांप गई, और लार्ड रिपन को भारत से वापिस बुलाने के लिए मजबूर हो गई।

इल्बर्ट बिल की काट-छांट की गई। उसका अन्तिम रूप यह बना दिया गया कि प्रत्येक अंग्रेज अभियुक्त यह मांग कर सकेगा कि उसका न्याय करने के लिए जूरी (पंचायत) नियुक्त की जाय, जिसके कम-से-कम आधे सदस्य अंग्रेज हों। भारतीयों को जूरी मांगने का अधिकार प्राप्त नहीं था, इस कारण कानून में गोरे और काले का भेद इस नये रूप में विद्यमान रहा।

इस प्रकार भारतवासियों को थोड़े-से राजनीतिक समानता के अधिकार देने का यत्न करने के कारण लार्ड रिपन को अंग्रेजों की क्रोधाग्नि में बलि बनना पड़ा। इस घटना को शिक्षित भारतवासियों ने दुःखभरे मन से देखा और अंग्रेजों के हृदयों में भारतवासियों के लिए जो विष भरा हुआ था, उसे अनुभव किया। भारत के आगामी इतिहास पर लार्ड रिपन के त्यागपत्र का बहुत गहरा असर पड़ा, जिसका निदर्शन हम अगले अध्यायों में करेंगे।

: ११ :

देश में असन्तोष

भारत के शासन को कम्पनी से अपने हाथ में लेने के समय महारानी विक्टोरिया ने जो घोषणा की थी, उसमें भारतवासियों को निम्नलिखित आशाएं दिलाई गई थीं :

१. "हम भारत की प्रजा से अपना वही सम्बन्ध समझेंगे जो अन्य प्रजा से है। दोनों के प्रति, हम, अपने को कर्त्तव्य के समान बन्धनों से बंधा हुआ

मानेंगे और ईश्वर की कृपा से हम उस कर्त्तव्य का ईमानदारी और सचाई से पालन करेंगे।

२. "और हमारी यह भी इच्छा है कि जहां तक हो सके हमारे प्रजाजन, चाहे वे किसी जाति या धर्म के माननेवाले हों, हमारी सरकार की नौकरियों में अपनी शिक्षा, योग्यता और चरित्रबल के अनुसार समान रूप से नियुक्त किये जायं।

३. "यद्यपि हम ईसाई धर्म में दृढ़ विश्वास रखते हैं, और उस धर्म से हमें जो शान्ति प्राप्त होती है, उसके अत्यन्त कृतज्ञ हैं, तो भी हम अपनी अन्य धर्म में विश्वास रखनेवाली प्रजा पर ईसाईयत को लादना नहीं चाहते।

४. "हम अपने राज्य की वर्त्तमान सीमाओं का अधिक विस्तार नहीं चाहते, और जहां हम अन्य किसी को अपने राज्य या अधिकार पर आक्रमण नहीं करने देंगे—वहां औरों के राज्य या अधिकार पर आक्रमण भी नहीं करेंगे।"

घोषणा के अन्तिम अवतरण की अन्तिम पंक्तियां सब से अधिक महत्वपूर्ण थीं। उसमें रानी ने भारतवासियों को विश्वास दिलाया था कि "उनकी समृद्धि में हमारी शक्ति, उनके सन्तोष में हमारी सुरक्षा और उनके कृतज्ञता के भाव में हमारा पारितोषिक होगा। हमारी प्रार्थना है कि सर्वशक्तिमान परमात्मा हमें और हमारे कर्मचारियों को यह शक्ति दें कि हम प्रजा की भलाई की इच्छाएं पूर्ण कर सकें।"

इस घोषणा ने भारतवासियों के हृदयों पर बिजली का-सा असर किया था। वह मुग्ध हो गए। कम्पनी के स्वार्थपूर्ण शासन और विद्रोह की उथल-पुथल से वह इतने परेशान हो चुके थे, कि रानी का घोषणा-पत्र उन्हें गर्मी के सताए हुए प्राणियों को बरसाती काले बादलों के समान वरदान प्रतीत हुआ। वह सोचने लगे कि अब कलियुग का अन्त होकर सतयुग प्रारम्भ होगा। अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतवासियों ने इसे अंग्रेजो के 'मैग्नाकार्टा' से उपमा दी, और साधारण प्रजा ने सुख-समृद्धि का सन्देश समझा।

उस घोषणा-पत्र का प्रभाव कितना गहरा हुआ इसका अनुमान निम्नलिखित कुछ उद्धरणों से मिलेगा, जो उस समय के मूर्धन्य देशभक्त दादाभाई नौरोजी के उस भाषण से लिये गए हैं, जो उन्होंने १८८६ की कांग्रेस के सभापति-पद से दिया था। आपने भारत और इंग्लैण्ड के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में कहा था:

"हमें वीर पुरुषों की तरह यह घोषणा करनी चाहिए कि हमारी नस-नस में राजभक्ति भरी हुई है। हम उन लाभों को समझते हैं, जो हमे अंग्रेजी राज्य से मिले हैं।"

आगे चलकर आपने कहा—

"हमें इंग्लैण्ड की अन्तरात्मा पर विश्वास रखना चाहिए, हमें यह मानकर धैर्य रखना चाहिए कि इंग्लैण्ड के लोग हमारे साथ न्याय का व्यवहार

करने के लिए जिन कुर्बानियों की आवश्यकता होगी, उन्हें करने को बिना संकोच के तैयार रहेंगे।"

× × × ×

"मुझे यह बात दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि वह यशस्वी घोषणा-पत्र हमारे हृदयों पर गहरे अक्षरों से अंकित है। किन्तु मैं समझता हूं कि वह हमारी स्वाधीनता का ऐसा शानदार और यशस्वी चार्टर है कि प्रत्येक ऐसे भारतवासी बच्चे को, जो समझदार होकर अपनी मातृभाषा में तुतलाकर बोलना आरम्भ करे, उसे याद कर लेना चाहिए।"

यह थी घोषणा-पत्र के विषय में उस समय के शिक्षित भारतवासियों की सुन्दर भावना, और ये थीं स्वाधीनत-प्रेमी अंग्रेज जाति से उनकी आशाएँ।

परन्तु जब हम घोषणा-पत्र के पश्चात् आट्ठाईस वर्षों के इतिहास पर दृष्टि डालते हैं, तो हमें घोषणा-पत्र की पंक्तियों पर काले धब्बों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखाई देता। घोषणा-पत्र में किये गए प्रत्येक वायदे की परीक्षा करके देखिए।

सब से पहले वायदे में भारतवासियों को यह विश्वास दिलाया गया था कि उन्हें राज्य की अन्य प्रजा के समान ही समझा जायगा। स्पष्ट शब्दों में भारतवासियों को यह आशा बंधाई गई थी, कि उनके साथ अंग्रेजों के समान व्यवहार किया जायगा। परन्तु हुआ क्या? घोषणा-पत्र के पश्चात् ६ वायसराय आये और चले गए, परन्तु किसी ने भारतीयों को अंग्रेजों के समान पद के अधिकार देने का प्रयास और साहस न किया। प्रत्येक क्षेत्र में भारतीयों का सिर दबा रहा।

व्यापारिक क्षेत्र में विलायत के व्यापार और व्यापारियों की ही प्रधानता पहले की भांति बनी हुई थी। यों तो व्यापारिक स्वाधीनता (Free Trade) के नाम पर विदेश से आनेवाली वस्तुओं पर लगे हुए आयात-कर घटाये गए परन्तु उनका असली उद्देश्य भारत में इंग्लैण्ड के माल की खपत को बढ़ाना था भारत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री रमेशचन्द्र दत्त ने 'इण्डिया इन दि विक्टोरियन एज' के तीसरे भाग के आठवें अध्याय में लिखा है "वह सब पुराना शिल्प-व्यवसाय जिसके लिए भारत मशहूर था, ईस्ट इण्डिया कम्पनी की पक्षपातपूर्ण व्यापार-नीति के कारण नष्ट हो चुका था, और जब १८३७ में रानी विक्टोरिया राजगद्दी पर बैठी, तब भारत में केवल खेती का व्यवसाय ही शेष था। १८५८ में भारत का शासन राजमुकुट के नीचे आ गया। उसके पश्चात् भी भारत के शिल्प-व्यवसाय को बढ़ावा देने के लिए कुछ नहीं किया गया। शताब्दी के अन्तिम भाग में हम देश के निर्माता और कारीगरों को दरिद्रता और क्षीणता की दशा में पाते हैं। कभी-कभी कुछ परीक्षण किए गये, परन्तु कार्य के महत्व को देखते हुए वे नगण्य ही थे।

भारत के कपड़े के व्यापार की दीवारें कम्पनी के राज्य में ही हिल चुकी थीं। रानी विक्टोरिया के राज्य में तो वह गिरकर खंडहर के रूप में आ गई।

लंकाशायर और लिवरपूल के व्यापारियों की भलाई के लिए कपड़े पर आयात-कर घटाने का यह परिणाम हुआ कि तीन वर्षों में रूई की बनी चीजों के आयात में लगभग ४२ करोड़ रुपये की वृद्धि हो गई।

न्याय-विभाग में भारतवासियों के साथ जो असमानता का व्यवहार हो रहा था, वह इतना स्पष्ट था कि उसका समर्थन किसी बहाने से भी नहीं किया जा सकता था। ऐसे मामले बहुतायत से उठते थे, जिनमें साहब के कमरे में पंखा हिलानेवाला कुली थककर जरा देर को सो गया, या ऊंघ आने से उसका हाथ रुक गया तो गोरा प्रभु क्रोध में आकर उसके पेट में बूट की ऐसी ठोकर मारता था, जिससे वह क्षीणकाय अधेड़ या बालक पंखा-कुली मर जाता था। जब मामला अदालत में पहुंचता था तो अंग्रेज डाक्टर की यह गवाही पर्याप्त समझी जाती थी कि पंखा-कुली ठोकर से नहीं मरा—उसकी तिल्ली इतनी बढ़ी हुई थी कि वह ज़रा-सा छूने से ही मर गया। उन अनेक वर्षों में एक भी मामला ऐसा नहीं हुआ जिसमें बूट की ठोकर से पंखा-कुली को मारकर अंग्रेज को मृत्यु-दंड तो क्या, कोई अन्य कठोर दण्ड भी मिला हो!

लार्ड रिपन ने हिन्दुस्तानियों और अंग्रेजों को अदालत की दृष्टि में बराबर करने का जो हल्का-सा यत्न किया, उसका परिणाम हम देख ही चुके हैं। अंग्रेजों का कोप इतना बढ़ गया था कि यदि लार्ड रिपन कुछ दिनों तक और भारत में ठहरते तो वह या तो विद्रोही अंग्रेजों द्वारा बांध कर विलायत भेज दिये जाते या मार ही डाले जाते। भारतवासियों के हृदयों पर ऐसी सब घटनाओं का सामूहिक प्रभाव यह हो रहा था कि अंग्रेज जाति और अंग्रेज सरकार या तो विक्टोरिया के घोषणा-पत्र का आदर नहीं करती, और यदि करती है तो उसके उल्लंघन को क्षन्तव्य मानती है। अंग्रेजों के व्यवहार ने घोषणा-पत्र के समानता-सम्बन्धी भाग को सर्वथा अर्थहीन बना दिया था।

घोषणा-पत्र में यह आश्वासन दिया गया था कि सरकारी नौकरियों पर नियुक्त करते हुए केवल योग्यता पर ध्यान दिया जायगा, जाति या रंग पर नहीं। इसका अर्थ स्पष्ट था कि गोरों और भारतवासियों का सरकार की प्रत्येक नौकरी पर समान अधिकार होगा। इस प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए कोई विशेष पग नहीं उठाया गया। जो क्षुद्र-सा पग उठाया भी गया उसे व्यर्थ करने के लिए नई योजनाएं तैयार कर दी गईं।

कम्पनी के समय में जो दोष थे, उनका एक समाधान भी था। कम्पनी का चार्टर समय-समय पर नई स्वीकृति के लिए पार्लमिण्ट के सामने आता रहता था। उस अवसर पर जो वाद-विवाद होता था, उसमें कभी-कभी भारतीय जनता की शिकायतें भी सुना दी जाती थीं। कमेटी और कमीशन बैठाये जाते थे, जिनसे देश की हीन दशा लोगों के सामने आती रहती थी। नये विधान से सेक्रेटरी आव स्टेट फॉर इण्डिया भारत का सर्वेसर्वा हो गया। वह साम्राज्ञी का मंत्री था,

और पार्लमेण्ट के प्रति उत्तरदाता था, इस कारण वह भारत के लिए पूरा नानाशाह बन गया था।

मूल का असर शाखाओं और फूल-पत्तों तक भी पहुंचता है। सेक्रेटरी आव स्टेट की शान के साथ-साथ भारत सरकार के अंग्रेज कर्मचारियों की शान भी बढ़ने लगी। उनमें से प्रत्येक अपनी-अपनी जगह छोटा तानाशाह बन गया। कम्पनी के समय में अंग्रेजों की संख्या कम थी, उनकी शक्ति भी कम थी, फलतः उन्हें भारतवासियों से मिल-जुलकर रहने की आवश्यकता पड़ती थी। अब दशा बदल गई। सब बड़े शहरों में अंग्रेजों की अलग बस्तियां बनती जा रही थीं। वे दिन दफ्तर में काटते थे, और सांझ योरोपियनों की क्लबों में। भारतवासियों से उनका केवल शासित-शासक का सम्बन्ध होता जा रहा था। 'नौकरशाही' के उद्भव का यही कारण हुआ। एक अंग्रेज लेखक ब्लंट ने लिखा था कि "कम्पनी के समय के अंग्रेज भारत को जितना प्यार करते थे, राजमुकुट के समय के अंग्रेज अफ़सर उसका स्वप्न में भी अन्दाज़ नहीं कर सकते।"

सरकारी नौकरियों की अद्भुत दशा थी। १८३३ के चार्टर में यह स्वीकार किया गया था कि भारतवासियों को ऊंचे-से-ऊंचे सरकारी पद पर नियुक्त किया जा सकता है, परन्तु कई अन्य कानून ऐसे बने हुए थे, जिनके कारण भारतवासियों का ऊंचे पदों पर पहुंचना असम्भव था। १७९३ का एक पुराना कानून था, जिसके अनुसार ८०० पौण्ड वेतन से अधिक वेतनवाली किसी नौकरी पर साधारण भारतवासियों का पहुंचना असम्भव था। १८५३ में यह स्वीकार किया गया था कि नौकरियों के लिए जो प्रतिस्पर्द्धात्मक परीक्षाएं हुआ करेंगी, उनमें अंग्रेज और हिन्दुस्तानी दोनों परीक्षार्थी बैठ सकेंगे, परन्तु उसकी शर्तें ऐसी थीं कि भारतवासियों के लिए उनसे लाभ उठाना अत्यन्त दुष्कर था। पहले आयु की अवधि २३ वर्ष रखी गई, फिर वह २२ वर्ष की की गई, और १८६६ से उसे और भी घटाकर २१ वर्ष कर दिया गया। आयु घटाने का अभिप्राय स्पष्ट ही था। एक हिन्दुस्तानी युवक के लिए यह कैसे सम्भव था कि वह २१ वर्ष की आयु में एक विदेशी भाषा में इतनी योग्यता प्राप्त कर ले कि विलायत जाकर अंग्रेज युवकों की प्रतिस्पर्द्धा में बैठ सके। यह तो वस्तुतः एक हाथ से दरवाज़ा खोलकर दूसरे हाथ से बन्द करना था। ऐसी कठिन परिस्थितियों में भी जो भारतीय युवक इंग्लैण्ड में जाकर प्रतिस्पर्द्धा की परीक्षाओं में सफल हुए, वे अत्यन्त प्रशंसा के योग्य थे। वह सफलता इस सचाई का प्रमाण थी कि एक सहस्र वर्ष की दासता ने भी भारत की स्वाभाविक प्रतिभा को कुचला नहीं है, उसमें अभी प्रज्वलित होने की शक्ति है। १८७७ में प्रतियोगियों की आयु में दो वर्ष की और कमी कर दी गई। उसके अनुसार केवल १९ वर्ष के युवक ही परीक्षा दे सकते थे।

घोषणा-पत्र में यह आश्वासन दिया गया था कि सरकार किसी मत-विशेष को प्रधानता न देगी, और सब धर्मों को समान दृष्टि से देखेगी। यह आश्वासन कितना निरर्थक था, यह बात जनता पर धीरे-धीरे स्पष्ट होती जा रही थी। जब

तक भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के लोग आपस में बहस करते रहें, या अपने-अपने धर्म-स्थानों पर प्रचार करते रहें, तब तक सरकार कोई दखल नहीं देती थी। यह बात अच्छी थी, परन्तु जहां कहीं संघर्ष हो जाता था, वहां सरकार का झुकाव प्रकट हुए बिना नहीं रहता था। यदि ईसाई पादरी से किसी अन्य धर्म के प्रचारक का झगड़ा होता तो सरकार का न्याय ईसाई के पक्ष में पड़ता, और यदि हिन्दू प्रचारक और मुसलमान मौलवी में संघर्ष हो जाता तो अंग्रेज अफ़सर का झुकाव मौलवी की ओर होता था। कानून में धार्मिक स्वाधीनता और समानता थी, परन्तु व्यवहार में पक्षपात असन्दिग्ध था।

सरकार का ईसाइयत से पक्षपात स्वाभाविक था। वह भारत का राजधर्म न हो, परन्तु इंग्लैण्ड का राजधर्म और भारत के राजा का धर्म तो था।

अंग्रेजी सरकार के मुसलमानों की ओर झुकाव के दो कारण थे। एक तो व्यक्तिगत था। व्यक्तिगत से हमारा अभिप्राय यह है कि हिन्दुओं की छुआछूत और भोजनादि की सामाजिक रीतियों के कारण अंग्रेजों को जिन ख़ानसामों, बहरों या घर के अन्य नौकरों से काम लेना पड़ता था वे निन्यानवे फीसदी मुसलमान होते थे, जिनके कारण अफ़सरों को मुसलमान अधिक समीपवर्ती मालूम होते थे, और उनका दृष्टिकोण सदा आँखों के सामने रहता था। दूसरा कारण राजनीतिक था। हम देख आये हैं कि १९वीं सदी के अन्तिम भाग में अंग्रेज सरकार ने भेद-नीति के आधार पर भारत का शासन करने का निश्चय कर लिया था। वह हिन्दुओं के बढ़ते हुए देश-प्रेम के सामने मुसलमानों के स्वार्थभाव की दीवार खड़ा करने का निश्चय कर चुकी थी। इस कारण उसका दृष्टिकोण प्रत्यक्ष में भी मुस्लिम-पक्षपाती हो गया था।

रानी की घोषणा में संसार-भर को अभय दान देते हुए बतलाया गया था कि अब अंग्रेजी सरकार के मन में भारत की सीमाओं को बढ़ाने की इच्छा नहीं है। घोषणा के इस भाग पर अफ़ग़ानिस्तान पर आक्रमण और बर्मा के कबलीकरण ने हड़ताल फेर दी थी। उपर्युक्त दोनों कार्य आक्रमणात्मक थे—इसमें भी क्या किसी को सन्देह हो सकता था?

इस प्रकार जिस समय भारत में रहनेवाले अंग्रेजों के क्रोध की वेदी पर लार्ड रिपन की बलि चढ़ाई गई, उस समय भारत के शिक्षित वर्ग में अंग्रेजी राज्य के प्रति हल्की परन्तु व्यापक असन्तोष की भावना फैल चुकी थी। इधर साधारण जनता बढ़ती हुई दरिद्रता के कारण व्याकुल थी। एक प्रकार से बेचैनी सन् ५७ से भी अधिक व्यापक और गहरी थी। भेद केवल एक था। सन् ५७ में लोगों के पास हथियार थे, और गद्दी-च्युत नरेशों में लड़ने की शक्ति शेष थी। सन् ८४ में भारतवासी अस्त्रहीन और लाचार हो चुके थे, साथ ही विद्रोह के दिनों की चोटों और रानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र से उत्पन्न आशाओं ने उन्हें निस्तेज कर दिया था। इन दोनों परिवर्तनों के अतिरिक्त एक बात यह भी थी कि सरकार ने सेनाओं के संगठन में कुछ उलट-फेर कर दिये थे। बड़ी छावनियों को तोड़कर

हिन्दुस्तानी सिपाहियों को दूर-दूर की छोटी-छोटी छावनियों में बखेर दिया गया था, और उनमें सैनिकों का ऐसा मिश्रण कर दिया गया था कि जाति या धर्म के आधार पर गिरोहबन्दी न हो सके। इन सब कारणों से सन् १८८५ में सशस्त्र विद्रोह लगभग असम्भव हो गया था; परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं रहा था कि देश के अन्तस्तल में असन्तोष की मात्रा बढ़ रही थी।

एक विशेष बात यह थी कि इस बढ़ते हुए असन्तोष को भारतवासियों की अपेक्षा उस समय के चतुर अंग्रेज अधिक स्पष्टता से पहिचान रहे थे, क्योंकि उस समय भारतवासियों की अपेक्षा अंग्रेजों की राजनीतिक प्रतिभा अधिक जागृत थी।

: १२ :

कांग्रेस के जन्मदाता

इससे पूर्व के अध्याय में उन कारणों की चर्चा की जा चुकी है, जिनसे देश में बेचैनी उत्पन्न हो रही थी। अंग्रेज समझते थे कि विद्रोह के दवने के साथ ही भारत की बेचैनी दूर हो जायगी, और देश की जनता घोषणा-पत्र की लोरियों से गहरी नींद में सो जायगी। सरकार की यह आशा व्यर्थ निकली। बेचैनी मिटने की जगह गहरी होती चली गई, और अधिक फैल गई। सरकार की स्वार्थपूर्ण नीति ने जहां शिक्षित भारतवासियों की आशाओं पर तुषारपात कर दिया, वहां अधिक करों का बोझ डालकर साधारण प्रजा को भी असन्तुष्ट कर दिया।

शिक्षित समुदाय ने अपने असन्तोष को प्रकट करने के लिए कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में जो संस्थाएं बनाईं उनका वर्णन पहले हो चुका है। वे संस्थाएं प्रान्तिक थीं, और उन्हें हम केवल असन्तोष का प्रतीक अथवा चिह्न कह सकते हैं। ये चिह्न मुख्य रूप से दो प्रान्तों में प्रकट हुए, पहले बंगाल में, फिर बम्बई में। जागृति के प्रारम्भ से ही इन दोनों प्रान्तों में एक भिन्नता रही है। बंगाल का असन्तोष अधिक तीव्र, ध्वनिमय और भूमि पर पटके हुए बारूद के गोले की तरह विस्फोट-पूर्ण रहा, और बम्बई का असन्तोष बहुत गहरा, भारी-भरकम और भूमि के नीचे दबे हुए बारूद की तरह देर में फटनेवाला, परन्तु फटकर अधिक विप्लव मचाने वाला रहा है। अगले वर्षों के आन्दोलन में हम दोनों प्रान्तों की इन विशेषताओं के प्रचुर प्रमाण पायेंगे।

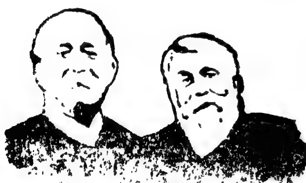
शिक्षित भारतवासियों का असन्तोष सभा-सम्मेलनों के रूप में प्रकट होने लगा था। १८८३ में कलकत्ते के एल्बर्ट हाल में नैशनल कान्फ्रेंस का जो अधिवेशन हुआ, उसे हम १८८५ में बनी इण्डियन नेशनल कांग्रेस का उपोद्घात कह

सकते हैं। उस कान्फ्रेंस में उन सब प्रश्नों पर विचार किया गया, जो दो वर्ष पीछे कांग्रेस के सामने आनेवाले थे।

नैशनल कान्फ्रेंस का आयोजन कलकत्ते की इण्डियन एसोसियेशन की ओर से हुआ था। उस अनुभव से लाभ उठाकर १८८५ में कलकत्ते की ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन, इण्डियन एसोसियेशन और नैशनल मुहमडन एसोसियेशन ने मिलकर एक कान्फ्रेंस की, जिसमें बंगाल के अतिरिक्त बम्बई, बिहार, आसाम और उत्तर प्रदेश (उस समय के संयुक्तप्रान्त) के प्रतिनिधि भी निमन्त्रित होकर आये। उस कान्फ्रेंस में भारत से बाहर के जो महानुभाव दर्शक के तौर पर आये, उनमें से नैपाल के राजदूत, मि० हैनरी काटन, और मि० अमीरअली के नाम विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। उस कान्फ्रेंस को हम इण्डियन नैशनल कांग्रेस का प्रारूप कह सकते हैं।

इन एकीकरण के परीक्षणों से उत्साहित होकर सुशिक्षित भारतवासियो के हृदय में यह भावना दृढ़ता से घर कर गई कि देश-भर का एक राजनीतिक संगठन न केवल आवश्यक है, अपितु सम्भव भी है।

दूसरी ओर, उदार विचारों के जो अंग्रेज लार्ड रिपन के त्यागपत्र से नाराज थे, वे इस बात पर लज्जा अनुभव करते थे कि भारत में अंग्रेजों द्वारा उद्घोषित उदार जनतन्त्र के सिद्धान्तों को पराजित होना पड़ा। उनमें प्रमुख मि० ए० ओ० ह्यम थे। इण्डियन नैशनल कांग्रेस नाम की संस्था के प्रारम्भिक शिल्पी वही थे। इस कारण भारत के राष्ट्रीय क्षेत्रों में वे 'इण्डियन नैशनलन कांग्रेस का पिता' इस विशेषण से विशेषित किये जाने लगे थे।



ए०ओ० ह्यूम दादाभाई नौरोजी

मि० ह्यूम भारत सरकार के कृषि-विभाग में सेक्रेटरी का काम करते थे। १८८२ में उन्होंने नौकरी से त्यागपत्र दे दिया, और शिमले में रहने लगे। उदार विचारों में पलने के कारण उन्हें भारत के अंग्रेजी शासन की अनुदार और स्वार्थ-पूर्ण नीति देखकर बहुत दुःख होता था। उनके मन का भाव उस खुले पत्र में बहुत सुन्दरता से व्यक्त हुआ है, जो उन्होने १ मार्च १८८३ को कलकत्ता यूनिवर्सिटी के ग्रेजुएटों के नाम प्रकाशित किया था। उस पत्र के अन्त में मि० ह्यूम ने लिखा था :

"प्रत्येक राष्ट्र ठीक वैसी ही सरकार प्राप्त कर लेता है जिसके कि वह योग्य होता है। यदि आप लोग, जो देश की आशाओं के केन्द्र हैं, और ऊंची शिक्षा प्राप्त किये हैं, अपने सुख-चैन और स्वार्थ को छोड़कर स्वाधीनता प्राप्त करने के काम में नहीं लग सकते, तो हमें मानना पड़ेगा, कि हम लोग, जो आपके मित्र हैं, भूल में हैं; तब मानना पड़ेगा कि आपकी भलाई के सम्बन्ध में लार्ड रिपन की जो आकांक्षाएं थीं वे निष्फल होकर केवल हवाई कल्पनाएं सिद्ध हो

गई; तब कहना होगा कि उन्नति की सब आशाएं व्यर्थ हैं, और भारत उसी प्रकार के शासन के योग्य है, जो उसे मिला हुआ है।"

इस प्रकार भारत के नवयुवकों को जागने के लिए ललकारकर मि० ह्यूम ने उन्हें समझाया :

"आपके कन्धों पर रखा हुआ जुआ तब तक विद्यमान रहेगा, जब तक आप इस ध्रुव सत्य को समझकर उसके अनुसार कार्य करने को उद्यत न होंगे कि आत्म-बलिदान और निःस्वार्थ कर्म ही स्थायी सुख और स्वतन्त्रता के अचूक पथदर्शक हैं।"

मि० ह्यूम की यह मर्मभेदी अपील व्यर्थ नहीं गई। बम्बई और कलकत्ते के जागरूक नेता सचेत हो गए और संगठित होने का यत्न करने लगे। परिणाम यह हुआ कि १८८४ के अन्त में 'इण्डियन नैशनल यूनियन' नाम की एक संस्था कायम हुई, जिसका केन्द्र बम्बई में रखा गया। यूनियन के संचालकों ने निश्चय किया कि १८८५ के अन्तिम मास में पूना में भारत-भर के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाया जाय, जिसमें देश की राजनीतिक समस्याओं पर विचार हो। क्रिसमस की छुट्टियों में, २५ से ३१ दिसम्बर तक सम्मेलन करने का निर्णय हुआ। यूनियन ने उस अवसर पर जो घोषणा-पत्र निकाला उसका प्रारम्भिक भाग उस समय की राजनीतिक मनोवृत्ति को सूचित करने के लिए बहुत उपयुक्त है। घोषणा-पत्र में कहा गया था :

"इण्डियन नैशनल यूनियन की एक कान्फ्रेंस २५ से ३१ दिसम्बर १८८५ के दिनों में पूना में होगी।

"कान्फ्रेंस में बंगाल बम्बई, और मद्रास प्रेसीडेंसी के सब भागों के ऐसे प्रतिनिधि सम्मिलित हो सकेंगे, जो अंग्रेजी भाषा जानते हों।

"कान्फ्रेंस के सीधे उद्देश्य ये होंगे—(१) राष्ट्रीय उन्नति के लिए यत्न करनेवाले सब कार्यकर्ता एक-दूसरे से परिचित हों (२) और आगामी वर्ष राजनीतिक क्षेत्र में जो कार्य करने हैं, उन पर विचार किया जाय।

"कान्फ्रेंस का अवान्तर उद्देश्य यह होगा कि नेटिव पार्लियामेण्ट का अंकुर बन जाय, जो भविष्य में भली प्रकार पनपने पर इस आक्षेप का अकाट्य समाधान हो जाय कि भारत-प्रतिनिधि सत्तात्मक संस्थाओं के सर्वथा अयोग्य है।"

घोषणा के इस भाग के कुछ अंश विशेष ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि वे उस समय की दशा का स्पष्ट चित्र खींच देते हैं। कान्फ्रेंस में केवल तीन बड़े प्रान्तों को निमन्त्रित किया गया था, जिसका अभिप्राय यह था कि अन्य प्रान्त अभी सार्वजनिक दृष्टि से नगण्य समझे जाते थे। केवल उन्हीं प्रतिनिधियों को बुलाया गया था, जो अंग्रेजी जानते हों। कान्फ्रेंस के सीधे उद्देश्यों में राजनीतिक अधिकारों की चर्चा नहीं थी, और भारतवासियों की एक संस्था ने भारतवासियों के लिए 'नेटिव' शब्द का प्रयोग करने में कोई अनौचित्य नहीं समझा था।

जब यह निश्चय हो गया कि भारत के तीन प्रान्तों के प्रतिनिधियों की कान्फ्रेंस पूना में की जायगी तो उसके नियम आदि बनाने का कार्य अखिल भारतीय संगठन के विचार के प्रणेता मि० ह्यूम के सुपुर्द होना स्वाभाविक ही था। मि० ह्यूम का जन्म स्काटलैंड में हुआ था। स्काच लोग अपनी व्यवहार बुद्धि के लिए प्रसिद्ध होते थे। मि० ह्यूम ने भी बहुत ही व्यावहारिक ढंग पर कार्य आरम्भ किया। सार्वदेशिक राजनीतिक संगठन के विषय में आपकी भावना यह थी कि वह जहाँ भारतवासियों के अधिकारों के लिए दृढ़ता से लड़े, वहां अंग्रेजी सरकार के प्रति सोलहों आने वफादार हो। वे नहीं चाहते थे कि प्रारम्भ से ही अंग्रेजी सरकार नये संगठन को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। इसलिए उन्होंने दो काम किये। एक तो उस समय के गवर्नर जनरल लार्ड डफ़रिन को योजना की रूपरेखा बतलाकर उनसे सम्मति मांगी। मि० ह्यूम का मौलिक प्रस्ताव यह था कि जो वार्षिक सम्मेलन हुआ करे, उसका सभापति उस प्रान्त के गवर्नर को बनाया जाय, जहाँ सम्मेलन हो रहा हो। लार्ड डफ़रिन ने सामान्य रूप से एक ऐसे राजनीतिक संगठन के प्रस्ताव को पसन्द किया जो इंग्लैण्ड के विरोधी दल की भांति प्रजा के असन्तोष और सरकार की भूलों को प्रकट किया करे, अतः गवर्नर के सभापति बनने के पक्ष में सम्मति नहीं दी। उससे कई प्रकार की व्यावहारिक कठिनाइयां उत्पन्न होने का भय था। कहा जाता है कि सरकार उस समय स्वयं देश के असन्तोष को बढ़ता देखकर घबरा रही थी। उसे डर हो रहा था कि कहीं फिर से कोई देश-व्यापी विद्रोह न खडा हो जाय। इस कारण वह एक ऐसी संस्था के निर्माण के पक्ष में थी, जो भारत की प्रजा के असन्तोष रूपी गुबार को वर्ष के अन्तमें निकालकर हल्का कर देने का साधन बन सके। लार्ड डफ़रिन ने मि० ह्यूम को अनुमति दे दी।

उस अनुमति से सन्नद्ध होकर मि० ह्यूम इंग्लैण्ड गये, और बहुत-से लिबरल नेताओं तथा पार्लामेण्ट के सदस्यों से मिलकर परामर्श किया। उन लोगों ने योजना को पसन्द किया। फलतः भारत लौटकर मि० ह्यूम ने नये संगठन का प्रारम्भिक संविधान भारतीय नेताओं के सामने उपस्थित किया। इस नये संगठन का नाम 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' रखा गया।

भारतीय नेता मि० ह्यूम द्वारा प्रस्तावित नाम और संविधान से सहमत हो गये और पूना में कांग्रेस के पहले अधिवेशन की तैयारी उत्साहपूर्वक आरम्भ हो गई।

कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन का वृत्तान्त सुनाने से पहले यह आवश्यक है कि उन देशभक्तों का परिचय दे दिया जाय जिनके हृदयों में देशहित के लिए संगठित होने की प्रबल अभिलाषा उत्पन्न होकर कार्यान्वित हुई।

उन देशभक्तों में सब से पहला नाम प्रातःस्मरणीय श्री दादाभाई नौरोजी का है। दादाभाई नौरोजी का सारा जीवन भारत की सेवा में व्यतीत हुआ। उन्होंने भारत के राजनीतिक आन्दोलन का लगभग २६ वर्षों तक नेतृत्व किया।

पहली बार वह कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन के और दूसरी बार १८९३ में लाहौर अधिवेशन के अध्यक्ष बने। उस समय कांग्रेस के जीवन का प्रथम युग यौवन पर पहुंच रहा था। आप तीसरी बार १९०६ में कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। उस वर्ष वह संस्था पहले चरण—अभ्यर्थना युग—को पार करके दूसरे चरण—आन्दोलन युग—में प्रवेश कर चुकी थी। कलकत्ते के अधिवेशन में, आपके नेतृत्व में, देश के प्रतिनिधियों ने वे प्रस्ताव स्वीकार किये, जो आगामी १२ वर्षों तक राष्ट्रीय संस्था के मार्गदर्शक बने। इस प्रकार राष्ट्र की अहिंसात्मक क्रान्ति के उस अग्रदूत ने जागृति के दो युगों में राष्ट्र का मार्गदर्शन किया।


दादाभाई नौरोजी

दादाभाई नौरोजी ने राजनीतिक जीवन में उस समय प्रवेश किया था जब भारतवासियों के हृदयों पर रानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र की छाप गहरी थी, इस कारण उनके प्रारम्भिक भाषणों में हमें ब्रिटेन के प्रति विश्वास का भाव ओत-प्रोत मिलता है। उस भाव के होते हुए भी सरकार के अन्यायपूर्ण कार्यों और देश की दुर्दशा को संसार के सामने रखने में उन्होंने कोई कसर उठा नहीं रखी। वह सत्यवादी और निर्भीक थे। इसी का परिणाम हुआ कि स्वयं इंग्लैण्ड के मतदाताओं ने अपने मतों से उन्हें ब्रिटिश पार्लामेण्ट का सदस्य चुनकर सम्मानित किया। पार्लामेण्ट के सदस्य की हैसीयत से दादाभाई बहुत ही संयम परन्तु दृढ़ता और स्पष्टता से भारत के पक्ष का समर्थन करते थे।

व्यक्तिगत गुणों में उन्हें महात्मा गान्धी का पूर्वरूप समझना चाहिए। स्वभाव में सरलता, विचारों में दृढ़ता और निर्भयता, व्यवहार में सक्रियता और सत्यवादिता ये ही गुण थे, जिस कारण दादाभाई और गान्धीजी दोनों ही देश और विदेश में सम्मानित हुए। हम इन्हें राष्ट्रीय जागृति के दो युगों के प्राण-स्वरूप कह सकते हैं।

दादाभाई नौरोजी के विषय में प्रसिद्ध पत्रकार और राष्ट्रसेवक श्री सी० वाई० चिन्तामणि ने अपनी 'इण्डियन पौलिटिक्स सिन्स म्यूटिनी' नाम की पुस्तक में लिखा है:

> "वह भारत और इंग्लैण्ड में कम-से-कम ३८ संस्थाओं के संस्थापक थे। उनमें अधिकतर संस्थाओं का उद्देश्य देश की राजनीतिक उन्नति करना था, परन्तु कुछ संस्थाओं का लक्ष्य समाज-सुधार भी था, और उनमें भी विशेषरूप से स्त्रियों की शिक्षा और उन्नति मुख्य थी। बम्बई में पहले कन्या विद्यालय की स्थापना दादाभाई नौरोजी ने की थी, पहला समाचारपत्र उनकी प्रेरणा से निकला और इण्डियन नैशनल कांग्रेस के संस्थापकों में तो

उनका नाम प्रमख था ही। मैंने जीवन-भर में उनसे अधिक सौम्य महापुरुष के दर्शन नहीं किये। उनके दर्शन से ही हृदय में भक्ति उत्पन्न होती थी। मि० गोखले ने एक बार उनके विषय में कहा था कि यदि मानव में ईश्वर का अंश हो मकता तो वह दादाभाई में है।"

बम्बई प्रान्त के दूमरे महानुभाव, जिन्हें राष्ट्रीय जागृति के जन्मदाता कहा जा सकता है, जस्टिस महादेव गोविन्द रानडे थे। जस्टिस रानडे की स्थिति सार्वजनिक जीवन में अनूठी थी। वह सरकारी नौकर थे, इस कारण उनका राजनीति में सीधा भाग लेना सम्भव नहीं था, परन्तु वस्तुतः वह कांग्रेस की प्रत्येक योजना में परामर्शदाता के तौर पर सम्मिलित होते थे। उनकी सम्मति बहुत मूल्यवान समझी जाती थी। प्रत्येक सुधारक संस्था के साथ आपकी गहरी सहानुभूति थी। आप प्रार्थना समाज के सदस्य थे, सोशल कान्फ्रेंस के सर्वेसर्वा, ऋषि दयानन्द द्वारा स्थापित परोपकारिणी सभा के सभासद और पूना में होनेवाले शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों के पथदर्शक थे। आपकी प्रकृति की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसमें साहस और सतर्कता का अद्भुत मेल था। कांग्रेस को आपकी सबसे बड़ी देन थी—गोपाल कृष्ण गोखले। गोखले महोदय अपने-आपको रानडे का शिष्य कहने में गौरव का अनुभव करते थे।



महादेव गोविन्द रानडे

श्री दिन्शा इदलजी वाचा उन इने-गिने भारतवासियों में से थे, जो अपने समय में इंग्लैण्ड और भारत के आर्थिक और व्यापारिक मामलों के विशेषज्ञ समझे जाते थे। आंकड़े उनकी जिह्वा पर रहते थे। जिन संख्याओं के मायाजाल में फंसाकर अंग्रेज शासक हिन्दुस्तानियों को दम-दिलासा देना चाहते थे, उन्हीं की ठीक व्याख्या करके मि० वाचा मायाजाल को छिन्न-भिन्न कर देते थे। उनके भाषण जानकारी से भरे हुए और तर्कयुक्त होते थे। आप १८९६ से लेकर १९१३ तक कांग्रेस के संयुक्त प्रधानमन्त्री रहे। आप बोलते कम और काम अधिक करते थे। ज्ञान का विशाल कोष मस्तक में रखते हुए भी उसे वाणी से तभी प्रकट करते थे, जब उसकी बहुत आवश्यकता होती थी। उन्हें हम एक महती संस्था का 'आदर्श मन्त्री' कह सकते हैं।



दिन्शा इदलजी वाचा

तीसरे पारसी महानुभाव, जो कांग्रेस की स्थापना के समय सार्वजनिक जीवन

में आगे बढ़कर काम कर रहे थे, फीरोजशाह मेहता थे। वे बम्बई के होनहार बैरिस्टर थे। ईश्वर ने उन्हें भव्य स्वरूप, गम्भीर स्वर और पैनी प्रतिभा प्रदान की थी। जब तक कांग्रेस वैधानिक आन्दोलन के कार्य में लगी रही, फीरोज शाह मेहता का सिंहगर्जन उसमें सुनाई देता रहा। कांग्रेस के नेता और बम्बई कारपोरेशन के मेयर की हैसीयत से मेहता महोदय ने जो शानदार कार्य किये, उनके कारण बम्बई के सार्वजनिक जीवन के इतिहास में उनका नाम बहुत उज्ज्वल अक्षरों में लिखा गया है।

उस युग के बम्बई प्रान्तीय जन-नेताओं में से काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग और विश्वनाथ नारायण मांडलिक के नाम विशेष रूप से उल्लेख-योग्य हैं। मांडलिक महोदय के जीवन की एक घटना उनके चरित्र का अच्छा चित्रण करती है। जब विलायत से आनेवाले कपड़े पर से आयात-कर हटाया गया तब मांडलिक महोदय वायसराय की कौंसिल के सदस्य थे। आपने आयात-कर हटाने का भरसक विरोध किया, परन्तु नक्कारखाने में तूती की कौन सुनता था! आयात-कर उड़ा दिया गया। मांडलिक महोदय ने अपने असन्तोष को प्रकट करने का बहुत ही प्रभावोत्पादक ढंग निकाला। आप दूसरे दिन हाथ के कते और बुने हुए खद्दर के कपड़े पहिनकर कौंसिल में गये, और यह स्पष्ट शब्दों में कहा कि यह काम मैंने प्रतिवाद के रूप में किया है। उस समय हमारी राजनीति अभी इतनी बाल्यावस्था में थी कि मांडलिक का वह कार्य बहुत वीरतापूर्ण समझा गया, और उस समय की दशा को देखते हुए मानना पड़ेगा कि वह वस्तुतः था भी बहुत वीरतापूर्ण।

इस प्रसंग से बम्बई प्रान्त के दो और नाम जिह्वा पर आते हैं। उनकी चर्चा कुछ पीछे आयेगी। नाम बहुत महत्वपूर्ण हैं—परन्तु उनका परिगणन कांग्रेस की दूसरी पीढ़ी में होगा। वे नाम हैं—बाल गंगाधर तिलक और गोपाल कृष्ण गोखले।

बंगाल उस समय राजनीति में अगुआ था। इसके दो मुख्य कारण थे। पहला कारण तो यह था कि उस समय राजनीतिक जागृति अंग्रेजी पढ़े-लिखों तक परिमित थी, और कलकत्ता समय और परिमाण की दृष्टि से अंग्रेजी शिक्षा का सब से बड़ा केन्द्र बन गया था। दूसरा कारण यह था कि अभी राजनीतिक आन्दोलन का मुख्य साधन भाषणों को ही माना जाता था, और समाचारपत्र उनके सहायक थे। इन दोनों में बंगाल का नम्बर पहला था। बंगाल का निवासी अपनी भावुकता और साहित्यिक प्रवृत्तियों के कारण जैसे आज विख्यात है, वैसे ही तब भी था। विद्यासागर, बंकिमचन्द्र चटर्जी-जैसे लेखकों के ग्रन्थों तथा उपन्यासों और तारुदत्त-जैसे कवियों के काव्यों ने बंगाल की कल्पनाशक्ति में काफी उड़ान भर दी थी। इन कारणों से उस युग में सार्वजनिक आन्दोलन के क्षेत्र में बंगाल का स्थान बहुत ऊंचा था। कांग्रेस की स्थापना में बंगाल के निम्नलिखित महापुरुषों ने उल्लेखनीय योगदान किया:

सबसे पहले बंगाली नेता का नाम है सुरेन्द्रनाथ बनर्जी। आज हम कांग्रेस

के प्रसंग में उन्हें भूल-से गए हैं, क्योंकि जब कांग्रेस ने नवयुग में प्रवेश किया, तब सुरेन्द्रनाथ माडरेटों में गिने जाने लगे थे। अंग्रेजी सरकार ने उन्हें सर बना दिया, और जब वे गवर्नर की कौंसिल के सदस्य मनोनीत किये गए, तो उन्होंने अपने को कृत-कृत्य माना था; परन्तु हमें प्रारम्भिक काल के जनता के लाडले सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का अनुमान ३० वर्ष पीछे के सर सुरेन्द्रनाथ से नहीं लगाना चाहिए। उस समय सुरेन्द्रनाथ में वह शहीदों का-सा जोश था, जो साधारण व्यक्तियों को भी देवताओं की कोटि में ले जाकर खड़ा कर देता है। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी उन नौजवान भारतवासियों में से थे जो उस प्रारम्भिक काल में इंग्लैण्ड के तीर्थ पर स्नान करके सरकारी सिविल सर्विस परीक्षा की नदी में डुबकी लगाना अपना चरम लक्ष्य समझते थे। वह विलायत गये, और परीक्षा में सफल होकर भारत में सरकारी नौकरी पर नियुक्त हो गए, परन्तु सुरेन्द्रनाथ की अन्तरात्मा में स्वाधीनता की एक चिनगारी दबी पड़ी थी, जिसने उन्हें गुलामी के पिंजरे में देर तक बन्द न रहने दिया। उनकी स्वच्छन्दता से घबराकर सरकार ने उन्हें नौकरी से पृथक् कर दिया। आग में पड़ने से सोने की चमक बढ़ जाती है। यह भी देश का सौभाग्य था कि सुरेन्द्रनाथ को परीक्षा की आग में पड़कर कुन्दन बनने का अवसर मिल गया। वह पैनो प्रतिभा, असाधारण निर्भीकता और ऊंचे दर्जे की वक्तृत्व-शक्ति सरकारी घिसघिस में समाप्त हो जाती यदि सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को सरकारी नौकरी से अलग न होना पड़ता।

देश की सेवा में लगने का प्रण करने के पश्चात बनर्जी महोदय ने मानो अपने पांव में चक्कर बांध लिया। उन्होंने १८७७ और १८८३ के बीच के वर्षों में भारत के भिन्न-भिन्न भागों में तीन बहुत व्यापक दौरे लगाये। आपके जादूभरे व्याख्यानों ने अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतवासियों में एक नई राजनीतिक चेतना उत्पन्न कर दी, जिससे १८८५ में कांग्रेस के पहले अधिवेशन की सफलता सम्भव हो सकी।

श्रीयुत लालमोहन घोष का नाम भी उस समय के बंगाली नेताओं में विशेषरूप से स्मरणीय है। वे अंग्रेजी के बहुत बढ़िया वक्ता थे। जब बंगाल के देशभक्तों ने 'वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट' के विरुद्ध आन्दोलन करने का निश्चय किया, तब इण्डियन एसोसियेशन की ओर से प्रतिनिधि बनाकर घोष महाशय को इंगलैण्ड भेजा गया। उस समय उनकी आयु केवल ३० वर्ष की थी। वहां उनके पहले भाषण का सभापतित्व इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध नेता और वक्ता मि० जान ब्राईट ने किया। कहा जाता है कि यदि उस युग में इंग्लैण्ड में मि० ग्लैडस्टन न होते तो अंग्रेजी के सर्वोत्कृष्ट वक्ता का पद मि० ब्राईट को प्राप्त होता। जब लालमोहन घोष बोल चुके तो मि० ब्राईट ने उपसंहार करते हुए कहा था—"अभी हमने जो शानदार भाषण सुना है, मैं अपने निर्बल शब्दों से उसके प्रभाव को बिगाड़ना नहीं चाहता।" कहा जाता है कि यदि केवल अंग्रेजी वक्तृत्व कला की दृष्टि से देखा जाय तो घोष महाशय श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी से भी ऊंचे पाये के थे। भेद इतना ही था कि बनर्जी जनता के आदमी थे, और घोष मुख्य रूप से शिक्षित समुदाय के। परन्तु

उस समय देश को ऐसे ही नेताओं की आवश्यकता थी, जो भारत के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के अतिरिक्त अपनी वेदना-भरी आवाज इंग्लैण्ड तक भी पहुंचा सकें। फलतः श्रीयुत लाल मोहन घोष और उस कोटि के अन्य देशभक्त देश के लिए अत्यन्त उपयोगी थे। इन दो के अतिरिक्त मि० डब्लू० सी० बनर्जी, श्री आनन्दमोहन बोस, डा० गुरुदास बनर्जी, 'इण्डियन मिरर' के सम्पादक श्री नरेन्द्रनाथ सेन आदि अनेक प्रतिष्ठित और विद्वान् बंगाली महानुभाव थे, जो पहले से ही राष्ट्रीय जागरण में भाग ले रहे थे।

मद्रास के अग्रगण्यों में श्री आनन्द चार्लू का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आप बहुत प्रभावशाली वक्ता और उत्साही कार्यकर्त्ता थे। लगभग २० वर्षों तक आप मद्रास के राष्ट्रीय जीवन के प्राण-स्वरूप रहे। दैनिक 'हिन्दू' के सम्पादक श्री सुब्रह्मण्यम् अय्यर के जोरदार राष्ट्रीय लेखों का न केवल मद्रास में, अपितु भारत के बहुत बड़े भाग में गहरा प्रभाव पड़ता था। आपके पत्र की नीति सर्वथा निर्भीक और उन्नति की भावना से ओतप्रोत थी। कांग्रेस की वेदी पर आपके भाषण बहुत ही सारगर्भित और महत्वपूर्ण माने जाते थे।



आनन्द चार्लू

अन्य प्रान्तों में जो देशभक्त, राष्ट्रीयता के विचारों से ओतप्रोत होकर, प्रारम्भ से ही कांग्रेस के आन्दोलन में सम्मिलित होने के लिए उद्यत हुए, उनकी संख्या कम होते हुए भी नगण्य नहीं है। संयुक्त प्रान्त के बाबू गंगाप्रसाद वर्मा और पंजाब के बाबू मुरलीधर की गणना हम कांग्रेस के जन्मदाताओं में कर सकते हैं।

: १३ :

कांग्रेस का पहला अधिवेशन

वह एक छोटी-सी चिनगारी थी, सूखे जंगल में पड़ी हुई चिनगारी की तरह, भयंकर दावाग्नि का पूर्वरूप। उन ७२ प्रतिनिधियों ने मिलकर जो बीज बोया वह ६२ वर्षों तक देशभक्तों द्वारा पसीने और लहू से सींचा जाकर एक दिन संसार की अपूर्व अहिंसात्मक सफल क्रांति के रूप में परिणत हुआ। कांग्रेस के उस पहले अधिवेशन की अनुमति देते समय तत्कालीन अंग्रेज गवर्नर जनरल को यह क्या मालूम था कि उसकी जाति की अदूरदर्शिता से भरी हुई नीति उन थोड़े-से अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतवासियों के आन्दोलन-रूपी पवन को उत्तेजित करके कुछ वर्षों में झंझावात का रूप दे देगी।

पहले विचार था कि अधिवेशन पूना में किया जाय। पूना महाराष्ट्र का पुराना केन्द्र होने के अतिरिक्त प्रकृति और संस्कृति की दृष्टि से भी नये जागरण का मुख्य स्थान होने की योग्यता रखता था। पूना की सार्वजनिक सभा ने स्वागत-सत्कार का भार अपने जिम्मे लेकर तैयारी आरम्भ भी कर दी थी, कि अकस्मात् एक दैवी बाधा उपस्थित हो गई। शहर में हैजा फैल गया। कई रोगी मर गए। इस कारण स्थान का परिवर्तन करना पड़ा। निश्चय किया गया कि इण्डियन नैशनल कांग्रेस का पहला अधिवेशन बम्बई में हो।

बम्बई में ग्वालिया टैंक रोड पर एक विशाल हाल में अधिवेशन का आयोजन किया गया। २७ दिसम्बर (१८८५) का दिन विचारणीय विषयों के सम्बन्ध में सोचने और प्रस्ताव बनाने में व्यतीत हुआ। खुला अधिवेशन २८ दिसम्बर को दिन के १२ बजे आरम्भ हुआ और अगली बैठकें २९ और ३० के मध्याह्न में होती रहीं। अधिवेशन में जिन महानुभावों ने प्रतिनिधि की हैसियत से भाग लिया, उनकी संख्या ७२ थी। यह ध्यान में रखना चाहिए कि उस समय प्रतिनिधि चुनने का कोई वैधानिक ढंग नहीं था। प्रान्तों से आये हुए सज्जनों में से कुछ प्रमुख नेताओं को प्रतिनिधि निर्वाचित कर लिया जाता था। निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या निम्नलिखित थी—कलकत्ता ३, बम्बई १८, मद्रास ८, कराची २, वीरमगांव १, सूरत ६, पूना ८, आगरा २, बनारस १, शिमला १, लखनऊ ३, इलाहाबाद १, लाहौर १, अम्बाला १, अहमदाबाद ३, वरहामपुर (मद्रास) १, मुसलीपटम् १, चिंगलपुर १, तंजौर २, कुम्भकोणम् १, मदुरा १, तिन्नावलि १, कोयम्बतूर १, सलेम १, कुड्डपा १, अनन्तपुर १, बेल्लारि १।

इस तालिका को देखकर मन में एक प्रश्न उठता है कि बंगाल जागृति में सब प्रान्तों का अग्रगामी था तो उसके केवल ३ ही प्रतिनिधि पहली कांग्रेस में क्यों सम्मिलित हुए! इसका उत्तर यह है कि २५ दिसम्बर के दिन देश में वस्तुतः दो राष्ट्रीय आयोजन हो रहे थे। बम्बई में इण्डियन नैशनल कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था, और कलकत्ते में इण्डियन नैशनल कान्फ्रेंस का। नैशनल कान्फ्रेंस की घोषणा पहले से की जा चुकी थी, उसे स्थगित करना उस समय उचित न समझा गया, परन्तु उसी अधिवेशन में यह निश्चय कर दिया गया कि इण्डियन कान्फ्रेंस को इण्डियन नैशनल कांग्रेस में सम्मिलित कर दिया जाय। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के कांग्रेस के पहले अधिवेशन में सम्मिलित न होने का यही कारण था।

पहले अधिवेशन में कई सरकारी व्यक्ति भी सम्मिलित हुए थे। उनमें से आनरेबुल महादेव गोविन्द रानडे और आगरा के लाला बैजनाथ के नाम विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। कई अन्य सरकारी कर्मचारियों ने भी दर्शक के रूप मे भाग लिया। कारण यह था कि प्रारम्भ में सरकार कांग्रेस को अविश्वास की दृष्टि से नहीं देखती थी। वह समझती थी कि वह एक ऐसा सूराख होगा, जिसमें से होकर पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियों के असन्तोष की विषैली हवा बाहर निकल जाया करेगी, और किसी गहरे विस्फोट की सम्भावना न रहेगी।

मि० ह्यूम तो कांग्रेस के संस्थापक, और पिता ही समझे जाते थे। प्रारम्भिक काल के अधिवेशनों पर और उनके प्रस्तावों पर उनकी गहरी छाप रहती थी।

उपस्थित प्रतिनिधियों में मि० रहीमतुल्ला सयानी का नाम भी है। प्रतीत होता है कि उस अधिवेशन में मुसलमानों की ओर से एक मात्र वही थे, जो प्रतिनिधि बनाये गये। बात यह थी कि अलीगढ़ का राष्ट्रीयता-विरोधी पन्थ उससे पहले ही भारत के मुसलमानों की विचारधारा को कलुषित कर चुका था। सर सय्यद अहमद और उनके साथी कांग्रेस और उसी प्रकार के अन्य राष्ट्रीय आन्दोलनों से पृथक् रहना भारत के मुसलमानों के लिए हितकर मानने लगे थे। जब तक महात्मा गान्धी ने खिलाफत के प्रश्न को स्वराज्य के प्रश्न के साथ नत्थी करके कांग्रेस के मंच पर खड़ा नहीं कर दिया, तब तक प्रतिनिधियों में मुसलमानों का अनुपात लगभग वही रहा, जो पहले अधिवेशन में था। वे सदा नियम में अपवाद की भांति रहे।

अधिवेशन २९ दिसम्बर को दोपहर के १२ बजे आरम्भ हुआ। व्याख्यान मंच पर सर्वश्री दादाभाई नौरोजी, नरेन्द्रनाथ सेन, फीरोज शाह मेहता, दिन्शा, इदलची वाचा, गंगाप्रसाद वर्मा, मुरलीधर, सुब्रह्मण्यम् अय्यर, रहीमतुल्ला सयानी आदि प्रतिष्ठित देशभक्त विराजमान थे। उनको प्रेरणा देने के लिए देवताओं में वृहस्पति के समान मि० ह्यूम विद्यमान थे। मि० ह्यूम के प्रस्ताव और श्री सुब्रह्मण्यम् अय्यर के अनुमोदन पर सर्वसम्मति से कलकत्ते के मूर्धन्य वकील मि० डब्लू० सी० बनर्जी सभापति निर्वाचित हुए। आपने करतल-ध्वनि के मध्य में आसन ग्रहण करके एक संक्षिप्त और सारगर्भित भाषण दिया, जिसमें कांग्रेस के ध्येय और कार्यक्रम पर प्रकाश डाला। भाषण के प्रारम्भ में आपने इस बात पर हर्ष और सन्तोष प्रकट किया कि सभा में देश के सभी प्रान्तों के प्रतिनिधि उपस्थित हैं—आपने कहा कि "इससे पहले ऐतिहासिक काल में भारत भूमि पर इतना महत्वपूर्ण और विशाल सम्मेलन कभी नहीं हुआ।"


डब्लू० सी० बनर्जी

उसके पश्चात् आपने कांग्रेस के उद्देश्य और लक्ष्य के सम्बन्ध में चर्चा की। आपने कांग्रेस के चार उद्देश्य बतलाये :

(१) साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों के देशभक्तों में परिचय और मित्रता स्थापित करना।

(२) जाति, सम्प्रदाय और प्रान्त से सम्बन्ध रखनेवाले भेद-भावों को मिटाकर, एकराष्ट्रीयता की भावना को दृढ़ करना।

(३) परस्पर परामर्श द्वारा वर्तमान समय की मुख्य सामाजिक समस्याओं पर सम्मति स्थिर करना।

(४) और यह निश्चय करना कि अगले बारह महीनों में उद्देश्यों की पूर्ति के लिए क्या-क्या साधन काम में लाये जायंगे।

इस प्रकार उद्देश्यों और कार्यप्रणाली पर प्रकाश डालकर सभापति महोदय ने उन आपत्तियों और आशंकाओं की चर्चा की, जो प्रारम्भ से ही कांग्रेस के बारे में की जा रही थीं। कुछ लोग कह रहे थे कि कांग्रेस एक राजद्रोही संस्था होगी। उनका समाधान करते हुए आपने कहा, "मैं सब उपस्थित सज्जनों के मत को प्रकट कर रहा हूं, जब मैं कहता हूं कि अंग्रेजी सरकार को मेरी ओर यहां बैठे हुए मेरे मित्रों की अपेक्षा, अधिक गहरे और पक्के राजभक्त व्यक्ति मिलना असम्भव है।"

अन्त में आपने कहा :

"भारत की भलाई के लिए इंग्लैण्ड ने बहुत कुछ किया है। उसके लिए सारा देश इंग्लैण्ड का कृतज्ञ है। उसने हमें शान्ति दी, रेलवे दी, और सबसे बढ़कर पश्चिमी शिक्षा दी। परन्तु अभी बहुत कुछ करना शेष है। देश के निवासी ज्यों-ज्यों शिक्षा प्राप्त करेंगे, उनके हृदय में राजनीतिक उन्नति की इच्छा प्रबल होती जायगी। मैं समझता हूं कि योरप के ढंग की शासन-प्रणाली की अभिलाषा चाहना राजद्रोह नहीं है। हमारी केवल यह इच्छा है कि शासन का आधार अधिक विस्तृत हो, और उसमें देशवासियों को उचित और न्यायपूर्ण भाग प्राप्त हो। मेरा विश्वास है कि हम जो चर्चा करेंगे, वह सरकार और प्रजा दोनों के लिए लाभदायक होगी।"

सभापति के भाषण के पश्चात् कांग्रेस ने निम्नलिखित आशय के प्रस्ताव स्वीकार किये :

(१) भारत के शासन की जांच के लिए एक शाही कमीशन स्थापित किया जाय।

(२) विलायत में बने हुए सेक्रेटरी आव स्टेट की कौंसिल के वर्तमान संगठन को तोड़ दिया जाय।

(३) केन्द्रीय और प्रान्तीय कौंसिलों का विस्तार और सुधार किया जाय। उनमें प्रश्न करने और बजट पास करने की प्रथा जारी की जाय।

(४) सिविल सर्विस की परीक्षा इंग्लैण्ड और भारत दोनों देशों में एक साथ हो।

(५) सैनिक व्यय घटाया जाय।

(६) विलायत से आनेवाले कपड़ों पर आयात-कर, जो उड़ा दिया गया है, फिर से लगा दिया जाय।

(७) और बर्मा को यदि साम्राज्य में मिलाना ही हो तो उसे भारत से अलग रखा जाय ताकि उसका बोझ भारत की प्रजा पर न पड़े।

अन्तिम प्रस्ताव में यह निश्चय किया गया कि यह प्रस्ताव देश की अन्य राजनीतिक संस्थाओं को भेजकर उनसे निवेदन किया जाय कि वे भी कांग्रेस द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों को स्वीकार करके सरकार के पास भेजें।

अगले वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में करने का निश्चय किया गया। अन्त में सभापति महोदय को धन्यवाद देने के साथ-साथ 'कांग्रेस के पिता' मि० ह्यूम को 'तीन वार तीन चियर्स' का सम्मान दिया गया। पश्चिमी संस्कृति में करतल-ध्वनि द्वारा दिये जानेवाला यह सबसे बड़ा सम्मान माना जाता था।

हमने पहले अधिवेशन का वृत्तान्त विस्तारपूर्वक इस कारण दिया है कि कांग्रेस के जन्मदाताओं की भावनाओं का पूरा और स्पष्ट चित्र खिंच जाय। पहले अधिवेशन के सभापति के भाषण और प्रस्तावों से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हैं:

(१) जिन लोगों ने कांग्रेस को प्रारम्भ किया, वे अंग्रेजी सरकार, और इंग्लैण्ड के राजमुकुट की न्यायपरायणता पर पूरा विश्वास रखते थे, और सच्चे दिल से राजभक्त थे, उनकी राजभक्ति में बनावट नहीं थी।

(२) उनकी मांगें बिलकुल वैधानिक थीं, और बहुत थोड़ी थीं। अभी वह औपनिवेशिक स्वराज्य या प्रतिनिधि सत्तात्मक शासन के लक्ष्य से बहुत दूर थे।

(३) इंग्लैण्ड से सम्बन्ध-विच्छेद की बात तो वे लोग स्वप्न में भी नहीं सोच सकते थे, क्योंकि रानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र पर उनकी गहरी आस्था थी।

: १४ :

बाल गंगाधर तिलक

राष्ट्रीय जागृति की गर्म धारा

सन् ५७ की राज्य-क्रान्ति के पश्चात्, अंग्रेजी सरकार ने भारतवासियों के साथ जो उपेक्षा का व्यवहार किया, उसकी प्रतिक्रिया के रूप में प्रारम्भ से ही भारत में असन्तोष और आन्दोलन की दो, एक दूसरे से पृथक् किन्तु समानान्तर, धाराएं उत्पन्न हुईं। उनमें से पहली वैधानिक आन्दोलन की धारा थी, जिसका स्थूल रूप ग्वालिया टैंक के मैदान में इण्डियन नैशनल कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के रूप में प्रकट हुआ। असन्तोष की दूसरी धारा की गंगोत्री पूना से बनी, जहाँ के वातावरण में तब तक भी शिवाजी, बाजीराव पेशवा और नाना फडनवीस के नाम और काम की याद हरी थी। वह धारा आगे चलकर अग्रगामी दल, गर्म दल, क्रांतिकारी दल आदि अनेक नामों से विशेषित होती रही, परन्तु वस्तुतः वह सन् ५७ की राज्य-क्रान्ति का ही जीर्णावशेष थी। राष्ट्रीय जागृति के उस दूसरे यज्ञ के अध्वर्यु थे, 'केसरी' के सम्पादक, पं० बाल गंगाधर तिलक।

जब बंग-विच्छेद के पश्चात भारत में विद्रोह की आग खूब जोर से भड़क रही थी, तब इंग्लैण्ड से सर वैलण्टाईन शिरोल नाम का एक पत्रकार यहां आया था। उसने इंग्लैण्ड लौटकर जो पुस्तक प्रकाशित की, उसमें तिलक महाराज को

भारत की अशान्ति का पिता (Fa'her of Indian Unrest) बतलाया था। रौलट एक्ट द्वारा उत्पन्न हुए हत्या-काण्ड से पहले सरकार ने सडीशन कमेटी नाम की एक कमेटी बनाई थी, जिसके प्रधान का नाम मि० रौलट था। वह कमेटी प्रधान के नाम से 'रौलट कमेटी' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उस कमेटी के सुझाव का ही परिणाम था कि सरकार ने वह कानून पास किया जो रौलट एक्ट के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उस कमेटी की रिपोर्ट की प्रस्तावना में राष्ट्रीय जागृति की उग्र धारा के उद्भव का निम्नलिखित वर्णन किया गया है :



बाल गंगाधर तिलक

"जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत के साथ व्यापार आरम्भ किया, तब इस देश का बहुत-सा भाग मुसलमानों के अधिकार में था। देश कई सदियों से न्यूनाधिक रूप में मुसलमानों के अधीन चला आ रहा था, यद्यपि कभी-कभी उनके मन्त्री ब्राह्मण होते रहे थे। १७वीं सदी के मध्य में मुसलमानों की शक्ति कमजोर होने लगी। मराठों के नेता शिवाजी ने पश्चिम-भारत के मराठों को जगा दिया, और मुसलमानों की अधीनता से निकल जाने के लिए तैयार कर दिया। शिवाजी के पोते ने सतारा (बम्बई प्रेसीडेंसी का एक शहर) में हिन्दू राज्य की स्थापना की, जिसका मुख्यमन्त्री ब्राह्मण था।

"अधिक समय व्यतीत नहीं हुआ था कि ब्राह्मण मन्त्री और उसके वंशज 'पेशवा' नाम से दक्षिण के शासक बन गए। उनका दरबार पूना में था, और सारा शासन एक तरह ब्राह्मण शासन हो गया था। पेशवा के नाबालिग होने की दशा में, बहुत समय तक दक्षिण का असली शासक नाना फडनवीस रहा। वह और उसका मालिक पेशवा, दोनों ही चितपावन ब्राह्मण थे, जिनका जन्मस्थान कोंकण प्रदेश में था, वह प्रदेश बम्बई और गोआ के मध्य में स्थित है। इसी कारण इन्हें कोंकणस्थ ब्राह्मण और अन्य ब्राह्मणों को देशस्थ ब्राह्मण कहा जाता था। नाना फडनवीस ने अपने शासन-काल में ऊंचे सरकारी पदों पर से देशस्थ ब्राह्मणों को हटाकर उनके स्थान पर कोंकणस्थ ब्राह्मणों को नियुक्त करना जारी रखा। १९वीं सदी में अंग्रेजों ने जिस सरकार के हाथ से दक्षिण का राज्य छीना वह इस प्रकार बनी हुई चितपावन सरकार थी। अंग्रेजों ने ब्राह्मणों को निचले दर्जे की सरकारी नौकरी में तो नियुक्त किया, परन्तु शासन की बागडोर उनके हाथों से निकल गई, इस कारण उनके हृदयों में स्वभावतः एक प्रकार की बेचैनी और फिर शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न हो गई। पूना जिले के यही ब्राह्मण थे, जिनमें हम क्रान्ति की भावना के प्रथम चिह्न पाते हैं।"

यद्यपि शिरोल और रौलट कमेटी का किया हुआ कारणों का विश्लेषण सर्वांश में ठीक नहीं है, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि उसने जहां उंगली रखी है, नब्ज़ वहीं है। महाराष्ट्र की राजनीतिक पराधीनता अभी नई थी। १७१७ ईस्वी के अन्त तक पूना एक ज़बर्दस्त स्वतन्त्र राज्य का केन्द्र बना हुआ था, जिसका संचालन पेशवा करते थे। ७० वर्षों में कोई जाति स्वाधीनता के संस्कारों को नहीं भुला सकती। यह स्वाभाविक ही था कि महाराष्ट्र में, भारत पर कसे जाते हुए दासता के शिकंजे के विरुद्ध उग्र प्रतिक्रिया उत्पन्न होती। यह कहना तो ठीक नहीं कि वह प्रतिक्रिया चितपावन ब्राह्मणों में ही हुई। महाराष्ट्र में जिस अन्तर्हित उग्र आन्दोलन ने जन्म लिया, उसमें ब्राह्मण और मराठे सभी शामिल थे। यह ठीक है कि उसका नेतृत्व पं० बाल गंगाधर तिलक ने किया, जो अपनी योग्यता, वीरता और उग्र देशभक्ति के कारण उस कार्य के सर्वथा योग्य थे।

तिलक महाराज का जन्म १८५६ में महाराष्ट्र के रत्नागिरी नामक नगर में हुआ। उनका अपना नाम 'बाल' था। गंगाधर उनके पिता का नाम था, और वंश का नाम था तिलक। जब वह १६ वर्ष के थे, उनके पिता की मृत्यु हो गई, परन्तु बालक बाल की पढ़ाई जारी रही और १८७६ में बी० ए० और १८७९ में एल्-एल्० बी० पास कर के वह कार्यक्षेत्र में प्रविष्ट हो गए।

कार्यक्षेत्र में आने के समय युवक बाल गंगाधर तिलक का अपने समानधर्मा दो व्यक्तियों से सम्पर्क हुआ। उनमें से पहले व्यक्ति श्री आगरकर थे, जो तिलक महाराज के समवयस्क थे। दोनों युवक देशभक्ति की ऊंची भावना से प्रेरित थे, इस कारण परस्पर बातचीत में भावी जीवन में देशसेवा की सम्मिलित योजनाएँ बनाया करते थे। श्री विष्णु कृष्ण चिपलूणकर अपने समय के सर्वोत्कृष्ट मराठी लेखक समझे जाते थे। अधिकारियों के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर आपने सरकारी स्कूल की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया, और स्वतन्त्र स्कूल चलाने के विचार से पूना को अपनी कार्यस्थली बना लिया। प्यासे को मानो पानी मिल गया। तिलक और आगरकर को एक पथदर्शक और सहायक की आवश्यकता थी ही, तीनों ने मिलकर पूना इंग्लिश स्कूल नाम से एक स्कूल की स्थापना की, और उसमें पढ़ाने लगे। परन्तु उन देशभक्ति से ओत-प्रोत युवकों के लिए केवल स्कूल की परिधि पर्याप्त नहीं थी, उन्होंने 'केसरी' और 'मराठा' नाम के दो पत्र भी जारी किये। 'केसरी' मराठी में था, और 'मराठा' अंग्रेजी में दोनों पत्र विष्णु शास्त्री के आर्यभूषण प्रेस में छपते थे। विष्णु शास्त्री ने सचित्र छपाई के लिए चित्रशाला प्रेस की भी स्थापना की थी। न केवल महाराष्ट्र के सार्वजनिक जीवन में, अपितु सम्पूर्ण भारत के सार्वजनिक जीवन में 'केसरी' और 'मराठा' ने जो भगीरथ प्रयत्न किया है, वह सर्वविदित है, परन्तु वर्तमान पीढ़ी के बहुत कम भारतवासी इस बात को जानते हैं कि इनके प्रारम्भ का बहुत-सा श्रेय विष्णु शास्त्री को था, जिन्हें बाल गंगाधर तिलक का गुरु और प्रेरक कहा जा सकता है। पीछे से पूर्वोक्त तीनों महानुभावों के साथ श्री वी० एस० आपटे और श्री नामजोशी भी शामिल हो गए थे।

इस प्रकार, देशभक्त नवयुवकों के इस उत्साही दल ने पूना के सार्वजनिक जीवन में नये प्राणों का संचार कर दिया। शीघ्र ही पूना इंग्लिश स्कूल (जिसे न्यू इंग्लिश स्कूल भी कहा जाता था) पूना का सर्वोत्तम स्कूल समझा जाने लगा, और 'मराठा' और 'केसरी' और विशेष रूप से 'केसरी' राष्ट्रीय जाग्रति के अग्रदूत माने जाने लगे। 'केसरी' लोकभाषा में निकलता था, और तिलक महाराज के लेख स्वाधीनता और तेजस्विता से भरे होते थे। उन्हें आज भी जोरदार मराठी गद्य के उत्कृष्ट नमूने कहा जा सकता है। 'केसरी' का प्रचार पानी में तेल की तरह बहुत शीघ्र इतना बढ़ गया कि सरकार का दिल कांप उठा, और बाल गंगाधर को वह अपना पहले दर्जे का शत्रु मानने लगी।

सरकार की ओर से 'केसरी' और 'मराठा' पर पहला वार, कोल्हापुर महाराज के कारवारी शिवाजीराव के साथ सरकार द्वारा किये गए दुर्व्यवहार के मामले में हुआ। इन पत्रों में सरकार के व्यवहार की कठोर निन्दा की गई, जिसके कारण तिलक और आगरकर पर अभियोग चलाये गए, और चार-चार महीनों की कैद का दण्ड दिया गया। इस मामले ने तिलक और 'केसरी' की लोकप्रियता को दस-गुना कर दिया। अभियोग लड़ने में जनता की ओर से खुली सहायता दी गई।

यह अभियोग चल ही रहा था कि विष्णु शास्त्री की मृत्य हो गई। इस वियोग ने मानो तिलक महाराज की एक भुजा काट दी, परन्तु उससे कुछ भी निरुत्साहित न होकर जेल के बाहर आने पर दोनों नौजवान मित्र अपने कार्य में अधिक उत्साह और तल्लीनता से लग गए।

स्कूल की पर्याप्त उन्नति हो गई थी। शिक्षा के स्तर और छात्रों की संख्या की दृष्टि से वह पूना में सर्वोत्कृष्ट शिक्षणालय समझा जाने लगा था। संचालकों ने यह आवश्यक समझकर कि उसका विधान सुव्यवस्थित बना दिया जाय १८८४ में दक्षिण एजूकेशन सोसायटी के नाम से एक संस्था की स्थापना कर दी, और तिलक, आगरकर और नामजोशी उसके पहले स्थायी सदस्य बन गए।

शिक्षा के कार्य में तिलक महाराज की सर्वतोमुखी और पैनी प्रतिभा को अपना चमत्कार दिखाने का बहुत अनुकूल अवसर मिला। कालिज में गणित के तो वे प्रोफेसर थे ही, उसके अतिरिक्त समय-समय पर संस्कृत और सायन्स का अध्यापन भी करते रहते थे। प्रत्येक विषय में उनका गहरा प्रवेश था। मौलिकता और पूर्णता उनके विशेष गुण थे। उनके शिष्य उनके पढ़ाने से बहुत सन्तुष्ट रहते थे।

सारे जीवन में लोकमान्य तिलक की यह विशेषता रही कि वे अपने मौलिक सिद्धान्तों को मुख्य और व्यक्ति और संस्थाओं को गौण मानते थे। वह अभीष्ट साध्य की पूर्ति के सामने अवान्तर साधनों को तुच्छ समझते थे। सिद्धान्त-भेद होने पर वह अन्तरंग-से-अन्तरंग मित्र से सम्बन्ध तोड़ने या उसकी खुली आलोचना करने में भी संकोच नहीं करते थे।

ऐसे सम्बन्ध-विच्छेद का पहला अवसर तब आया जब १८८८ में सामाजिक और धार्मिक मामलों में मतभेद होने के कारण तिलक और आगरकर की जोड़ी

टूट गई। आगरकर को 'केसरी' से सम्बन्ध तोड़ना पड़ा, और अपने विचारों के प्रचार के लिए 'सुधारक' नाम का पृथक् पत्र निकालना पड़ा।

दो वर्ष बाद स्कूल और फरगूसन कालिज से तिलक महाराज अलग हो गए। यह सम्बन्ध-विच्छेद भी मतभेद के कारण हुआ। फर्गूसन कालिज को सरकारी सहायता की आवश्यकता थी। तिलक महाराज की उग्र राजनीतिक विचारधारा सरकार को पसन्द नहीं थी। कालिज के बहुत-से प्रमुख संचालक समाज-सुधारक थे। तिलक उस समय समाज-सुधार के आन्दोलन को जनता में बुद्धिभेद उत्पन्न करने का कारण समझकर उसे हेय समझते थे। परिणाम यह हुआ कि कालिज सोसायटी के अन्य कार्यकर्त्ताओं से तीव्र मतभेद होने के कारण तिलक महाराज ने संस्था से सम्बन्ध तोड़ लिया।

इस प्रकार आप स्वाधीन रूप से एकाग्रचित्त होकर राजनीतिक क्षेत्र में उतर आये। 'केसरी' और 'मराठा' उस दिन से भारतीय राजनीति में अग्रगामी दल के मुखपत्र समझे जाने लगे।

जब १८८५ में यह निश्चय हुआ कि पूना की सार्वजनिक सभा की ओर से इण्डियन नैशनल कांग्रेस का पहला अधिवेशन पूना में किया जाय तो स्वागत के मुख्य प्रबन्धकों में बाल गंगाधर तिलक का नाम भी था। उसके पश्चात भी कुछ वर्षों तक वह कांग्रेस के अन्यतम कार्यकर्त्ता रहे। उन दिनों वह कानून पढ़ाते थे, 'केसरी' और 'मराठा' का सम्पादन करते थे, और सार्वजनिक कार्यों में भी काफ़ी समय देते थे। परन्तु उनके संस्कारी मन के लिए इतना कार्य भी काफ़ी नहीं था। उन्हीं दिनों आपने 'दि ओरियन' (The Orion) नाम का एक अन्वेषणात्मक ग्रन्थ लिखा, जिसने योरप में उनकी अद्भुत योग्यता की धाक जमा दी थी। डा० ब्लूमफील्ड ने 'दि ओरियन' की आलोचना करते हुए उस ग्रन्थ को "बहुत महत्वपूर्ण साहित्यिक घटना" का नाम दिया था, और लिखा था कि "जब मैंने उस भद्दी-सी छपी हुई किताब को पढ़ना शरू किया तो मेरा विचार था कि पन्ने पलटकर इस पुराने ढंग की चीज को देख डालूं, परन्तु मेरा वह हल्का भाव गम्भीरता में परिणत हो गया, क्योंकि मैंने अनुभव किया कि कुछ असाधारण बात हो गई है। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि यह भारतीय लेखक एक ओर वैदिक साहित्य का और दूसरी ओर पश्चिम के ग्रन्थों का एक-सी सुगमता से उपयोग करता है। पहले मैं सरसरी ढंग पर देख रहा था, शीघ्र ही मैंने उसे दत्तचित्त होकर पढ़ना आरम्भ किया, और अन्त में यह दशा हुई कि जिस ग्रन्थ का मैं मज़ाक उड़ाने की तैयारी कर रहा था, मुझे मानना पड़ा कि लेखक के उस ग्रन्थ ने लगभग सभी आवश्यक विषयों पर मुझे अपने से सहमत कर लिया है।"

इस सम्मति को हमने विस्तार से उद्धृत किया है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि अगले जीवन में अपने सम्पूर्ण समय को राजनीति के अर्पण करके लोकमान्य तिलक ने कितना भारी आत्म-त्याग किया। एक ओर देश-विदेश में प्रभूत मान और सांसारिक विभूति थी, और दूसरी ओर राजशक्ति से दिन-रात का संघर्ष

और कांटों की सेज थी। देशभक्त की आत्मा ने मान और विभूति के मार्ग को छोड़कर संघर्ष और कांटों का मार्ग चुन लिया, और देश में एक ऐसे विचार-प्रवाह को जन्म दिया, जिसने राजनीति को प्रार्थना और शिष्टमण्डलों के स्तर से ऊपर उठाकर चुनौती और आन्दोलन के रूप में परिणत कर दिया।

कालिज के धन्धे को छोड़ने के पश्चात लोकमान्य ने जनता में जागृति उत्पन्न करने के नये-नये आयोजनों का तांता बांध दिया। 'केसरी' और 'मराठा' उन आयोजनों को कार्यान्वित करने के साधन बन गए। जनता में जागृति उत्पन्न करने के दो स्मरणीय कार्य, जिनके साथ लोकमान्य का नाम जुड़ा हुआ है, गणपति-उत्सव और शिवाजी-उत्सव थे। गणपति-उत्सव महाराष्ट्र का पुराना धार्मिक मेला था। लोकमान्य ने उसे नया राष्ट्रीय रूप दे दिया। इसी प्रकार शिवाजी-उत्सव भी देर से मनाया जाता था, लोकमान्य ने उसे राष्ट्रीय स्वाधीनता के प्रचार का साधन बना दिया। राष्ट्रीयता को धर्म का-सा रूप देने में इन दोनों उत्सवों का बहुत बड़ा हाथ था।

लोकमान्य की राजनीतिक प्रवृत्तियों की प्रारम्भ से ही यह विशेषता थी कि वह स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए जनता की ओर देखते थे, राजा की ओर नहीं। उनका निश्चय था कि लुटी हुई स्वाधीनता ली जाती है, मांगी नहीं जाती। इस कारण प्रारम्भ से ही उनका कांग्रेस के मुख्य संचालकों से मतभेद रहा। कांग्रेस के संचालकों का ध्येय था, ब्रिटिश राज्य के दायरे में वैधानिक अधिकारों की प्राप्ति; और लोकमान्य तिलक का ध्येय था, देश में वैसे राष्ट्रीय शासन की स्थापना जैसी शिवाजी महाराज ने की थी। कांग्रेस के उस समय के नेता इस विश्वास पर चल रहे थे, कि अंग्रेज जाति स्वभाव से न्याय और स्वाधीनता से प्रेम करती है, यदि अच्छी तरह उसका दरवाजा खटखटाया जाय, तो हमें सब कुछ प्राप्त हो सकता है। उनका विक्टोरिया की घोषणा की ईमानदारी पर दृढ़ विश्वास था; इसके विपरीत लोकमान्य तिलक को अंग्रेज शासकों की सदिच्छाओं पर कोई भरोसा नहीं था। वह मानते थे कि अंग्रेज भारत में शासन करना चाहते हैं, इससे लाभ उठाना चाहते हैं, और जो कुछ करते हैं, अपने लाभ के लिए करते हैं। यदि हमें राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने हैं, तो प्रजा को उठाना चाहिए। यदि प्रजा में राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न नहीं होती तो सैकड़ों सालों तक भीख मांगने से भी स्वाधीनता प्राप्त नहीं हो सकती।

जिस समय नर्म विचार के अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतवासी बम्बई में कांग्रेस नाम की वैधानिक संस्था का प्रारम्भ कर रहे थे लगभग उसी समय पूना में राष्ट्रसेवकों का एक ऐसा दल तैयार हो रहा था, जो ध्येय और साधनों की दृष्टि से उनसे भिन्न था। उस समय की भाषा में उसे 'एक्स्ट्रीमिस्ट' या गर्म दल कहा जाता था। इतिहास की भाषा में हम उसे अग्रगामी दल कह सकते हैं।

कुछ वर्षों तक तो कांग्रेस अपने प्रारम्भ में स्वीकृत वैधानिक रास्ते पर आराम से चलती गई, परन्तु शीघ्र ही परिस्थिति बदलने लगी। उसकी मांगें ठुकराई

गईं, जिससे कांग्रेस के नेताओं के मन विक्षुब्ध होने लगे। उधर सरकार ने अपनी स्वार्थपूर्ण मनमानी नीति के शिकंजे कसने शुरू कर दिये, जिससे जनता का असन्तोष निरन्तर बढ़ता गया। परिणाम यह हुआ कि अग्रगामी विचारों की वह लहर, जिसके अगुआ लोकमान्य तिलक थे, कांग्रेस के किनारों से आकर टकराने लगी। कांग्रेस के आगामी दीर्घजीवन में हम वैधानिक और अग्रगामी इन दोनों राजनीतिक विचारधाराओं की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया का मनोरंजक प्रयोग देखेंगे। यह प्रयोग लगभग ३४ वर्षों तक जारी रहा, जिसके अन्त में अग्रगामी विचारधारा का कांग्रेस पर पूर्णाधिकार हो गया।

: १५ :

रूखे-सूखे चौदह वर्ष

लार्ड रिपन के विदा हो जाने पर १८८४ में लार्ड डफरिन को भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त किया गया। १८८८ में ४ वर्षों के पश्चात परिवर्तन हो गया, और लार्ड लैन्सडाऊन ने कार्यभार संभाला। लार्ड लैन्सडाऊन ने पांच वर्ष तक शासन किया, और उनके पश्चात् १८९३ में भारत का भाग्य लार्ड एल्गिन के सुपुर्द हुआ। लार्ड एल्गिन भारत में अंग्रेजी शासन का राहु सिद्ध हुआ, क्योंकि उसके समय भारत पर एक नहीं, अपितु न्यायमूर्ति रानडे के कथनानुसार, चार प्रकार के प्लेग अवतीर्ण हुए। भारत पर वह ग्रहण पांच वर्ष तक रहा, क्योंकि १८९८ के अन्त में यह घोषणा की गई कि इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान्, वक्ता, कूटनीतिज्ञ, पर्यटक और पार्लमेण्टेरियन लार्ड कर्ज़न को वायसराय और गवर्नर जनरल के पद पर नियुक्त किया जायगा।

लार्ड कर्ज़न से पहले के तीन गवर्नर जनरलों के शासन-काल को हमने सुविधा की दृष्टि से एक ही कोष्ठक में समेट दिया है, और उनके चौदह वर्षों के शासन को 'रूखा-सूखा' विशेषण से विशेषित किया है। हमारा यह वर्गीकरण ठीक है या नहीं, इसका निर्णय उनके शासन-काल की घटनाओं पर दृष्टि डालकर हो सकेगा।

हम दिखा आये हैं कि उन दिनों भारत का शासन छोटी डोंगी की तरह, इंग्लैण्ड के शासन के जहाज के पीछे बंधा हुआ था। जब इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट में उदार (लिबरल) दल का बहुमत होता था, तब भारत में वसन्ती हवा चलने लगती थी, और जब इंग्लैण्ड में अनुदार (कन्ज़रवेटिव) दल का प्रभुत्व होता था, तब यहां मई-जून की लू बहने लगती थी। १८८५ में इंग्लैण्ड के यशस्वी उदार नेता मि० ग्लैडस्टन ने प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र दे दिया, और अनुदार दल के नेता लार्ड सालिसबरी ने शासन की बागडोर संभाली। साथ ही भारत की शासन-नीति में भी परिवर्तन आ गया। लार्ड डफ़रिन स्वयं एक अनुभवी और योग्य

व्यक्ति था, परन्तु उस युग में सेक्रेटरी आव स्टेट के मारे बेचारे वायसराय की क्या चल सकती थी? उसे इच्छा से या अनिच्छा से, अनुदार दल की नीति के अनुसार चलना पड़ता था।

अनुदार नीति का पहला प्रभाव यह हुआ कि सरकार ने फिर से पड़ोसी देशों पर आक्रमण के रास्ते पर पग बढ़ाया। बर्मा पर चिरकाल से अंग्रेजी सरकार की आँखें थीं। पहला आक्रयण १८२४ में किया गया था। उस आक्रमण को, अंग्रेज इतिहास-लेखकों ने 'बर्मा का पहला युद्ध' नाम दिया है। सबल देश निर्बल देशों पर किये गए आक्रमण का समर्थन करने के लिए ऐसे ही नामकरण किया करते हैं। बर्मा पर दूसरा आक्रमण लार्ड डलहौजी के शासन-काल में हुआ। लार्ड डलहौजी की प्रशस्ति लिखनेवाले लेखकों ने, बर्मा के एक बड़े भाग पर विजय प्राप्त करने के कारण अपने पूज्यदेव को विजेता की उपाधि से विभूषित किया है। स्वयं लार्ड डलहौजी ने कहा था कि "जब अन्त में बर्मा को ब्रिटिश साम्राज्य के पेट में जाना ही है, तो इस समय उसका एक ग्रास काट लेने में क्या हानि है!"

दो ग्रास खाकर ब्रिटिश साम्राज्य की तृप्ति नहीं हुई। साम्राज्य-लालसा की यह विशेषता है कि ज्यों-ज्यों उसे खुराक मिलती है, उसका आवेग बढ़ता है। सारे भारत पर छाकर भी साम्राज्य का पेट न भरा, और लार्ड डफ़रिन के समय बर्मा के अन्तिम ग्रास पर भी हाथ साफ किये गए। बर्मा में व्यापार करनेवाली अंग्रेज कम्पनियों की अत्युक्तिपूर्ण शिकायतों के आधार पर १८८२ में बर्मा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी गई। बेचारे बर्मा के राजा में बल ही कितना था। अंग्रेजी सेनाओं ने लगभग निर्विरोध बर्मा को पार कर लिया, और १ जनवरी १८८६ के दिन सारे बर्मा देश को अंग्रेजी साम्राज्य का अंग बना लिया। इंग्लैण्ड को इस विजय से यह लाभ हुआ कि संसार में उसकी शक्ति की धाक बंध गई, और भारत-वर्ष को यह लाभ हुआ कि उसकी गरीब प्रजा पर बर्मा के युद्ध के व्यय का बोझ पड़ गया।

लार्ड डफ़रिन के शासन-काल में रानी विक्टोरिया की जुबली मनाई गई। भारत में वह उत्सव बड़े हार्दिक उत्साह से मनाया गया। एक विदेशी राज्य में, देश की प्रजा जितना अधिक-से-अधिक प्रेम किसी दूर देश में रहनेवाले शासक पर प्रगट कर सकती है, भारत की प्रजा ने विक्टोरिया के लिए जयन्ती के उपलक्ष में उसका प्रदर्शन किया। यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है, कि भारतवासियों के उस प्रदर्शन में कोई बनावट नहीं थी। सचमुच उस समय के भारतवासी मानते थे कि भारत में रहनेवाले और हुकूमत करनेवाले अंग्रेज चाहे कैसे ही बुरे हों, पर इंग्लैण्ड के सिंहासन पर बैठी हुई महारानी विक्टोरिया दयालु है, न्यायमूर्ति है, और भारत की प्रजा के लिए सच्ची मा है। उनकी मनोवृत्ति यह थी कि ब्रिटिश शासन में कानून और सुरक्षा का जो सुख है, वह विक्टोरिया की दयालुता का फल है, और जो बुराइयां हैं, वे रानी के कारिन्दों की अयोग्यता के कारण हैं। प्रजा के सब आशीर्वाद विक्टोरिया की ओर जाते थे, और शाप स्थानीय अधिकारियों की

ओर। पढ़े-लिखे लोग रानी के घोषणा-पत्र, और विशेषत: उसके अन्तिम भाग पर मुग्ध थे, और साधारण प्रजा उस न्याय पर लट्टू थी जिसे वह विक्टोरिया महारानी की कृपा का फल समझती थी। उन दिनों गांव की स्त्रियां आपसी झगड़े में यह कहती सुनी जाती थीं, "तुम समझते क्या हो। यह रानी विक्टोरिया का राज है, जिसमें शेर-बकरी एक घाट पर पानी पीते हैं। इस राज्य में बेइन्सांफी नहीं चल सकती।" यही कारण था कि जहां कांग्रेस के व्याख्यान मंच पर महारानी के चरणों में भक्ति प्रदर्शित करना आवश्यक समझा जाता था, वहां गरीबों के घरों में बात-बात पर विक्टोरिया महारानी के नाम की दुहाई दी जाती थी। १८८७ में, जुबली के अवसर पर देश-भर में रानी के उदार व्यक्तित्व के लिए जो भक्तिभाव प्रदर्शित किया गया, वह स्वाभाविक ही था; परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि उसे भारत में अंग्रेजी शासन की लोकप्रियता का प्रमाण समझना भूल है।

वायसराय का सेवा-काल पांच वर्षों तक परिमित था, परन्तु लार्ड डफ़रिन ने चार वर्ष पूरे होने से पहले ही इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री लार्ड सालिसबरी को लिख दिया कि मुझे बच्चों से अलग हुए बहुत समय व्यतीत हो गया, अब मैं उनके समीप ही रहना चाहता हूं, इस कारण मुझे किसी देश में राजदूत बनाकर भेज दिया जाय तो अच्छा है। प्रतीत होता है कि वह स्वयं अपने शासन से बहुत सन्तुष्ट नहीं था। वह बर्मा को जीतकर खर्च बढ़ाने, और इनकम-टैक्स बढ़ाकर उस खर्च को पूरा करने की चेष्टा के अतिरिक्त और कोई अच्छा या बुरा बड़ा कार्य न कर सका—यह बात उसने स्वयं अनुभव कर ली थी।

इंग्लैण्ड की सरकार ने लार्ड डफ़रिन को रोम में राजदूत नियुक्त करके भारत से छुटकारा दे दिया, और उसके स्थान पर लार्ड लैन्सडाऊन को गवर्नर जनरल बनाकर भारत भेज दिया।

लार्ड लैन्सडाऊन स्वयं सैनिक न होता हुआ भी सैनिक मनोवृत्ति के अधिकारियों के प्रभाव में रहता था। देश की दशा की ओर ध्यान देना उसकी प्रवृत्ति के विपरीत-सा था। फलत: उसके शासन-काल में सरकार की शक्तियां प्रजा की सेवा में न लगकर, देश की सीमा से बाहर की समस्याओं को उलझाने और देश की अर्थ-शक्ति के बिखेरने में लगी रहीं।

उसका एक उदाहरण लीजिए। काश्मीर की उत्तरी सीमा पर 'गिलगित' नामकी एक चौकी है। अपनी ऊंचाई और तीन देशों की सीमा पर होने के कारण सदा ही उसे बहुत महत्व दिया जाता रहा है। लार्ड लिटन रूस की रोक-थाम के लिए उस पर अधिकार करना चाहता था, परन्तु काश्मीर की सरकार से कोई समझौता न होने के कारण उस समय सफलता न मिली। रूस का भय अंग्रेजों को सदा ही कम्पायमान करता रहा है। रूस को मात देने के लिए गिलगित को तब आवश्यक समझा जाता था। उस पर अंग्रेज सरकार के दांत थे। १८८९ में लार्ड लैन्सडाऊन ने काश्मीर के राजा से शासन के सब अधिकार छीन लिये, और ब्रिटिश

रेज़िडेंट की अध्यक्षता में एक कौंसिल स्थापित कर दी। राजा पर चार दोष लगाये गये : (१) उसका प्रबन्ध खराब है, (२) माली हालत बिगड़ी हुई है, (३) राजा शासन में सुधार का विरोधी है तथा (४) राजा ने स्वयं पदत्याग की इच्छा प्रगट की है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सभी कोरे बहाने थे। असली बात इतनी ही थी कि राजा के गद्दी पर रहते गिलगित को निगलना कठिन था।

इस बलात्कार की प्रतिध्वनि दूर तक सुनाई दी। भारत की राजनीतिक चेतना अभी इतनी जागृत नहीं हुई थी कि कोई बड़ा हंगामा खड़ा होता; परन्तु इंग्लैण्ड के उदार विचार रखनेवाले लोगों में इससे हलचल मच गई। पार्लमेंट के कुछ सदस्यों ने संसद में इस मामले को लेकर 'कार्य रोको' प्रस्ताव भी उपस्थित किया। वह प्रस्ताव तो स्वीकार हो न सका, परन्तु इंग्लैण्ड के समाचारपत्रों में पर्याप्त कोलाहल मच गया। उस समय तो आन्दोलन का कोई विशेष परिणाम न निकला, परन्तु कुछ समय पीछे भारत सरकार ने अपने निश्चय को बदल दिया और राजा प्रतापसिंह को राजगद्दी पर बिठा दिया। इधर गिलगित पर अंग्रेजों की सैनिक सत्ता तब भी बनी रही। अंग्रेज लेखकों की भी राय है कि महाराज प्रताप सिंह की गिनती अपने समय के बहुत सफल शासकों में की जा सकती है।

दैव ने लैन्सडाऊन की बहुत सहायता की। उसके समय में किसी भारी दुर्भिक्ष अथवा महामारी का राक्षस देश पर अवतीर्ण न हुआ। इस शान्ति के अवसर से लाभ उठाकर गवर्नर जनरल यदि चाहता तो भारतवासियों को शासन का साझीदार बनाने की ओर कदम उठा सकता था, परन्तु उसका तो दृष्टिकोण ही भिन्न था। वह कट्टर साम्राज्यवादी था। उसने अपने भाषणों में स्पष्ट रूप से कहा था कि प्रजातंत्र-वाद के सिद्धान्तों का प्रयोग भारत में नहीं किया जा सकता, क्योंकि भारत की परिस्थिति उसके अनुकूल नहीं है।

लार्ड लैन्सडाऊन के शासन-काल में 'एज आव कन्सेण्ट बिल' के सम्बन्ध में बहुत वाद-विवाद हुआ। बिल का उद्देश्य लड़कियों के विवाह-वय की सीमा को १० से बढ़ाकर १२ वर्ष करना था। इस पर देश के सनातन विचारों के पक्षपातियों ने घोर आन्दोलन खड़ा किया। वे सब युक्तियां, जो भारत में समाज-सुधार के विरोध में दी जाती हैं, दी गईं। विवाह-वय की सीमा को बढ़ाने से धर्म पर कुठाराघात होगा, समाज में खलबली मच जायगी, और पुलिस को जुल्म करने का अवसर मिलेगा—इत्यादि सब आक्षेप किये गए, जो प्रायः राजनीतिक आन्दोलन का भाग माने गए।

लैन्सडाऊन के अन्य कार्यों में से आय-कर में वृद्धि, नमक-कर का फिर से प्रचलन और चांदी के सिक्कों की खुली घड़ाई पर प्रतिबन्ध देश के पढ़े-लिखे लोगों में विशेष असन्तोष उत्पन्न करने के कारण बने। हम देखेंगे कि इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने प्रजा का अहित करनेवाले इन सभी कार्यों का जोरदार विरोध किया।

लार्ड लैन्सडाऊन के अंग्रेज-भक्तों ने उसकी शासन-नीति का नाम 'अग्रगामी नीति' रखा है। इस नाम से उनका अभिप्राय यह है कि लार्ड लैन्सडाऊन अंग्रेजी

राज्य की पताका को आगे ही आगे ले जाने के पक्ष में था। वह कभी मनीपुर के राजा से उलझता था तो कभी कलात के खान से। अभिप्राय ऐसी सब अनधिकार चेष्टाओं का यही था कि ब्रिटिश साम्राज्य की सीमाओं का अधिक-से-अधिक विस्तार किया जाय।

लार्ड लैन्सडाऊन को जिन कार्यों का श्रेय दिया जाता है, उनमें से एक यह है कि उसने अफगानिस्तान के अमीर से बातचीत कर के पश्चिमोत्तर सीमा पर 'ड्यूरैंड लाईन' नाम की एक ऐसी रेखा निश्चित कर ली जिस पर दोनों देश राज़ी हो गए। समय ने बतलाया कि वह समझौता केवल मन-समझौता था, उसमें कोई वास्तविकता नहीं थी। कुछ समय पीछे चित्राल में जो भारी संघर्ष हुआ, यह समझौता ही उसका मूल कारण था।

१८९३ में लार्ड लैन्सडाऊन के स्थान पर लार्ड एल्गिन की नियुक्ति हुई। समझा जाता था कि नया वायसराय स्वभाव से बहुत शान्त और सुलहपसन्द व्यक्ति है, परन्तु वह शान्ति किसी काम न आई, क्योंकि इंग्लैण्ड में उस समय अनुदार दल का दौर-दौरा था। संसार पर उदार नीति और उदार व्यक्तित्व का सिक्का जमाकर, और चार बार देश का यशस्वी प्रधानमन्त्रित्व कर के मि० ग्लैडस्टन ने लगभग ८४ वर्ष की आयु में सक्रिय राजनीति से विश्राम ग्रहण कर लिया था। उसके एक वर्ष पश्चात उदार दल की पराजय हो गई। अनुदार दल का नेता लार्ड सालिसबरी स्वयं आग का परकाला न होता हुआ भी जिन साथियों से घिरा हुआ था, वे आग के परकाले अवश्य थे। सालिसबरी के मन्त्रिमण्डल में भारत का भाग्यविधाता लार्ड जार्ज हैमिल्टन था, जो बहुत संकुचित विचारों का अदूरदर्शी अंग्रेज था। लार्ड एल्गिन उसके प्रभाव से बाहर न जा सका। उसके समय में भारत मनुष्य और प्रकृति दोनों के दिये हुए दुःखों का शिकार बना रहा। एग्लिन के शासन-काल के आरम्भ से ही शान्ति भंग करनेवाली घटनाओं का ऐसा तांता लगा कि अन्त तक बन्द न हुआ।

पेशावर से लगभग १०० मील उत्तर में, काफिरिस्तान की पहाड़ियों में, चित्राल नाम का एक छोटा-सा राज्य था, जिसमें १८९४ में एक ब्रिटिश राजदूत भेजा गया था। स्थान सीमाप्रान्त से बहुत दूर था, और पठानों की बस्तियों के मध्य में था, इस कारण वहां जमे रहना संकटपूर्ण समझकर उदार सरकार ने निश्चय किया था कि अपने प्रतिनिधि को वहां से हटा लिया जाय; परन्तु इसी बीच में इंग्लैण्ड में दलों का तख्ता पलट गया। अनुदार दल ने चित्राल में अड़े रहना ही उचित समझा, जिससे चित्राल के लोगों में रोष फैल गया। लार्ड लैन्सडाऊन की आक्रामक नीति ने उन्हें और भी अधिक विक्षुब्ध कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि १८९६-९७ में भारत को एक व्यर्थ के सीमाप्रान्तीय युद्ध में उलझना पड़ा।

यह युद्ध भारत के किसी काम का युद्ध नहीं था। ब्रिटिश सरकार की 'आगे बढ़ो' नीति ने सारे उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त में घोर असन्तोष उत्पन्न कर दिया था। मोहमन्द और अफ़रीदी पठान जन्म से ही स्वाधीनता-प्रेमी और लड़ाकू होते हैं।

उनकी बन्दूक का निशाना अचूक समझा जाता है, और किसी को गोली से मारकर उनके मन में पछतावा भी नहीं होता। जब उन्होंने देखा कि एक प्रतिनिधि के रूप में अंग्रेज लोग चित्राल में पैर जमाना चाहते हैं, तो उनका रक्त खौल उठा, और लड़ाई आरम्भ हो गई। अंग्रेज शायद चढ़ाई करने के लिए पहले से ही उत्सुक थे। सरकार की गोरी और हिन्दुस्तानी सेनाएं पठानों के देश में दूर तक घुस गई। कहा जाता है कि उस युद्ध में पहली बार गोरों और सिखों की रेजीमेण्टें कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर शत्रुओं से लड़ीं, और वीरता का प्रमाण दिया। यह शिकायत भी सुनी गई कि कठिन मोर्चों पर गोरों की अपेक्षा सिख सिपाही अधिक सफल हुए, इस कारण आगे की चोट प्रायः उन्हीं को खानी पड़ती थी। युद्ध काफी भयंकरता से लड़ा गया, पठानों के छापामार दलों ने सरकार की सेना को बहुत हानि पहुंचाई, यहां तक कि एक प्रकार का आतंक फैला दिया; परन्तु अन्त में युद्ध के साधनों की जीत हुई। केवल तोड़ेदार बन्दूकों की सहायता से, बिना किसी नियन्त्रण के लड़नेवाले सिपाही नवीन शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित सुशिक्षित सेना से कब तक लड़ सकते थे। अन्त में उन्हें हार माननी पड़ी, परन्तु अंग्रेजी सरकार को भी अपनी हार स्वीकार करनी पड़ी; क्योंकि युद्ध की समाप्ति होने पर सरकार का प्रतिनिधि और सरकार की सेनाएं—सभी कुछ चित्राल से वापिस आ गईं। शेष रह गया, भारतीय प्रजा पर लाखों रुपयों के खर्च का बोझ।

भारत की प्राचीन परम्परा में यह माना गया है कि जब राजा की मनोवृत्ति दूषित हो जाती है, तब देश पर आपत्तियों के बादल झुक आते हैं। लार्ड एल्गिन के समय ऐसा ही हुआ। १८९६ में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। १८९५ में वर्षा कुछ कम हुई थी, १८९६ का साल बिलकुल सूखा गया। परिणाम यह हुआ कि संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त, बंगाल, मद्रास, बम्बई, बिहार, राजपूताना और बर्मा के उत्तरी भाग में एक साथ दुर्भिक्ष पड़ गया। हिसाब लगाया गया है कि भुखमरी से अंग्रेज़ी इलाके में ही साढ़े सात लाख के लगभग व्यक्ति मरे। सरकार की ओर से दुर्भिक्ष-पीड़ित इलाकों में सहायता का जो कार्य किया गया, वह न तो काफी था, और न ठीक ढंग से किया गया था। जन-हानि सभी प्रान्तों में हुई, परन्तु मध्य प्रान्त में सर्वनाश के जैसे दृश्य दिखाई दिये वे अभूतपूर्व थे।

इस प्रसंग में विशेषरूप से ध्यान देने योग्य बात यह हुई कि सरकार ने दुर्भिक्ष-सहायता के सम्बन्ध में किये गये अपने वायदों को बुरी तरह तोड़ा। लार्ड लिटन के समय, दुर्भिक्ष पड़ने पर सरकार ने कुछ नये कर लगाते हुए यह घोषणा की थी कि करों के बढ़ाने का स्पष्ट उद्देश्य यह है कि प्रतिवर्ष कम-से-कम डेढ़ करोड़ रुपया बचाकर एक विशेष फंड में डाला जाय, जिसका नाम 'दुर्भिक्ष-सहायता-फंड' होगा और जिसका व्यय केवल दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायतार्थ किया जायगा। कर लगाने के दो वर्ष पश्चात् बजट में से दुर्भिक्ष-सहायता-फंड का नाम ही उड़ा दिया गया। जब भारतीय सदस्यों की ओर से प्रतिवाद किया गया, तो उस समय के अर्थ मंत्री सर जान स्ट्रेची ने निःसंकोच भाव से कह दिया कि जब आर्थिक स्थिति अच्छी हो

जायगी, तब दुर्भिक्ष-फंड जारी हो जायगा, अभी तो वह राशि ऋण उतारकर आर्थिक स्थिति को सुधारने में लगाई जा रही है। कर लगे रहे, परन्तु दुर्भिक्ष-फंड की राशि अन्य कामों में खर्च की जाती रही। परिणाम यह हुआ कि जब १८९६ में देश पर दुर्भिक्ष के काले बादल छा गए, तब सरकार प्रजा की पूरी सहायता न कर सकी। लाखों व्यक्ति मर गए, करोड़ों रुपयों की हानि हो गई, और देश के बड़े भाग की ऊजड़ गांव की-सी दशा हो गई।

दुर्भिक्ष के साथ ही देश पर एक और बिजली भी टूट पड़ी। १८९६ में ही भारत में प्लेग की बीमारी ने प्रवेश किया। यों पृथ्वी पर यह बीमारी पुरानी थी। ईसा से ४३१ वर्ष पहले इसने यूनान की प्रजा को तबाह किया था। उसके पश्चात् यह राक्षसी योरप के देशों में अनेक रूप धारण कर के घूमती रही। कभी यह काली मौत (Black Death) के नाम से पुकारी गई तो कभी देवताओं का अभिशाप मानी गई। १८७७ में यह रूस में अवतीर्ण हुई, और चीन और हांगकांग में अपने पंजे गाड़ती हुई १८९६ में बम्बई में प्रकट हो गई।

प्लेग का आक्रमण दुर्भिक्ष के आक्रमण से भी भयंकर समझा गया, क्योंकि संक्रामक होने से उस समय इसके विस्तार को रोकना बहुत कठिन, बल्कि असम्भव था। बम्बई में धड़ाधड़ मौतें होने लगीं, जिससे डरकर थोड़े ही समय में ४ लाख निवासी बम्बई को छोड़कर भाग गए, और जाते हुए रोग के कीटाणुओं को अपने साथ लेते गए, जिससे १८९७ का वर्ष समाप्त होने से पहले ही प्लेग की बीमारी देश के कोने-कोने में फैल गई।

सरकार ने बीमारी की रोक-थाम के लिए डाक्टरों से परामर्श किया। डाक्टरों ने जो योजना बनाई, उसका सारांश यह था कि डाक्टर लोग घर-घर में जाकर वहां सफाई करायें, लोगों को निवासस्थानों से अलग बने हुए कैम्पों में रखा जाय, और टीके लगाये जायं। सभी बातें साधारण देशवासियों के लिए नई थीं। पर्देवाले घरों में डाक्टरों का जाना पुराने विचारवाले लोगों को अत्याचार-सा प्रतीत हुआ, और अपने पुराने पुश्तैनी घरों को छोड़कर जंगलों में जाकर पड़ना तो असह्य ही था। ऊपर से टीका लगाने की व्यवस्था की गई। सर्व-साधारण ने ऐसा अनुभव किया कि मानो यह सारी योजना भारत के नर-नारियों को धर्म-भ्रष्ट करने के लिए ही की गई है। सरकार ऐसी घबरा गई थी कि वह जनता को समझाने-बुझाने योग्य धैर्य न बटोर सकी, और योजना लागू कर दी गई।

परिस्थिति की पेचीदगी को न समझकर जल्दी उपाय करने का परिणाम बुरा हुआ। जनता बीमारी से डरी हुई तो थी ही, सरकार के नवीन प्रयोगों ने उसके होश गुम कर दिये। प्लेग से प्रभावित प्रदेशों की साधारण प्रजा में, बेचैनी और अविश्वास की विषैली हवा फैल गई।

उस संकट के समय पं० बाल गंगाधर तिलक और उनके 'केसरी' ने जनता की बहुत सेवा की। आपने एक हिन्दू-प्लेग चिकित्सालय की स्थापना कर के रोगियों के उपचार की व्यवस्था की, और घर-घर जाकर लोगों को प्लेग से बचने के उपाय

बतलाये। 'केसरी' के स्तम्भों में भी सर्वसाधारण को दृढ़ता और सावधानी से रोग का मुकाबिला करने की प्रेरणा की जाती थी। अन्य बहुत-से पढ़े-लिखे लोग भी पूना को छोड़कर भाग गए, परन्तु तिलक महाराज शहर में रहकर सेवा के कार्य में लगे रहे।

प्लेग को जड़ से उखाड़ने के प्रयत्न के नाम पर सरकारी कर्मचारी जो खटपट कर रहे थे, सर्वसाधारण जनता उससे बहुत घबराई हुई थी। रोग और बेचैनी के इन्हीं दिनों में मि० रैण्ड और लेफ्टिनेंट एमहर्स्ट नाम के दो सरकारी नौकरों को रात के समय किसी व्यक्ति ने गोली का शिकार बना दिया। सरकार का कहना था कि 'केसरी' के स्तम्भों में सरकार के विरुद्ध जो आन्दोलन किया जा रहा था, ये हत्याएं उसी का परिणाम थीं। ये दोनों सरकारी आदमी रानी विक्टोरिया की जुबिली के किसी समारोह से घर लौट रहे थे।

इसी बीच में शिवाजी महाराज के राज्यारोहण का उत्सव मनाने का अवसर आ गया। १८९७ के जून मास में वह उत्सव धूमधाम से मनाया गया। उस उवसर पर राष्ट्रीय भावना से भरी हुई वक्तृताएं हुईं, और कविताएं पढ़ी गईं। उनकी रिपोर्ट 'केसरी' में भी छपी। सरकार लोकमान्य तिलक से जली तो बैठी ही थी, उन्हें एक कविता का बहाना मिल गया। तिलक महाराज पर राजद्रोह का अभियोग लगाकर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। जब मुकदमा सेशन कोर्ट में पहुंचा तो देश-भर में उसके प्रति असाधारण दिलचस्पी उत्पन्न हो गई। अदालत ने ९ सदस्यों की जूरी बनाई, जिनमें ६ योरोपियन थे, २ हिन्दू और १ पारसी था। जब जज ने जूरी के सदस्यों से सम्मति मांगी, तो सब योरोपियनों ने तिलक महाराज को दोषी और सब भारतीयों ने निर्दोष ठहराया। बहुसम्मति से सहमत होते हुए अंग्रेज जज ने १८ महीने के कठोर कारावास का दंड सुना दिया। इस दंड के विरुद्ध प्रिवी कौंसिल तक अपील की गई, परन्तु कोई लाभ न हुआ। देश की स्वाधीनता के लिए मर मिटने की प्रेरणा को राजद्रोह ठहराकर अंग्रेज न्यायाधीश ने जो सजा दी थी, वह इंग्लैण्ड के सब से बड़े न्यायालय का दरवाजा खटखटाने पर भी बहाल रही। इस मामले ने लोकमान्य के नाम को भारत-भर में फैला दिया। 'केसरी' के प्रचार पर भी इस अभियोग का अद्भुत प्रभाव हुआ। उसकी ग्राहक संख्या २० सहस्र तक पहुंच गई जो उस समय के लिए असाधारण थी।

सरकार इतनी विचलित हो गई थी कि केवल तिलक महाराज को दंड देकर ही सन्तुष्ट न हुई। रैण्ड और एमहर्स्ट की हत्या का अपराधी करार देकर दामोदर चाफेकर को फांसी की सजा दी गई; इतना ही नहीं, १८९९ में चाफेकर की व्यायाम संस्था के अन्य सदस्य भी पकड़ लिये गए और सरकार को उलटने के उद्देश्य से बनाये हुए किसी षड्यन्त्र के सदस्य होने के अपराध में फांसी चढ़ा दिये गए।

सरकार इसके आगे और चली। पुराने रद्दी के ढेर में से सन् १८२७ का बाम्बे रेग्यूलेशन ढूंढ़कर निकाला गया; और उसके अनुसार सरदार नाटू और उसके भाई को खतरनाक षड्यन्त्र का सदस्य मानकर देशनिकाला दे दिया गया।

सरकार का दिमाग इतना गर्म हो गया था कि असन्तोष (जिसे सरकार राजद्रोह का नाम देती थी) को दबाने के लिए प्रेस-सम्बन्धी प्रतिबन्धों को, और पीनल कोड की १२४-ए धारा को कठोर बनानेवाले कानूनी संशोधन करना आवश्यक समझा गया। १८९८ में पोस्ट आफिस ऐक्ट स्वीकार किया गया, जिसमें पोस्ट मास्टरों को अधिकार दिया गया कि वे जिस डाक की वस्तु को सरकार के लिए खतरनाक समझें, रास्ते में ही रोक लें।

यह सब-कुछ तो हो गया, परन्तु जनता का असन्तोष फिर भी कम न हुआ। तब सरकार की समझ में यह बात आई कि प्लेग हटाने के लिए जो नादिरशाही ढंग बरते जा रहे हैं, वे ठीक नहीं हैं। सरकार ने अपनी पहले दी गई आज्ञाओं में इस आशय के परिवर्तन कर दिये कि मकानों की सफाई या टीका लगाने में जबर्दस्ती का प्रयोग न किया जाय।

पूना के इस घटना-चक्र को, १९१७ ई० में गवर्नर जनरल द्वारा भारत के आतंकवाद की छानबीन के लिए बनाये गए मशहूर रौलट कमीशन ने, भारतीय आतंकवाद का पहला विस्फोट (या रोग का पहला चिन्ह) बतलाया था।

: १६ :

कांग्रेस का विकास

सुधारक नेताओं तथा संस्थाओं के प्रयत्न और शिक्षा के प्रचार से देश में जागृति उत्पन्न हो रही थी। विद्रोह के दमन के पश्चात् रानी विक्टोरिया का जो घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ था, उससे उत्पन्न अनेक आशाओं में से एक भी पूरी नहीं हुई थी। सरकार के स्वार्थपूर्ण शासन और चौमुखे शोषण के कारण प्रजा के कष्ट दिनोंदिन बढ़ रहे थे, और ब्रिटिश राज्य की सीमाओं की वृद्धि के साथ-साथ देश के भिन्न-भिन्न भागों में परस्पर एकता और सहानुभूति की भावना में भी वृद्धि हो रही थी। इन सब परिस्थितियों और घटनाओं की परस्पर क्रिया और प्रतिक्रिया का स्थूल परिणाम इण्डियन नेशनल कांग्रेस के रूप में प्रादुर्भूत हुआ था। समय के साथ ये सभी कारण तीव्र होते गए, और फलतः कांग्रेस की शक्ति भी बढ़ती गई। उसकी गहराई और फैलाव दोनों में दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति हो रही थी, क्योंकि अंग्रेजी सरकार की नीति पत्थर की लकीर की तरह अटल चल रही थी। अंग्रेज शासक-वर्ग ने सन् सत्तावन की सशस्त्र क्रान्ति से कोई शिक्षा न ली थी; और न उस अहिंसक क्रान्ति को पहिचाना, जिसका बीज बम्बई के एक सभा-भवन में, १८८५ ईस्वी के दिसम्बर मास में, बोया गया था।

कांग्रेस से सहानभूति रखनेवाले कई अंग्रेज व्यापारी भी थे। मि० जार्ज यूल का कलकत्ते में बहुत बड़ा कारोबार था। इलाहाबाद के कांग्रेस अधिवेशन में, सभापति के

आसन से भाषण देते हुए आपने अधिकारों के लिए आन्दोलन करनेवाली संस्थाओं की जीवन-यात्रा के तीन पड़ाव बतलाये थे--पहले ऐसी संस्थाओं की उपेक्षा की जाती है, फिर उनके आन्दोलन को राजद्रोह का नाम देकर कुचला जाता है और अन्त में, लाचार होकर, कुछ रियायतों से प्रसन्न करने का यत्न किया जाता है। उस समय मि० यूल को यह पता नहीं था कि यदि वे लोग, जिनके हाथ में शक्ति है, दिल खोल-कर राजनीतिक अधिकार देने को उद्यत न हों तो आन्दोलन की जीवन-यात्रा में एक चौथा पड़ाव भी आता है, जिसे क्रान्ति कहते हैं। परन्तु उस समय तो कांग्रेस ने पहले पड़ाव पर ही पग रखा था। वह सरकार की ओर से कांग्रेस के प्रति उपेक्षा का युग था।

अंग्रेजी सरकार की कृपा से, उस उपेक्षा काल में, कांग्रेस को अनुकूल वातावरण मिलता गया, जिसकी सहायता से उसका निरन्तर विकास होता गया। कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन १८८६ ई० के अन्त में कलकत्ते में हुआ। उसके अध्यक्ष कांग्रेस के आदिगुरु श्री दादाभाई नौरोजी थे। पहले अधिवेशन में केवल ७० प्रतिनिधि थे, दूसरे अधिवेशन में वे बढ़कर ४३६ हो गए। तीसरा अधिवेशन १८८७ में मद्रास में हुआ। वहां ६०७ प्रतिनिधि एकत्र हुए। चौथा अधिवेशन कई दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण हुआ। अधिवेशन संयुक्त प्रान्त की राजधानी प्रयाग में होनेवाला था। प्रान्त के अंग्रेजों और सर सय्यद के मुसलमान गिरोह ने मिलकर कांग्रेस का खूब विरोध किया। स्वागत समिति के अध्यक्ष संयुक्त प्रान्त के शेर पं० अयोध्यानाथ जी, और उनके साथियों ने भी विरोधियों को खूब डटकर उत्तर दिया। परिणाम यह हुआ कि संघर्ष के कारण कांग्रेस की दमक और भी अधिक बढ़ गई। उस वर्ष प्रति निधियों की संख्या १२४८ तक पहुंच गई। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों सरकार तथा अन्य प्रतिक्रियावादियों की ओर से विरोध करने का यत्न किया गया, कांग्रेस का आकार और वेग दोनों बढ़ते गए। प्रतिनिधियों और दर्शकों की संख्या में तो वृद्धि होती ही गई, प्रस्तावों में भी तेज़ी और उग्रता आती गई।

अगले वर्षों में कांग्रेस ने प्राय: भारत के सभी बड़े-बड़े प्रान्तों का चक्कर लगा लिया। प्रयाग के पश्चात् बम्बई में दूसरी बार अधिवेशन हुआ, जिसके पीछे कलकत्ता, नागपुर तथा प्रयाग में घूमती हुई राष्ट्रीय महासभा १८९३ में लाहौर पहुंच गई। लाहौर के अधिवेशन की विशेषता यह थी कि उसका सभापतित्व करने के लिए देशभक्ति के मूर्धन्य श्री दादाभाई नौरोजी को विलायत से बुलाया गया। उससे पहले वर्ष वह मजदूर दल की ओर से ब्रिटिश पार्लियामेंट के प्रतिनिधि चुने गए थे। उन दिनों शिक्षित भारतवासियों की दृष्टि में इंग्लैण्ड राजनीतिक स्वाधीनता का मक्का बना हुआ था, और ब्रिटिश पार्लियामेंट को जनतान्त्रिक शासन की जननी माना जाता था। एक भारतवासी का, अंग्रेज मतदाताओं के बहुमत से, जनतन्त्र की जननी की सदस्यता के लिए चुना जाना सचमुच एक आश्चर्य था। श्री दादाभाई नौरोजी को वह सम्मान उनकी गम्भीर योग्यता और उदार व्यक्तित्व के कारण प्राप्त हुआ था। जब वह कांग्रेस का सभापतित्व करने के लिए लाहौर पहुंचे तो उनका

असाधारण स्वागत किया गया। उस स्वागत के सम्बन्ध में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा था कि "राजकुमार और राजा उस स्वागत से डाह कर सकते हैं, परन्तु उसे पा नहीं सकते।"

लाहौर के पश्चात् कांग्रेस के अधिवेशन क्रमशः मद्रास, पूना और लाहौर में हुए। सन् १८९७ का अधिवेशन अमरावती में और १८९८ का अधिवेशन फिर मद्रास में हुआ। उसके आगे के अधिवेशनों की चर्चा हम अगले अध्यायों में करेंगे, क्योंकि १८९८ में भारत के शासन का सूत्र एक ऐसे वायसराय (लार्ड कर्जन) के हाथ में आ गया था जिसे हम भारत की राजनीति में एक नये युग का जन्मदाता कह सकते हैं।

बतलाया जा चुका है कि इन प्रारम्भिक १३ वर्षों में (१८८५ से १८९८) कांग्रेस के आकार और प्रभाव दोनों में ही वृद्धि हुई। इस वृद्धि में सरकार की स्वार्थपूर्ण नीति ने पूरी सहायता दी। यदि हम कांग्रेस के सभापतियों के भाषणों और स्वीकृत प्रस्तावों पर तुलनात्मक दृष्टि डालें तो हम भारत की राष्ट्रीय विचारधारा को निरन्तर एक निश्चित लक्ष्य की ओर जाता देखते हैं; परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि उस समय न तो सरकार ने और न कांग्रेस के संचालकों ने ही उस लक्ष्य का अनुमान लगाया था। कांग्रेस का प्रारम्भ, ब्रिटिश राजमुकुट के प्रति अपूर्व श्रद्धा, अंग्रेज जाति की न्यायपरायणता पर पूर्ण विश्वास और अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति की दृढ़ आशा के आधार पर किया गया था। ज्यों-ज्यों वर्ष व्यतीत होते गए, श्रद्धा, विश्वास और आशा के बन्धन ढीले पड़ते गए, और उनका स्थान निराशा, झुंझलाहट और असन्तोष को प्राप्त होता गया। इन प्रारम्भिक वर्षों की सरकारी उपेक्षा से हम बड़े-बड़े राजभक्त भारतवासियों को सरकार का कठोर आलोचक, और नर्म आलोचकों को गर्म आन्दोलनकारी के रूप में परिवर्तित होता देखते हैं।

शिक्षित भारतवासियों के दृष्टिकोण में जो परिवर्तन हो रहा था, उसका बहुत अच्छा आभास हमें श्री दादाभाई नौरोजी के उन दो भाषणों के तुलनात्मक अध्ययन से मिलता है जो उन्होंने कांग्रेस के दूसरे और नवें अधिवेशनों में सभापति के आसन से दिये थे। पहला भाषण कलकत्ते के अधिवेशन में हुआ था। भाषण के आरम्भ में कांग्रेस की आवश्यकता और महत्ता की चर्चा कर के, योग्य वक्ता ने सब से प्रथम यह आवश्यक समझा था कि ब्रिटिश शासन से भारत को जो लाभ हो रहे थे, उनका बखान किया जाय। आपने कहा :

> "यह हमारा सौभाग्य है कि हमारे ऊपर ऐसा शासन है, जिसने हमारा इस प्रकार एकत्र होना सम्भव बना दिया है। यह बात रानी के सभ्यता फैलानेवाले शासन, और इंग्लैण्ड के निवासियों के कारण ही हो सकी है कि हम, किसी बाधा के बिना, स्वतंत्र रूप से निर्भय और निःशंक होकर अपने मन के भाव प्रकट कर रहे हैं। यह चीज़, ब्रिटिश शासन, और केवल ब्रिटिश शासन में ही सम्भव है।"

आगे चलकर वक्ता ने बतलाया कि देश को शान्ति, सुरक्षा, शिक्षा-जैसे दिव्य

उपहार देना अंग्रेजों का ही काम था, जिन्हें परमात्मा ने भारत की भलाई के लिए यहां भेजा था। इस आक्षेप का उत्तर देते हुए कि कांग्रेस राजद्रोहियों का समुदाय है, श्री दादाभाई नौरोजी ने कहा था :

"हमें निर्भय होकर मनुष्यों की तरह घोषणा करनी चाहिए कि हमारी नस-नस में राजभक्ति भरी हुई है। अतएव हमें इंग्लैण्ड को सद्भावना पर विश्वास रखते हुए, यह भरोसा रखना चाहिए कि अंग्रेज जाति हमारे साथ उचित और न्यायपूर्ण व्यवहार करने के अपने दावों को सच्चा सिद्ध करने के लिए बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी करने से पीछे न हटेगी।"

अपनी मांगों के बारे में विक्टोरिया के घोषणा-पत्र में की गई प्रतिज्ञाओं की ओर इशारा करते हुए सभापति ने कहा था :

"हम इससे अधिक न कुछ मांगते हैं, और न मांग सकते है। हम सरकार से केवल इतनी मांग करते हैं कि वह अपने उन वायदों को पूरा करे जो उसने आज से ५० वर्ष पूर्व, उस समय किये थे, जब हम उन्हें मांगने योग्य भी नहीं थे।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि १८८६ में भारतवासियों के हृदय विक्टोरिया, अंग्रेज जाति और अंग्रेजी सरकार के प्रति भरोसा, विश्वास और आशा के भावों से भरे हुए थे।

जब हम इस मधुर आशावाद की लाहौर के अधिवेशन में दिये हुए भाषण से तुलना करते हैं तो हमें उन मानसिक परिवर्तनों का आभास मिलता है, जो उन ९ वर्षों में हो गया। देश की अनेक समस्याओं पर प्रकाश डालने और अपनी मांगों का स्पष्टीकरण करने के पश्चात् श्री दादाभाई नौरोजी ने अंग्रेजों को निम्नलिखित चेतावनी दी थी :

"भारत में ब्रिटिश शासन जिस आधार पर खड़ा है, मैं उसके विषय में भी एक शब्द कहना चाहता हूं। इंग्लैण्ड यदि भारत पर, और यदि कोई भी देश दूसरे देश पर शासन कर सकता है तो वह आत्मबल––सत्य और न्याय–– (moral force) पर आधारित होना चाहिए। तुम केवल अस्थायी, पाशविक और भौतिक शक्तियों की सहायता से साम्राज्य की स्थापना कर सकते हो, परन्तु उसकी रक्षा केवल सत्य-बल से हो सकती है। पाशविक बल एक-न-एक दिन टूटकर रहेगा। केवल सत्य ही नित्य है।"

कलकत्ते के सुलभ विश्वास की लाहौर की गम्भीर चेतावनी से तुलना करें, तो स्पष्ट अनुभव हो जाता है कि बीच के वर्षों में शिक्षित भारतवासियों के मतों ने राष्ट्रीयता की यात्रा में कई योजन पार कर लिये थे। गहरे आशावाद का स्थान सन्देह और अधीरता को प्राप्त हो रहा था।

कांग्रेस के प्रस्तावों का विकास भी घटनाओं के अनुसार हो रहा था। समय के साथ-साथ समस्याएं और समस्याओं के साथ-साथ प्रस्तावों की संख्या बढ़ती जाती थी। पहले अधिवेशन में केवल ९ प्रस्ताव स्वीकृत हुए थे। दूसरे अधिवेशन में

प्रस्तावों की संख्या बढ़कर १५ हो गई। ज्यों-ज्यों सरकार का उपेक्षा भाव स्पष्ट होता जाता था, प्रस्तावों की भाषा में भी कठोरता आती जाती थी।

चौथे अधिवेशन का एक प्रस्ताव बहुत महत्त्वपूर्ण था। मुसलमानों के विरोध को शान्त करने के लिए कांग्रेस ने इस आशय का प्रस्ताव स्वीकार किया कि यदि किसी प्रस्ताव के बारे में सब हिन्दुओं अथवा सब मुसलमानों का मत विरुद्ध हो तो वह प्रस्ताव कांग्रेस के सामने विचारार्थ भी उपस्थित नहीं हो सकेगा। पांचवें अधिवेशन मे एक सर्वव्यापी (omnibus) प्रस्ताव स्वीकार किया जाने लगा, जिसमें बहुत ही स्थायी मांगे एकत्र कर दी जाती थीं। शेष विषय अलग-अलग प्रस्तावों द्वारा उपस्थित किये जाते थे।

उस समय के कई राष्ट्रभक्तों का अंग्रेजों की न्यायपरायणता पर ऐसा दृढ़ विश्वास था कि कांग्रेस के शिष्टमण्डल को विलायत भेजने के प्रस्ताव के अतिरिक्त लन्दन में कांग्रेस का अधिवेशन करने का प्रस्ताव भी कई वर्षों तक स्वीकार किया जाता रहा; परन्तु प्रतीत होता है कि इस प्रस्ताव के उद्भावकों को स्वयं विश्वास नहीं था कि लन्दन का अधिवेशन सफल हो सकेगा. इस कारण लन्दन अधिवेशन का सुझाव स्थगित होते-होते अन्त में समाप्त हो गया।

इन वर्षों की एक विशेषता यह थी कि कई अंग्रेज महानुभाव भी कांग्रेस के साथ हार्दिक सहयोग देते रहे। मि०ए० ओ० ह्यूम लगभग २२ वर्षों तक कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी रहे। वह तो कांग्रेस के जन्मदाता ही थे। उनके अतिरिक्त सर विलियम वैडरबर्न, चार्ल्स ब्रैडला, जान ब्राईट आदि महानुभाव प्रारम्भिक काल में कांग्रेस के साथ सक्रिय सहानुभूति दिखाते रहे। सर विलियम वैडरबर्न लन्दन की कांग्रेस कमेटी के संचालक थे। वह बम्बई में १८७९ ई० में और प्रयाग में १८८८ में कांग्रेस अधिवेशन के सभापति बने।

चार्ल्स ब्रैडला इंग्लैण्ड के जबर्दस्त राजनीतिक योद्धा थे। वह वर्षों तक पार्लियामेंट में भारत के पक्ष का समर्थन करते रहे। जब १८८९ ई० में वह भारत आये तब देशवासियों की ओर से उनका भव्य स्वागत किया गया। लाहौर में उनके भारतागमन के स्मरण में ब्रैडला-हाल नाम का एक विशाल भवन भी स्थापित किया गया।

एक समय जान ब्राईट इंग्लैण्ड के सर्वोत्कृष्ट वक्ता माने जाते थे। जान ब्राईट अत्यन्त उदार विचार रखने के कारण स्वभावतः भारतवासियों की उमंगों के साथ सहानुभूति रखते थे। उनकी वकालत के कारण इंग्लैण्ड में भारत के पक्ष को बहुत पुष्टि मिलती थी।

कांग्रस के आरम्भ-काल में अनुमान लगाया गया था कि देश के पढ़े-लिखे मुसलमान कांग्रेस के साथ आ जायंगे, परन्तु सर सय्यद अहमदखां और उनके अंग्रेज तथा मुसलमान साथियों ने शीघ्र ही मुसलमानों के हृदयों को कलुषित कर दिया। मुसलमानों को समझा दिया गया कि तुम संख्या में कम हो, और शिक्षा में पीछे हो, इस कारण हिन्दुओं से मिलकर चलने में तुम्हें घाटा रहेगा। जनतांत्रिक शासन मिल गया तो तुम सदा के लिए दब जाओगे। कुछ मुसलमान कांग्रेस के साथ

रहे अवश्य, परन्तु वे व्यक्तिगत हैसियत से ही कांग्रेस में शामिल होते थे। वे नेता-ही-नेता थे, उनके अनुयायी नहीं थे। १८८७ में, मद्रास में, श्री बदरुद्दीन तय्यबजी, और १८९६ में कलकत्ते में मुहम्मद रहीमतुल्ला सयानी ने कांग्रेस का सभापति-पद सुशोभित किया। इसमें सन्देह नहीं कि उनके सहयोग से कांग्रेस को बल मिला, परन्तु सामान्य मुसलमानों पर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। सामान्य मुसलमान पर तो सर सय्यद की अलगपन की नीति का जादू ही हावी होता जा रहा था।

इन प्रारम्भिक नौ वर्षों में, भारत के राजनीतिक अन्तरिक्ष में, जो नये दीप्ति पिण्ड आते रहे, उनकी चर्चा के साथ हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में भारत के जिन योग्य सपूतों ने पहली बार भाग लिया, उनमें सर रामकृष्ण भण्डारकर और पं० मदनमोहन मालवीय के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डा० भण्डारकर का राजनीति से वह सम्पर्क अस्थायी था, परन्तु मालवीयजी का कांग्रेस में आगमन उस लम्बे यशस्वी जीवन की भूमिका थी, जो लगभग ६० वर्षों तक भारत के राष्ट्रीय शरीर का प्राण-सा बना रहा। प्रथम बार कांग्रेस के मंच से युवक मदनमोहन का भाषण सुनकर एक वयोवृद्ध देशभक्त ने उसे 'रजत-वाक् वक्ता' (silver tongue orator) की उपाधि दी थी। पार्टियां आईं और चली गईं, सुवक्ता और महापुरुष उठे और बैठ गए, परन्तु उस तपस्वी ब्राह्मण की रजत-वाणी देश के अन्तरिक्ष में तब तक गूंजती रही जब तक उसके कृश शरीर में प्राण बने रहे।

तीसरे वर्ष की कांग्रेस में कई देशभक्तों ने राष्ट्रीय सभा में प्रवेश किया। सर माधवराव अपने समय में शासन-कला में सब से अधिक प्रवीण भारतवासी समझे जाते थे। पं० विशननारायण दर, सर शंकर नायर, सर रामस्वामी मुदालियर, आदि अपने-अपने प्रान्तों के चोटी के वकीलों के आगमन से कांग्रेस के प्रभाव में असाधारण वृद्धि हुई। उसी अधिवेशन में विजयनगरम् के महाराज सर आनन्द गजपतिराज भी दर्शक के रूप में उपस्थित हुए।

चौथे अधिवेशन की स्वागत समिति को पं० अयोध्यानाथजी-जैसे निर्भीक और योग्य स्वागताध्यक्ष प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। श्रीयुत गोपाल कृष्ण गोखले का प्रातःस्मरणीय नाम पहली बार कांग्रेस के पांचवें अधिवेशन में सुनाई दिया। आपने उस अधिवेशन में जो पहला व्याख्यान दिया, उसे सुनकर कांग्रेस के एक से अधिक वृद्ध नेताओं ने यह भविष्यवाणी की थी कि यह युवक एक दिन कांग्रेस का अध्यक्ष चुना जायगा। दर्शकों पर श्रीयुत गोखले की भव्यमूर्ति, उनके चेहरे की गम्भीरता और आंखों की ज्योति का अद्भुत प्रभाव पड़ता था। जब उनके व्यक्तित्व से, उनकी सुसंस्कृत मधुर वाणी, और बहुत ऊंचे दर्जे की धारावाहिनी भाषण शैली का मेल हो जाता था, तब श्रोता मन्त्रमुग्ध-से हो जाते थे। श्रीयुत गोखले ने अपनी प्रौढ़ावस्था में एक बार कहा था कि "हम भारतवासी चाहे कितने ही ऊंचे उठने की योग्यता रखते हों परन्तु अपनी राजनीतिक परिस्थिति के कारण दबे ही रह जाते हैं।" यदि यह उक्ति किसी भारतवासी पर लागू होती थी तो वह गोपाल कृष्ण गोखले पर।

यदि अत्यन्त उत्कृष्ट मानवता का वह पुतला किसी स्वतंत्र देश में उत्पन्न होता तो प्रधानमन्त्री, या राष्ट्रपति बनने में कोई सन्देह ही नहीं था। यह दासता का ही अभिशाप था कि गोखले महोदय जीवन के अन्त तक धारा सभा में विरोधी दल के नेता की स्थिति से आगे न जा सके।

लाला लाजपतराय, १८८८ के कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने के लिए कई मित्रों के साथ लाहौर से इलाहाबाद गये। वह पहली बार ही कांग्रेस में सम्मिलित होने गये थे परन्तु उनका यश वहां उनसे पहले पहुंच चुका था। मि० ह्यूम, पं० अयोध्या नाथ और मालवीयजी स्टेशन पर उनके स्वागत के लिए पहुंचे हुए थे। लालाजी का उस समय पंजाब के आर्य-समाज के क्षेत्र में काफी प्रभाव था, और उनकी गिनती अपने प्रान्त के दो-तीन प्रमुख सार्वजनिक नेताओं में होने लगी थी। आपके कांग्रेस में सम्मिलित होने का, विशेषतः पंजाब के आर्य-समाज पर और सामान्य रूप से सारे शिक्षित समुदाय पर बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ा। वह प्रभाव तब अधिक स्पष्टता से प्रकट हुआ जब १८९३ में राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन लाहौर में हुआ। बक्शी जैशीरामजी, जिन्होंने कांग्रेस को लाहौर में निमन्त्रित किया था, आर्य-समाजी थे। लाला हरकिशनलाल ने भी स्वागत समिति के कार्य में पुष्कल भाग लिया। राय मूलराज आर्य-समाज की कालेज पार्टी के स्तम्भ थे। वह अवसर-प्राप्त सरकारी नौकर भी थे। फिर भी उन्होंने कांग्रेस को सफल बनाने में भरपूर प्रयत्न किया। लाला लाजपतराय के दो-तीन भाषण हुए, जिनसे राजनीतिक क्षेत्र में उनकी वक्तृत्व-शक्ति की धाक जम गई।

: १७ :

मुग़ल बादशाह का उत्तराधिकारी लार्ड कर्ज़न

दासता भी एक प्रकार का मोहजाल है। दास व्यक्ति से यदि उसका मालिक मीठी बात करे, और अच्छा खाने को दे तो दास एक प्रकार की निश्चिन्तता अनुभव करने लगता है। वह सोचता है कि यदि ईश्वर की कृपा न होती तो मुझे ऐसा अच्छा मालिक कैसे मिलता। वह यह भी सोचता है कि जब मैं लम्बी तानकर सोता हूं, तब मेरा स्वामी घर की रक्षा का प्रबन्ध करता है।

दास की सुख-निद्रा तब टूटती है जब मालिक हृदय पर चोट पहुंचनेवाली कोई गाली देकर, या खाल उधेड़नेवाला हंटर लगाकर उसकी मोह-निद्रा को तोड़ देता है। जोर का कोड़ा अफीम के नशे को उतार देता है। इसी लिए पराधीन जातियों के लिए मिठबोला शासक बहुत खतरनाक, और खरा बोलनेवाला अभिमानी शासक बहुत अच्छा होता है। पराधीन जातियों के लिए नर्म और उदार शासक अभिशाप, और कठोर और तंगदिल शासक वरदान सिद्ध होते हैं। इसे

भारत के अच्छे भाग्यों का फल ही समझना चाहिए कि ब्रिटेन, बीच-बीच में गवर्नर जनरल के पद पर नियुक्त करके, वरदानों को भेजता रहता था। १८९८ में जिस असाधारण प्रतिभाशाली अंग्रेज को हिन्दुस्तानी किश्ती का नाविक बनाकर भेजा गया, वह वरदान ही था। उसका पूरा नाम ज्यार्ज नैथेनियल कर्जन था। वह भारत में लार्ड की उपाधि से विभूषित होकर आया।



लार्ड कर्जन

लार्ड कर्जन में बहुत-से ऐसे गुण थे, जो उसे योग्य और यशस्वी शासक बना सकते थे। भारत में वायसराय बनकर आने से पूर्व ही उसने इंग्लैण्ड के सार्वजनिक जीवन में नाम कमा लिया था। वह एक प्रतिभासम्पन्न, क्रियाशील और लिखने-बोलने में चतुर होनहार युवक माना जाता था। ३२ वर्ष की आयु में वह भारत के लिए अण्डर सेक्रेटरी, और ३६ वर्ष की आयु में विदेशी विभाग में अण्डर-सेक्रेटरी के कार्य पर नियुक्त हुआ। दोनों जगह उसने प्रतिष्ठा प्राप्त की। लार्ड कर्जन ने भारत की गद्दी संभालने से पूर्व मध्य-एशिया, फारस, और चीन आदि देशों की यात्राएं की थीं, और उन पर किताबें भी लिखी थीं। अपनी किताबों में उसने पूर्व की संस्कृति और कला के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये, उनसे प्रतीत होता है, कि वह पूर्व का प्रेमी था।

यही कारण था कि जब १८९८ ईस्वी के अन्त में लार्ड कर्जन के भारत का वायसराय नियुक्त किये जाने का समाचार सुना गया तो अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतवासियों के हृदय आशा से उछल पड़े। शिक्षित भारतवासियों की आशाओं का अनुमान उन वाक्यों से लगाया जा सकता है, जो नये वायसराय के सम्बन्ध में मद्रास कांग्रेस (१८९८) के सभापति मि० ए० एम० बोस ने अपने प्रारम्भिक भाषण में कहे थे :

"उस अंग्रेज का उल्लेख करें, जो हमारे देश में आकर सर्वोच्च पद पर विराजमान होगा, जो प्यारे सम्राट् का पवित्र प्रतिनिधि होगा, और जो कल हिन्दुस्तान के किनारे पर उतरेगा। प्रतिनिधि बन्धुओ, मुझे विश्वास है कि मुझे आप लोगों की सर्वसम्मति प्राप्त है, जब मैं लार्ड कर्जन की सेवा में अपना हार्दिक स्वागत पेश करता हूं।....लार्ड कर्जन को यह सौभाग्य प्राप्त होगा कि वह एकीभूत भारत के ब्रिटिश शासन को एक शताब्दी से दूसरी शताब्दी में ले जायं। हमारी कामना है कि नई शताब्दी का द्वार ऐसे तेज प्रकाश और आशा से भरे अन्तरिक्ष में खुले, जिसमें इस भूमि पर प्रकृति के प्रकोप और मानवी निर्बलताओं के कारण अभी तक विद्यमान छाया का अंश नष्ट हो गया हो।"

मि० बोस ने लार्ड कर्जन के चमकीले व्यक्तित्व से जो आशा प्रकट की थी,

उसे कांग्रेस के तत्कालीन नेताओं के भावों का प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है। लेकिन शायद ही कभी ऐसी मीठी आशाओं का इतना कड़वा अन्त हुआ हो, जितना १८९८ की कांग्रेस में सभापति द्वारा प्रकट की गई आशाओं का हुआ। लार्ड कर्जन में कुछ गुण थे, तो बहुत-से दोष भी थे। उस समय के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री, श्रीयुत रमेशचन्द्र दत्त ने 'इण्डिया इन विक्टोरियन एज' में संक्षेप में लार्ड कर्जन के चरित्र का विश्लेषण इस प्रकार किया है :

> "इन गुणों से प्रभूत मात्रा में युक्त होते हुए भी लार्ड कर्ज़न में कुछ ऐसी विशेषताओं का अभाव था, जिनके बिना कोई व्यक्ति सफल शासक नहीं बन सकता। वह पक्का और जोशीला साम्राज्यवादी था——उसे स्वराज्य की भावना से कोई सहानुभूति नहीं थी, और न जनता के सहयोग में विश्वास था। वह ओजस्वी और महत्त्वाकांक्षी होने के साथ-साथ पूर्व में ब्रिटेन के बल, गौरव और व्यापारिक हितों की रक्षा का प्रबल पक्षपाती था। यह दुःख की बात है कि वह उस पूर्वीय विशाल जाति की आर्थिक उन्नति और राजनीतिक विकास का वैसा पक्षपाती नहीं था, जिसका उसे शासन करना था। उसका आदर्श था——तानाशाही शासन।"

यदि लार्ड कर्ज़न प्रतिभासम्पन्न ही होता, परन्तु तानाशाह न होता, या तानाशाही तबियत तो रखता, परन्तु प्रतिभाहीन होता तो वह केवल ७ वर्ष के परिमित समय में देश के वातावरण को शायद इतना विक्षुब्ध न बना सकता, जितना उसने बना दिया था। उसने अपनी असाधारण शक्तियों का अनुचित ढंग पर प्रयोग कर ब्रिटिश साम्राज्य के लिए वह कार्य किया, जो मुग़ल साम्राज्य के लिए औरंगज़ेब ने किया था। उसने कठोर गाली देकर, और कोड़े फटकारकर भारतवासियों को यह अनुभव करा दिया कि वे ब्रिटिश सामाज्य के हिस्सेदार नहीं, गुलाम हैं।

लार्ड कर्ज़न का पहला चाबुक नगरपालिकाओं पर पड़ा। लार्ड रिपन के प्रजाहितकारी कार्यों में से सबसे ऊंचा स्थान स्वायत्त-शासन-सम्बन्धी कानून को दिया जाता है। लार्ड कर्ज़न और उसके साथियों को वह पसन्द नहीं था। बंगाल की सरकार ने कानून की ऐसी काट-छांट कर दी जिससे नगरपालिकाओं में प्रजा के प्रतिनिधियों की संख्या कम हो गई और प्रबन्ध सरकारी सभापति के हाथ में चला गया। लोगों ने बहुत शोर मचाया, पर लार्ड कर्ज़न ने एक न सुनी और कुछ समय के लिए नागरिकों के हाथ से, स्थानीय शासन के थोड़े-बहुत दिये हुए अधिकार भी छीन लिये।

१९०० ई० में फिर भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। सरकार ने कुछ सहायता देने का प्रयत्न किया, परन्तु वह अपर्याप्त था, और आधे दिल से किया गया। यह शिकायत तो थी ही, इसके साथ एक और शिकायत भी शामिल हो गई। दुर्भिक्षों के कारण प्रजा निर्धन होती गई, तो भी जमीन पर लगान की मात्रा में कमी होनी तो एक ओर रही, सामयिक वृद्धि होती रही, जिस कारण दुर्भिक्षों का तांता लग गया। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में कई बार अकाल पड़ने का यही मूल कारण था।

सरकार के बनाये हुए फैमीन कमीशन की जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी, उसने स्वीकार किया था कि बढ़े हुए लगानों से उत्पन्न हुई दरिद्रता के कारण ही भारत के किसान जरा-सी अनावृष्टि हो जाने पर भुखमरी के शिकार हो जाते हैं। लार्ड कर्ज़न के समय में जो दुर्भिक्ष पड़ा, उसने भी बहुत विस्तृत क्षेत्र में मृत्यु का जाल फैलाया।

यदि केवल इतनी ही बात होती तो शायद देश में अधिक हाहाकार न मचता, क्योंकि भारतवासी बढ़े हुए लगान, और घोर दुर्भिक्ष के आदी हो चुके थे; परन्तु कटे पर नमक तो तब छिड़का गया, जब दुर्भिक्ष और व्यापारिक शोषण से झुकी हुई पीठ पर एक राजसी दरबार के खर्च का बोझ लाद दिया गया।

१९०३ ईस्वी के जनवरी मास की पहली तारीख के दिन दिल्ली में एक विराट दरबार किया गया, जिसमें सातवें एडवर्ड के भारत का सम्राट् होने की घोषणा की गई। लार्ड कर्ज़न अपने से पहले सब गवर्नर जनरलों को मात दे देना चाहता था, उसने अपने दरबार को लार्ड लिटन के दरबार से अधिक शानदार और अधिक खर्चीला बनाने में कोई कसर न छोड़ी। जो दरबार हुआ, उसका केन्द्रीय बिन्दु स्वयं लार्ड कर्ज़न था। जब वह दरबार की शाही कुर्सी पर बैठकर राजाओं और नवाबों का सलाम ले रहा था, तब वह अपने को किसी मुग़ल बादशाह से कम नहीं समझता होगा।

लार्ड कर्ज़न के दरबार का शिक्षित भारतवासियों के हृदयों पर जो प्रभाव पड़ा, उसका अनुमान १९०३ की कांग्रेस के अध्यक्ष श्री लालमोहन घोष के प्रारम्भिक भाषण के निम्नलिखित उद्धरण से लगाया जा सकता है। आपने दरबार की चर्चा करते हुए कहा था :

"सज्जनो, लगभग एक साल व्यतीत हो गया, जब देश के लगभग सभी सार्वजनिक और प्रनिनिधि की हैसियत रखनेवाले व्यक्तियों के, समाचार-पत्रों और व्याख्यान-मंचों से प्रकट किये गए स्पष्ट विरोध के बावजूद दिल्ली में बड़ा भारी राजनीतिक तमाशा किया गया था। लोगों ने उसका विरोध क्यों किया ? उनके विरोध का यह कारण नहीं था कि भारतवासियों में राजभक्ति की कमी है, प्रत्युत यह था कि हिज़ मैजेस्टी के मन्त्रियों ने यदि अपने कर्त्तव्य का पालन किया होता, और भारत के दुर्भिक्ष-पीड़ित निवासियों की दीन अवस्था का वास्तविक चित्र उनके सामने रखा होता, तो दयालु हिज़ मैजेस्टी स्वयं आज्ञा दे देते कि भूख से मरती हुई प्रजा पर ऐसे भड़कीले तमाशे का बोझ न लादा जाय। परन्तु हमारे विरोध की पर्वाह नहीं की गई, और तमाशे पर जिस बेदर्दी से रुपया फूंका गया, उसकी उन लोगों से आशा हो रखनी चाहिए, जो चाहे कितने ही ऊंचे पद पर आसीन हों, पर दूसरों के धन से खेलते हैं, और अपने कामों के लिए किसी के प्रति जिम्मेदार नहीं होते।"

लार्ड कर्ज़न ने १९०४ में इण्डियन यूनिवर्सिटीज ऐक्ट पास कराकर भारत में

शिक्षा के बढ़ते हुए प्रवाह पर रोक लगाने का एक और प्रयत्न किया। श्रीयुत सी० वाई० चिन्तामणि ने 'इण्डियन पालिटिक्स सिन्स म्यूटिनी' में लार्ड कर्ज़न को शिक्षा-सम्बन्धी नीति का संक्षिप्त परन्तु मार्मिक वर्णन निम्नलिखित वाक्य में किया है :

"उसकी (लार्ड कर्ज़न की) शिक्षा-सम्बन्धी नीति, जिसका प्रारम्भ ली वार्नर की 'सिटिज़न्स आव इण्डिया' नामक पुस्तक को, उनकी इच्छा के विरुद्ध, यूनिवर्सिटियों पर पाठ्य-पुस्तक के रूप में लादने से हुआ था, १९०४ के इण्डियन यूनिवर्सिटीज़ ऐक्ट के पास होने पर समाप्त हुई। लोगों ने उस ऐक्ट का यह अभिप्राय लगाया कि ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तानियों में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से असन्तुष्ट है।"

यूनिवर्सिटीज़ ऐक्ट द्वारा भारत की यूनिवर्सिटियों को ऐसे बन्धनों में बांधने का यत्न किया गया था जिनसे परीक्षाएं कड़ी हो जायं, और परीक्षार्थी उत्साहित न हों।

लार्ड कर्ज़न कट्टर साम्राज्यवादी अंग्रेज था। अंग्रजों में कभी ऐसे लोगों की कमी नहीं रही जो कर्ज़न-जैसे तानाशाहों की पीठ ठोककर अपनी शक्ति-लोलुपता का परिचय दें। ऐसे अंग्रजों ने लार्ड कर्ज़न की विदेश नीति की बहुत प्रशंसा की है, परन्तु यदि उसके आय-व्यय और हानि-लाभ का हिसाब लगाकर देखा जाय तो हानि का पलड़ा ही भारी रहेगा। लार्ड कर्ज़न ने बैठे-बिठाये तिब्बत से जो लड़ाई मोल ली उसका किसी युक्ति से भी समर्थन नहीं किया जा सकता। तिब्बत यद्यपि एक स्वतंत्र देश माना जाता था, परन्तु पुराने समय से उसका चीन के राज्य से सामन्त का-सा व्यवहार चला आता था। लार्ड कर्ज़न की कृपादृष्टि उसी पर पड़ी, क्योंकि वही सब पड़ोसी देशों में निर्बल दिखाई दिया। कर्ज़न ने विलायत की सरकार से तिब्बत में एक मिशन भेजने की अनुमति मांगी। राजनीतिक मिशन का अभिप्राय उन दिनों यह समझा जाता था कि सेना की अगली टुकड़ी आ पहुंची, और पिछली टुकड़ी आ रही है। विलायत की सरकार किसी नई लड़ाई में उलझना नहीं चाहती थी, उसने अनुमति नहीं दी; परन्तु लार्ड कर्ज़न तो विजेता बनने पर तुला बैठा था। चिट्ठी-पत्री और नीति के दांव-पेंच जारी रहे। अन्त में कर्ज़न ने विलायत से यह स्वीकृति ले ली कि कर्नल यंग हस्बैण्ड के नेतृत्व में एक मिशन तिब्बत में भेजा जाय। मिशन रवाना हो गया। तिब्बत का शासक दलाई लामा प्रारम्भ से ही अंग्रेजी मिशन का विरोधी था। ऐसी दशा में संघर्ष होना अनिवार्य था। परिणाम यह हुआ कि सैकड़ों तिब्बती अंग्रेज सिपाहियों की गोलियों से मारे गए। उनकी लाशों पर पांव रखती हुई अंग्रेजी सेना तिब्बत की राजधानी ल्हासा में जा पहुंची, और लामा को अपमानजनक सन्धि करने पर मजबूर किया। तिब्बत में एक रेज़ीडेंट रखना स्वीकार किया गया, और तिब्बत पर ७५ लाख रुपया हर्जाना ठोक दिया गया। यह भी तय हुआ कि तिब्बत इस राशि को एक-एक लाख की सालाना किश्तों से अदा करेगा, और जब तक पूरी राशि न दे ले तब तक

अर्थात् ७५ वर्षों तक चुम्बी की घाटी पर ब्रिटेन का कब्जा रहेगा। ये शर्तें कर्नल यंग हस्वैण्ड ने लार्ड कर्ज़न की अनुमति से तय की थीं।

इंग्लैण्ड की सरकार इन शर्तों से सहमत नहीं हुई। तिब्बत पर इस प्रकार का प्रभुत्व स्थापित करने का अभिप्राय था, चीन और रूस से स्थायी कलह मोल लेना। सेक्रेटरी आव स्टेट ने यंग हस्बैण्ड के निर्णीत शर्तनामे को अस्वीकार करके हरजाने को एक तिहाई कर दिया, रेजीडेंट रखने की शर्त रद्द कर दी और चुम्बी की घाटी पर अधिकार की अवधि केवल ३ वर्ष कर दी गई। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है कि कर्जन ने तिब्बत पर जो रुपया व्यय किया, और दोनों ओर का जितना नर-संहार हुआ, वह सब व्यर्थ तो था ही, एक राजनीतिक अपराध भी था। १९०४ के दिसम्बर मास में, बम्बई में, कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, उसमें तिब्बत की मुहिम पर किये गए व्यय को 'आगे बढ़ो' नीति की तथा उसके उद्भावकों की जो निन्दा की गई थी, वह उचित ही थी।

लार्ड कर्जन ने भारत में अपने जो स्मारक छोड़े है, उनमें से एक कलकत्ते का विक्टोरिया मैमोरियल भी है। उस पर सब मिलाकर करोड़ से अधिक राशि व्यय की गई थी। उसकी योजना पेश करते हुए लार्ड कर्ज़न ने यह बतलाया था कि वह भारत का ऐतिहासिक संग्रहालय होगा, परन्तु वस्तुतः वह भारत में अंग्रेजों के कारनामों की प्रदर्शिनी थी। हम उसे भारतीय पराधीनता का प्रदर्शन कह सकते हैं। उसके बनाने में भारत के राजा-महाराजाओं ने गरीब प्रजा से चूसा हुआ लाखों रुपया 'चन्दे' के नाम से भेंट किया। उस मैमोरियल की शिक्षित भारत-वासियों ने न केवल धन का अपव्यय कहकर निन्दा की, अपितु भारत की राष्ट्रीयता का 'अपमान' समझकर विरोध भी किया। परन्तु लार्ड कर्जन पर उसका कोई असर न हुआ। उसका तो शायद मन्तव्य ही यह था कि जिस काम का राष्ट्रीय विचारवाले भारतवासी विरोध करें, उसे करना अंग्रेजों का परमधर्म है।

लार्ड कर्ज़न की प्रशंसा में कई बातें कही जा सकती हैं। वह एक महत्त्वाकांक्षी और प्रतिभासम्पन्न अंग्रेज था—कहा जा सकता है कि वह साम्राज्यकालीन अंग्रेजों का एक नमूना था। अनथक परिश्रमी, बहुद्रष्टा, प्रभावशाली वक्ता और सुलेखक होने के अतिरिक्त अत्यन्त दृढ़ इच्छाशक्ति का धनी था। शासन में उसने चुस्ती और कुशलता लाने का प्रयत्न किया। कारीगरी की देखभाल के उद्देश्य से एक सरकारी विभाग खोला और पुरानी ऐतिहासिक इमारतों और खंडहरों की रक्षा की व्यवस्था की। ये सब बातें थीं, परन्तु जब हम उन्हें भारत के हितों की कसौटी पर कसकर देखते हैं तो सोलहों आने खोटा पाते हैं। बंगाल को दो टुकड़ों में बांटकर उसने जिस मनोवृत्ति का परिचय दिया, उससे भारतवासियों को दृढ़ विश्वास हो गया कि कर्ज़न भारतीय आकांक्षाओं का कट्टर विरोधी है।

बंग-विच्छेद भारत के राष्ट्रीय इतिहास की एक स्मरणीय घटना है। उसने देश की राजनीति में पूरा परिवर्तन कर दिया था। भारत की राष्ट्रीयता पर वह कर्ज़न-सरकार का सबसे जबर्दस्त प्रहार था। उसके कारण, स्वरूप और परिणामों

की विस्तृत चर्चा तो हम अगले अध्याय में करेंगे, यहां केवल इतना निर्देश कर देना पर्याप्त है कि बंग-विच्छेद का जो कानून अंग्रेजी सरकार द्वारा विषैला तीर समझकर फेंका गया था, वह परिणाम में अमृत का सन्देश सिद्ध हुआ। इस दृष्टि से लार्ड कर्ज़न को भारत का उपकारक भी कह सकते हैं। यदि वह राजनीतिक वातावरण को इतना गर्म न करता तो भारत की राजनीति इतनी शीघ्र शैशवावस्था को लांघकर यौवन में प्रवेश न कर सकती।

लार्ड कर्ज़न का हृदय उस देश के प्रति सहानुभूति से सर्वथा शून्य था, जिसका शासन-भार उसे सौंपा गया था। १९०५ में, कलकत्ता यूनिवर्सिटी के दीक्षांत समारोह में भाषण देते हुए, लार्ड कर्ज़न ने यहां तक कह डाला कि "भारतवासियों में सत्य के प्रति आस्था नहीं है—और वस्तुतः भारतवर्ष में सत्य को कभी आदर्श माना ही नहीं गया।" उपयोगितावाद और नास्तिकता के प्रवाह में बहते हुए योरप के एक निवासी से, 'सत्यमेव जयते' की परम्परा में पले हुए भारतवासियों ने जब यह मर्मभेदी आरोप सुना तो देश में क्षोभ की एक लहर-सी दौड़ गई।

इस प्रकार, जिस वायसराय से भारतवासी यह आशा बांधे हुए थे कि वह उनके पुराने घावों पर मरहम लगायगा, उसने मन, वाणी और कर्म— तीनों से जो काम किये, उनसे न केवल पुराने घावों पर नमक छिड़का गया, कई नये घाव भी हो गए।

पांच वर्ष के पश्चात् वायसराय बदला जाता था, परन्तु इंग्लैण्ड में लार्ड कर्ज़न की ऐसी प्रशस्तियां गायी गईं, कि १९०४ में उसे दूसरी बार पांच वर्ष के लिए वायसराय-पद पर नियुक्त कर लिया गया। परन्तु उसे दो साल में ही त्यागपत्र देकर जाना पड़ा और जाते समय वह भरपूर अपयश कमा चुका था।

सात वर्षों तक लार्ड कर्ज़न भारतवासियों की भावनाओं पर प्रहार करता रहा और इंग्लैण्ड उसे शाबाशी देता रहा। उससे प्रोत्साहित होकर कर्ज़न ने लार्ड किचनर को, जो उस समय भारत का प्रधान सेनापति था, नीचा दिखाने का संकल्प किया। अंग्रेज और अंग्रेज में न्याय करने के समय इंग्लैण्ड का मानदण्ड बदल गया, और उन्होंने युद्ध-विजेता लार्ड किचनर की मानरक्षा के लिए व्याख्यानपटु लार्ड कर्ज़न का बलिदान कर दिया। लार्ड कर्ज़न ने अपने मत की पुष्टि के लिए धमकी के रूप में जो त्यागपत्र विलायत की सरकार को भेजा, वह स्वीकार कर लिया गया; और जो कर्ज़न दो वर्ष पूर्व विजेता सेनानी की तरह ढोल बजाता हुआ भारत लौटा था, वह हारे हुए सिपाही की भांति १९०५ को अन्त में भारत से विदा हो गया।

हमने इस अध्याय के प्रारम्भ में १८९८ की कांग्रेस के अध्यक्ष श्री ए० एम० बोस के प्रारम्भिक भाषण का वह भाग उद्धृत किया था, जिसमें नये वायसराय लार्ड कर्ज़न का स्वागत किया गया था। इस अध्याय की समाप्ति हम १९०५ की कांग्रेस के अध्यक्ष श्रीयुत गोपाल कृष्ण गोखले के लार्ड कर्ज़न की विदाई के सम्बन्ध में कहे गए स्मरणीय वाक्यों से करते हैं:

'सज्जनो, यह लोकोक्ति सर्वथा सत्र है कि कभी-न-कभी प्रत्येक वस्तु का अन्त होता है। तभी तो लार्ड कर्ज़न की वायसराल्टी का भी अन्त हो गया। लम्बे सात वर्षों तक, सब आंखें उस एक शक्तिसम्पन्न मूर्ति की ओर उठी रही हैं—कभी उन आंखों में प्रशंसा का भाव होता था, तो कभी आश्चर्य का। अधिकतर उनमें क्रोध और दुःख की भावना छिपी रहती थी। देशवासी उस मूर्ति की ओर देखने के इतने आदी हो गए थे, कि आज यह अनुभव करना कठिन हो गया है कि सचमुच वह लम्बी यातना समाप्त हो गई। यदि हम लार्ड कर्ज़न के शासन की उपमा इतिहास में तलाश करना चाहते हैं, तो हमें अपने देश के इतिहास में औरंगजेब के शासन-काल की ओर जाना पड़ेगा।''

जब श्रीयुत गोपाल कृष्ण गोखले-जैसा शील और उदारहृदय देशभक्त भी ऐसी कड़वी बात कहने के लिए बाधित हुआ तो समझना चाहिए कि लार्ड कर्ज़न के कारनामों ने भारतवासियों की आशा-लता पर कैसा तुषारपात किया था?

: १८ :

बंग-विच्छेद की पूर्व पीठिका (१९०४-१९०५) : असन्तोष का प्रारम्भ

पहले प्रचण्ड गर्मी पड़ती है, फिर स्तब्धता छा जाती है और तब तूफ़ान आता है। राष्ट्रों के जीवन में भी भारी विक्षोभ उत्पन्न होने से पहले ऐसी परिस्थितियां इकट्ठी हो जाती हैं, जो विक्षोभ को अनिवार्य कर देती हैं। लार्ड कर्ज़न की भारत को सबसे कीमती देन थी, बंग-विच्छेद। उससे भारत में ऐसा उग्र तूफ़ान उत्पन्न हुआ, जिसने तीन वर्षों में सारे देश को झिझोड़कर रख दिया, परन्तु वह तूफ़ान केवल बंग-विच्छेद का परिणाम नहीं था। कुछ समय पूर्व से भूमण्डल पर ऐसी घटनाएं घट रही थीं, जिनका भारत में भी गहरा प्रभाव हो रहा था। एशिया के वातावरण में जागृति और बेचैनी की ऐसी लहर उत्पन्न हो गई थी, जिसके थपेड़ों ने भारत की सीमाओं में घुसकर यहां की निरीह जनता को जगा दिया था। उन अन्तर्राष्ट्रीय लहरों ने जिस खेत को सींचकर तैयार कर दिया था, बंग-विच्छेद ने उसमें क्रान्ति का बीज बो दिया, जो शीघ्र ही अंकुरित होकर शासक-वर्ग को अचम्भे में डालने का कारण बन गया।

भारतवासियों की मनोवृत्ति पर सबसे पूर्व जिस बाहर की घटना ने इंग्लैण्ड के लिए अनिष्ट प्रभाव डाला, वह १८९९ में दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेजों और बोअरों का युद्ध था, जो 'बोअर वार' के नाम से प्रसिद्ध है। युद्ध कई वर्षों तक चलता रहा,

और अन्त में अंग्रेजों की जीत हुई, परन्तु मुट्ठी-भर बोअर लोगों ने अंग्रेजों का जो डटकर मुकाबिला किया, और युद्ध में कई बार अंग्रेज सेनाओं को जिस बुरी तरह हराया, उसका संसार पर अद्भुत प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी सेनाओं की अजेयता के उस विश्वास को, जिसके बल पर वह भारत में निश्चिन्तता से शासन कर रहे थे, गहरी चोट पहुंची। यह स्वाभाविक ही था कि अंग्रेजों की प्रत्येक पराजय पर साधारण भारतवासियों का दिल उछल पड़ता। अन्त में वीर बोअर हार तो गए, परन्तु वह भूगोल-व्यापी ब्रिटिश साम्राज्य की सेनाओं के गौरव को बहुत बड़ा धक्का पहुंचा गए। भारत के मन में उस घटना ने यह भावना उत्पन्न कर दी कि ब्रिटिश राज्य का दुर्ग दृढ़ तो है, परन्तु अभेद्य नहीं।

भारतवासियों के हृदयों पर और भी अधिक गहरा प्रभाव डालनेवाली दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय घटना रूस और जापान की लड़ाई थी। यह लड़ाई १९०४ में आरम्भ हुई और १९०५ में समाप्त हुई। आकार और युद्ध-शक्ति की दृष्टि से योरप और एशिया के देशों में रूस का पहला नम्बर समझा जाता था। अभिमानी ब्रिटिश राज्य तक रूस की क्रूर दृष्टि से कांपता था। उधर जापान एशियाई तो था ही, छोटा भी था। स्वतंत्र राष्ट्रों में वह सब से कम आयु का नवसिखुआ माना जाता था। दोनों में युद्ध हुआ। प्रारम्भ से ही संसार ने उसमें योरप और एशिया के संघर्ष की कल्पना कर ली थी। दोनों महाप्रदेशों में बड़ी उत्सुकता से पश्चिम और पूर्व के उस पहले महान् संघर्ष के परिणाम की प्रतीक्षा की जाने लगी थी। अन्त में अनहोनी हो गई। गर्व से भरा हुआ रूस धराशायी हो गया और नाटा-सा जापान उसकी छाती पर चढ़ बैठा। इस काल्पनिक चित्र से सामान्य रूप से समस्त एशिया-निवासियों के हृदयों में, और विशेष रूप से भारतवासियों के हृदयों में उत्साह और उमंग की बाढ़-सी आ गई। भारतवासी सोचने लगे कि यदि छोटा-सा जापान विशालकाय रूस को पछाड़ सकता है, तो विशालकाय भारत छोटे-से इंग्लैण्ड को क्यों नहीं पछाड़ सकता। १८९६ में अबीसीनिया के युद्ध में इटली की सेना परास्त हो गई, उसे भी पश्चिम पर पूर्व की जीत माना गया। स्वभावतः भारत पर उसका भी असर हुआ। एशिया और अफ्रीका के देशों में यह भावना उत्पन्न हो रही थी कि पश्चिम के देश उन्हें दास बनाकर अपनी प्रभुता जमाना चाहते हैं, इस कारण योरप की प्रत्येक पराजय से अफ्रीका और एशिया में आत्मसम्मान और आत्म-निर्भरता का भाव उत्पन्न होता था।

इन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने राष्ट्र के अन्दर विद्यमान जागृति उत्पन्न करने-वाले कारणों की खूब सहायता की। क्रमशः आनेवाले वायसरायों ने अपने कार-नामों से देश में असन्तोष की अग्नि को कैसे भड़काया, यह हम दिखा आये हैं। यह भी हमने बताया है कि लार्ड कर्ज़न ने शासन की कार्यक्षमता को बढ़ाने के नाम पर भारतवासियों के हृदयों पर जो कठोर आघात किये, उन्होंने पढ़े-लिखे भारतवासियों के असन्तोष को क्रोध की सीमा तक पहुंचा दिया था। राष्ट्र की यह मनोदशा थी, जब लार्ड कर्ज़न ने अन्तिम वज्र-प्रहार किया। उसने उन्नतिशील

बंग देश को दो भागों में बांटकर भारत की पनपती हुई राष्ट्रीयता पर कुठाराघात करने का यत्न किया।

उस समय से पूर्व बंगाल प्रान्त बहुत बड़ा था। उसमें बिहार, उड़ीसा और छोटा नागपुर के बाहरी भाग भी सम्मिलित थे। इस विशाल प्रान्त की पूरी आबादी ८ करोड़ के लगभग थी; देर से अनुभव किया जा रहा था कि इस बहुत बड़े प्रदेश को कुछ छांटा जाय। ८ करोड़ की आबादी में बंगालियों की संख्या लगभग ३ करोड़ ही थी। वायसराय की राजधानी होने के कारण जो साथ लगती हुई नई जगह हाथ आई, वह बंगाल में सम्मिलित कर दी गई। बेहिसाब बड़े प्रान्त को छोटा करने का सरल साधन यह था कि प्रान्त के जिस भाग में बंगभाषा-भाषी लोग बसे हुए थे, उन्हें अलग प्रान्त बनाकर शेष प्रदेशों को अपगे-अपने समीपवर्ती प्रान्तों में मिला दिया जाता। उससे प्रान्तों की विषमता दूर हो जाती, परन्तु लार्ड कर्जन को यह अभीष्ट नहीं था। उसके दिल में यह बात बैठ गई थी कि ये बंगाली लोग ही भारत की जागृति और बेचैनी के अगुआ हैं। उनकी शक्ति को तोड़ने के लिए उसने बंगाल को दो भागों में बांटने का निश्चय कर लिया। प्रस्ताव का रूप यह था कि बंगदेश को पूर्व और पश्चिम दो भागों में बांटकर अलग-अलग दो प्रान्त बना दिये जायं। पूर्व-बंगाल में मुसलमानों की संख्या अधिक थी। उसे पृथक् मुस्लिम-प्रधान सूबा बनाकर सरकार के समालोचकों की श्रेणी में से निकाल देने का मनसूबा बांधा गया था। पूर्वी बंगाल की राजधानी ढाका नियत की गई, और पश्चिमी बंगाल की राजधानी पूर्ववत् कलकत्ता रही।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक भारत के सार्वजनिक जीवन में बंगदेश के निवासियों की असन्दिग्ध प्रधानता रही थी। कलकत्ता प्रारम्भ से ही भारत में अंग्रेजी राज्य की राजधानी रहा था। पहला भारतीय महापुरुष, जिसने अपने देश के धर्म और संस्कृति की महत्ता को मानते हुए भी यह अंगीकार किया कि अंग्रेजी भाषा द्वारा नवीन ज्ञान-विज्ञान, कला-शिल्प को ग्रहण करने में ही भारत का कल्याण है, वह थे स्वनामधन्य राजा राममोहन राय। अंग्रेजी भाषा में शिक्षा देनेवाली पहली बड़ी शिक्षण-संस्था कलकत्ता में ही स्थापित हुई थी। साथ ही यह बात सोने में सुगन्ध के समान हो गई कि बंगाल के निवासी प्रतिभासम्पन्न और वाग्मी होते थे। उन्होंने अंग्रेजी भाषा और उसके वाङ्मय को इतना अपना लिया, और उस पर प्रभुत्व प्राप्त कर लिया कि अंग्रेजों तक को उनका सिक्का मानना पड़ा। उस युग में बंगाल में प्रतिभासम्पन्न भद्रपुरुषों की बाढ़-सा आ गई थी। राजा राममोहन राय के पश्चात् ठाकुर परिवार, तथा स्वामी विवेकानन्द-जैसे समाज-सुधारक, पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर-जैसे विद्वान् लेखक, बंकिम और मधुसूदन-जैसे साहित्यिक, और डब्लू० सी० बनर्जी, ए० एम० बोस, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और लालमोहन घोष-जैसे उद्भट वक्ताओं ने बंगाल को भारत का मूर्धन्य प्रान्त बना दिया था। उस युग में बंगाल के सपूत जीवन का सन्देश लेकर सारे देश पर छा गए थे। भारत का शायद ही कोई बड़ा

नगर होगा, जहां उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में बंगाली वकील, बंगाली डाक्टर, और बंगाली पत्रकारों की धाक न जमी हुई हो। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही था कि देश के राजनीतिक आन्दोलन का नेतृत्व बंगाल के हाथों में हो, विशेषत: इस कारण कि बंगाली स्वभावसिद्ध वक्ता हैं। भावुकता-प्रधान भाषण देने में उन्हें मात देना कठिन है। लार्ड कर्ज़न साम्राज्यवादी अंग्रेज था। उसकी चेष्टा थी कि हर प्रकार के विरोध को दबाकर या नष्ट करके भारत में अंग्रेजों के साम्राज्य को अमर बना दिया जाय। दो टुकड़ों में बांटकर बंगाल को अपाहिज बना देना उसी चेष्टा का एक अंग था।

जब देश को यह समाचार मिला कि बंगाल को दो भागों में विभक्त किया जाने-वाला है, तो तहलका-सा मच गया। स्थान-स्थान पर विरोध सभाएं होने लगीं। केवल बंगाल में ही १००० से अधिक विरोध सभाएं हुईं, जिनमें से कइयों में, उप-स्थिति पन्द्रह-बीस हजार से ऊपर पहुंच गई थी। स्थान-स्थान से वायसराय के पास इस आशय के स्मृतिपत्र भेजे गए कि बंगदेश को छिन्न-भिन्न न किया जाय, और सेक्रेटरी आव स्टेट से प्रार्थना की गई कि यदि वायसराय बंगाल के विभाजन का प्रस्ताव कर भी दे तो उसे स्वीकार न किया जाय। ७० हजार व्यक्तियों के हस्ताक्षरों से ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के पास एक प्रार्थनापत्र भेजा गया, परन्तु उसका भी कोई परिणाम न निकला। पार्लियामेण्ट के एक सदस्य ने इस विषय पर संसद् में विवाद छेड़ना चाहा, परन्तु उससे कोई लाभ न हुआ। लार्ड कर्ज़न ने आन्दोलन को सर्वथा बनावटी, और कुछ स्वार्थपरायण लोगों के दिमाग की उपज बतलाकर कटे पर नमक छिड़क दिया, जिससे देश का असन्तोष खौलने की दशा तक पहुंच गया। यह विशेषरूप से ध्यान देने योग्य बात थी कि विरोध सभाओं में हिन्दुओं के साथ बहुत-से मुसलमानों ने भी भाग लिया, और विरोध में व्याख्यान दिये। विरोध इतना व्यापक था कि सर गुरुदास बनर्जी, डा० रासबिहारी बोस-जैसे उच्च शिक्षासम्पन्न व्यक्तियों के अतिरिक्त मैमनसिंह और कासिमबाजार के महाराज भी उसमें सम्मिलित थे।

घोर आन्दोलन हुआ, परन्तु चिकने घड़ों पर कोई असर न हुआ। सब प्रकार के प्रतिवादों की उपेक्षा करके लार्ड कर्ज़न ने एक विशेष घोषणा द्वारा, सन् १९०५ के सितम्बर मास की पहली तारीख को आश्चर्यचकित और रोष से विक्षुब्ध भारत-वासियों को यह सूचना दे दी कि बंगाल को दो टुकड़ों में बांट दिया गया है। १६ अक्तूबर को यह घोषणा कार्यान्वित कर दी गई। सर एण्ड्रू फ्रेज़र को पश्चिमी बंगाल का और सर बैम्फलाईड फुलर को पूर्वी बंगाल का लैफ्टिनेंट गवर्नर नियुक्त किया गया।

सारे देश के उग्र विरोध की पर्वाह न करके, बंग-विच्छेद करने के तीन बड़े-बड़े परिणाम हुए। सामान्यत: देश-भर में, और विशेषत: बंगाल में अंग्रेजी राज्य के प्रति विरोध की तीव्र भावना उत्पन्न हो गई; लार्ड कर्जन के प्रति, भारतवासियों के हृदयों में जो घृणा उसके अन्य कार्यों और भाषणों से पैदा हो चुकी थी, वह अत्यन्त

घनीभूत हो गई, और कांग्रेस का जन्म अंग्रेजी राज्य और अंग्रेज जाति के प्रति जिस विश्वास की भावना के साथ हुआ था, वह काफूर होने लगी। इन विस्तृत परिणामों के साथ लगा हुआ, और उनका साधनभूत एक परिणाम यह भी हुआ कि देश के राजनीतिक अन्तरिक्ष में कई नये नक्षत्र उद्भूत हो गए, और कुछ पुराने नक्षत्र नये प्रकाश से उद्भासित होकर दिशाओं में नई ज्योति फैलाने लगे। ऐसे महापुरुषों में श्रीयुत गोपाल कृष्ण गोखले का नाम सर्वोपरि है।

महात्मा गान्धी गोखलेजी को अपना राजनीतिक गुरु मानते और कहते थे। यह उचित ही था। गान्धीजी के ये तीन विशेष गुण थे, जिन्होंने उन्हें महात्मा बनाया था—मातृभूमि में अटूट भक्ति, सत्य के प्रति अपरिमित निष्ठा और अहिंसा में पूरा विश्वास। इनमें से दोनों पहले गुण गोखलेजी में प्रभूत मात्रा में विद्यमान थे। वह मातृभूमि के परवाने थे। जब देश की चिन्ता करने का अवसर आता था, तब उन्हें न अपने स्वास्थ्य की पर्वाह रहती थी, और न सुख की। रातों जागकर समस्या को सुलझाना उनकी दिनचर्या का एक भाग था। साधारण कुल में जन्म लेकर और केवल अपनी प्रतिभा और लगन के बल से अत्यन्त आदरणीय योग्यता प्राप्त करके, यदि वह चाहते तो ऊंचे-से-ऊंचे राज्याधिकार तक पहुंच सकते थे; परन्तु कुछ अपनी प्रवृत्ति और कुछ जस्टिस महादेव गोविन्द रानडे महोदय की शिष्यता ने उन्हें त्याग-मार्ग का राही बना दिया था, जिससे उन्होंने सारी लोकैषणा को छोड़कर देश की सेवा में तन, मन और धन को न्योछावर कर दिया।



गोपाल कृष्ण गोखले

उनसे पूर्व कांग्रेस की बागडोर दादाभाई नौरोजी, फीरोज शाह मेहता तथा दिनशा इदलजी वाचा आदि देशभक्तों के हाथों में रही। वे सब उस कोटि के महानुभाव थे, जो माडरेट नाम से पुकारे जाते थे, उनकी इंग्लैण्ड और उसकी महारानी पर पूरी आस्था थी, वे वैधानिकता को राजनीतिक आन्दोलन की लक्ष्मण-रेखा मानते थे। उनकी भाषा में नर्मी, और कभी-कभी खुशामद की भी बू आती थी। उनका यत्न रहता था, कि कांग्रेस का तापमान कभी नार्मल से ऊपर न जाने पाये। गोपाल कृष्ण गोखले का मस्तिष्क दादाभाई नौरोजी और रानडे का शिष्य था, परन्तु उनका हृदय एक नई धड़कन लेकर आया था। देश के जिस अपमान को पूर्व-युग के कांग्रेसी नेता 'ईश्वर की मर्जी' समझकर टालने का यत्न करते थे, गोखले का हृदय उस पर उबल उठता था। यह ठीक है कि वह अपने हृदय को मस्तिष्क पर हावी नहीं होने देते थे, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हृदय की गर्मी मस्तिष्क तक पहुँचकर उनके व्यवहार और भाषण में एक ऐसी तेजस्विता उत्पन्न कर देती थी, जो कांग्रेस की राजनीति में नई बात थी।

गोखलेजी के विषय में उस समय के देश और विदेश के विशिष्ट व्यक्तियों ने जो सम्मतियां प्रकट की थीं, उनके अनुशीलन से प्रतीत होता है कि वह अपने समय के न केवल भारत के, अपितु संसार के मूर्धन्य राजनीतिज्ञों में से अन्यतम माने जाते थे। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध लेखक और एक समय ब्रिटेन के भारत मन्त्री लार्ड मोर्ले ने कहा था कि मि० गोखले सरकार के आलोचक होते हुए भी एक राजनीतिक दिमाग और शासन-कार्य चलाने योग्य उत्तरदायित्व की भावना रखते थे। उनकी सत्यवादिता की बड़ी धाक थी। गोखलेजी के परमशिष्य मि० सी० वाई० चिन्तामणी ने उनके बारे में लिखा है कि "उन्होंने मुझे यह गुरुमंत्र दिया था कि देशभक्त ऊंची कोटि का वीर है। वह स्वयं आदर्श देशभक्त थे, और हम लोगों की दृष्टि में ऊंची कोटि के वीर थे।" 'इण्डियन अनरेस्ट' नाम की, भारत के विरुद्ध विष से भरी हुई, किताब के लेखक वैलंटाईन शिरोल ने श्रीयुत गोखले का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है—"अधिक ध्यान देने योग्य चेहरा मि० गोखले का था। वह चेहरा चौकन्ना, सुसंस्कृत, और प्रतिभापूर्ण था। उनके सिर पर महाराष्ट्र की लाल पगड़ी रहती थी। मि० गोखले महाराष्ट्र ब्राह्मणों के उस कुल में उत्पन्न हुए थे, जो अंग्रेजों के आने के समय दक्षिण पर शासन कर रहा था। वह शिक्षा की दृष्टि से जितना भारतीय थे, उतना ही पाश्चात्य भी।" गोखलेजी के राजनीतिक क्षेत्र में मुख्य प्रतिद्वन्द्वी लार्ड कर्जन ने एक बार अपने पत्र में उन्हें लिखा था, "ईश्वर ने आपको असाधारण योग्यताएं प्रदान की हैं, और आपने उन्हें निःसंकोच भाव से अपने देश को अर्पण कर दिया है।"

ऐसा था श्रीयुत गोपाल कृष्ण गोखले का व्यक्तित्व, जो कई वर्षों तक भारत के राजनीतिक अन्तरिक्ष में चांद की तरह चमकता रहा। उसमें तेज भी था, और शीतलता भी। प्रारम्भ में श्रीयुत गोखले भी सर फीरोज शाह मेहता-जैसे वैधानिक महापुरुषों के अनुयायी थे, परन्तु एक समय आया, जब उनकी शान्ति के पांव हिल गए, और शीतल चांदनी में गर्मी पैदा हो गई। उस समय को लाने का श्रेय लार्ड कर्जन को था।

उस समय श्रीयुत गोखले वायसराय की कौंसिल के सदस्य थे, और कांग्रेस के कर्णधार थे। वह अपने यश की अमर स्मारक 'भारत-सेवक-समाज (Servants of India Society)' की स्थापना भी कर चुके थे। जब लार्ड कर्जन ने 'कार्यक्षमता बढ़ाने' के नाम पर भारत की राष्ट्रीय प्रगति में रोड़े अटकाने प्रारम्भ किये, तो गोखले के देशभक्ति से ओतप्रोत स्वाभिमानी हृदय पर गहरी चोट पहुंची। ज्यों-ज्यों लार्ड कर्जन के पांव भारतीय राष्ट्र की छाती पर आगे पड़ते गए, वीर गोखले के अन्दर एक सीमाबद्ध विद्रोह की दबी हुई ज्वाला भड़कती गई। बंग-विच्छेद की आहुति ने उस ज्वाला को और भी अधिक उग्र बना दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि १९०१ में जो व्यक्ति माडरेट राजनीतिज्ञों की अन्तिम आशा माना जाता था, वह वस्तुतः आनेवाले प्रचण्ड विप्लव का अग्रदूत बन गया। बंग-विच्छेद और उसके कर्ता लार्ड कर्ज़न के बारे में १९०५ की कांग्रेस में श्रीयुत

गोखले ने जो विचार प्रकट किये थे, उनमें हम पुरानी सन्तोष-भरी राजनीति के अन्त और नई ओजस्विनी राजनीति के आरम्भ का आभास पाते हैं। श्री गोखले ने बनारस में कांग्रेस-अध्यक्ष के पद से भाषण देते हुए कहा था :

"सज्जनो, हममें से प्रत्येक के मन में सब से पहले जो प्रश्न घूम रहा है, वह बंग-विच्छेद का है। हमारे बंगाली भाइयों पर एक क्रूरतापूर्ण अत्याचार किया गया है, जिसने सारे देश में शोक और विक्षोभ की ऐसी गहरी धारा बहा दी है, जैसी इससे पहले कभी नहीं देखी गई थी। बंग-विच्छेद की योजना अन्धकार में तैयार की गई, और देश के अभूतपूर्व विरोध की उपेक्षा करके कार्यान्वित की गई। अंग्रेजी सरकार का यह कार्य वर्तमान नौकरशाही शासन की बुराइयों का सबसे गन्दा दृष्टान्त है। इसमें लोकमत की घोर उपेक्षा की गई है, इसके बारे में ऊंची अक्लमन्दी के हिमाकतभरे दावे किये गए हैं, इसके द्वारा जनता की प्रिय भावनाओं को कुचलकर रख दिया गया है, और साथ ही न्याय का ढोंग किया गया है। और इस कार्य से यह सिद्ध हो गया है कि वर्तमान अंग्रेज शासकों की दृष्टि में भारत की प्रजा कोई कीमत नहीं रखती है।"

इन थोड़े-से भावों और भावनाओं से भरे हुए शब्दों में देशनायक गोपाल कृष्ण गोखले ने मानो भारत की जनता का हृदय खोलकर रख दिया था। देशवासियों के दुःख और क्षोभ का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि श्रीयुत गोखले-जैसे शान्त और सन्तुलित मस्तिष्कवाले व्यक्ति ने बंग-विच्छेद की चर्चा करते हुए काफी उग्र और चुभनेवाली भाषा का प्रयोग किया।

: १९ :

बंग-विच्छेद की उत्तर पीठिका (१९०६-१९०७)

बंग प्रान्त को ऐसे ढंग से बांटा गया था कि पश्चिमी बंगाल की जनसंख्या लगभग ५ करोड़ ४० लाख, और पूर्वीय बंगाल की जनसंख्या लगभग ३ करोड़ १० लाख हो। बंगाल के स्वदेश और स्वभाषा का अभिमान रखनेवाले भावुक निवासियों को यह बंटवारा ऐसा प्रतीत हुआ मानो किसी हत्यारे ने उनकी जन्मभूमि को छुरे से काटकर दो टुकड़ों में बांट दिया हो। सारे प्रान्त में एक ऐसा रोषभरा चीत्कार प्रादुर्भूत हुआ, जिसकी प्रतिध्वनि भारत के कोने-कोने से सुनाई पड़ने लगी।

बंगाल में सरकार के बलात्कार की प्रतिक्रिया तब से प्रारम्भ हो गई थी, जब बंग-विच्छेद होने की सम्भावना प्रकट की जाने लगी थी। बंगाली के प्रसिद्ध पत्रकार श्री कृष्णकुमार मित्र ने अपनी 'संजीवनी' नाम की मासिक पत्रिका में यह

सुझाव उपस्थित किया था कि अंग्रेजी सरकार बंगाल का विभाजन कर ही दे तो देश-भर को अंग्रेजी माल का बहिष्कार कर देना चाहिए। अंग्रेजी माल के बहिष्कार का उद्देश्य यह था, कि अंग्रेज व्यापारियों पर इतनी भारी आर्थिक चोट पहुंचाई जाय कि वे भारतवासियों की भावनाओं का अपमान करना छोड़ दें। ७ अगस्त के दिन, बंगाल के प्रमुख जागीरदार कासिम बाजार के महाराज मणीन्द्रचन्द्र नन्दी के सभापतित्व में एक विराट् सभा हुई, जिसमें जनता ने यह प्रतिज्ञा ली कि वे भविष्य में केवल स्वदेशी कपड़े का प्रयोग करेंगे। उस समय यह भी एक प्रकार से अंग्रेजी माल के बहिष्कार का ही रूप समझा गया, यद्यपि यह रूप अधिक व्यापक और उदार था।

१६ अक्तूबर को, सम्पूर्ण बंगाल में, काले मातम का दिन मनाया गया। बंगाली संवत् के अनुसार वह ३० आश्विन १३१२ का दिन था। दिन-भर घरों में चूल्हे ठंडे रहे। उपवास के व्रती नर-नारी अपने समीप की नदी या तालाब में स्नान करने के लिए, मानो माता के अंग-भंग का जो पाप हुआ, उसका प्रक्षालन करने गये। सबने एक-दूसरे के राखियां बांधकर प्रतिज्ञा की कि मिलकर स्वदेशी का व्यवहार तथा अंग्रेजी माल का बहिष्कार करेंगे, और तब तक आराम से न बैठेंगे, जब तक बंग-विच्छेद को रद्द न करवा लेंगे। सर्वसाधारण ने मजाक में पूर्वीय बंगाल के नये प्रान्त का नाम रखा था, 'ईबासाम' (ईस्ट बंगाल और आसाम)। ईबासाम को उस समय के बंगाली व्यंगकार लार्ड कर्ज़न के जारज पुत्र के रूप में चित्रित करते थे।

बंगाल में बंग-विच्छेद की जो प्रतिक्रिया हुई, सारे देश में उसका जोरदार समर्थन हुआ। शुरू-शुरू में पूर्वीय बंगाल के अधिकतर मुसलमानों ने भी विच्छेद का विरोध किया। स्वयं ढाका के नवाब ने कलकत्ते की एक सभा में विच्छेद की निन्दा की थी, परन्तु जब लार्ड कर्जन और उसके शिष्य सर बैम्फ्लाईड फुलर ने मुसलमानों को यह समझाया कि पूर्वीय बंगाल की रचना मुसलमानों की भलाई के लिए की गई है, तो उनमें से कुछ लोग टूट गए, फिर भी बहुत-से स्वतंत्र विचार रखनेवाले मुसलमान विच्छेद का विरोध करते रहे। स्वयं ढाका के नवाब के भाई ने यह सार्वजनिक घोषणा की थी कि वह विभाजन को मुसलमानों के लिए भी अहितकर समझते हैं।

बंगाल में विच्छेद-विरोधी आन्दोलन ने शीघ्र ही धार्मिक रूप प्राप्त कर लिया। बंगवासियों ने विच्छेद को इस रूप में देखा, कि उनकी बंगमाता को अधिक लोग छुरे से काटकर दो हिस्सों में बांट रहे हैं। वह अपनी फरियाद लेकर काली के मन्दिर में पहुंचे, और शक्ति से माता के कष्ट-निवारण की भिक्षा मांगने लगे। भावुक बंगालियों की भावनाएं एकदम उमड़ पड़ीं और संन्यासी, गृहस्थ और विद्यार्थी सब एक स्वर होकर 'वन्देमातरम्' का गीत गाने लगे।

यह तेजस्वी गीत बंगला के अमरकीर्ति उपन्यास-लेखक श्री बंकिमचन्द्र चटर्जी के 'आनन्दमठ' नामक उपन्यास का अंग है। 'आनन्दमठ' में उस समय की कहानी

सुनाई गई है, जब अंग्रेजों के आदेश से मुर्शिदाबाद में बैठे हुए मुसलमान नवाब बंगाल पर शासन करते थे। प्रजा राज्य के अत्याचारों से अत्यन्त दुःखी थी। दुर्भिक्ष ने उनके घाव पर नमक छिड़क दिया। स्वभावतः प्रदेश में असन्तोष की ज्वाला भड़क उठी, जिसका नेतृत्व किया देशभक्त संन्यासियों ने, जिनके केन्द्र-स्थान का नाम आनन्दमठ था। वे संन्यासी, देशभक्ति के व्रत की दीक्षा लेकर, नवाबी अत्याचारों के विरुद्ध लड़ते थे, कभी जीतते तो कभी हारते थे; परन्तु दुर्गामाता के सामने जो प्रतिज्ञा की थी, उसका पालन करते थे। बंग-विच्छेद का संकट आने पर बंगाली युवकों ने 'आनन्दमठ' को अपना मार्गदर्शक बनाया, और 'वन्देमातरम्' से प्राणविसर्जन का उत्साह प्राप्त किया। बंग-विच्छेद के आन्दोलन को धार्मिक रूप मिलने से उसका इतना विस्तार हुआ कि जब कलकत्ता की जनता ने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी-जैसे सुधारक कहलानेवाले नेता को देवी की अर्चना के अनन्तर तिलक और माला से अलंकृत किया तब उन्होंने कोई आपत्ति न की। इस घटना को अंग्रेजों ने इतना महत्त्वपूर्ण समझा कि विलायत के अखबारों ने इसे बड़े-बड़े शीर्षकों के साथ प्रथम पृष्ठ पर छापते हुए यह टिप्पणी की कि संभवतः भारतवासियों ने सुरेन्द्र बाबू को विधिपूर्वक भारत का सम्राट् निर्वाचित कर दिया है।


वंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

बंग-विच्छेद ने बंगाल को और साथ ही सारे भारत को नेताओं के रूप में दो नई विभूतियां प्रदान कीं। 'वे दोनों' विभूतियां थीं, श्री अरविन्द घोष और श्री विपिनचन्द्र पाल। इन दोनों देशभक्तों को आन्दोलन के तूफ़ान ने जनता के मध्यस्थल में से उठाकर ऊपर के तल पर पहुंचा दिया।

श्री अरविन्द घोष ने बंगाल के एक उच्च ब्राह्मण घराने में जन्म लिया था। शिक्षा की पूर्ति के लिए उन्हें इंग्लैण्ड भेजा गया, जहां उन्होंने मैंचेस्टर, लन्दन तथा कैम्ब्रिज में शिक्षा प्राप्त करके वे उपाधियां प्राप्त कीं, जिनकी उस युग के भारत में मान्यता थी। उसके पश्चात् श्री अरविन्द इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा में बैठे। किताबी विषयों में तो वे खूब प्रतिष्ठा के साथ उत्तीर्ण हो गए, परन्तु जब घुड़सवारी की परीक्षा होने लगी, तब भारत के सौभाग्य ने परोक्ष रूप से बाधा डाल दी। वह घुड़सवारी में अनुत्तीर्ण हो गए।

विलायत से अपने देश में आकर आप पहले बड़ौदा के उन्नतिशील महाराज सयाजी राव गायकवाड़ के निमन्त्रण पर बड़ौदा गये, और वहां के शिक्षा-विभाग में कार्य करने लगे। इसी बीच में बंगाल में राष्ट्रीय शिक्षा का आन्दोलन जारी हो गया। बंग-विच्छेद से उत्पन्न हुई स्वाधीनता की भावना के अनेक परिणामों में से एक यह भी था कि देशवासियों का ध्यान शिक्षा के राष्ट्रीयकरण की ओर

झुका। कलकत्ते में 'नैशनल कौंसिल आव एज्युकेशन' नाम की एक संस्था स्थापित हुई, जिसने नैशनल कालेज चलाने का निश्चय किया। कौंसिल को कालेज के अध्यक्ष-पद के लिए श्री अरविन्द घोष से योग्य व्यक्ति कहां मिलता? कौंसिल ने आपको बुलाया तो उसे राष्ट्र की पुकार समझकर आपने बड़ौदा की लगभग ८००) मासिक की नौकरी छोड़कर नैशनल कालेज की अध्यक्षता को स्वीकार कर लिया। श्री अरविन्द ने नैशनल कालेज से निर्वाह के लिए केवल १५०) मासिक लेना स्वीकार किया।

श्री अरविन्द राष्ट्रीय शिक्षा के तो परमभक्त थे, परन्तु उन्हें नैशनल कौंसिल आव एज्युकेशन का यह निश्चय मान्य नहीं था कि कौंसिल द्वारा संचालित संस्थाओं के छात्र राजनीति में भाग नहीं लेंगे। श्री अरविन्द राजनीति को धर्म का अंग मानते थे, और धर्म के परित्याग को मृत्यु से भी बुरा समझते थे। इस मौलिक मतभेद के कारण वह बहुत देर तक कौंसिल के साथ कार्य न कर सके, और देश-भर में बाढ़ की तरह फैलते हुए राष्ट्रीय युद्ध में सर्वात्मना कूद पड़े।


अरविन्द घोष

श्री अरविन्द उस समय के अन्य राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं से बहुत कुछ भिन्न थे। उनकी राजनीति धार्मिक भावनाओं से सनी हुई थी। वह लोकमान्य तिलक की भांति गर्म थे, परन्तु उनकी गर्मी में अध्यात्मिकता का अंश अधिक था। श्रीयुत गोखले और उनकी कोटि के राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं मे उनका मौलिक मतभेद था। अंग्रेज स्वभाव से स्वतंत्रता-प्रेमी या उदार हैं, और वे मांगने पर स्वराज्य दे देंगे, इत्यादि आशापूर्ण उक्तियां पर उनका अणुमात्र भी विश्वास नहीं था। राजनीति में वे आयर्लैण्ड की सिनफेन पार्टी के कार्यक्रम मेंविश्वास रखते थे।

अपने विचारों के प्रचार के लिए श्री अरविन्द ने अंग्रेजी में 'वन्देमातरम्' नाम का सप्ताहिक पत्र निकाला। भावुकता-प्रधान बंगवासियों के लिए आध्यात्मिक राष्ट्रीयता का सन्देश देनेवाला वह पत्र मानो धर्मशास्त्र बन गया था। अंग्रेजी भाषा पर श्री अरविन्द का अद्भुत प्रभुत्व था। विलायत में उनके हृदय पर अंग्रेजी भाषा के संस्कार इतने गहरे हो गए थे कि भारतवर्ष में आकर प्रारम्भ में उनका बंगाल में अपने भाव प्रकट करना बहुत कठिन हो गया था। यों वह संस्कृत के पण्डित थे और भगवद्गीता को अपना पथदर्शक मानते थे। उनमें प्राचीन भारत के आदर्शवाद का और नवीन योरप के क्रान्तिकारी विचारों का ऐसा चमत्कारी मिश्रण था कि उन्हें राजनीतिक क्षेत्र में नेतृत्व प्राप्त करने में देर न लगी। 'वन्देमातरम्' ने १९०५-१९०६ में बंगदेश में क्रान्ति की आग सुलगाने के कार्य में प्रमुख भाग लिया।

दूसरे बंगाली नेता, जिन्हें बंग-विच्छेद का आन्दोलन ऊपर की सतह पर लाया, श्रीयुत विपिनचन्द्र पाल थे। उन दिनों कांग्रेसी क्षेत्रों में गर्मदल की त्रिमूर्ति 'बाल-पाल-लाल' इस नाम से पुकारी जाती थी। बाल से पं० बाल गंगाधर तिलक, लाल से लाला लाजपतराय और पाल से श्रीयुत विपिनचन्द्र पाल का बोध होता था, पाल महोदय का 'न्यू इण्डिया' नाम का पत्र बंगाल के गर्मदल का मुखपत्र माना जाता था। वह बहुत प्रभावशाली वक्ता थे। ऊंचा और तीखा स्वर, अंग्रेजी भाषा की प्रौढ़ योग्यता, और उस पर भावुकता का पुट सब-कुछ मिलकर उस समय के विक्षब्ध वातावरण में श्रीयुत विपिनचन्द्र पाल के भाषण श्रोताओं को उन्मत्त करने में सुरा का काम देते थे। उन्हें बंगाल में तिलक महाराज का जोरदार उप-सेनापति कहा जाता था।

श्रीयुत सुरेन्द्रनाथ बनर्जी भी उस विक्षुब्ध वातावरण में अपनी नैसर्गिक नर्मी को त्यागकर काफी गर्म हो चुके थे। पूर्वीय बंगाल के राष्ट्रीय नेताओं में श्री अश्विनी-कुमार दत्त का नाम विशेषरूप से उल्लेख-योग्य है। दत्त महोदय बारीसाल के ब्रजमोहन इन्स्टीटचशन के अध्यक्ष थे। उन्होंने न केवल अपनी संस्था में सार्व-जनिक सेवा करनेवाले नवयुवकों का संगठन स्थापित किया, स्वदेशी तथा राष्ट्रीय शिक्षा के प्रचार में भी प्रमुख भाग लिया।

बंगाल की जनता में क्रान्ति के भावों का प्रचार करनेवाला सब से अधिक प्रभावशाली पत्र 'युगान्तर' था, जिसके दो संचालक थे। एक थे श्री वारीन्द्रकुमार घोष, जो श्री अरविन्द घोष के भाई थे, और दूसरे थे श्री भूपेन्द्रनाथ दत्त, जो स्वामी विवेकानन्दजी के भाई थे। दोनों नवयुवक देशभक्त, और विद्वान थे। इन गुणों के अतिरिक्त दोनों की लेखनी में ओज था। 'युगान्तर' के लेखों में लाग-लपेट का नाम नहीं था। उसके सम्पादक, ओज से भरी बंगला भाषा में, बंगालियों के धार्मिक और राष्ट्रीय उग्रभावों को उत्तेजित करने में कोई कसर न छोड़ते थे। 'युगान्तर' का निम्नलिखित उद्धरण उसकी राजनीति का अच्छा उदाहरण है :

> "क्या शक्ति के उपासक बंगवासी रक्त बहाने से घबरा जायंगे? इस देश में अंग्रेजों की संख्या डेढ़ लाख से अधिक नहीं, और एक जिले में उनकी संख्या तो बहुत ही न्यून है। यदि तुम्हारा संकल्प दृढ़ हो तो अंग्रेजी राज्य एक ही दिन में समाप्त हो सकता है। देश की स्वतंत्रता के लिए अपना जीवन अर्पण कर दो, परन्तु उससे पूर्व न्यून-से-न्यून एक अंग्रेज का जीवन समाप्त कर दो। देवी की आराधना पूरी न होगी यदि तुम एक और बलिदान दिये बिना देवी के चरणों में अपनी बलि चढ़ाओगे।"

बंगाल में क्रान्ति की भावना ज्यों-ज्यों तीव्र होती गई, सरकार का दिमाग भी गर्म होता गया। पूर्वी बंगाल का नया लैफ्टिनेंट गवर्नर सर बैम्फल्ड फुलर लार्ड कर्जन का पक्का चेला था। उसने पूर्वी बंगाल की गद्दी पर बैठकर यह घोषणा की थी कि "मेरी दो आँखें हैं, एक हिन्दू और दूसरी मुसलमान।" इस पर राष्ट्रीय

पत्रों में यह व्यंग्य छपा था कि फुलर साहिब ने हिन्दू आंख पर काला और मुसलमान आंख पर पारदर्शक शीशा लगा रखा है।

सरकार का दमन-चक्र जोर से चल रहा था। पूर्वी बंगाल में असन्तोष का केन्द्र बारीसाल था। वहां श्री अश्विनीकुमार दत्त के नेतृत्व में छात्रों ने अपना संगठन बना लिया था। इस अक्षम्य अपराध का दमन करने के लिए सरकार ने गुरखा सिपाहियों का एक दस्ता बारीसाल में बुला लिया, और आतंक राज्य स्थापित कर दिया। १९०६ के अप्रैल मास में पूर्वीय बंगाल में बंगाल के दोनों भागों की सम्मिलित राजनीतिक कान्फ्रेंस का अधिवेशन होनेवाला था। मजिस्ट्रेट के हुक्म से बन्दूकधारी सिपाहियों ने उसको भंग कर दिया। कान्फ्रेंस में प्रान्त के प्रायः सभी बड़े-बड़े नेता इकट्ठा हुए थे। किसी का भी लिहाज नहीं किया गया। इस संघर्ष में बहुत-से प्रतिनिधियों के सिर फूटे, क्योंकि सिपाहियों को लाठी-प्रहार की खुली छूट दी गई थी।

विधाता का विधान अद्भुत है। लार्ड कर्ज़न विभाजन द्वारा जिस बंगदेश को निर्बल करना चाहता था, उसमें ऐसी शक्ति और एकता उत्पन्न हो रही थी, जो अभूतपूर्व थी—और लार्ड कर्ज़न, इससे पूर्व कि बंगदेश का विभाजन पूरा होता, १२ अगस्त १९०५ के दिन त्यागपत्र देकर भारत से विदा होने के लिए मजबूर हो गया।

बंगाल की मनोभावनाओं में ऐसा उबाल-सा आ रहा था जब १९०६ के साल में, कलकत्ते में इण्डियन नैशनल कांग्रेस का बाईसवां अधिवेशन हुआ। उस अधि-वेशन में विचारों का कैसा संघर्ष रहा, यह श्री सी० वाई० चिन्तामणी के राजनीतिक संस्मरणों के नीचे दिये गए उद्धरण से स्पष्ट होगा :

> "दोनों दलों (गर्म और नर्म) में जो मतभेद था, वह निरन्तर बढ़ता गया, और १९०६ के शीतकाल तक ऐसा उग्र हो गया कि ८१ वर्ष के वयोवृद्ध दादा-भाई नौरोजी को इंग्लैण्ड से भारत बुलाकर अध्यक्ष बनाने के अतिरिक्त कांग्रेस का अधिवेशन करना असम्भव प्रतीत हो रहा था। दादाभाई की प्रभावपूर्ण अध्यक्षता में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, वह महान् था, परन्तु विषय-निर्वाचिनी समिति के बारे में कहा जा सकता है कि मैंने जितने अधिवेशन देखे हैं, वह उनमें सब से अधिक कोलाहल और विद्रोह से पूर्ण था। वृद्ध नेताओं के प्रति जो अभद्रता दिखाई गई, उसे देखकर दुःख होता था। असहिष्णुता का बाजार गर्म था, और बड़े-से-बड़े सम्मानित नेता यदि अपनी बात सुना सकें, तो केवल अपनी दृढ़ता से, अन्यथा वे सुना ही नहीं सकते थे। अन्त में समझौता करना पड़ा, और वह भी भारत के भीष्म पितामह (दादा-भाई नौरोजी) के प्रभाव तथा प्रयत्न से ही हो सका। उस समय तो समझौता हो जाने के कारण कांग्रेस का अधिवेशन टूटने से बच गया, परन्तु परिणाम अच्छा नहीं हुआ, क्योंकि दोनों पक्ष उस समझौते की अपने अनुकूल व्याख्या करते रहे, और पुराने नेताओं के विरुद्ध कटु आन्दोलन वर्ष-भर होता रहा, जिसके नेता मि० तिलक थे।"

इस उद्धरण को पढ़ते हुए यह ध्यान में रखना चाहिए कि मि० सी० वाई० चिन्तामणी ठेठ माडरेट थे, गर्म पार्टी के प्रति उनकी नाराज़गी स्वाभाविक थी, परन्तु उन्होंने परिस्थिति का जो विश्लेषण किया है, वह यथार्थ है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो यह बात यथार्थ है कि कलकत्ते में, भारत के राष्ट्रीय स्वाधीनता के युद्ध ने दूसरे युग में प्रवेश किया। कांग्रेस का जो चक्र तब तक पश्चिम की ओर घूम रहा था, उस अधिवेशन से पूर्व की ओर घूमने लगा, और स्वतंत्र भारत के प्रत्येक नागरिक को यह जानना चाहिए कि गति को बदलने के लिए जिस महापुरुष ने सबसे पहले चक्र पर अपना हाथ रखा वह दादाभाई नौरोजी थे। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने कांग्रेस के मंच से 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग करके संसार के सामने स्पष्टता से भारत के अन्तिम राजनीतिक लक्ष्य की घोषणा की। आपने अपने भाषण का प्रारम्भ, इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री सर हैनरी कैम्बल बैनरमैन के इस प्रसिद्ध वाक्य से किया था "सुराज्य किसी भी दशा में स्वराज्य का स्थानापन्न नहीं हो सकता।" और बहुत विस्तार से यह सिद्ध किया था कि केवल प्रजा के स्वकीय स्वतंत्र शासन के स्थापित होने से ही देश के कष्ट दूर हो सकते हैं। उससे पूर्व कांग्रेस की कल्पना की दौड़ सरकारी ओहदों तक रहती थी। दादाभाई नौरोजी ने एक क्रान्तदर्शी ऋषि की भांति समय को पहिचान लिया, और स्पष्ट शब्दों में स्वराज्य की उपादेयता की घोषणा करके भारत की नई सन्तति के मन को जीत लिया।

कांग्रेस के लिए यह लक्ष्य नया था, परन्तु देश के लिए पुराना। १९०६ से लगभग ३५ वर्ष पूर्व ऋषि दयानन्द ने अपने 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखा था—"कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मतमतान्तर के आग्रह-रहित अपने और पराये का पक्षपातशून्य प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय, और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुख-दायक नहीं है।" यही सत्य कांग्रेस की व्याख्यान-वेदी पर प्रकट करके भारत के वृद्ध पितामह ने राष्ट्रीय आन्दोलन के चक्र का रुख पश्चिम की ओर से हटाकर पूर्व की ओर मोड़ दिया।

अन्य भाषणों और प्रस्तावों में भी नई ज्योति दिखाई दी, बंगाल के शेर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपने भाषण के अन्त में सिंह के समान गर्जते हुए स्वर में अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि बायरन की कविता का निम्नलिखित पद उद्धृत किया था: "Nations by themselves are made— राष्ट्रों के भाग्यनिर्माता वे स्वयं हैं, कोई दूसरा नहीं।"

प्राचीन और नवीन भावनाओं के समझौते के रूप में कांग्रेस ने निम्न आशय के चार प्रस्ताव स्वीकार किये जिन पर युग-परिवर्तन की मुहर लगी हुई थी:

(१) **बहिष्कार**—क्योंकि भारत की वर्तमान सरकार शासन-कार्य में प्रजा की सम्पत्ति की कोई पर्वाह नहीं करती, इस कारण यह कांग्रेस बंग-विच्छेद

के विरोध के रूप में प्रारम्भ किये गए विदेशी-वस्तु-बहिष्कार-आन्दोलन का समर्थन करती है।

(२) **स्वदेशी**—यह कांग्रेस देशवासियों से जोरदार अनुरोध करती है कि वह देश में तैयार की हुई स्वदेशी वस्तुओं का ही व्यवहार किया करें।

(३) कांग्रेस की मांग है कि ब्रिटिश सरकार भारत में औपनिवेशिक पद्धति की शासन-प्रणाली प्रचलित करे, और उसके लिए शीघ्र-से-शीघ्र आगे कदम उठाये।

(४) कांग्रेस सरकार की शिक्षा-सम्बन्धी नीति को अत्यन्त दोषपूर्ण समझती है और सरकार से अनुरोध करती है कि वह भारत की शिक्षा-पद्धति पर लगाये सरकारी प्रतिबन्धों को हटाकर उसे राष्ट्रीय रूप में पनपने का अवसर दे।

आज ये प्रस्ताव बिलकुल साधारण प्रतीत होते हैं, परन्तु उस समय इन्हें क्रान्तिकारी समझा गया था। उस समय की परिस्थिति को देखते हुए ये थे भी क्रान्तिकारी ही।

: २० :

पंजाब का ज्वालामुखी फटा : लाला लाजपतराय का देशनिकाला

भौतिक दृष्टि से बंगाल और पंजाब एक-दूसरे से बहुत दूर हैं, परन्तु निवासियों की कुछ विशेषताओं के कारण समीपता भी कम नहीं। दोनों प्रान्तों के रहनेवालों की सब से बड़ी विशेषता है दोनों की हृदय-प्रधानता। दोनों शीघ्र ही उत्तेजित हो जाते हैं, और उत्तेजना की दशा में वाणी का खुला प्रयोग करते हैं। इस मौलिक समानता के साथ-साथ कुछ भेद भी हैं। बंगाली में जो शारीरिक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, वह प्रायः परोक्ष मार्गों से प्रकट होती है, परन्तु पंजाबी अनायास ही अपने हाथ-पांव से काम लेने लगता है। इसका परिणाम यह है कि बंगाली की उत्तेजना प्रायः षड्यन्त्रों के रूप में और पंजाब की उत्तेजना दंगे-फिसाद के रूप में प्रकाशित होती है।

बंग-विच्छेद का असर प्रायः सारे देश के राजनीतिक वातावरण पर हुआ। लोकमान्य तिलक के व्यक्तित्व ने और 'केसरी' के लेखों ने नवयुवकों में एक अद्भुत वलवला उत्पन्न कर दिया, परन्तु जैसा कि लाला लाजपतराय ने अपने आत्मचरित में लिखा है, "प्रारम्भ में पंजाब उस आन्दोलन से बहुत कम प्रभावित हुआ। परन्तु शीघ्र ही ऐसे कारण उपस्थित हो गए, जिन्होंने उस लड़ाकू जातियों के प्रान्त में

असन्तोष की बहुत प्रचण्ड अग्नि उत्पन्न कर दी। उस अग्नि की ज्वालाएं इतनी ऊंची उठीं, कि कुछ समय के लिए अन्य सब प्रान्त ठण्डे प्रतीत होने लगे।"

सार्वजनिक जीवन के रंगमंच पर लाला लाजपतराय का प्रवेश धार्मिक और सामाजिक कार्यकर्त्ता के रूप में हुआ था। लालाजी को उनके भक्त पंजाब-केसरी के विशेषण से विशेषित करते थे। वस्तुतः वह केसरी थे। जैसे केसरी एक जंगल से दूसरे जंगल में बेरोकटोक चला जाता है, और जहां जाता है वहां अपनी दहाड़ और नाखूनों के बल पर शासन करने लगता है, वैसे ही लालाजी भी अपने लम्बे सार्वजनिक जीवन में कई क्षेत्रों में प्रविष्ट हुए, और जहां भी उन्होंने प्रवेश किया वहीं अपनी अद्भुत वक्तृत्व-शक्ति, अथक परिश्रम और आश्चर्यजनक निर्भयता की सहायता से चोटी पर पहुंच गए थे। आर्य-समाज में वह डी० ए० वी० कालेज के संस्थापकों में गिने जाते थे, और चिरकाल तक उसके स्तम्भ बने रहे। समाज-सेवा के क्षेत्र में दुर्भिक्ष-पीड़ितों, अनाथों, और दलितों की भलाई और सहायता के लिए आपने जो कार्य किया, वह बहुत विस्तृत और प्रभावोत्पादक था। हम पहले चर्चा कर आये हैं कि पहले-पहल सन् १८८८ में प्रयाग में इण्डियन नैशनल कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ था, उसमें वह पंजाब के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए थे। तब से लालाजी का राजनीति से सम्पर्क हुआ। कुछ समय तक वह सम्पर्क हल्का-हल्का बना रहा; परन्तु १९०५ की बनारस कांग्रेस के अवसर पर लोकमान्य तिलक के साथ मिलकर आपने इंग्लैण्ड के युवराज के भारत में स्वागत का ऐसा ज़ोरदार विरोध किया कि आप एकदम राजनीति के उपरले स्तर पर आ गए। आपकी भाषण-शक्ति का ऐसा सिक्का जमा कि जब कांग्रेस की ओर से भारत की दशा पर प्रकाश डालने के लिए इंग्लैण्ड को डेपुटेशन भेजने का प्रश्न सामने आया, तब श्रीयुत गोखले और लालाजी के नाम मनोनीत किये गए।



लाला लाजपतराय

इंग्लैण्ड में लालाजी के अंग्रेजी भाषणों का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। वहाँ से लौटकर, आप पूरी तरह राजनीति के अखाड़े में उतर आये। कलकत्ता में श्री दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, उसमें आपका झुकाव अधिकतर गर्म दल की ओर रहा। बीच-बीच में आप दोनों दलों में सुलह कराने का भी यत्न करते रहते थे। वह आपकी बुजुर्गी का सबूत था, परन्तु हृदय से आप उस दल के समर्थक थे, जिसके नेता पं० बाल गंगाधर तिलक थे। उनका हृदय तिलक के साथ था, परन्तु दिमाग प्रायः गोखले की ओर झुकता था। यही कारण था कि जब तक सम्भव हुआ, आप गर्म और नर्म दोनों दलों में समझौता कराने का प्रयत्न करते रहे।

१९०६ के प्रारम्भ में, पंजाब के प्रत्यक्ष में शान्त दीखनेवाले वायुमण्डल में, सरसराहट अनुभव होने लगी। उस युग में ऐसी घटनाएं तो प्रायः होती रहती थीं, जिनमें क्रोध में आकर एक अंग्रेज गरीब हिन्दुस्तानी कुली के पेट में बूट की नोक मार देता था, जिससे कुली मर जाता था। परन्तु लाहौर में एक नये ढंग की घटना हुई। एक अंग्रेज पत्रकार ने अपने नौकर को गोली से मार दिया। मुकदमा चला तो जूरी ने राय दी कि अंग्रेज ने जान-बूझकर हत्या नहीं की, गोली अचानक चल गई, इस पर जज ने हत्यारे को केवल ६ मास के कारागार की सजा दी।

दूसरी घटना रावलपिण्डी में हुई। एक हिन्दू स्त्री रात के समय स्टेशन पर एक गाड़ी से उतरकर दूसरी गाड़ी की प्रतीक्षा कर रही थी। उसे धमकाकर एक अंग्रेज असिस्टेंट स्टेशन मास्टर और उसका मुसलमान बेहरा स्टेशन मास्टर के कमरे में ले गए, और उस पर बलात्कार किया। उन पर अभियोग चला, तो इस आधार पर दोनों छोड़ दिये गए कि जो कुछ हुआ, रजामन्दी से हुआ, बलात्कार से नहीं।

इन और ऐसी ही अन्य घटनाओं से प्रान्त में जो बेचैनी उत्पन्न हो गई थी, उसे लाला लाजपतरायजी के अंग्रेजी दैनिक पत्र 'पंजाबी' के लेखों से बहुत बढ़ावा मिला। 'पंजाबी' के संचालक ला० जसवन्तराय और सम्पादक मि० आठवले निर्भय नवयुवक थे। 'पंजाबी' की टिप्पणियां खरी और उग्र होती थीं। सरकार उनसे वहुत परेशान थी। अन्त में सरकार की ओर से 'पंजाबी' के संचालक और सम्पादक को सरकार के विरुद्ध भावनाएं फैलाने का अभियोग लगाकर गिरफ्तार कर लिया गया। सरकार के इस कार्य से प्रान्त में, वह असन्तोषाग्नि, जो पहले हल्की-हल्की सुलग रही थी, उग्र रूप धारण करने लगी।

इसी समय सरकार ने पंजाब कौंसिल में उपस्थित करने के लिए दो नये बिल प्रकाशित किये। पहला बिल लायलपुर की ज़मींदारियों के सम्बन्ध में था। सरकार ने वहां नहर निकालकर खेती के लिए लोगों को कुछ शर्तों पर जमीनें दी थीं। अब सरकार उन शर्तों में कुछ ऐसे परिवर्तन करना चाहती थी, जिनसे सरकार को लाभ पहुंचता, परन्तु जमींदारों की आमदनी पर चोट लगती। जमींदारों में हिन्दू-मुसलमान और सिख सभी थे। उनका इन नये बिलों से असन्तुष्ट होना स्वाभाविक था।

दूसरे बिल का उद्देश्य यह था कि पंजाब में खत्री-बनिया आदि व्यापारी जातियों के लोग जाट-अराई आदि कृषि-प्रधान जातियों से जमीनें न खरीद सकें। इस बिल से हिन्दुओं में बहुत बेचैनी पैदा हो गई। जमींदारपेशा लोगों पर उनके करोड़ों रुपये ऋण थे, जो जमीनों के सिवा किसी अन्य रूप में वसूल नहीं हो सकते थे।

इन दो बिलों के अतिरिक्त नाराजगी पैदा करने का एक और कारण भी सरकार की कृपा से उत्पन्न हो गया। सरकार ने आबियाना (जलकर) बढ़ाने का निश्चय किया। उसने जलती आग में घी का काम किया। जनता के इस बढ़ते हुए असन्तोष का सरकार और उसके समर्थक गोरे अखबारों की ओर से जो उत्तर दिया जा रहा था, वह और भी अधिक क्षोभ उत्पन्न करनेवाला था। लाहौर का 'सिविल-

मिलिटरी गजट' भारत के शिक्षित समाज को "Babbling B. A.s." "Base-born B. A.s." "Serfs" "Beggars on Horseback" "Service Classes" और "a class that carries a stigma" इत्यादि अंग्रेज़ी गालियों से विशेपित करता रहता था।* इन अंग्रेजी गालियों का यदि मुहाविरेदार हिन्दी में अनुवाद करना हो तो "बकवादी बी० ए०" "बदज़ात बी० ए०" "गुलाम" "घोड़े पर चढ़े हुए भिखमंगे" "नीच" और "दाग़ी" आदि जघन्य गालियां लिखनी पड़ेंगी। जब उस समय के गवर्नर जनरल सर डेंजिल इबसंन का ध्यान उस ओर आकृष्ट किया गया, तो उसने अखबार की टोन पर दुःख प्रकट किया, परन्तु उसे रोकने के लिए कोई काररवाई करने से इनकार कर दिया। इन सब कारणों से पंजाब की लड़ाकू जातियों और शिक्षित लोगों में सामान्य रूप से उत्तेजना फैल रही थी। जब १९०७ के अप्रैल मास में 'पंजाबी' अखबार के मुकदमे की अपील का फैसला सुनाया गया और पत्र के मालिक ला० जसवन्तराय को ६ मास का कठोर कारागार और १०००) जुर्माना, तथा सम्पादक श्री आठवले को ६ मास का कारागार और २००) जुर्माना किया गया तो लाहौर में बड़ा हंगामा हुआ। भड़की हुई भीड़ इकट्ठी हो गई, और कई अंग्रेजों पर छुटपुटे आक्रमण हुए। उस दिन सौभाग्यवश श्रीयुत गोखले भी लाहौर पहुंचे हुए थे। इसी हुल्लड़ से उनका भी शानदार स्वागत हो गया। उस समय लाहौर की जनता में जोश और उत्साह का बोलबाला दिखाई दिया, जिससे प्रभावित होकर ही श्रीयुत गोखले ने अपने भाषण में ये अमर वाक्य कहे थे—"मैं अपने देशवासियों की महत्वाकांक्षा पर कोई सीमा-रेखा नहीं खींचना चाहता। हम अपने देश में वही दर्जा चाहते हैं जो दूसरों को अपने देश में प्राप्त है।"†

हम देख आये हैं कि १९०६ की कांग्रेस में लाला लाजपतराय ने गर्म और नर्म दलों में सुलह कराने का शुभ प्रयत्न किया था। वह नर्मदल के नेता श्री गोखले के साथ लन्दन गये। इन सब लक्षणों से पंजाब में यह समझा जाने लगा था कि शायद लालाजी के रक्त की गर्मी कुछ कम होने लगी है; परन्तु १९०७ के प्रारम्भ में पंजाब के वातावरण में जो गर्मी उत्पन्न हुई, उसने पंजाब केसरी की रगों में रक्त के संचार को असाधारण रूप से तेज़ कर दिया। केसरी की दहाड़ प्रान्त के एक सिरे से दूसरे सिरे तक गूंजने लगी। यह तो असन्दिग्ध बात है कि अपने समय में लालाजी से अधिक या उनके समान, हिन्दुस्तानी का प्रभावशाली दूसरा वक्ता नहीं था। श्री सी० वाई० चिन्तामणी-जैसे नर्म और विचारशील आलोचक ने लखनऊ कांग्रेस में दिये हुए उनके एक भाषण के सम्बन्ध में लिखा है कि "पं मदन-

---

*Henry W. Navinson "The New Spirit in India" का Introduction.

†"I place no limitation on the ambition of my people. We want to be in our own country, what others are in theirs."

मोहन मालवीय के बाद ला० लाजपतराय उठे, और उर्दू में बोले। लालाजी के ओजस्वी शब्दों ने श्रोताओं की भावनाओं को इतना भड़का दिया कि यदि उस समय दक्षिण अफ्रीका का कोई गोरा कहीं आसपास पहुंच में होता तो उसका जीवन संकट में पड़ जाता।" जिन जादूभरे शब्दों में यह शक्ति थी कि कांग्रेस के पंडाल में एकत्र हुए सुशिक्षित जन-समुदाय में असाधारण उबाल पैदा कर दे, उनका पंजाब की जोशीली और स्वस्थ जनता पर क्या प्रभाव हुआ होगा, इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

लालाजी शिकायत के सभी मामलों को लेकर पंजाब के दौरे पर निकल पड़े। प्रान्त-भर में हलचल मच गई। अन्य नौजवान भी मैदान में आ गए, उनमें से एक सरदार अजीतसिंह थे। सरदार अजीतसिंह जालन्धर के रहनेवाले थे, और वहीं के डी० ए० वी० स्कूल में उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। एण्ट्रेंस पास करने के पश्चात् अजीतसिंहजी ने पढ़ना छोड़ दिया, और सार्वजनिक आन्दोलनों में भाग लेने लगे। कुछ ही समय में वह नौजवानों की एक जोशीली मण्डली के नेता बन गए, और सूफी अम्बाप्रसाद के साथ मिलकर उन्होंने भारतमाता सोसायटी नाम की एक सभा स्थापित की। वह सभा पंजाब की गर्म पार्टी का केन्द्र बन गई।

१९०७ के आन्दोलन में सरदार अजीतसिंह ने खूब भाग लिया। पंजाब के जमींदारों में सिखों की संख्या बहुत अधिक थी। सरदार अजीतसिंह के भाषण सिख होने के कारण जमींदारों की सभा में बहुत ध्यान से सुने जाते थे। वह शीघ्र ही लोकप्रिय हो गए।

उस समय की ग्राम सभाओं में जिस व्यक्ति की बहुत मांग थी, वह थे बांके-दयाल। बांकेदयालजी सभाओं में एक गाना गाया करते थे, जो उन दिनों पंजाब का 'वन्देमातरम्' बन गया था। उसके प्रारम्भिक पद ये थे :

"पगड़ी संभाल ओ जट्टा, पगड़ी संभाल ओ
मांझे दे जोरनाल और मालवे दे शोरनाल
कदी नइयों हारना।"

हे जाट, तू अपनी पगड़ी (इज्जत) को संभाल (वह खतरे में है)। मांझा और मालवा (अखण्डित पंजाब के दो प्रमुख भाग) की ताकत और आन्दोलन के कारण हम कभी हारेंगे नहीं।

आन्दोलन के इस तूफ़ान को उठता देखकर सरकार घबरा गई। अप्रैल में लाला लाजपतरायजी को रावलपिण्डी से बुलावा आ गया। रावलपिण्डी पंजाब का सबसे बड़ा सैनिक अड्डा था। अंग्रेजी सरकार उसे सर्वथा सुरक्षित प्रदेश बनाये रखना चाहती थी। सरकार के नये प्रस्तावित कानून और आज्ञाओं का सबसे अधिक प्रभाव जिन सिख-अराई आदि जातियों पर पड़ता था, वे सब जमींदारपेशा थीं। उनमें असन्तोष की मात्रा बढ़ती जा रही थी, इस कारण सरकार ने रावलपिण्डी में आन्दोलन के सिर को उठते ही कुचल देने का निश्चय करके सार्वजनिक सभा के संयोजक मानकर, चोटी के छः वकीलों को गिरफ्तार कर लिया, और सार्वजनिक सभाओं पर रोक लगा दी। इस पर शहर में दंगा हो

गया, जिसका सहारा लेकर लगभग साठ आदमी पकड़ लिये गए, जिनमें से पांच को सात-सात साल का कारागार मिला।

१० मई का ऐतिहासिक दिन समीप आ रहा था। १८५७ में जिस दिन मेरठ में सशस्त्र क्रान्ति का प्रारम्भ हुआ था, वह १० मई का ही दिन था। सरकार का दिल कांप गया। उसके मन में यह बात बैठ गई थी, कि १० मई को पंजाब में विद्रोह का झण्डा खड़ा हो जायगा। कत्लेआम से बचाने के लिए बड़े शहरों के अंग्रेज निवासियों और उनके परिवारों को रात के समय किलों में पहुंचा दिया गया था। कहा जाता है कि रात-भर बम्बई की ओर रवाना होनेवाली एक खाली ट्रेन, धुआं छोड़ते हुए तैयार इंजिन के साथ स्टेशन पर खड़ी रही।

ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों की यह भयभीत और परेशान मानसिक दशा थी, जब उन्होंने ला० लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को पंजाब से निर्वासित करने का निश्चय किया। बिना नोटिस, और बिना अभियोग के किसी नागरिक को पकड़कर देशनिकाला देने के लिए जब कोई कानून नहीं मिला, तो सन् १८१८ का एक बासीदा रेगुलेशन कागजों के ढेर के नीचे से निकाला गया और उसके आधार पर उस समय के भारत सचिव मि० जान मार्ले ने ऐसे अन्याय और तानशाही से पूर्ण बलात्कार का समर्थन कर दिया। ९ मई के दिन पुलिस अकस्मात् ला० लाजपतराय को लाहौर से और सरदार अजीतसिंह को अमृतसर से पकड़कर उड़ा ले गई, और बर्मा में मांडले के किले में बन्द कर दिया।

: २१ :

पुरानी कांग्रेस का भंग

इसी बीच में भारत के रंगमंच पर कई नये अभिनेता आ गए। १९०५ के अगस्त मास में लार्ड कर्जन भारत को अशान्ति के कड़ाह में खौलता छोड़कर विदा हो गया और उसके स्थान पर गवर्नर जनरल और वायसराय के पद पर लार्ड मिण्टो की नियुक्ति हो गई। लार्ड मिण्टो को उस लार्ड मिण्टो के पौत्र होने का सौभाग्य प्राप्त था, जो १९वीं सदी के आरम्भ में भारत पर गवर्नर जनरल के पद से शान्तिपूर्वक हुकूमत करने की ख्याति प्राप्त कर चुका था। प्रतीत होता है कि इंग्लैण्ड के मन्त्रिमण्डल ने इस समय भी आवश्यक समझा कि लार्ड कर्जन के उठाये हुए तूफ़ान को शान्त करने के लिए दूसरे लार्ड मिण्टो को भारत का भाग्य-विधाता बनाया जाय।

लार्ड मिण्टो की नियुक्ति के कुछ सप्ताह पश्चात् ही इंग्लैण्ड में कंज़रवैटिव दल को बुरी तरह परास्त करके लिबरल दल अधिकारसम्पन्न हो गया। उदार मन्त्रिमण्डल में भारत सचिव का पद इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विचारक और लेखक जान

मार्ले को दिया गया। जान मार्ले की लिखी हुई मि० ग्लैडस्टन की जीवनी को उस समय की लिबरल पार्टी की बाइबिल माना जाता था। साहित्यिक क्षेत्रों में, और अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी राजभक्तों में मार्ले को ईमानदार जान मार्ले (Honest John Morley) के मीठे नाम से सम्बोधित किया जाता था। जब भारतवर्ष में यह समाचार फैला कि भारत सचिव का कार्य 'आनेस्ट जान मार्ले' को सौंपा गया है तो इंग्लैण्ड के उदार दली साहित्य पर पले हुए भारतवासियों के हृदय उछल पड़े। वह सुलभ स्वर्ग के सपने लेने लगे। उस समय वे इस बात को भूल गए कि ग्लैडस्टन की जीवनी लिखनेवाले मि० जान मार्ले ने एक 'Compromise' (समझौता) नाम की किताब भी लिखी है, जिसमें आदर्श का गौरव दिखलाते हुए भी व्यवहार के साथ समझौते की काफी गुंजायश रखी गई थी। उस ओर भारतवासियों का ध्यान तब खिंचा जब उस उदार राजनीतिक ने गद्दी पर बैठने के कुछ समय पश्चात् ही यह घोषणा की कि बंग-विच्छेद चाहे कैसा ही हो, परन्तु क्योंकि वह निश्चित तथ्य (settled fact) हो चुका है, इस कारण उसके विषय में बावेला मचाना व्यर्थ है। इस घोषणा ने भारतीयों को अनुभव करा दिया कि उनकी आशा का मृगतृष्णा से अधिक अस्तित्व नहीं।

लार्ड मिण्टो ने एक कार्य ऐसा अवश्य किया, जिससे पंजाब की परिस्थिति में कुछ सुधार होना सम्भव था। जब कालोनाइज़ेशन बिल पंजाब कौंसिल से स्वीकार होकर वायसराय की स्वीकृति के लिए गया तो लार्ड मिण्टो ने उसे अस्वीकार कर दिया। एक इस कार्य को छोड़कर, सरकार की सामान्य नीति लगभग उसी लीक पर चलती रही, जिस पर उसे कर्ज़न ने डाला था।

लार्ड कर्ज़न ने पूर्वी बंगाल को अलग प्रान्त बनाने में यह लाभ समझा था कि वह मुसलमानों का एक ऐसा प्रान्त बन जायगा, जो हिन्दुओं के स्वराज्य आन्दोलन का तोड़ कर सकेगा। सर बैम्फ्लाईड फुलर ने लार्ड कर्ज़न की भावना को पूरा करने का भरसक यत्न किया। उसके भाषणों और कार्यों का यह परिणाम हुआ कि पूर्वी बंगाल के मुसलमान अपने को 'फुलर के कृपापात्र' मानकर कानून की ओर से लापरवाह हो गए। १९०७ के मार्च महीने में ढाके के नवाब सलीमुल्ला ने कुमिल्ला में मुसलमानों की कान्फ्रेंस की। उसमें मुसलमानों को ऐसा भड़काया गया, कि उसके पश्चात् ही वहां हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया, जिसमें दोनों ओर के लोग मारे गए, और आगजनी तथा बलात्कार की घटनाएं भी घटीं। अप्रैल महीने में, पूर्वी बंगाल के जमालपुर नाम के शहर में, फिर वैसा ही उत्पात हुआ।

मई के महीने में लार्ड मिण्टो ने एक घोषणा द्वारा पंजाब और पूर्वी बंगाल के कई भागों में सार्वजनिक सभाओं पर यह रोक लगा दी कि कोई सार्वजनिक सभा तब तक नहीं की जा सकेगी, जब तक सात दिन पहले सरकार को उसकी सूचना न दी जाय, मजिस्ट्रेट सभा को रोक सकेगा, और यदि सभा होगी तो पुलिस उसमें उपस्थित रहेगी।

देश के अन्य भागों में भी जनता का आन्दोलन और सरकार का दमन दोनों

साथ-साथ चल रहे थे। सितम्बर के महीने में कलकत्ता में सरकार ने श्रीयुत विपिनचन्द्र पाल पर इस कारण मुकदमा चलाया कि उन्होंने 'वन्देमातरम्' पत्र के अभियोग में गवाही देने से इनकार कर दिया था। पाल महोदय ने इनकार करने का कारण बतलाते हुए कहा था:

> "मैं एक ऐसे अभियोग में भाग लेना अपराध समझता हूं, जो अन्याय-पूर्ण है, और जो देशवासियों की स्वाधीनता और सार्वजनिक शान्ति का घातक है।"

फलतः अक्तूबर के आरम्भ में, कलकत्ते में जनता के रोष का विस्फोट हो गया, जिसे सरकार ने दंगे का नाम दिया।

अनेक प्रकार से दमन करने पर भी देश की बेचैनी कम न हुई, यह देखकर सरकार घबरा गई, जिसका फल यह हुआ कि वायसराय की कौंसिल में 'सेडीसंस मीटिंग्ज' नाम का विधेयक पेश किया गया, जो श्रीयुत गोखले और डा० रासबिहारी बोस-जैसे प्रभावशाली वक्ताओं और जननेताओं के विरोध के बावजूद १ नवम्बर को सरकारी सम्मतियों से पास हो गया। सन् १९०७ की पहली नवम्बर के दिन भारत की वाणी पर ऐक्ट के रूप में जो संगीन ताला लगाया गया, वह वस्तुतः बहुत ही अशुभ था; क्योंकि तब से अन्त तक वह किसी-न-किसी रूप में देश की वाणी पर लगा ही रहा।

सरकार द्वारा लोकमन की उपेक्षा और दमन नीति के कारण, जनता के जोश में जो उबाल-सा आ रहा था, ला० लाजपतराय के निर्वासन ने उसे आतंकवाद के रूप में परिणत कर दिया। बंगाल में समितियों का जन्म दो वर्ष पहले ही हो चुका था। उन समितियों तथा अन्य गुप्त संगठनों द्वारा बम बनाने के नुस्खों का प्रचार तो हो ही रहा था, उनके प्रयोग की तैयारी भी की जाने लगी थी। पंजाब में गुप्त सभाएं देर तक नहीं चल सकीं, क्योंकि उस प्रान्त के निवासी जितने अच्छे लड़ाके हैं, उतने अच्छे षड्यन्त्रकारी नहीं, तो भी १९०७ के अन्तिम भाग में लाहौर में भी छोटे-मोटे गुप्त संगठन बनने प्रारम्भ हो गए थे।

देश की ऐसी विक्षुब्ध दशा थी, जब इण्डियन नैशनल कांग्रेस का २३वां अधिवेशन समीप आ गया। कांग्रेस के अधिवेशन के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य सभापति का निर्वाचन होता है। सभापति के निर्वाचन-जैसे रिवाजी मामले को भी देश में बढ़ते हुए विचार-संघर्ष ने अछूता नहीं छोड़ा। देश के राजनीतिक विचारों का प्रवाह उस समय तीन धाराओं में होकर बह रहा था। पहली धारा पुराने कांग्रेसियों की थी, जो माडरेट या नर्मदल के नाम से प्रसिद्ध थे। सर फीरोज शाह मेहता, श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्रीयुत गोपाल कृष्ण गोखले आदि देशभक्त उस दल के नेता थे। दूसरी धारा गर्म या एक्स्ट्रीमिस्ट दल के नाम से निर्दिष्ट होती थी, उसके नेता लोकमान्य तिलक, श्रीयुत विपिनचन्द्र पाल, श्री अरविन्द घोष आदि थे। तीसरी धारा नवोद्भूत थी। वह आतंकवाद की धारा थी। उसमें वे नवयुवक थे, जो नर्म और गर्म दोनों दलों की नीति से निराश हो चुके थे। वे

कांग्रेस की पद्धति पर विश्वास न रखते हुए भी समय आने पर गर्मदल का साथ देने को तैयार रहते थे।

कलकत्ते की कांग्रेस के अवसर पर, जब सभापति की तलाश हुई, तब कई नामों का प्रस्ताव हुआ था। गर्मदल के लोग लोकमान्य तिलक को सभापति पद पर बिठाना चाहते थे। लोकमान्य की योग्यता, उनका तप और त्याग, और देश पर उनका प्रभाव यह सब-कुछ इतना बढ़ा-चढ़ा था, कि उनका नाम आने पर दूसरे किसी के चुनाव की सम्भावना नहीं हो सकती थी। परन्तु नर्मदल, जिसके हाथ में कांग्रेस की बागडोर थी, लोकमान्य के नाम से घबराता था। उस दल ने शतरंज की चाल चलकर परिस्थिति को हाथ में से निकलने से बचा लिया। उन्होंने देश के सर्वसम्मानित वयोवृद्ध नेता श्री दादाभाई नौरोजी का नाम सभापति-पद के लिए प्रस्तुत कर दिया; फलतः लोकमान्य का नाम वापिस ले लिया गया।

१९०७ में फिर वही उलझन खड़ी हुई। कांग्रेस का अधिवेशन नागपुर में होने जा रहा था। नागपुर गर्मदल का गढ़ था। सभापति-पद के लिए लोकमान्य का नाम प्रस्तुत किया गया। कांग्रेस के संचालक इस परिस्थिति से घबरा गए, और उन्होंने अधिवेशन का स्थान ही बदल दिया। स्थायी समिति ने निश्चय किया कि कांग्रेस का वार्षिक सम्मेलन नागपुर में न होकर सूरत में हो। सूरत नर्म प्रकृति के गुजरातियों का केन्द्र होने से सुरक्षित स्थान समझा गया।

स्थान-परिवर्तन के कारण दोनों दलों की तनातनी और भी अधिक बढ़ गई। नर्मदल की ओर से कलकत्ते के प्रसिद्ध वकील डा० रासबिहारी घोष का नाम सभापति-पद के लिए प्रस्तुत किया गया। प्रत्युत्तर में गर्मदल ने फिर लोकमान्य तिलक का नाम उपस्थित कर दिया। लोकमान्य तिलक को संघर्ष में पड़कर सभापति चुना जाना अच्छा नहीं लगा, उन्होंने अपना नाम वापिस लेते हुए ला० लाजपतराय का नाम पेश किया। सरकार ने लालाजी को लगभग छः मास तक मांडले में रखकर मुक्त कर दिया था। झगड़े में पड़ना उचित न समझकर लालाजी ने भी सभापति बनने से इनकार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि डा० रासबिहारी घोष निर्विरोध अध्यक्ष चुन लिये गए। चुनाव तो हो गया परन्तु दोनों दलों के बीच में जो खाई बनी थी, वह और भी अधिक चौड़ी हो गई।

सूरत में कांग्रेस का अधिवेशन १९०७ ईस्वी के दिसम्बर मास के अन्तिम सप्ताह में होनेवाला था, परन्तु उसकी चहल-पहल दोनों पक्षों के समाचारपत्रों में पहले से ही आरम्भ हो गई थी। जब प्रतिनिधि लोग सूरत पहुंचे, तो कांग्रेस की नीति और रीति के बारे में मतभेद पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था। इसी बीच में एक अपशकुन भी हो गया। अधिवेशन से दो-तीन दिन पहले पूर्वी-बंगाल में ढाका के कलक्टर मि० एलन पर किसी ने गोली चला दी। मि० एलन के गहरी चोट लगी, और समझा गया कि गोली शायद घातक सिद्ध हो। उससे एक महीना पहले उड़ीसा से लौटते हुए सर एण्ड्रू फ्रेजर की गाड़ी को उड़ाने की चेष्टा की गई थी। इन घटनाओं ने वातावरण को खूब गर्म कर रखा था। सूरत में गर्मदल के नेताओं

और अनुयायियों ने, कांग्रेस के अधिवेशन-स्थल से दूर, अपना अलग कैम्प लगाया था, जिसके मुख्य नेता लोकमान्य तिलक दो-तीन दिन पहले से आकर दल के संगठन में लगे हुए थे।

हम कलकत्ता कांग्रेस के प्रकरण में उन चार प्रस्तावों की चर्चा कर चुके हैं, जिन पर दादाभाई के परामर्श से दोनों दलों में समझौता हो गया था। सूरत में वही प्रस्ताव मतभेद के केन्द्र बने हुए थे। नर्मदल का मत था कि देश की परिस्थिति बहुत कुछ शान्त हो चुकी है, इसलिए अब उन प्रस्तावों को नर्म कर दिया जाय, उनका रूप बदलकर उन्हें ऐसा बना दिया जाय कि सरकार उनसे रुष्ट न हो। गर्मदल की राय थी कि सरकार की नीति में कोई परिवर्तन नहीं आया, और न देश की दशा ही बदली है, इस कारण वे चारों प्रस्ताव उसी रूप में रखे जायं, जिसमें कलकत्ते में स्वीकार किये गए थे। दोनों ओर जोर की मोर्चाबन्दी हो रही थी, कि लाला लाजपतरायजी ने शान्ति के दूत बनकर समझौते का प्रयत्न जारी कर दिया। कई अन्य महानुभाव भी बीच में पड़े, परन्तु कोई फल न निकला। एक ओर लोकमान्य तिलक, और दूसरी ओर माननीय गोखले—दोनों महान् व्यक्ति, दोनों प्रबल इच्छा-शक्ति के स्वामी, और दोनों देश के प्रभावशाली नेता। समझौता न हो सका, और अधिवेशन आरम्भ होने का समय आ गया।

प्रारम्भ से ही पण्डाल में विक्षोभ के चिह्न दिखाई दे रहे थे। गर्मदल के लोग अन्य प्रतिनिधियों से अलग जत्था बनाकर बैठे थे। पं० बाल गंगाधर तिलक, जिनके लिए मंच पर कुर्सी खाली रखी गई थी, वहां न जाकर प्रतिनिधियों में ही बैठ गए। प्रारम्भ में स्वागत समिति के अध्यक्ष का भाषण हुआ। उसके पश्चात् कांग्रेस के अध्यक्ष-पद के लिए डा० घोष का नाम प्रस्तावित किया गया। इतना काम तो शान्ति से हो गया, परन्तु जब श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी अनुमोदन करने के लिए खड़े हुए तो पण्डाल में तूफ़ान-सा मच गया। गर्मदल को उनसे यह शिकायत थी कि वह माडरेट लोगों में जा मिले हैं। चारों ओर से इतना शोर मचा, कि सैकड़ों व्याख्यानों के विजेता सुरेन्द्रनाथ को हार मानकर बैठ जाना पड़ा। स्वागताध्यक्ष, कांग्रेस के मनोनीत अध्यक्ष और अन्य नेताओं के भरसक प्रयत्न करने पर भी कुछ लोग भाषण सुनने को तैयार न हुए। इस पर उस दिन की बैठक स्थगित कर दी गई।

उस रात और अगले दिन-भर सुलह कराने के प्रयत्न जारी रहे, परन्तु कोई परिणाम न निकला। दूसरे दिन फिर सारे विधि-विधान के साथ अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। उस दिन इतनी बात अवश्य हुई कि स्वागत समिति ने बहुत-से स्वयंसेवकों को आशंकित गड़बड़ को दबाने के लिए पण्डाल के अन्दर तैनात कर दिया था। पीछे से गर्मदल के समाचारपत्रों में यह समाचार प्रकाशित हुआ था कि स्वागत समिति के अध्यक्ष ने पुलिस के बड़े अफसरों को भी सावधान कर दिया था। ऐसे खिचाव के वातावरण में अधिवेशन की काररवाई शुरू हुई। उस दिन श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को बोलने दिया गया। अध्यक्ष-सम्बन्धी प्रस्ताव का समर्थन पं० मोतीलाल नेहरू ने किया, जो उन दिनों प्रयाग के हाईकोर्ट के चोटी के वकील माने जाते थे।

विधिपूर्वक प्रस्ताव का अनुमोदन और समर्थन हो जाने पर स्वागताध्यक्ष ने डा० घोष से प्रार्थना की कि वह अध्यक्ष का आसन ग्रहण करें। इस पर डा० घोष अध्यक्ष के आसन पर आ गए, और अपना बहुत योग्यता और प्रयत्न से लिखा हुआ भाषण पढ़ने लगे--परन्तु उसी समय लोगों ने देखा कि लोकमान्य तिलक प्रतिनिधियों के घेरे में से उठकर मंच पर जा रहे हैं। वह मंच पर पहुंचकर सभापति और सभापति के सामने रखी हुई मेज की ओर पीठ करके खड़े हो गए। मंच पर बैठे हुए लोग सन्नाटे में आ गए। पूछने पर लोकमान्य ने कहा कि "मैंने अध्यक्ष के चुनाव को स्थगित करने का एक प्रस्ताव लिखकर भेजा था, उसे उपस्थित करने के लिए आया हूं।" इस पर स्वागताध्यक्ष ने तेज़ होकर उत्तर दिया--"आप कांग्रेस को स्थगित करने का प्रस्ताव उपस्थित नहीं कर सकते। मैं आपके प्रस्ताव को नियम-विरुद्ध घोषित करता हूं।" इस पर लोकमान्य तिलक ने उत्तर दिया--"आप कुर्सी छोड़ चुके हैं। अब आप सभा के अध्यक्ष नहीं हैं।"

इस पर डा० घोष बोले--"मैं आपके प्रस्ताव को नियम-विरुद्ध घोषित करता हूं।" लोकमान्य ने तत्काल उत्तर दिया--"परन्तु आप अभी चुने नहीं गए। मैं प्रतिनिधियों से अपील करना चाहता हूं"।

इसके आगे क्या हुआ, इसका ठीक-ठीक विवरण देना कठिन है। उस तुमुल युद्ध में पहला तीर किसने छोड़ा, यह कैसे बतलाया जा सकता है। पण्डाल में जितने प्रतिनिधि और दर्शक थे, सब खड़े हो गए। शोर तो मच ही रहा था। किसी के हाथ में छड़ी थी, तो किसी के हाथ में कुर्सी। तूफ़ान-सा मच गया। इतने में एक मराठा चप्पल सरसराती हुई मंच की ओर आई, और सर फीरोजशाह मेहता के लगी। वह काफी कड़ी चेतावनी थी। मंच पर बैठे हुए नेता पिछले दरवाजों से होकर बाहर जाने लगे। सारा पण्डाल एक युद्ध-भूमि-सा बन गया--केवल एक लोकमान्य तिलक, लोहे की मूर्ति की तरह, छाती पर दोनों भुजाओं की ढाल बनाये, अपने स्थान पर खड़े थे। कुछ भी हो जाय, वह अपनी बात से टलनेवाले नहीं थे।

उस समय स्वागत समिति के कुछ स्वयंसेवक तिलक महाराज को मंच पर से हटाने के लिए डंडे घुमाते हुए आगे बढ़े। तब अपने समय के उस महान् पुरुष गोपाल कृष्ण गोखले का असली रूप संसार के सम्मुख प्रकट हुआ। गोखले को तिलक का सबसे बड़ा विरोधी माना जाता था। जब गोखलेजी ने देखा कि स्वयंसेवक तिलक महाराज की ओर बढ़ रहे हैं, तो वह अपने राजनीतिक विरोधी और स्वयंसेवकों के बीच में दीवार बनकर खड़े हो गए, ताकि स्वयंसेवक तिलक महाराज को हाथ न लगा सकें। एक ओर चट्टान, दूसरी ओर तूफ़ान और बीच में गोखले--ऐसे ही दृश्य हैं जो महान् पुरुषों के असली महत्व को प्रकट किया करते हैं।

थोड़ी देर में पण्डाल में पुलिस के सिपाही घुस आये, और सब लोगों को बाहर कर दिया। तब तक तिलक महाराज अपने अनुयायियों के साथ बाहर जा चुके थे। इस प्रकार, नये और पुराने की भयानक टक्कर के तुमुल कोलाहल में कांग्रेस की पुरानी विचारधारा--प्रार्थनाओं और अनुनय-विनय पर विश्वास करने-

वाली राजनीति—विदा हो गई, और उसके स्थान पर नई राष्ट्रीयता, जिसका मूलमन्त्र 'लेना' था, सिंहासन पर आसीन हो गई। इस प्रकार सूरत में पुरानी कांग्रेस भंग हुई।

: २२ :

दमन और आतंकवाद का चक्र

जब प्रजा अपनी दशा से बहुत असन्तुष्ट हो जाती है, तब उसमें एक उग्र बेचैनी उत्पन्न हो जाती है, जिसे शासक लोग राजविद्रोह का नाम दे देते हैं, और उसे दबाने के लिए दमन के साधनों का उपयोग करने लगते हैं। दमन उस असन्तोष को सचमुच मानसिक विद्रोह के रूप में परिणत कर देता है, जिससे शासक और भी अधिक व्याकुल होकर दमन के शिकंजे को कसने लगते हैं। ज्यों-ज्यों शिकंजा कसा जाता है, हृदयों में उठती हुई विद्रोह की भावना तीव्र होती जाती है, जो, दमन का पहिया जोर से चलते रहने की दशा में, थोड़े ही समय में या तो खुले संग्राम के रूप में परिणत हो जाती है, अथवा छिपे आतंकवाद के रूप में प्रकट होती है। विद्रोह प्रकट हो या गुप्त—यह देश की दशा पर अवलम्बित है। इतिहास दमन और आतंकवाद के ऐसे चक्रों के दृष्टान्तों से भरा पड़ा है। दमन से आतंकवाद जोर पकड़ता है, और उसके बढ़ने पर अदूरदर्शी शासक दमन के जोर को बढ़ाते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि यद्यपि संसार के सभी शासक अन्त में दमन की व्यर्थता मानने पर विवश हो जाते हैं, तो भी प्रारम्भ में वे दमन को ही प्रजा के असन्तोष की दवा मानते हैं।

भारत के अंग्रेज शासकों के मन में भी लगभग दो शताब्दियों तक यही भरोसा रहा कि वह दमन के दंड से असन्तोष का सिर कुचलकर भोले भारतवासियों को शासनाधिकार के जूठन के टुकड़ों से सन्तुष्ट कर लेंगे। परन्तु जो अनहोनी थी वह कैसे होती। दमन के प्रयोग से असन्तोष की आग और आतंक द्वारा उसका प्रकाश भी बराबर बढ़ता ही गया।

हम देख आये हैं कि सिपाही-विद्रोह के पश्चात् देश में पहली राजनीतिक हत्या पूना में हुई थी, जो प्लेग के निवारण के नाम पर अंग्रेज अफसरों द्वारा प्रजा के साथ किये गए कठोर व्यवहार का परिणाम थी। बंगाल में गुप्त षड्यन्त्रों और हत्याओं का कारण सर्वथा स्पष्ट था। न बंग-विच्छेद किया जाता, और न उस हरे-भरे प्रान्त में आतंकवाद को स्थान मिलता।

जनता को विक्षुब्ध करने के अनेक कारणों के होते हुए भी बंगाल में तब तक कोई राजनीतिक हत्या नहीं हुई, जब तक ला० लाजपतराय को देशनिकाला नहीं दिया गया। बिना किसी प्रकार का अभियोग लगाये, रद्दी की टोकरी में से

एक पुराना रेगुलेशन निकाला गया, और एक प्रान्त के प्रमुख नेता को पकड़कर देश से निर्वासित कर दिया गया। इस समाचार ने देश-भर में निराशा और क्रोध की लहर उत्पन्न कर दी। परिणाम यह हुआ कि वह लावा जो देर से पर्वत के पेट में फुफकार रहा था, ज्वालामुखी के मुंह को फोड़कर बाहर निकलने लगा। लालाजी १९०७ के मध्य में निर्वासित किये गए थे, और अक्तूबर में सरकार ने देश को यह समाचार सुनाया कि वायसराय की गाड़ी को बम से उड़ाने का प्रयत्न किया गया है। मिदनापुर के पास, रेल की लाइन के नीचे, एक बम फटा, जिससे वायसराय की गाड़ी पटरी से उतर गई। २३ दिसम्बर को ढाका के समीप एक रेलवे स्टेशन पर मि० एलन को गोली का निशाना बनाया गया। यह मि० एलन पहले डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट था। गोली पीठ में लगी। घाव बहुत गहरा नहीं था, एलन बच गया; परन्तु सरकार को काफ़ी कड़ी चेतावनी मिल गई।

वर्ष के अन्त में सूरत में कांग्रेस दो भागों में बंट गई। कांग्रेस का पुराना ढांचा नर्मदल के हाथों में था—नहीं रहा। उसका नाम 'कन्वेन्शनिया कांग्रेस' पड़ गया, क्योंकि उसके संचालकों ने एक कन्वेन्शन करके कांग्रेस में प्रवेश पर ऐसी शर्तें लगा दीं, जिनके कारण गर्म विचारों के लोग उसमें घुस ही न सकें।

घर की फूट से शत्रु सदा लाभ उठाते आये हैं। सरकार को भी सूरत की दुर्घटना ने राष्ट्रीयता को दबाने का अवसर दे दिया। सरकार का दमन उग्र होने लगा। जिसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि १९०८ के अप्रैल मास की १० तारीख को मुजफ्फरपुर में एक बम फेंकने की घटना हो गई। किंग्जफोर्ड नाम के अंग्रेज अफसर की भ्रान्ति में एक घोड़ागाड़ी पर बम फेंका गया, जिससे दो अंग्रेज महिलाएं घायल हो गईं। बम फेंकने के अपराध में दो बंगाली युवक पकड़े गए, जिनमें से एक ने पकड़े जाने के समय गोली से आत्महत्या कर ली, और दूसरे पर अभियोग चलाया गया। जिस सब-इन्स्पेक्टर ने गिरफ्तारियां की थीं, नवम्बर में उसे भी गोली से उड़ा दिया गया। इस मामले के पश्चात् पुलिस ने एक षड्यन्त्र की सम्भावना पर ३४ व्यक्तियों को गिरफ्तार किया। पकड़े हुए व्यक्तियों में से एक, नरेन्द्र गोसाईं, सरकारी गवाह बन गया, और अपने दो क्रान्तिकारी साथियों द्वारा जेल में ही गोली से मार दिया गया। यह मामला अलीपुर षड्यन्त्र केस के नाम से प्रसिद्ध हुआ, और इसके परिणामस्वरूप वह सरकारी वकील, जिसने इस अभियोग की पैरवी की थी, और वह डिप्टी सुपरिंटेंडेंट पुलिस, जिसने संचालन किया था, क्रान्तिकारियों द्वारा गोलियों से उड़ा दिये गए।

१९०८ के आरम्भ में, बिगड़ते हुए वातावरण से परेशान होकर, सरकार ने राष्ट्रीय आन्दोलन के अग्रणी पं० बाल गंगाधर तिलक पर अभियोग चलाने का निश्चय किया। मुजफ्फरपुर के बम-काण्ड पर 'केसरी' में कुछ अग्रलेख प्रकाशित हुए थे। उन अग्रलेखों में यह दिखलाया गया था कि यदि खुली सशस्त्र क्रान्ति सम्भव न हो तो स्वाधीनता चाहनेवाली पराधीन जाति के लिए बम आदि शस्त्रों का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। इस मन्तव्य की पुष्टि में सम्पादक ने रूस आदि देशों के

दृष्टान्त देकर यह सिद्ध किया था कि गुप्त रूप से शस्त्रों का प्रयोग सरकार की कठोर दमन-नीति का ही परिणाम हुआ करता है।

लोकमान्य तिलक पर चलाया गया १९०८ वाला अभियोग भारत के स्वाधीनता युद्ध के महाभारत का एक महत्वपूर्ण पर्व है। वह न केवल अपने ढंग के राजनीतिक अभियोगों की शृंखला की पहली कड़ी थी, वरन् देश में एक नई मनोवृत्ति उत्पन्न करने का कारण भी बना।

सूरत की कांग्रेस के पश्चात्, राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं की फूट से लाभ उठाकर सरकार ने पूरे जोर से दमन का चक्र चला दिया। गर्म और नर्मदल के समर्थक समाचारपत्रों में सूरत की घटनाओं के सम्बन्ध में जो तीव्र नोकझोंक चली, उससे सरकार को गर्म पत्रों पर लाल चिह्न लगाने में सहायता मिल गई। १९०८ के आरम्भ में अकेले बम्बई प्रान्त में चार देशी भाषा के पत्रों पर राजद्रोह के अभियोग चल गए, और जब दैनिक मराठी पत्र 'काल' के सम्पादक श्री परांजपे को गिरफ्तार कर लिया गया, और उन पर बम्बई में अभियोग चलाया गया, तब किसी को यह अनुमान लगाने में कठिनाई न हुई, कि इन छोटे किलों पर कब्जा करने का उद्देश्य तिलक और 'केसरी'-रूपी बड़े किले को सर करना है। तिलक महाराज 'काल' के अभियोग की पैरवी के लिए बम्बई आकर सरदारगृह होटल में ठहरे हुए थे, कि २४ जून १९०८ के सायंकाल ६ बजे उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। उसी दिन उनके पूना के कार्यालय और सिंहगढ़ के निवासस्थान की भी तलाशी ली गई। कहा जाता है कि तलाशी में सिवा एक कार्ड के, जिस पर विस्फोटक पदार्थों का नुस्खा लिखा हुआ था, पुलिस को अन्य कोई आपत्तिजनक वस्तु नहीं मिली। अभियोग में उस कार्ड से तिल का ताड़ बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी गई।

मुकदमा इतना महत्वपूर्ण समझा गया कि उसे हाईकोर्ट के जस्टिस दावर के सामने पेश किया गया। तिलक महाराज के वकील श्री बैप्टिस्टा ने अभियुक्त को जमानत पर छोड़ने की दर्खास्त दी, जो रद्द कर दी गई। प्रारम्भ में केवल 'केसरी' के एक लेख पर अभियोग चलाया गया था, परन्तु पीछे से एक और लेख पर नया वारंट निकालकर दूसरा अभियोग भी कायम कर दिया गया; और फिर दोनों अभियोगों को मिलाकर एक कर दिया गया। लोकमान्य ने इसका कानून के आधार पर विरोध किया, परन्तु वह अनसुना कर दिया गया।

जज की सहायता के लिए जो जूरी बनाई गई, वह स्वयं अपने असली रूप को प्रकट कर रही थी। उसमें सात योरोपियन थे, और दो पारसी। यह ध्यान रखा गया था कि उसमें ऐसा कोई व्यक्ति न आने पाये, जिसके दिल के किसी कोने में अभियुक्त के लिए सद्भावना का लेश भी हो।

लोकमान्य तिलक ने अपना अभियोग स्वयं लड़ने का निश्चय किया। उन्हें तैयारी के लिए केवल सात दिन मिले थे, और वह भी जेल में, जहां सभी प्रकार की कठिनाइयां विद्यमान थीं। पहले अढ़ाई दिन, सरकार की ओर से अभियोग की सिद्धि के लिए साक्षी पेश करने में व्यतीत हुए। साक्षियों से लोकमान्य ने स्वयं

जिरह की; अधिक समय सरकारी अनुवादक मि० जोशी से ही जिरह में व्यतीत हुआ। जोशी को अपने किये अनुवाद में इतनी भूलें स्वीकार करनी पड़ीं कि लोग आश्चर्य में पड़ गए। उस जिरह ने लोकमान्य की योग्यता का सिक्का जनता और सरकार दोनों पर बिठा दिया।

लोकमान्य ने अपनी ओर से सफाई का कोई गवाह पेश नहीं किया। अभियोग के तीसरे दिन मध्याह्न के उपरान्त ४ बजे वह अभियोगों का उत्तर देने के लिए खड़े हुए और पांच दिन तक अदालत जितनी देर बैठी, लोकमान्य बोलते रहे। जज ने अपने फैसले में बतलाया था कि उनका अभियुक्त २१ घण्टे और १० मिनट तक बोलता रहा। लोकमान्य भावुकता में बहकर शब्दों का जाल बिछानेवाले वक्ता नहीं थे। वह संक्षिप्त और युक्तिसंगत भाषण देने के लिए प्रसिद्ध थे। ऐसे वक्ता का कानून और कानून से सम्बद्ध विषयों पर २१ घण्टों तक बोलते जाना वस्तुतः एक चमत्कार था। राजद्रोह के कानून की बारीक और गहरी व्याख्या करने के पश्चात् सरकार के अभियोग की निःसारता को भली प्रकार दर्शाकर लोकमान्य ने यह स्थापना की थी कि राजद्रोह के अभियोग में मुख्य बात यह होनी चाहिए कि लेखक या वक्ता के आशय पर विचार किया जाय। यह सिद्ध करना चाहिए कि उसकी मन्शा समालोचना करने की नहीं थी, अपितु राजद्रोह फैलाने की थी।

जब तक अभियोग चलता रहा, सामान्यरूप से सारे देशवासियों के और विशेषरूप से बम्बई निवासियों के कान अन्तिम परिणाम सुनने के लिए लगे रहे। आठवें दिन १२ बजे लोकमान्य ने अपना भाषण समाप्त किया, और अंग्रेज एडवोकेट जनरल ने उसका उत्तर दिया। रात के आठ बजे के लगभग जज ने जूरी को समझाने के लिए जो शब्द कहे, वे तिलक महाराज के सम्बन्ध में विष से भरे हुए थे। जूरी विचार करने के लिए दूसरे कमरे में गई, और रात के ९ बजकर २० मिनट पर वापिस आई। सातों योरोपियनों ने तिलक को अपराधी और दोनों भारतवासियों ने निरपराध बतलाया। जज ने जूरी के बहुमत से सहमति प्रकट करते हुए लोकमान्य को ६ वर्ष के कारागार और १००० रुपये जुर्माने की सजा दी। फैसला सुनकर जज ने लोकमान्य से पूछा कि क्या तुम कुछ कहना चाहते हो, तो उन्होंने जो उत्तर दिया, वह न केवल तिलक महाराज के जीवन में, अपितु भारत के स्वाधीनता युद्ध के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। आपने कहा :

> "मैं केवल इतना कहना चाहता हूं कि जूरी के फैसले के बावजूद मैं मानता हूं कि मैं निर्दोष हूं। हमारे भाग्यों का विधान उन शक्तियों के हाथ में है जो हमसे बहुत ऊंची हैं। सम्भव है, वह ध्येय, जिसका मैं प्रतिनिधि हूं मेरे स्वतंत्र रहने की अपेक्षा कारावद्ध करने से अधिक फल-फूल सकेगा।"

जब से यह समाचार बम्बई में फैला कि आज लोकमान्य के अभियोग का फैसला सुनाया जानेवाला है, तभी से जनता हाईकोर्ट के चारों ओर एकत्र होने लगी थी। हाईकोर्ट पर पुलिस का कड़ा पहरा था। इसी बीच में मूसलधार

वर्षा हो गई, तो भी भीड़ कम नहीं हुई। रात के १० बजे, फैसला सुनाने के पश्चात्, शहर-भर में पुलिस के घुड़सवार शान्ति की रक्षा के लिए हलचल मचाते रहे। परन्तु दूसरे दिन परिस्थिति अधिकारियों के वश के बाहर हो गई। बहुत-से कारखानों में मजदूरों ने हड़ताल कर दी, और शहर में जत्थे बना-बनाकर घूमने लगे। इस पर पुलिस घबरा गई, और रोक-टोक करने लगी। परिणाम यह हुआ कि जनता और सिपाहियों में कई स्थानों पर संघर्ष हो गया, जिसमें पुलिस को लाठी और गोली चलाने का अवसर मिल गया। उस दिन बम्बई में पुलिस की गोलियों से १५ आदमी मरे, और ३८ घायल हुए।

लोकमान्य तिलक के अभियोग का फैसला होने के पश्चात् सरकार खुले बन्दों दमन पर उतर आई। उसका स्वाभाविक परिणाम ही था कि देश में आतंकवाद की लहर तीव्र होती गई। एक ओर सरकार ने गिरफ्तारियों, प्रतिबन्धों और धमकियों का तांता लगा दिया, और दूसरी ओर अधीर नौजवान बम और रिवाल्वर लेकर मैदान में आ गए। सरकार ने दो नये कानून जारी किये। एक का नाम था, एक्स्प्लोसिव सब्स्टैंसेज़ ऐक्ट। इसका उद्देश्य विस्फोटक पदार्थों के रखने, तथा लेने-देने को रोकना था। दूसरे ऐक्ट का नाम था, इन्साइटमेण्ट टु ओफेन्सेज़ ऐक्ट। यह कानून राजद्रोह और आतंकवाद को कुचलने के लिए बनाया गया था। सरकार के अपने प्रकाशित किये हुए आंकड़े इस बात के प्रमाण हैं कि इन दोनों अधिनियमों का असर उलटा ही हुआ। आगामी ३ वर्षों में अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध की गई कारखाइयों में कमी आने की जगह वृद्धि हुई। १८१८ में भारत सरकार ने जस्टिस रौलट की अध्यक्षता में जो सेडीशन कमेटी बनाई थी, उसकी रिपोर्ट में राजद्रोह और आतंकपूर्ण कारग्वाइयों का पूरा सरकारी विवरण दिया गया है। वह विवरण कमीशन को सरकार द्वारा प्राप्त हुआ था। उससे प्रतीत होता है कि सरकारी बयान के अनुसार १९०६ से प्रारम्भ होकर बम, गोली या लूटमार की राजनीतिक घटनाएं १९१७ तक बराबर जारी रहीं। इतना ही नहीं, १९०७ के पश्चात् उनकी संख्या में जोरों की वृद्धि हुई। यहां सरकारी विवरण से निम्नलिखित संख्याएं उद्धृत की जाती हैं:

सन्	आतंकपूर्ण घटनाएं
१९०६	२
१९०७	७
१९०८	२१
१९०९	१६
१९१०	९
१९११	१६
१९१२	१४
१९१३	१६

सन्	आतंकपूर्ण घटनाएं
१९१४	१७
१९१५	३२
१९१६	१२
१९१७	४

हम मानते हैं कि इन आंकड़ों में कुछ अत्युक्ति है। सरकार इन संख्याओं के आधार पर रौलट ऐक्ट-जैसा राष्ट्रीयता का घातक कानून बनाना चाहती थी। इस कारण उसने कई साधारण डकैतियों तथा हत्याओं पर भी राजनीतिक लेबल लगा दिया था; तो भी ये संख्याएं इस सचाई को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि दमन-द्वारा प्रजा के वास्तविक असन्तोष को नष्ट नहीं किया जा सकता, अपितु दमन असन्तोष को प्रगति पर प्रायः तेल का काम देता रहा। ज्यों-ज्यों सरकार अपने विघातक हथियारों को बढ़ाती गई, राष्ट्र की बेचैनी दावानल का रूप धारण करती गई।

संसार का ध्यान भारत की आन्तरिक अशान्त स्थिति की ओर बहुत जोर से खिंच गया, जब १९०९ के जुलाई मास की पहली तारीख के दिन लन्दन में, मदनलाल धींगडा नाम के नवयुवक ने इण्डिया आफिस के पोलिटिकल ए० डी० सी० कर्नल सर विलियम कर्ज़न विली पर घातक आक्रमण किया। सरकार की ओर से यह कहा गया कि धींगड़ा का कार्य केवल एक व्यक्ति की इच्छा का फल नहीं था, अपितु उसके पीछे एक बड़ा षड्यन्त्र था, जो लन्दन के 'इण्डिया हाउस' में तैयार किया जा रहा था। इण्डिया हाउस की स्थापना भारत के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी देशभक्त श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा ने की थी। वह इंग्लैण्ड में पढ़ने के लिए अथवा अन्य उद्देश्यों से गये हुए भारत के नौजवानों का सम्मिलित केन्द्र था। १९०९ के प्रारम्भ में श्री विनायक सावरकर भी उस सम्मिलन केन्द्र में सम्मिलित हो गए थे। श्री विनायक सावरकर का लिखा हुआ '१८५७ की भारतीय राज्य-क्रान्ति का इतिहास' प्रकाशित हो चुका था और इण्डिया हाउस में उस इतिहास की प्रति सप्ताह कथा हुआ करती थी।

श्री विनायक सावरकर की गणना उस समय भारत के उदीयमान युवक नेताओं में की जाती थी। वह और उनके बड़े भाई गणेश सावरकर महाराष्ट्र में उग्र विचार के राष्ट्रवादियों के पथदर्शक थे। १९०९ में सरकार ने बड़े सावरकर भाई को राजद्रोह के अभियोग में दण्डित करके जेल में डाल दिया। छोटे भाई उस समय विलायत में थे। वह और उनका लिखा हुआ 'सन् ५७ के स्वाधीनता युद्ध का इतिहास' विलायत गये हुए भारतीय नवयुवकों में जोश उत्पन्न कर रहा था। भारत से सरकारी दमन के हृदय को हिला देनेवाले जो समाचार विलायत पहुंचे थे, उन्होंने वहां के हिन्दुस्तानी नौजवानों के मन को विशेषरूप से आन्दोलित किया। कर्नल विली पर धींगड़ा ने जो घातक आक्रमण किया, वह इन्हीं सब कारणों का परिणाम था।

वर्ष के अन्त में नासिक में एक और सनसनीपूर्ण घटना हो गई। जिस राजद्रोह के अभियोग में श्री गणेश सावरकर को दण्ड दिया गया था, वह नासिक के जिला मजिस्ट्रेट मि० जैक्सन की अदालत में पेश हुआ था। सजा भी जैक्सन ने ही दी थी। २१ दिसम्बर को, एक भारतीय युवक ने, विदाई की पार्टी में मि० जैक्सन को गोली से मार दिया। इस प्रकार जो वर्ष सरकार के दमन के साथ प्रारम्भ हुआ था, वह क्रान्तिकारी की गोली के साथ समाप्त हुआ।

: २३ :

दक्षिण अफ्रीका में नागरिक अधिकारों के लिए संघर्ष

उन दिनों देशवासियों के हृदयों को उत्तेजित करने के जो बड़े-बड़े कारण थे, उनमें से एक यह भी था कि दक्षिण अफ्रीका में जाकर बसे हुए भारतवासियों के साथ अन्याय हो रहा था। उन्हें वहां के गोरे निवासियों द्वारा घटिया और अनचाहे मेहमान मानकर नागरिकता के अधिकारों से वंचित और अपमानित किया जा रहा था। महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र में भारतवासियों से प्रतिज्ञा की गई थी कि उनके साथ ब्रिटिश सामाज्य के अन्य निवासियों के समान ही व्यवहार किया जायगा। दक्षिण अफ्रीका भी ब्रिटिश साम्राज्य का ही एक भाग था, उसमें भारतवासियों के साथ सरासर अन्याय हो रहा था—और इंग्लैण्ड के साम्राज्य पर हुकूमत करनेवाले देवता चुप थे। उस चुप का अभिप्राय स्पष्ट था कि अंग्रेजी हुकूमत उस अन्यायपूर्ण व्यवहार को उचित समझती थी। भारतवासियों का यह समझना उचित ही था कि दक्षिण अफ्रीका में भारतवासियों के साथ अन्याय करने में ब्रिटिश हुकूमत भी साझीदार है।

यहां दक्षिण अफ्रीका के गोरों की उस अन्याय-परम्परा का, जो अब तक भी समाप्त नहीं हुई थी, थोड़ा-सा वृत्तान्त दे देना आवश्यक है। १८९९ से पहले ट्रांसवाल में बोअर लोगों की हुकूमत थी। बोअर लोग हालैण्ड के निवासी थे, और योरप के विस्तार युग में, दक्षिण अफ्रीका में पहुंचकर, उपनिवेश स्थापित करने में सफल हो गए थे। १८९९ में अंग्रेजों से उनकी लड़ाई हुई, जो 'बोअर वार' के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें बहुत वीरतापूर्वक लड़कर भी संख्या और धन की कमी के कारण बोअर हार गए। और ट्रांसवाल ब्रिटिश साम्राज्य का अन्यतम उपनिवेश बन गया। बहुत पहले से भारतवर्ष के मजदूर और व्यापारी अफ्रीका में जाकर बस रहे थे। बहुत-से मजदूर भारत सरकार द्वारा इकरारनामे भरवाकर अफ्रीका भेजे जाते थे, जो इकरारनामे का समय समाप्त होने पर वहीं बस जाते थे। गुजरात और उत्तर प्रदेश के अनेक व्यापारी कारोबार करने के लिए गये, और वहीं के निवासी बन गए। इस तरह जिस समय बोअर युद्ध आरम्भ हुआ

उस समय ट्रांसवाल में भारतवासी पुरुषों की संख्या लगभग १५ सहस्र थी। स्त्रियां और बच्चे अतिरिक्त थे।

बोअरों के शासन-काल में भी भारतवासियों की परिस्थिति बहुत सन्तोष-जनक नहीं थी, तो भी उनके भारत आने-जाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। प्रतिबन्ध यह था कि प्रत्येक भारतवासी को तीन पौण्ड देकर अपना नाम रजिस्टर करवाना पड़ता था। जब अंग्रेजी सरकार ने बोअरों पर आक्रमण करके ट्रांसवाल पर अपना अधिकार जमाने का निश्चय किया, तब अपने उस कार्य को उचित सिद्ध करने के लिए यह युक्ति भी दी थी कि बोअर लोग भारतवासियों से बुरा व्यवहार करते हैं, इस कारण उन्हें सजा देना ब्रिटिश राज्य का कर्त्तव्य है। घर बनाकर रहने के सम्बन्ध में भारतवासियों पर कुछ अपमानजनक प्रतिबन्ध लगे हुए थे, परन्तु कहा जाता था, कि उन प्रतिबन्धों के पालन में कड़ाई का प्रयोग नहीं होता था।

ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की घोषणाओं पर विश्वास करके कुछ भोले भारत-वासियों ने, जिनके मुखिया श्री मोहनदास कर्मचन्द गान्धी (महात्मा गान्धी) नाम के भारतीय बैरिस्टर थे, ब्रिटिश सेना की सहायता करने के लिए स्वयंसेवकों में नाम लिखा दिया था। जब ट्रांसवाल पर यूनियन जैक फहराने लगा तब भारतवासी उन कानूनों के रद्द होने की प्रतीक्षा करने लगे, जिन्हें युद्ध से पूर्व लार्ड लैंसडाउन और जोज़ेफ चैम्बरलेन-जैसे प्रमुख अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने अन्यायपूर्ण और अपमान-जनक बताया था, परन्तु हुआ उल्टा ही। अंग्रेजी सरकार के अन्य वायदों के समान, वे वायदे भी भ्रामक सिद्ध हुए। ब्रिटिश उपनिवेश बनने के पश्चात् ट्रांसवाल भारतवासियों के लिए पहले से भी अधिक कंटीला सिद्ध हुआ। बोअरों के शासन-काल में भारतवासियों के गोरों की बस्ती में या उसके पास रहने पर जो प्रतिबन्ध थे, उनका कठोरता से पालन नहीं कराया जाता था; ब्रिटिश साम्राज्य का उपनि-वेश बनने पर प्रतिबन्धों का खूब कड़ाई से पालन किया जाने लगा। भारतवासियों के साथ भद्दा व्यवहार करने में अंग्रेज और डच दोनों एक राह के राही बन गए। वे लोग शोर मचाने लगे कि उपनिवेश में हिन्दुस्तानियों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जाती है। उसे रोकने के लिए प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है। इस बहाने की जब छानबीन की गई तो मालूम हुआ कि आगन्तुक भारतवासियों की संख्या का बढ़ना तो एक ओर रहा १८९९ में ट्रांसवाल में भारतवासियों की संख्या १५,००० के लगभग थी, १९०६-७ की जनगणना में, अन्यायपूर्ण नियमों के कारण, वह संख्या घटकर ८००० के लगभग रह गई। इस लंगड़े और झूठे बहाने की पोल खुल जाने पर गोरों ने यह कोलाहल मचाया कि हिन्दुस्तानियों का रहन-सहन गन्दा है, इस कारण उनकी संख्या को कम करना और उनको अलग रखने की व्यवस्था करना अत्यन्त आवश्यक है। इस अभिप्राय से १९०६ में ट्रांसवाल की लैजिस्लेटिव कौंसिल में, एशियाटिक ला अमेण्डमेण्ट आर्डिनेंस नाम का विधेयक पेश हुआ, जो भारतवासियों के जबर्दस्त विरोध के बावजूद भी स्वीकार हो गया।

यह सर्वसम्मत बात है कि अफ्रीका को बसाने और बनाने में भारतवासियों का पूरा हाथ था। उन्होंने उपनिवेश के निर्माण में श्रम भी लगाया और धन भी। अपमानजनक व्यवहार उन्हें अखरने लगा। यह उनके सौभाग्य की बात थी कि उस संकट के समय दक्षिण अफ्रीका में एक नवयुवक गुजराती बैरिस्टर विद्यमान था, जिसका शरीर यद्यपि दुबला-पतला था, परन्तु उसमें निवास करनेवाली अन्तरात्मा में अनन्त आत्म-सम्मान और आध्यात्मिक शक्ति का भंडार था। वह गुजराती बैरिस्टर मोहनदास कर्मचन्द गान्धी था।



गान्धीजी

जब १९०६ के सितम्बर मास में भारतीयों ने देखा कि उनके प्रतिवाद की कोई पर्वाह न करके एशियाटिक ला अमेण्डमेण्ट आर्डिनेंस पास कर दिया गया तो उन्होंने एक सार्वजनिक सभा करके उसका प्रतिरोध करने की शपथ ली। शपथ का रूप यह था कि यदि इंग्लैण्ड की साम्राज्यवादी सरकार ने आर्डिनेंस को स्वीकृति दे दी तो हम लोग उसे मानने से इनकार करेंगे। सभी ने यह भी निश्चय किया कि एक शिष्टमण्डल इंग्लैण्ड भेजा जाय, जो आर्डिनेंस को अस्वीकृत कराने का यत्न करे। उस शिष्टमण्डल का नेतृत्व गान्धीजी को सौंपा गया। शिष्टमण्डल के प्रयत्न का यह परिणाम हुआ कि उस वर्ष तो वह काला कानून स्वीकार न किया गया, परन्तु दूसरे वर्ष, उपनिवेश को आत्म-शासन का अधिकार मिलने पर, नई धारा सभा ने काले कानून को स्वीकार कर लिया। उस कानून की बड़ी-बड़ी आपत्तिजनक धाराएं दो थीं। एक तो यह विधान किया गया था कि ऐसे किसी एशियायी को उपनिवेश में नहीं घुसने दिया जायगा, जो १८९९ से पहले उपनिवेश का निवासी नहीं था, और दूसरा उससे भी अधिक अपमानजनक विधान यह था कि उपनिवेश में रहनेवाले प्रत्येक एशियायी को तीन पौण्ड शुल्क देकर अपना नाम रजिस्टर कराना पड़ेगा। जब यह नया आर्डिनेंस स्वीकृति के लिए लन्दन भेजा गया तो इस आधार पर कि उपनिवेश को स्वतंत्र शासन का अधिकार दिया जा चुका है, इसलिए उसकी सरकार द्वारा स्वीकृत कानून को अस्वीकार करना उचित नहीं है, साम्राज्य की सरकार ने काले कानून पर मुहर लगा दी। स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर उपनिवेश की सरकार ने आज्ञा प्रचारित कर दी कि १९०७ के अक्तूबर मास की अन्तिम तारीख तक सब भारतवासियों को अपने नाम रजिस्टर करवा लेने चाहिए।

भारतवासियों ने गांधीजी के नेतृत्व में यह प्रण कर लिया कि इस अन्याय-पूर्ण कानून के सामने सिर नहीं झुकायेंगे। जिस सत्याग्रह महामन्त्र ने एक दिन अपनी अद्भुत सफलता से संसार को चकित कर दिया और जिसका शान्त धक्का खाकर ब्रिटिश साम्राज्य का संगीन किला अन्त में पछाड़ खाकर गिर पड़ा, उस

महामन्त्र का वह पहला वाचन था। १९४७ के अगस्त मास में जो महायज्ञ सफलतापूर्वक समाप्त हुआ, दक्षिण अफ्रीका के मुट्ठी-भर भारतवासियों का सत्याग्रह संकल्प उसका ओंकार था।

उस समय लगभग ८००० भारतीय उपनिवेश में विद्यमान थे। आर्डिनेंस लागू होने के पश्चात् छः मास तक सिरतोड़ यत्न करके सरकार ५०० से अधिक भारतीयों को रजिस्ट्रेशन के लिए राजी न कर सकी। गान्धीजी ने सविनय कानून-भंग की घोषणा कर दी और रजिस्ट्रेशन का प्रमाण-पत्र लिये बिना उपनिवेश में घुसने की चेष्टा की, जिस पर उन्हें गिरफ्तार करके जेल में भेज दिया गया। इस पर बोअर सरकार घबरा गई, और समझौते के लिए तैयार हो गई। समझौते की शर्तें लेखबद्ध नहीं की गई थीं, केवल मौखिक थीं। समझौते को दो शर्तें मुख्य थीं: पहली यह कि एशियाटिक ला रद्द कर दिया जायगा, और दूसरी यह कि भारतीय लोग इच्छापूर्वक रजिस्ट्रेशन करा लेंगे, यदि उसमें से अंगूठा लगाने आदि की अपमानजनक शर्तें निकाल दी जायंगी। महात्मा गान्धी ने उपनिवेश के प्रधान मंत्री मि० स्मट्स की बातों पर विश्वास करके न केवल सत्याग्रह स्थगित कर दिया, अपितु सब जगह घूमकर भारतीयों को नाम रजिस्टर करवाने की प्रेरणा भी की। उपनिवेश सरकार से असन्तुष्ट भारतीयों को रजिस्ट्रेशन के लिए राजी करना कितना कठिन था, इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि कई जगह महात्मा-जी को अपने देशवासियों का कठोर विरोध सहना पड़ा। एक बार तो कुछ लोगों ने उनपर आक्रमण भी कर दिया, जिसके फलस्वरूप गान्धीजी को कुछ समय तक चिकित्सालय में रहना पड़ा। समझौते के अपने हिस्से को पूरा करके गान्धीजी ने उपनिवेश को सरकार से मांग की कि वह एशियाटिक ला को रद्द कर दे, परन्तु जनरल स्मट्स ने साफ इन्कार कर दिया, और यह कहकर इन्सानियत के नाम पर कलंक का टीका लगा दिया कि हमने ऐसा कोई आश्वासन दिया ही नहीं था। इस पर भारतीयों का सत्याग्रह फिर जारी हो गया। इस बार सत्याग्रह का यह रूप था, कि यद्यपि भारतीयों के पास प्रमाण-पत्र थे, परन्तु जब उन्हें सरकारी अधिकारी दिखाने को कहते थे, तब वह नहीं दिखाते थे। यह जुर्म था, इस कारण थोड़े ही समय में लगभग ३५०० भारतीयों ने जेल जाना स्वीकार कर लिया; और जिन भारतीयों ने सब प्रकार की आर्थिक हानि उठाई, उनकी तो गणना करना ही सम्भव नहीं। महात्मा गान्धी ने हिसाब लगाया था कि उस आन्दोलन में भारतीयों की लगभग एक करोड़ रुपये की हानि हुई। श्रीयुत गोखले महोदय ने १९०९ ई० में लाहौर कांग्रेस के अवसर पर भाषण देते हुए बतलाया था कि १९०७ के सत्याग्रह युद्ध में लगभग एक सहस्र भारतीयों के घर उजड़ गए और परिवार बिखर गए। घर के पुरुषों के जेल चले जाने पर उनकी स्त्रियों और बच्चों को अकथनीय दुःख उठाने पड़े। यह संघर्ष लगभग तीन वर्ष तक जारी रहा। संघर्ष को समाप्त करने के कई यत्न किये गए। गान्धीजी स्वयं इंग्लैण्ड गये, और सेक्रेटरी आव स्टेट से मिले, परन्तु कोई परिणाम न निकला; क्योंकि जनरल स्मट्स ने स्पष्टरूप से कह

दिया कि वह किसी दशा में भी एशियाई लोगों को योरोपियनों के बराबर मानने को उद्यत नहीं।

इसी बीच में कुछ उदार अंग्रेज और पादरियों ने भारतीयों के पक्ष के समर्थन में अपनी आवाज उठाई, और क्रियात्मक सहयोग भी दिया। उनमें से मि० पोलक, और मि० सी० एफ० एण्ड्रूज़ के नाम विशेषरूप से स्मरणीय हैं। उन दोनों महापुरुषों ने केवल मौखिक सहानुभूति प्रकट करके ही सन्तोष नहीं किया, वे भारतीयों के पक्ष में बाहर की दुनिया के लोकमत को जगाने का भरसक यत्न करते रहे। वे भारतीयों के स्वाधीनता आन्दोलन के अवयव ही बन गए थे।

दक्षिण अफ्रीका की सरकार के अत्याचारों के प्रसंग में, अंग्रेजी और भारतीय सरकार से भारतवासियों को दो बड़ी शिकायतें थीं। एक शिकायत तो यह थी कि साम्राज्य के एक उपनिवेश में, साम्राज्य के अन्तर्गत दूसरे देश के निवासियों पर किये गए अत्याचारों को न रोककर ब्रिटिश साम्राज्य स्वयं अपराध का भागीदार बन रहा है। और दूसरी शिकायत यह थी कि यदि दक्षिण अफ्रीका की सरकार अपने अन्यायपूर्ण रवय्ये को नहीं बदलती, तो कम-से-कम उसके साथ 'जैसे को तैसा' का व्यवहार तो होना ही चाहिए। ऐसा न करके उपेक्षा का व्यवहार जारी रखना स्वयं अपराध है। भारतवासियों का कहना था कि यदि ब्रिटिश सरकार और अंग्रेजों की भारतीय सरकार साम्राज्य में भी भारतीयों की मान-रक्षा नहीं कर सकती तो उसे भारत पर शासन करने का कोई अधिकार नहीं।

सबसे अधिक दुःख की बात यह थी कि उधर तो भारतवासियों के आत्म-सम्मान पर चोट लगाई जा रही थी, और इधर भारत की सरकार भारतीय मज़दूरों की भर्ती करके दक्षिण अफ्रीका को रवाना कर रही थी। यहां से जो मजदूर भेजे जाते थे वे कठोर शर्तों में बंधे रहते थे, और वहां जाकर शीघ्र ही पछताने लगते थे।

इण्डियन नैशनल कांग्रेस दक्षिण अफ्रीका में बसे हुए भारतवासियों की दशा की ओर ब्रिटिश सरकार का ध्यान १८९४ से आकृष्ट करती आ रही थी। मद्रास के अधिवेशन में ब्रिटिश सरकार से प्रार्थना की गई थी कि वह उपनिवेश सरकार के मताधिकार-सम्बन्धी अन्यायपूर्ण प्रस्ताव को स्वीकार करने से इनकार कर दे। उसके पश्चात् प्रतिवर्ष कांग्रेस में दक्षिण अफ्रीका के सम्बन्ध में प्रस्ताव स्वीकार किये जाते रहे, परन्तु कांग्रेस के अन्य प्रस्तावों के साथ वह भी सेक्रेटरी आव स्टेट के रद्दीखाने में पड़े रहे। कांग्रेस के प्रस्तावों की भाषा परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती—कभी बिलकुल नर्म रहती थी, तो कभी कुछ गर्म हो जाती थी। यह दशा तब तक रही जब तक भारत की राजनीति अर्धजागृत दशा में रही, परन्तु ज्योंही १९०७-१९०८ में देश का राजनीतिक वातावरण गर्म हुआ, उपनिवेश-सम्बन्धी प्रस्तावों के भाव और भाषा में भी तीव्रता आने लगी। १९०८ में मद्रास के अधिवेशन में जो प्रस्ताव स्वीकार किया गया, उसमें उपनिवेशों की सरकारों के साथ-साथ ब्रिटिश साम्राज्य की उपेक्षा नीति की न केवल निन्दा की गई थी,

उन्हें गम्भीर चेतावनी भी दी गई थी। १९०९ में महात्मा गान्धी के नेतृत्व में उपनिवेश के भारतीय जन अपने अधिकारों के लिए जो अहिंसक युद्ध लड़कर संसार को चकित कर रहे थे, कांग्रेस के प्रस्तावों पर उसका भी प्रभाव पड़े बिना न रहा। इस समय जो परिस्थिति थी, उसे स्पष्ट करने के लिए हम लाहौर कांग्रेस का प्रस्ताव यहां उद्धृत करते हैं:

"यह कांग्रेस ट्रांसवाल के उन भारतीयों की—जिनमें मुसलमान और हिन्दू, पारसी और ईसाई सब शामिल हैं, गहरी देशभक्ति, साहस, और स्वार्थत्याग के प्रति अपना महान आदरभाव प्रकट करती है, जो अपने देश के हित की भावना से प्रेरित होकर, सरकारी अत्याचारों को वीरतापूर्वक सहन करते हुए अपने मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिए कठिनतम परिस्थितियों में शान्ति और त्यागपूर्वक संघर्ष कर रहे हैं।

"यह कांग्रेस मि० एम० के० गान्धी तथा उनके वीर और निष्ठावान साथियों को हार्दिक प्रोत्साहन देती हुई प्रत्येक जाति और धर्म के भारत-वासियों से अनुरोध करती है कि दक्षिण अफ्रीका के अधिकार-युद्ध में लड़ने-वाले वीरों की सहायता के लिए जो खोलकर आर्थिक सहायता दें। यह कांग्रेस मि० आर० टी० टाटा के प्रति आभार प्रदर्शन करती है, जिन्होंने दक्षिण अफ्रीका-कोष के लिए २५ सहस्र की राशि प्रदान की है।

"यह कांग्रेस भारत सरकार से मांग करती है कि वह दक्षिण अफ्रीका भेजने के लिए भारतीय मजदूरों की भर्ती एकदम बन्द कर दे; और ट्रांसवाल के गोरे निवासियों के साथ वैसा ही व्यवहार करे, जैसा वहां की सरकार भारतीयों के साथ करती है।

"यह कांग्रेस उत्तरदायी अंग्रेज राजनीतिज्ञों की उन घोषणाओं का घोर प्रतिवाद करती है, जिन्होंने ट्रांसवाल की सरकार के इस मन्तव्य का समर्थन किया है कि वहां की उस विभूति पर केवल गोरों का अधिकार होना चाहिए, जिसके विकास में भारतीयों तथा अन्य एशियाई लोगों का बराबरी का हिस्सा है। उस विभूति के उपभोग का सब ट्रांसवाल-निवासियों को समान अधिकार होना चाहिए।"

: २४ :

राष्ट्र में चौमुखी हलचल

एक बड़े लेखक ने लिखा है कि प्रत्येक महापुरुष अपने समय की उपज होने के साथ ही भावी समय का निर्माता भी होता है। वह अपने समय की परिस्थितियों से प्रभावित होता है, और भविष्य की परिस्थिति पर अपना प्रभाव छोड़ जाता

है। जो बात व्यक्ति के बारे में सत्य है, उसी को घटनाओं के बारे में भी सत्य मानना चाहिए। प्रत्येक बड़ी मानवी घटना फिर वह कोई आन्दोलन हो या उत्पात, उसका रूप शान्तिमय हो या हिंसात्मक—यदि वह सचमुच बड़ी घटना है तो वह न केवल कई व्यापक कारणों का परिणाम होती है, बल्कि कई व्यापक परिणामों का कारण भी बन जाती है।

सन् १९०६ में, कलकत्ता के कांग्रेस-पण्डाल में चार प्रस्तावों के रूप में एक छोटी-सी आग की चिनगारी ने जन्म लिया था, वर्ष-भर में वह इतनी फैली कि सूरत में स्वयं कांग्रेस का विशाल पण्डाल उसका शिकार बन गया। पुरानी कांग्रेस का जर्जर शरीर उन चार प्रस्तावों की धधकती हुई आग में स्वाहा हो गया।

अब हमें उस चिनगारी का वैज्ञानिक विश्लेपण करके यह देखना है कि उसमें ऐसा क्या जादू था कि उसने एक ही वर्ष में ऐसा उग्र रूप धारण कर लिया कि जिस घर में उत्पन्न हुई थी, उसी को जला दिया। हमारी दृष्टि अब तक राजनीतिक घटनाओं पर केन्द्रित रही है, इस कारण हम १९०६-१९११ के विशाल उत्थान के अन्य भौतिक पहलुओं पर ध्यान नहीं दे सके। अब हम उस उत्थान के चढ़ाव पर पहुंच गए हैं, इस कारण आवश्यक प्रतीत होता है कि कलकत्ता कांग्रेस के चार क्रान्तिकारी प्रस्तावों के विशाल रूप और देश पर उनकी प्रतिक्रिया पर भी दृष्टि-पात करें।

कलकत्ता कांग्रेस के क्रान्तिकारी प्रस्तावों के चार शीर्षक थे: (१) भारत के लिए स्वाधीन शासन (२) राष्ट्रीय शिक्षा (३) स्वदेशी (४) ब्रिटिश माल का बहिष्कार। स्थूल दृष्टि से देखने से प्रतीत होता है कि शायद ये प्रस्ताव बंग-विच्छेद के ही परिणाम थे, परन्तु वस्तुतः यह राष्ट्र की बदलती, और बदली हुई मनोवृत्ति के ही स्थूल रूप थे; देश बंग-विच्छेद से पहले ही राजनीति में भिक्षा-नीति से ऊब चुका था। लोकमान्य तिलक का यह वाक्य कि "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, और हम उसे लेकर रहेंगे" केवल उनके संकल्प का सूचक नहीं था, वह शिक्षित भारतवर्ष की हार्दिक भावना का सूचक भी था। वह भारतवासी भी जो ब्रिटिश सरकार से बनाये रखने की नीति का समर्थन करते थे, अन्तरात्मा में समझ रहे थे कि सदा ब्रिटिश राज्य के अंग बने रहना कांग्रेस का या राष्ट्र का अन्तिम ध्येय नहीं है। सर्वसामान्य भारतवासी स्वाधीनता की भाषा में सोचता था, उपनिवेश की भाषा में नहीं। वह नैसर्गिक वृत्ति से अब्राहम लिंकन की "जनता का राज्य, जनता द्वारा राज्य, और जनता के लिए राज्य" में विश्वास करने लगा था, चाहे वह लिंकन के शब्दों में उसे प्रकट न करता हो। उस समय देश की यह दशा थी कि राजनीतिक ध्येय और राजनीतिक आकांक्षा के सम्बन्ध में देश की शिक्षित जनता माडरेट दल की कांग्रेस और उसके संचालकों से बहुत आगे जा चुकी थी। बंग-विच्छेद ने केवल इतना किया कि जनता की भावना को, उछलकर, कांग्रेस के मंच तक पहुंचने का अवसर दे दिया। सरकारी ओहदों और कृपाओं की भिक्षा मांगने

की नीति को छोड़कर स्वाधीन शासन की मांग ललकार के साथ पेश करना उस मानसिक क्रान्ति का परिणाम था जो धीरे-धीरे राष्ट्र में घर कर रही थी।

दूसरा प्रस्ताव राष्ट्रीय शिक्षा-सम्बन्धी था। वह प्रस्ताव भी भारत के अन्तरिक्ष में पुच्छल तारे की तरह अकस्मात् नहीं टूट पड़ा था। देश में राष्ट्रीय शिक्षा का सूत्रपात बहुत पहले से हो चुका था। गुरुकुल कांगड़ी शायद पहला शिक्षणालय था, जो अंग्रेजी सरकार द्वारा संचालित शिक्षा-पद्धति और नियन्त्रण से सर्वथा पृथक् रहकर मातृभाषा द्वारा बालकों को राष्ट्रीय शिक्षा देता था। उसकी स्थापना, सन् १९०२ में हुई थी। वह १९०६ में काफ़ी विकसित हो चुका था। आदियार का नैशनल हाई स्कूल भी अपने ढंग का अनूठा शिक्षालय था, जिसमें शिक्षा को राष्ट्रीय रूप देने का यत्न किया गया था। समय में कुछ पीछे होने पर भी, कवि-मूर्धन्य डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर का शान्तिनिकेतन स्वतंत्र राष्ट्रीय शिक्षा का एक चमकता हुआ प्रदीप था। इन कुछ पुरानी स्वतंत्र शिक्षण संस्थाओं के अतिरिक्त दक्षिण में तिलक विद्यापीठ, बंगाल में नैशनल कालिज और पंजाब का तिलक स्कूल आव पालिटिक्स आदि नवजात संस्थाएं भी देश में उभरती हुई मानसिक क्रान्ति का परिचय दे रही थीं।

इन संस्थाओं के अतिरिक्त प्रत्येक प्रान्त में सरकारी पाठचक्रम के विरुद्ध जोरदार आवाज़ उठ रही थी। इस प्रसंग में ला० हरदयाल एम० ए० का नाम-स्मरण आवश्यक है। १९०६-१९०७ में ला० हरदयालजी ने पंजाब में सरकारी शिक्षा के विरुद्ध एक बवंडर-सा पैदा कर दिया था। उनकी लेखनी से निकले हुए लेख, और मुंह से निकले हुए वाक्य नौजवानों के हृदयों में तीर की तरह चुभ जाते थे, और उन्हें सरकार, सरकारी ढंग की शिक्षा और ईसाइयत के प्रति बाग़ी बना देते थे।

यहां लाला हरदयाल के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से लिखना आवश्यक है। शायद आधुनिक पीढ़ी उनके नाम को भी न जानती हो, क्योंकि अंग्रेजी सरकार उनके तेज को देर तक न सह सकी, और उन्हें बहुत जल्दी देश छोड़कर चले जाना पड़ा। जितने दिन वह देश में रहे, उग्र क्रान्ति के केन्द्र बने रहे, और विदेश जाकर भी जब तक जिये राष्ट्र की चिन्ता और सेवा में लगे रहे। उनका पंजाब के नवजीवन के निर्माण में विशेष हाथ था।


लाला हरदयाल

ला० हरदयालजी के तेजस्वी जीवन का परिचय देने के लिए हम ला० लाजपतराय की 'यंग इण्डिया' नामक पुस्तक का कुछ भाग उद्धृत करते हैं। इसे पढ़ते हुए यह ध्यान रखना चाहिए, कि जिस समय लालाजी ने वह पुस्तक लिखी थी उस समय ला० हरदयाल जीवित थे, और भारत से बाहर रहकर देशसेवा कर रहे थे।

"वह दिल्ली के एक कायस्थ परिवार में उत्पन्न हुए थे, और ईसाई स्कूल और ईसाई कालिज में ईसाई पादरियों के प्रभाव में रहकर उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। ग्रेजुएट बनने के समय वह 'यंग मैन्स क्रिश्चियन एसोसियेशन' के सदस्य थे। तब वह लाहौर आये, और गवर्नमेण्ट कालिज में वजीफा लेकर भर्ती हुए और १९०३ में एम० ए० परीक्षा में पहले नम्बर से पास हुए। उनका विषय 'अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी वाङ्मय' था। अंग्रेजी भाषा पर उनका ऐसा प्रभुत्व था कि कई पर्चों में उन्हें पूरे-पूरे अंक प्राप्त हुए थे। वह लाहौर में एक साल तक और रहे और इतिहास में एम० ए० की डिग्री प्राप्त की। इस सारे समय में उनके धार्मिक विचारों का झुकाव विश्वधर्म की ओर था—वह यदि कुछ थे तो ब्राह्म-समाजी थे, कट्टर हिन्दू या राष्ट्रवादी नहीं।

"इसके पश्चात् वह सरकार की छात्रवृत्ति लेकर शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैण्ड गये और आक्सफोर्ड के सेण्ट जौन्स कालिज में प्रविष्ट हुए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आक्सफोर्ड में भी उन्होंने अपनी योग्यता की धाक जमा दी, विशेष रूप से कहने योग्य बात यह है कि वहां वह राष्ट्रवादी बने। ला० हरदयाल उग्र भावनाओं के व्यक्ति हैं। वह जो मानते हैं, वही करते हैं; उनके विश्वास और क्रिया में कोई भेद नहीं। प्रतीत होता है कि (इंग्लैण्ड में) थोड़े ही समय में उनके विचारों में उफान-सा आ गया। उन्हें विश्वास हो गया कि अंग्रेज लोग हिन्दुओं के चरित्र का नाश कर रहे हैं, उनकी शिक्षा-सम्बन्धी नीति और तरीके हिन्दुत्व को क्षीण करने और उनकी सामाजिक चेतना और राष्ट्रीय व्यक्तित्व का नाश करके जाति को राजनीतिक दासता को लम्बायमान करनेवाले हैं।

"ला० हरदयाल ने ब्रिटिश शासन और भारत में ब्रिटिश संस्थाओं के इतिहास को (इंग्लैण्ड के पुस्तकालयों में रखे हुए) मौलिक सरकारी कागजों में पढ़ा था, जिससे वह इस परिणाम पर पहुंचे थे कि अंग्रेज लोग जान-बूझकर भारतवासियों का अंग्रेजीकरण कर रहे हैं, ताकि उनकी राष्ट्रीयता नष्ट हो जाय, और वे अंग्रेजों की सभ्यता को अपने से ऊंचा मानकर ब्रिटेन के अधीन रहना पसन्द करने लगें। वह इस परिणाम पर पहुंच गए थे, कि अंग्रेजों के शिक्षणालयों में पढ़ना, उनसे डिग्री प्राप्त करना या उन्हें शासक मानकर उनसे किसी प्रकार का लाभ उठाना बुरा है। हम कह चुके हैं कि उनके सोचने और करने में जरा भी अन्तर नहीं था। ज्योंही उनके मन में यह भाव उत्पन्न हुआ, उन्होंने सरकारी छात्रवृत्ति को लात मार दी, पढ़ना छोड़ दिया, और १९०७ के अन्त में स्वदेश लौट आये। भारत पहुंचने से पहले ही उन्होंने अंग्रेजी वेश और अंग्रेजी जीवन की अन्य सब विशेषताओं का परित्याग कर दिया। देसी जूता पहिन लिया, देशी टोपी, कुर्त्ता, पायजामा (धोती) और देशी शाल में रहने लगे। उन्होंने मुसलमानों और ईसाइयों से मिलना तक छोड़ दिया।. . . .उन दिनों उनका सिद्धान्त यह था कि ब्रिटिश सरकार और

ब्रिटिश संस्थाओं का पूर्ण बहिष्कार किया जाय। वह पवित्रता का जीवन व्यतीत करते थे, और चाहते थे कि अन्य लोग भी वैसा ही करें।"

जिन दिनों ला० हरदयाल इस मानसिक अन्तरिक्ष में विचरण कर रहे थे, उन दिनों लेखक को भी उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लालाजी गुरुकुल में कई सप्ताह तक रहे थे। ईसाइयत और सरकारी शिक्षा के विरुद्ध उन्होंने जो कठोर आलोचनात्मक लेख लिखकर लाहौर के 'पंजाबी' अख़बार में प्रकाशित करवाये थे, उनमें से अधिकतर गुरुकुल में ही लिखे गए थे। उनका शरीर बहुत हल्का-फुल्का-सा था, परन्तु चेहरा और आंखें मानो प्रतिभा और तेज के ख़ज़ाने थे। वह गुरुकुल में प्रायः धोती और कुर्ता पहिनकर नंगे पांव घूमा करते थे। मेज-कुर्सी लगाकर लिखने-पढ़ने से उन्हें घृणा हो गई थी, इस कारण चटाई पर बैठकर और सामने रखी हुई चौकी पर कागज़ रखकर धाराप्रवाह लिखा करते थे। हम छात्र लोग सामने बैठकर उस चमत्कारपूर्ण लेखनी की गति को देखा करते थे। वह न कहीं रुकती थी, और न डावांडोल होती थी। पृष्ठ-पर-पृष्ठ लिखे जाते थे, परन्तु एक अक्षर भी काटना या बदलना न पड़ता था। उद्धरणों के लिए भी रुकने की आवश्यकता नहीं होती थी, क्योंकि वे प्रायः स्मृतिपट पर से उतार-कर ही कागज पर रखे जाते थे। उन दिनों उन्हें देखकर पुराने मुनि याद आ जाते थे। बोलते बहुत जल्दी थे, और प्रश्नों का उत्तर तुरन्त देते थे। कम-से-कम मैंने अपने सारे जीवन में उनसे बढ़कर या उनके समान तीक्ष्ण प्रतिभावाला व्यक्ति नहीं देखा।

ला० हरदयालजी का वृत्तान्त कुछ विस्तार से देने के दो प्रयोजन हैं। पहला, देश के एक वीर पुत्र के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना, और दूसरा यह बतलाना कि उस समय भारतीय राष्ट्र की मनोवृत्ति किस प्रकार बदल रही थी। परिवर्तन का जो क्रम हमने ला० हरदयालजी के जीवन में बतलाया है, लगभग वही सारे राष्ट्र में व्याप्त हो रहा था। देश की मनोवृत्ति में अंग्रेज, अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी-पन के प्रति गहरी अश्रद्धा, और कहीं-कहीं घृणा के भाव प्रकट हो रहे थे। उस युग में लाला हरदयालजी भारत में होती हुई मानसिक क्रान्ति के शरीरधारी रूप बने हुए थे।

कलकत्ता कांग्रेस का तीसरा प्रस्ताव स्वदेशी के समर्थन में था। यद्यपि सामान्य रूप से उस समय की बातचीत या लेखों में 'स्वदेशी' से स्वदेशी वस्तुओं और विशेष रूप से स्वदेशी वस्त्रों का ही अर्थ ग्रहण किया जाता था, परन्तु वस्तुतः 'स्वदेशी' शब्द का दायरा बहुत विस्तृत था। लोगों का ध्यान सभी विदेशी वस्तुओं, संस्थाओं और रीति-रिवाजों से हटकर 'स्वदेशी' प्रेम की ओर झुक रहा था। कलकत्ते की कांग्रेस के चौथे नवयुग-सूचक प्रस्ताव में ब्रिटिश माल के बहिष्कार की प्रेरणा की गई थी। वह प्रस्ताव वस्तुतः स्वदेशीवाले प्रस्ताव का ही उग्र रूप और उत्तरार्ध था। वह उस तीव्र रोष का स्थूल रूप था, जो बंग-विच्छेद और सरकार के अन्य दमन-रूपी कार्यों के कारण देश में उत्पन्न हो गया था।

हमने ऊपर लिखा है कि कलकत्ता में जो प्रस्ताव स्वीकार किये गए, वे सन् १९०६ की आकस्मिक उपज नहीं थे। उनके लिए क्षेत्र पहले से तैयार हो चुका था। कलकत्ता में तो उन्हें केवल निश्चित और प्रत्यक्ष रूप मिला। हां, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कलकत्ते के प्रस्तावों ने उन पहले से आरम्भ हुए मानसिक और सामाजिक परिवर्तनों को पुष्कल बल पहुंचाया और उनकी प्रगति को बहुत तेज कर दिया। हम कह सकते हैं कि सन् १९०९ का भारतवर्ष सन् १९०५ के भारतवर्ष से बहुत भिन्न था, वह अधिक जाग्रत, अधिक राष्ट्रीय और सुधारों के लिए अधिक उद्यत हो गया था।

: २५ :

मि० मार्ले की दुरंगी नीति

हम यह बतला आये हैं कि ईमानदार जान मार्ले की नियुक्ति किस प्रकार भारतीयों की आशाओं के लिए मृग-मरीचिका साबित हुई। आगे चलकर मार्ले महोदय ने लार्ड मिंटो के साथ मिलकर शासन-सुधार के सम्बन्ध में नया रास्ता निकालने का प्रयत्न किया। उन दोनों के नाम से जो 'मिण्टो-मार्ले-सुधार' प्रसिद्ध हैं, वे उदार दार्शनिक मि० मार्ले की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति कही जाती है। उन पर सम्मति देने से पूर्व उनका संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वे पूरे सुधार न होकर फुटकर सुधारों के कुछ टुकड़े थे, जिनमें से कुछ विगाड़ भी थे। सुधारों के टुकड़े निम्नलिखित थे:

(१) वायसराय की कार्यकारिणी समिति (Executive council) में एक भारतीय सदस्य को ले लिया गया। मद्रास और बम्बई की कार्यकारिणी समिति में सदस्यों की संख्या बढ़ाकर ४ कर दी गई। बंगाल में कार्यकारिणी समिति बना दी गई, और बिहार और उड़ीसा को अलग प्रान्त घोषित किया गया। वायसराय की कार्यकारिणी की सदस्यता श्री सत्येन्द्र प्रसाद सिनहा (लार्ड सिनहा आव रायपुर) को सौंपी गई।

(२) विधान सभाओं के (legislative council) संविधान में भी कुछ परिवर्तन किये गए। केन्द्रीय विधान सभा की सदस्य संख्या १६ से बढ़ाकर ६० कर दी गई। इनमें से न्यून-से-न्यून २८ का सरकारी सदस्य होना आवश्यक था। इन २८ के अतिरिक्त वायसराय को विशेष हितों के प्रतिनिधि के रूप में ३ सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार दे दिया गया। इस प्रकार ६० में से ३१ मत सुरक्षित करके केन्द्रीय विधान सभा में सरकारी बहुमत रखने की स्थिर व्यवस्था कर ली गई।

(३) इन काल्पनिक सुधार के टुकड़ों को बीच में मिलाकर फूट की विषैली

गोलियां इस रूप में डाल दी गई थीं, कि जनता उन्हें चुपचाप गले के नीचे उतार ले। ५ बड़े प्रान्तों के मुसलमानों को, ७ प्रान्तों के जागीरदारों को, और २ प्रान्तों को व्यापारिक संस्थाओं को अपने प्रतिनिधि भेजने का विशेष अधिकार दिया गया। इस एक ही तीर में मिण्टो-मार्ले सुधार ने दो पक्षी मार दिये। एक ओर मुसलमानों को अलग चुनाव का अधिकार देकर साम्प्रदायिकता के उस विषवृक्ष को जन्म दिया, जिसका अन्तिम फल भारत का विभाजन और पाकिस्तान का निर्माण हुआ, और दूसरी ओर उसने जागीरदारों और व्यापारियों को विशेषाधिकार देकर वर्गयुद्ध को जन्म दिया। बड़े प्रान्तों के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों के सदस्यों की संख्या ५० तक बढ़ा दी गई। उनमें भी यह ध्यान रखा गया कि मनोनयन और विशेषाधिकार द्वारा सभाओं में सरकारी बहुमत सुनिश्चित रहे।

(४) विधान सभाओं के अधिकारों के सम्बन्ध में विशेष रूप से नोट करने योग्य बात यह थी कि सभाओं के सदस्यों को बजट तथा अन्य विषयों पर प्रस्ताव पेश करने और उन पर बहस करने का ही अधिकार था, उनके निश्चय माने जायं या नहीं, यह सरकार की इच्छा पर अवलम्बित था। उनके प्रस्तावों की सिफारिशों से अधिक कोई कीमत नहीं थी; सेना, विदेशों से सम्बन्ध और रियासतों के बारे में सदस्यों को प्रस्ताव पेश करने का भी अधिकार नहीं था।

कुछ अंग्रेजों ने उन अधूरे और विषभरे शासन-सुधारों का भी भरसक विरोध किया, क्योंकि उनकी सम्मति थी कि वे सुधार क्रान्तिकारी हैं। लार्ड मार्ले ने (मि० जान मार्ले अब लार्ड मार्ले बन गए थे) उनकी आशाओं को मिटाने के लिए अपने भाषण में निम्नलिखित शब्द कहे थे :

"यदि यह कहा जा सकता कि सुधारों की यह किश्त सीधे अथवा टेढ़े तरीके से भारतवासियों को पार्लियामेण्टरी ढंग के शासनाधिकार प्रदान करती है, तो कम-से-कम मेरा तो इसके साथ कोई सम्बन्ध न होता।"

लार्ड मार्ले ने एक तरह से यह मान लिया था कि वह उन सुधारों को जनतांत्रिक शासन (Democratic Government) की पहली किश्त नहीं समझते, अपितु केवल पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियों के आंसू पोंछने का एक उपाय मानते हैं।

शासन-सुधारों में, मुसलमानों को विशेष मताधिकार दिये जाने की भी एक कहानी है। सरकार की ओर से प्रकट किया गया था कि सर आगाखां की अध्यक्षता में जो शिष्टमण्डल १ अक्तूबर १९०६ को शिमले में लार्ड मिण्टो से मिला था, उसके आग्रह पर सरकार को चुनाव-सम्बन्धी विशेषाधिकार देने पड़े, परन्तु पीछे से लार्ड मिण्टो की डायरी के जो उद्धरण प्रकाशित हुए, उनसे स्पष्ट सिद्ध हो गया कि वह शिष्टमण्डल सरकार के इशारे का ही परिणाम था। मि० रैम्से मैक्डानल्ड (जो पीछे से इंग्लैण्ड के पहले मजदूर प्रधानमंत्री बने) ने अपनी भारतीय जागरण-सम्बन्धी पुस्तक में लिखा था :

"मुसलमान नेताओं को कुछ ऐंग्लो-इण्डियन अफसरों ने उकसाया है, और यही अफसर शिमले और लन्दन में भी तार हिलाकर कठपुतलियों को नचा रहे हैं। इनका उद्देश्य मुसलमानों को विशेष रियायतें देकर हिन्दू-मुसलमानों में फूट पैदा करके अपने दिल की भड़ास निकालना है।"

विशेष रूप से स्मरणीय बात यह है कि जिस वर्ष मुसलमानों का डेपुटेशन लार्ड मिण्टो से मिला, उसी वर्ष ढाका में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई, जिसका इंग्लैण्ड के समाचारपत्रों में हार्दिक स्वागत किया गया। मुस्लिम लीग के उत्तर में हिन्दू महासभा की स्थापना भी शीघ्र ही हो गई। इस प्रकार लार्ड मार्ले और लार्ड मिण्टो की सद्भावनाओं ने भारत में वह विद्वेषाग्नि प्रज्वलित की, जिसका अन्तिम परिणाम देश का विभाजन और करोड़ों देशवासियों के सर्वस्व-नाश के रूप में प्रकट हुआ।

भारत को लार्ड-युगल की दूसरी देन थी प्रेस ऐक्ट। यह सचमुच नये सुधारों की असलीयत प्रकाशित करनेवाली महत्वपूर्ण बात थी, कि नई सुधरी हुई (?) कौंसिलों में जो सबसे पहला कानून पास हुआ, वह समाचारपत्रों का गला घोंटने-वाला '१९१० का प्रेस ऐक्ट' था। कहते हैं कि व्हाईट हाल मे प्रेस बिल का जो मसविदा भेजा गया था, वह बहुत सख्त था। उस समय कानून सदस्य मि० एस० पी० सिन्हा ने उसे पेश करने से इनकार कर दिया और त्यागपत्र की धमकी दी, तब सरकार ने बिल को कुछ नर्म कर दिया। नर्म होकर भी वह इतना कठोर रहा कि श्रीयुत गोखले तथा अन्य भारतीय सदस्यों ने रूस के तानाशाही कानूनों से तुलना करते हुए उसका घोर विरोध किया। परन्तु विरोध व्यर्थ गया, क्योंकि कौंसिलों की रचना ही ऐसी हुई थी कि उनमें सरकारी सदस्यों का स्थिर बहुमत बना रहे।

मिण्टो-मार्ले रिफार्म न केवल अपर्याप्त थे, वे देश के लिए उस समय हानि-कारक और साम्प्रदायिकता को बढ़ाकर अन्त में घातक सिद्ध हुए। स्वयं मार्ले का कहना था कि उन सुधारों को जनतंत्रात्मक शासन की किश्त समझना भूल है। ऐसी दशा में यह देखकर आश्चर्य होता है कि १९०९ में, लाहौर में, कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, उसमें रिफार्म-सम्बन्धी प्रस्ताव का आरम्भ मिण्टो और मार्ले के गुण-वर्णन से किया गया; और सुधारों को 'आगे कदम' के नाम से विशेषित किया गया। प्रस्ताव के निर्माण के समय वर्तमान पर अधिक और भविष्य पर कम दृष्टि रखी गई थी। रिफार्म स्कीम के दोष मानते हुए भी उनका स्वागत किया गया था। वस्तुतः वह विष-मिश्रित अमृत नहीं—केवल विषैला जल था। उसे उस समय के भारतीय राजनीतिज्ञ अमृत का पहला घूंट समझ कर पी गए; यह उतना उनका व्यक्तिगत दोष नहीं था।जितना समय का उस समय तक भारतवासियों के हृदय में परोक्ष रूप से यह विश्वास विद्यमान था कि अंग्रेज चाहे ऊपर से कैसा ही दिखाई दे, अन्दर से वह जनतंत्रात्मक पद्धति का प्रेमी, स्वतंत्रता का पक्षपाती और ईमानदार है।

: २६ :

बंग-विच्छेद रद्द हुआ

लार्ड कर्ज़न ने बंग-विच्छेद और अन्य तानाशाही कार्यों की दियासलाई लगाकर, देश में जो अग्नि प्रज्वलित की थी, लार्ड मार्ले और मिण्टो ने उसे पानी और तेल के मिले हुए छींटें डालकर बुझाने का यत्न किया, परन्तु वह बुझने की जगह और भी अधिक उग्र हो उठी। देश में बेचैनी तीव्र वेग से बढ़ती गई, जो आतंक की घटनाओं द्वारा प्रकाशित होती रही। दमनकारी कानूनों ने अशान्ति को दबाकर और घनीभूत कर दिया, और प्रेस ऐक्ट की कैंची से समाचारपत्रों की जीभ कटने की जगह और नुकीली हो गई।

अंग्रेज जाति के स्वभाव की यह विशेषता है कि वह कभी किसी एक ही मार्ग का अवलम्बन करके देर तक बन्द आंखों से एक ही ओर भागना पसन्द नहीं करती। समय और परिस्थिति के अनुसार नीति में परिवर्तन करके, आवश्यक होने पर बात को वापिस लेने, या मान-अपमान के झगड़े में न पड़कर, मूंछ नीची करने में उसे कोई संकोच नहीं होता। इंग्लैण्ड का राजनीतिक फैलाव इतनी देर तक चलता रहा, इसका मुख्य कारण यही था। अंग्रेज सदा राजनीति में पूरे उपयोगितावादी रहे हैं, और अब भी हैं। जब ब्रिटेन के देवताओं ने देखा कि भारत में न कर्ज़न की दण्ड-नीति सफल हुई, और न मार्ले की भेद-नीति, तब उन्होंने साम का आश्रय लिया। लार्ड मिण्टो के स्थान पर गवर्नर जनरल के पद पर लार्ड हार्डिंज को नियुक्त किया गया। लगभग उसके साथ ही भारत मन्त्री भी बदल गया। लार्ड मार्ले की जगह भारत मन्त्री की गद्दी पर लार्ड क्र्यू को बिठाया गया।

इस परिवर्तन के पश्चात् जिस प्रकार का घटनाचक्र चला, उससे यह अनुमान लगाना अनुचित नहीं है कि लार्ड हार्डिंज को असन्तोष की आग पर ठण्डा पानी डालने के लिए भेजा गया था। परन्तु उस समय देश की जैसी विक्षुब्ध अवस्था थी, उसे केवल मीठी बातों या छोटी-मोटी रियायतों से शान्त करना कठिन था। इस कारण, प्रयोजन की सिद्धि के लिए, सरकार को पूरा द्राविड़ प्राणायाम करना पड़ा, जिस पर इंग्लैण्ड और भारत का मिलाकर करोड़ से कम रुपया व्यय न हुआ होगा।

१९१० में सातवें एडवर्ड की मृत्यु के पश्चात् इंग्लैण्ड की राजगद्दी पर पंचम जार्ज आरूढ़ हुए। ब्रिटेन की सरकार ने निश्चय किया कि पंचम जार्ज सम्राट्-पद को स्वयं भारत जाकर अपनी प्रजा के मध्य में ग्रहण करें। इस उद्देश्य से दिल्ली में विराट् दरबार की योजना की गई। महाराज पंचम जार्ज अपने लम्बे-चौड़े लाव-लश्कर को लेकर भारत में आये और १२ दिसम्बर को, ८० हजार के लगभग दर्शकों की उपस्थिति में सम्राट्-पद को धारण किया। उस अवसर पर निम्नलिखित कार्य किये गए:

(१) कुछ लोगों को जमीनें बांटी गईं।
(२) सिपाहियों और निचले दर्जे के सरकारी नौकरों को एक महीने का वेतन इनाम के रूप में दिया गया।
(३) शिक्षा के लिए ५० लाख रुपया दिया गया।
(४) यह सूचना दी गई कि भविष्य में भारतवासी भी विक्टोरिया क्रास पा सकेंगे।

इन छोटे-छोटे उपहारों के पश्चात् कुछ महत्त्वपूर्ण घोषणाएं आईं, जो निम्न-लिखित थीं :

(१) भारत की राजधानी कलकत्ते से उठकर दिल्ली लायी जायगी।
(२) बंग-विच्छेद को रद्द करके बंगाल को अलग प्रान्त बना दिया जायगा, जिसका गवर्नर अलग होगा।
(३) बिहार, उड़ीसा और छोटा नागपुर को मिलाकर एक पृथक् प्रान्त बनाया जायगा।
(४) और आसाम फिर से चीफ कमिश्नर का प्रान्त हो जायगा।

सरकार ने इन महत्त्वपूर्ण घोषणाओं को ऐसा गुप्त रखा था कि इंग्लैण्ड के समाचारपत्रों ने भी इन्हें बड़े आश्चर्य से सुना। भारत में इन घोषणाओं से सन्तोष और प्रसन्नता की एक लहर-सी दौड़ गई, और गोरे क्षेत्रों में गहरा मातम छा गया। जिस बंग-विच्छेद पर लार्ड कर्ज़न को बड़ा नाज़ था, और जिसे लार्ड मार्ले-जैसे उदार कहलानेवाले ऊंचे अधिकारी ने 'अटल सत्य' कह दिया था, वह टल गया, और टल भी गया सम्राट् के मुंह से, जिससे अंग्रेज विरोधियों के मुंह पर ताले लग गए। गोरे पत्रों और टोरी राजनीतिज्ञों ने इन घोषणाओं की काफी आलोचना की, परन्तु सामान्य रूप से अंग्रेज़ जाति की अपने राजा के प्रति भक्ति इतनी प्रबल है कि वह आलोचना बहुत ही संयत थी, यहां तक कि होठों तक ही रही, अधिक दूर नहीं जाने पाई।

सामान्य रूप से भारतवासी राजधानी के दिल्ली में आने, और बंगाल के टुकड़ों के फिर मिल जाने से बहुत प्रसन्न हुए। एक बार तो देश में, थोड़ी देर के लिए, सम्राट् के प्रति वास्तविक भक्ति की भावना उत्पन्न होती दिखाई दी। जनता पर यह प्रभाव पड़ा कि देश पर जो अत्याचार होते हैं, उनके लिए नौकरशाही ज़िम्मेवार है, सम्राट् तो भारत की प्रजा का भला-ही-भला चाहते हैं। सम्राट् के भारत में आकर बंग-विच्छेद को मिटा देने से, देश की राजनीति के सुधारक दल को बहुत-कुछ सन्तोष हो गया। राजधानी को कलकत्ते से उठाकर दिल्ली ले जाने से बंगालियों के हृदयों में जो रोष उत्पन्न होता, उसे बंग-विच्छेद के रद्द होने की शीतलता ने शान्त कर दिया। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि राष्ट्र की सभी श्रेणियों के लोग सन्तुष्ट हो गए। कांग्रेस के बाहर और अन्दर भी, बहुत पहले से, ऐसे दल बन चुके थे, जो अंग्रेजी वायदों और अंग्रेजी आश्वासनों पर विश्वास करना सर्वथा छोड़ चुके थे। सूरत के कांग्रेस-भंग ने यह बात सर्वथा स्पष्ट कर दी

थी कि देश की राजनीतिक बेचैनी बहुत गहरी जा चुकी है—जिससे यह आशा लुप्त होती जा रही है, कि अंग्रेजों के यहां रहते भारत का कल्याण हो सकता है। आशा का लोप ही आतंकवाद का बीज होता है। डेढ़ सदी के अंग्रेजो शासन ने, देश में नवयुवकों का ऐसा दल उत्पन्न कर दिया था, जिसे यह विश्वास हो चुका था कि, भारत का श्रेय क्रान्ति में है, सुधार में नहीं। दिल्ली का दरबार, बादशाह का नाम, और बंग-विच्छेद का अन्त भी उनके हृदयों को न छू सका। दो वर्ष पश्चात्, जब १९१२ के दिसम्बर मास में, नई राजधानी के मुख्य बाज़ार में से, औपचारिक प्रवेश के अवसर पर, लार्ड हार्डिज की सवारी हाथी पर निकल रही थी, तब उस पर किसी ने बम फेंका, जिससे वायसराय के शरीर पर कई आघात हो गए। उस बम-प्रहार पर भारत के प्रायः सभी राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं ने हार्दिक दुःख प्रकट किया, जो उचित ही था; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उस बम-विस्फोट ने इंग्लैण्ड को एक चेतावनी भी दे दी। चेतावनी यह थी कि देश के घाव साधारण मरहम से भरने-वाले नहीं हैं, उनके लिए पूरे हृदय-परिवर्तन और साथ ही दृष्टिकोण में परिवर्तन की भी आवश्यकता है।

लार्ड हार्डिज अपनी उदार प्रकृति के लिए प्रसिद्ध था। उसे भारत की अशान्ति पर ठण्डा पानी डालने के ही लिए भेजा गया था। यदि कोई संकुचित मनोवृत्ति का व्यक्ति होता तो बम-घटना से विक्षुब्ध होकर कठोरता का मार्ग अंगीकार कर लेता, परन्तु यह प्रशंसा के योग्य बात थी कि उसने अपने मन पर मैल नहीं आने दी और जिस नीति को लेकर भारत में आया था, उसे अन्त तक निभाया। १९१३ में जब दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों ने महात्मा गान्धी के नेतृत्व में सत्याग्रह-संग्राम का बिगुल बजाकर वहां की गोरी सरकार की जेलें भर दी थीं, तब लार्ड हार्डिज ने अपने भाषण में सत्याग्रहियों के साथ सहानुभूति प्रकट करके काफी निर्भीकता का परिचय दिया था; क्योंकि साधारण अंग्रेजों की दृष्टि में, दक्षिण अफ्रीका के गोरों के मुकाबले में, काले भारतवासियों के पक्ष का समर्थन करना भी एक अक्षम्य अपराध था। ऐसा अपराध करने के कारण विलायत और भारत के गोरे समाचारपत्रों ने लार्ड हार्डिज को आड़े हाथों लिया था, परन्तु उस समय उस भाषण का अच्छा असर हुआ। कुछ समय पीछे महात्मा गान्धी से जनरल स्मट्स का जो समझौता हुआ, लार्ड हार्डिज के भाषण से उसमें सहायता मिली, क्योंकि जनरल स्मट्स ने यह समझा कि जब भारत का अंग्रेज वायसराय भी भारतवासियों के पक्ष के समर्थन में बोलता है तो इंग्लैण्ड की सरकार का झुकाव उसी ओर होना चाहिए।

१९१३ में, महात्मा गान्धी ने, गोरे शासकों के अन्याय के विरुद्ध जो सत्याग्रह चालू किया था, वह उससे पूर्व के सत्याग्रहों से अधिक व्यापक और उग्र था। श्रीयुत गोखले ने, उस अवसर पर, इंग्लैण्ड और भारत की सरकार के अतिरिक्त भारत-वासियों के सम्मुख दक्षिण अफ्रीका के मामले का स्पष्ट विवेचन करके, ऐसा वाता-वरण उत्पन्न कर दिया था कि जनरल स्मट्स-जैसे दुराग्रही व्यक्ति को भी समझौते के लिए तैयार हो जाना पड़ा। महात्मा गान्धी अपने हृदय की सत्यता के कारण

जनरल स्मट्स की सत्यता पर विश्वास करके भारत चले आये, परन्तु दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने, शीघ्र ही, समझौते को फाड़कर रद्दी की टोकरी में डाल दिया, और अपने अन्यायपूर्ण मार्ग पर अटल होकर चलती रही।

: २७ :

योरप का पहला महायुद्ध और भारत

जब १८७१ में, प्रशिया के नेतृत्व में, जर्मनी की सम्मिलित सेनाओं ने नैपोलियन तृतीय को परास्त करके नैपोलियन-युग को समाप्त कर दिया था, और बर्लिन में एकत्र होकर योरप के अधिकतर शक्तिशाली देशों के प्रतिनिधियों ने युद्ध की समाप्ति पर सन्धि की मुहर लगा दी थी, तब समझा गया था कि योरप लड़ाई के रोग से मुक्त हो गया है, और अब चिरकाल तक शान्ति का राज्य रहेगा। देखने में युद्ध समाप्त हो गया था, परन्तु वस्तुतः अन्दर-ही-अन्दर पूर्ववर्ती युद्धों से भी अधिक भयानक युद्ध की तैयारी प्रारम्भ हो गई।

इस नई तैयारी का मूल कारण उससे पूर्व की संग्राम-सज्जाओं से कुछ भिन्न था। जब तक योरप में राजाओं और राजवंशों की प्रधानता रही, युद्ध राजाओं की ख्याति में चार चांद लगाने या शक्ति को बढ़ाने के लिए किये जाते थे। १९वीं शताब्दी के अन्त में, योरप की राजनीति में, एक नई शक्ति ने अवतार लिया—वह थी राष्ट्रीयता की शक्ति। इटली की स्वाधीनता और जर्मन रियासतों की एकता राष्ट्रीयता की उग्र भावना के परिणाम तो थे ही, उसकी पुष्टि के कारण भी बने। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में, पश्चिम की राजनीति का स्थायीभाव 'राष्ट्रीयता' हो गया था।

प्रारम्भ में राष्ट्रीयता की भावना ने पराधीनता और अनेकता के विरोध में जन्म लिया था। इटली-जैसे देश पराधीन थे, वे राष्ट्रीयता का अमृत पीकर स्वतंत्र हो गए। जर्मनी की रियासतें आपस में लड़कर इतनी निर्बल हो गई थीं कि जो पड़ोसी देश चाहता उन्हें कुचल देता था। वह राष्ट्रीयता का औजार ही था, जिससे काम लेकर फ्रेडरिक दि ग्रेट और प्रिंस बिस्मार्क ने एक जर्मन साम्राज्य का निर्माण कर दिया। जर्मनी की बढ़ी हुई शक्ति का पहला परिणाम यह हुआ कि फ्रांस में नैपोलियन-युग समाप्त होकर, गणतंत्र की स्थापना हो गई, और दूसरा परिणाम यह हुआ कि योरप के प्रायः सभी देशों में अत्यन्त उग्र रूप में 'राष्ट्रीयता' का प्रचार हो गया।

राष्ट्रीयता का उग्र रूप उसके प्रारम्भिक रूप से बहुत भिन्न था। प्रारम्भ में राष्ट्रीयता का भाव स्वाधीनता और एकता का प्रतीक बनकर आया था, परन्तु जर्मनी की असाधारण सफलता ने उसे आक्रामक रूप दे दिया। पहले युग में

राजा लोग अभिधा में कहा करते थे कि विजय प्राप्त करना हमारा धर्म है। नये युग में विजय का उद्देश्य यह कहा जाने लगा कि व्यापार की वृद्धि के लिए राष्ट्र के प्रभाव-क्षेत्र का विस्तृत होना आवश्यक है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में युद्ध का पागलपन, योरप के देशों में, राष्ट्रीयता का बाना पहिनकर अवतीर्ण हुआ।

उस पागलपन से कोई देश बचा न रहा। उस समय का योरप का इतिहास इस बात का साक्षी है कि न्यूनाधिक रूप में सभी राष्ट्र उग्र राष्ट्रीयता से प्रभावित थे। पहले महायुद्ध के कारणों का विवेचन करते हुए प्रायः जर्मनी को एकमात्र अपराधी करार दिया जाता है। इसमें कुछ सत्य भी है, क्योंकि फ्रांस पर जर्मनी की पूर्ण विजय ने ही पश्चिम में राष्ट्रीयता के उन्माद को जन्म दिया था, और जर्मनी में उन्माद के लक्षण अन्य सब राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक उग्र रूप में विद्यमान भी थे; परन्तु फिर भी यह समझना भूल है कि केवल जर्मनी रोगाक्रान्त था, और अन्य सब देश नीरोग थे।

उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के आरम्भ में इंग्लैण्ड में जो राजनीतिक विचारधारा चल रही थी, वह कुछ कम भयानक नहीं थी। वहां के दार्शनिक और लेखक ऐंग्लो-सैक्सन जाति के गुण गाते नहीं थकते थे।

यूरोप के अन्य देश अपनी-अपनी जातियों को संसार-भर से बड़ा और अलग मानकर अभिमान की बातें करते थे। यह देखकर उनकी नकल में अंग्रेजों ने भी एक 'ऐंग्लो-सैक्सन' जाति का नाम गढ़ लिया, और उसकी प्रशस्तियों का गान करने लगे। उन्होंने जर्मनी की गर्म राष्ट्रीयता की प्रतिद्वन्द्विता में ऐंग्लो-सैक्सन राष्ट्रीयता का आविष्कार करके अमरीकनों को भी उसमें लपेटने का यत्न किया। ब्रिग्ज़ और किप्लिंग-जैसे कवियों ने भाटों की तरह ऐंग्लो-सैक्सनों का राग अलापकर न केवल अंग्रेजों के प्रायः सन्तुलित रहनेवाले हृदयों को गर्व-भरे तरानों से विचलित कर दिया, भारतवासियों को भी यह अनुभव कराकर विक्षुब्ध कर दिया कि अंग्रेज हमें अपना पैदायशी गुलाम समझते हैं।

इटली की स्वाधीनता अभी नई थी, तो भी वहां के राजवंश की साम्राज्य-भावनाएं मरी नहीं थीं। उसने टर्की से युद्ध ठान लिया, और तब तक चैन न ली, जब तक त्रिपोली को उससे छीनकर अपने साम्राज्य में न मिला लिया।

१८७१ की पराजय ने फ्रांस की कमर तोड़ दी थी, परन्तु उसके हृदय में जर्मनी के प्रति प्रतिहिंसा की भावना निरन्तर सुलग रही थी। वह जर्मनी का मित्र बनने की जगह उसके शत्रुओं से गुटबन्दी करके बदला लेने के मनसूबे बांध रहा था। यह छुपे साम्राज्यवाद का रोग संक्रामक होकर इतना व्यापक हो गया था कि बिलकुल अलग-थलग पड़ा हुआ अमरीका भी उससे न बच सका। १८९८ में अमरीका ने युद्ध द्वारा क्यूबा, पोर्टोरिको और फिलिपाइन द्वीपों पर अपना अधिकार जमा लिया। ये द्वीप अमरीका से बहुत दूर थे। जापान के समीप के समुद्रों में होने के कारण अमरीका का उन पर अधिकार होने से स्वाभाविक ही था कि जापान के राजनीतिज्ञ चिन्तित होते। अमरीका और जापान की उस घोर प्रतिद्वन्द्विता

की बुनियाद वहीं से पड़ी, जो दूसरे महायुद्ध में ऐसे भीषण और खूनी रूप में प्रकट हुई।

रूस का जार तो उस समय घोर साम्राज्यवाद और विजय-कामना का जाज्वल्यमान प्रतिनिधि माना जाता था।

जर्मनी उस युग का कुलगुरु बना हुआ था। उसकी राष्ट्रीयता में जवानी का मद तो था ही, भाग्यवश उसे शासक भी ऐसा मिल गया कि उसने मानो करेले पर नीम का पुट चढ़ा दिया। कैसर विलियम एक शानदार जर्मन के रूप में मानो अपने देश का दुर्दैव बनकर उत्पन्न हुआ था। वह १८८८ में सिंहासनारूढ़ हुआ। पहला काम उसने यह किया कि नवीन जर्मनी के निर्माता प्रिंस बिस्मार्क को प्रधानमन्त्री के पद से च्युत करके शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली। इस प्रकार प्रारम्भ में ही अनुभवी मल्लाह को धक्का देकर शासन की पतवार को संभालकर उसने राष्ट्र की नाव को बीच मंझधार में पहुंचा दिया। फिर तो जर्मनी की नौका कभी लहरों के ऊपर और कभी उनके नीचे अठखेलियां करती हुई आगे-ही-आगे बहती गई जब तक कि योरोपियन महायुद्ध की भयंकर चट्टान से टकरा न गई।

देखने में योरप के पहले महायुद्ध का प्रारम्भ बहुत छोटी-सी घटना से हुआ, परन्तु वस्तुतः वह उस लम्बी परिस्थिति का परिणाम था जिसका हमने संक्षेप में वर्णन किया है। अपनी महत्त्वाकांक्षा और दूसरे के भय से प्रेरित होकर योरप के देश गुटबन्दियों में शामिल हो गए थे। फ्रांस और रूस में जर्मनी के विरुद्ध जो समझौता हुआ था, वह सामान्य शत्रु से डर का परिणाम था। जर्मनी से बेलजियम को भी डर था, क्योंकि वह उसका पड़ोसी तो था ही, उत्तर दिशा से फ्रांस पर आक्रमण करने का मार्ग भी था। यदि जर्मनी बेलजियम के बन्दरगाहों पर अधिकार कर लेता तो वह इंग्लैण्ड के माथे पर पिस्तौल की तरह तन जाता। इस विचार से इंग्लैण्ड ने इस आशय का पैक्ट कर लिया था कि यदि जर्मनी बेलजियम पर आक्रमण करे, तो इंग्लैण्ड जर्मनी से लड़ेगा। ऐसा ही ताना-बाना सारे योरप में फैला हुआ था। जिसका परिणाम यह हुआ कि बोस्निया की राजधानी में आस्ट्रिया के राजकुमार पर बम पड़ने से जो धड़ाका हुआ, वह पहले सारे योरप में और फिर विश्वभर में फैल गया।

२८ जून को आस्ट्रिया का राजकुमार मारा गया। इस छोटे-से बहाने को लेकर आस्ट्रिया और जर्मनी (जो परस्पर मित्र थे) की सेनाएं आक्रमण के लिए चल पड़ीं। उधर रूस ने युद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी, जिसके कारण समझौते के अनुसार फ्रांस ने भी युद्ध की घोषणा कर दी। अवसर आया जानकर जर्मनी ने फ्रांस के विरुद्ध जिहाद बोल दिया, और उत्तर से फ्रांस पर आक्रमण करने के लिए बेलजियम पर टूट पड़ा। बेलजियम पर आक्रमण का परिणाम यह हुआ कि इंग्लैण्ड भी लड़ाई में आ गया। और राजकुमार की मृत्यु के दो मास के अन्दर-ही-अन्दर योरप का बड़ा भाग घोर संग्राम की भट्टी में कूद पड़ा। धीरे-धीरे इटली, जापान, अमरीका आदि देश भी युद्धभूमि में उतर आये। युद्ध के चौथे वर्ष में

यह स्थिति हो गई थी कि उसे योरप के महायुद्ध के स्थान पर 'विश्व का महायुद्ध' या 'विश्व का महाभारत' कहा जाने लगा।

कारणों की इस सारी विवेचना से यह बात सर्वथा स्पष्ट होती है कि भारतवर्ष का इस युद्ध से रत्ती-भर भी सीधा सम्बन्ध नहीं था। परन्तु युद्ध की दलदल में घसीटा गया वह पूरी तरह। उसने धन और जन से इंग्लैण्ड को इतनी सहायता की कि इंग्लैण्ड के दकियानूसी दिमाग के नेता भी वाह-वाह पुकार उठे। भारतवासियों ने उस युद्ध में बहुत कुछ लुटाया, परन्तु वह व्यर्थ नहीं गया, क्योंकि उसने एक ऐसी शिक्षा ग्रहण की, जिसने उसे ग़लत रास्ते से हटाकर मुक्ति के सीधे राजपथ पर डाल दिया।

इंग्लैण्ड के युद्ध में कूद पड़ने का समाचार भारत में पहुंचने पर, जिस वर्ग ने पहल की वह नरेश-मण्डल था। भारत के राजा-महाराजा और नवाब सल्तनते बरतानिया की सहायता के लिए एकदम दौड़ पड़े। हैदराबाद के निजाम ने गवर्नर जनरल को निम्नलिखित तार दिया था:

"हुजूर को मालूम है कि मेरी रियासत की पूरी दौलत ब्रिटिश सरकार की नजर हो चुकी है और मुझे इस बात का फख्र है कि मेरी रेजिमेण्टों की खिदमतें मंजूर कर ली गई हैं।"

मैसूर के महाराज ने वायसराय को लिखा था:

"यह ऐसा समय है कि ब्रिटिश साम्राज्य के सब सामन्तों और प्रजाजनों को कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर रक्षा के लिए तैयार हो जाना चाहिए, और मैं श्रीमान् को विश्वास दिलाता हूं कि मैं और मेरी प्रजा साम्राज्य की रक्षा के लिए हर प्रकार का बलिदान करने को तैयार है।

इसी प्रकार प्राय: सभी छोटे-बड़े नरेशों ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति ब्रिटिश सरकार की सेवा में समर्पित करने की घोषणा कर दी थी। उन्होंने आर्थिक सहायता भी दी, और सैनिक सहायता भी दो। हैदराबाद ने युद्ध की सहायता के लिए सब मिलाकर लगभग दो करोड़ रुपये दिये। ग्वालियर नरेश ने ऋण, सहायता और सेना के रूप में सरकार को जो सहायता दी, उसका हिसाब भी दो करोड़ के लगभग बैठता है।

इन बड़ी-बड़ी सहायताओं की घोषणा ने नरेशों में होड़-सी पैदा कर दी, और उन्होंने अपनी गरीब प्रजा से खरे और खोटे साधनों से वसूल की गई धनराशि साम्राज्य की रक्षा के नाम पर सरकार के चरणों में धर दी।

सबसे पहले नरेशों के प्रभावित होने का कारण स्पष्ट ही है। नरेशों को विश्वास था, और वह ठीक ही सिद्ध हुआ कि उनकी तानाशाही का प्रासाद केवल ब्रिटिश सरकार की कृपा की नींव पर खड़ा है। उन्हें अनुभव हो रहा था कि यदि कभी अंग्रेजी सरकार का हाथ निर्बल हुआ तो उन्हें प्रजा के सामने अपनी अनाधिकार-चेष्टाओं के लिए उत्तरदाता बनना पड़ेगा।

दूसरे नम्बर पर माडरेट दल के नेता राजनीतिक मैदान में आये। उन्हें

वस्तुतः यह विश्वास था कि परमात्मा ने भारत की भलाई के लिए ही उसे अंग्रेजों की छत्र-छाया प्रदान की है। उन्हें यह भी विश्वास था कि यदि कहीं अंग्रेज भारत से चले गए, तो इस अभागे देश का सर्वनाश हो जायगा—शायद काबुल की सेनाएँ फिर हिन्दूकुश के दर्रे से निकलकर रामेश्वरम् तक छा जायंगी। वह मानते थे कि अंग्रेज ऊपर से चाहे कैसा ही रूखा हो, अन्दर से अत्यन्त सहृदय और स्वाधीनता-प्रेमी है। श्री दादाभाई नौरोजी ने युद्ध घोषणा से एक सप्ताह पूर्व एक लेख में लिखा था :

"मेरे मन में कुछ भी सन्देह नहीं है कि भारत का प्रत्येक निवासी केवल एक इसी इच्छा से प्रेरित होगा कि इंग्लैण्ड की प्रजा न्याय, स्वाधीनता आत्मसम्मान और मनुष्य की महत्ता तथा प्रसन्नता के लिए जिस शानदार संघर्ष में लगी हुई है, उसमें उसकी यथाशक्ति सहायता करे।"

सर फीरोजशाह मेहता ने भी, उस अवसर पर, ऐसे ही भावों को प्रकट करते हुए अन्त में कहा था :

"हम इसलिए इकट्ठा हुए हैं, कि अपने पवित्र स्वामी, अपने प्यारे सम्राट् के चरणों में अपनी निष्काम भक्ति, अटल निष्ठा और जोशीली वन्दना उपस्थित करें।"

पं० मदनमोहन मालवीय ने इलाहाबाद की एक सभा में कहा था :

"हमारे भाग्य इंग्लैण्ड के भाग्यों के साथ बहुत दृढ़ गांठ से बंधे हुए हैं। इंग्लैण्ड हारा तो हम पर संकट आयेगा—मुझे यह घोषणा करने में कोई संकोच नहीं है कि मैं ब्रिटिश सिंहासन का वफादार हूं, क्योंकि मैं अपने देश से प्रेम करता हूं।"

युद्ध में इंग्लैण्ड की सहायता देने का उत्साह केवल नर्म नेताओं तक ही परिमित नहीं रहा। वह उन राष्ट्रीय नेताओं तक भी जा पहुंचा, जिन्हें गर्म या अग्रगामी कहा जाता था। लोकमान्य तिलक ने 'मराठा' के २१ सितम्बर १९१४ के अंक में लिखा था :

"यह ठीक ही कहा गया है कि ब्रिटिश शासन, भारत पर न केवल अपने सभ्यतापूर्ण शासन द्वारा अपितु भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों और जातियों में एकता उत्पन्न करके एक राष्ट्र के बनाने में बहुत सहायक हो रहा है। मैं यह विश्वास नहीं कर सकता कि यदि स्वाधीनता-प्रेमी अंग्रेजों के अतिरिक्त कोई अन्य जाति हम पर राज्य कर रही होती तो वह हमारी राष्ट्रीयता के विकास में इस प्रकार सहायता करती।....इस कारण मेरा दृढ़ मन्तव्य है, कि इस अवसर पर प्रत्येक बड़े या छोटे, अमीर या गरीब भारतीय का कर्त्तव्य है कि हिज़ मैजस्टी (अंग्रेज बादशाह) की सरकार की यथाशक्ति सहायता करे।"

महात्मा गान्धी ने एक भाषण में कहा था :

"बिना किसी शर्त के और पूरे हृदय से अंग्रेजी सरकार से (लड़ाई

जीतने में) सहयोग करना हमें जितना शीघ्र अपने लक्ष्य के समीप पहुंचा देगा, उतना अन्य कोई उपाय नहीं।....इसे मैं एक आदरणीय महत्त्वाकांक्षा मानता हूं कि हम साम्राज्य के लिए लड़कर अपने देश की स्वाधीनता को प्राप्त करें।....साम्राज्य की सहायता न करना राष्ट्रीय आत्महत्या के समान है।"

लोकमान्य तिलक और महात्मा गान्धी के वाक्यों को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह ध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है कि "इस समय साम्राज्य की सहायता करने से देश को स्वाधीनता के द्वार खुल जायंगे।" यद्यपि लोकमान्य तथा महात्माजी ने बिना किसी शर्त के साम्राज्य को सहायता देने का परामर्श दिया था, परन्तु उसी वाक्य में हृदय के अन्दर छुपी हुई फल की भावना विद्यमान थी। वह फल था देश की स्वाधीनता। राष्ट्रीय नेताओं का यह विश्वास था कि यदि इस समय हम लोग सरकार को भरपूर सहायता करेंगे, तो कृतज्ञ अंग्रेज जाति खुले हृदय से हमें स्वाधीनता प्रदान कर देगी।

राष्ट्रीय नेताओं की यह कामना सर्वथा निराधार भी नहीं थी, यद्यपि जो आधार था, वह बहुत ही भंगुर था। उन दिनों गद्दीधारी अंग्रेजों की ओर से जो घोषणाएं की गईं, वे भारतवासियों के प्रति कृतज्ञता और उदारता से भरी हुई तो थीं ही, आशा की झलक दिखानेवाली भी थीं। इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री से लेकर भारत के गवर्नर जनरल तक, सब अपने भाषणों में युद्ध में भारतवासियों के सहयोग का स्वागत करते हुए यह घोषणा करते नहीं थकते थे कि इस समय अंग्रेजों और भारतवासियों में जो प्रेम और बराबरी का भाव उत्पन्न हुआ है—वह स्थायी रहेगा।

जब नरेश और नेता एक स्वर से सहयोग का समर्थन कर रहे थे, तो देश के अन्य अंगों को गिला ही क्या हो सकती थी? देश के समाचारपत्र, शिक्षणालयों के विद्यार्थी, यहां तक कि शिक्षित महिलाओं ने भी युद्ध के संचालन में सरकार का सक्रिय सहयोग देकर इस बात की सूचना दी कि कुछ कड़वे अनुभवों के होते हुए भी भारतवासी इंग्लैण्ड की सहृदयता पर विश्वास करने को तैयार हैं।

भारत की ओर से साम्राज्य को जो सहायता दी गई, वह केवल आर्थिक सहायता पर परिमित नहीं थी। भारत के सहयोग से इंग्लैण्ड को जो साहस मिला, और उसके गौरव में जो वृद्धि हुई, उसे अलग छोड़ दें तो केवल भौतिक सहायता को मात्रा भी आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। भारत द्वारा युद्ध के लिए इंग्लैण्ड को दी गई भौतिक सहायता का निम्नलिखित आनुमानिक ब्यौरा बनाया गया है:

नरेशों से प्राप्त आर्थिक सहायता: न्यून से न्यून १० करोड़ रुपये, जिसमें से निजाम हैदराबाद और ग्वालियर के सिन्धिया महाराज की लगभग दो-दो करोड़ की राशियां प्रमुख थीं।

केन्द्रीय भारत सरकार के कोष से चन्दा: १ करोड़ ८६ हजार रुपये।

भारत की बाहर भेजी हुई सेनाओं का खर्च: लगभग डेढ़ अरब पौण्ड।

सर्वसाधारण भारतवासियों से चन्दे, युद्ध-ऋण तथा पोस्ट आफिस के डिपाज़िट द्वारा दी हुई सहायता इन मोटी-मोटी राशियों से अलग है। यदि सब राशियों का हिसाब लगायें तो सम्पूर्ण राशि अरबों तक पहुंचती है। इस राशि का महत्त्व तब भली प्रकार समझ में आ सकता है, जब हम उसे भारतीय प्रजा की दरिद्रता की पृष्ठभूमि में रखकर देखें। जिन लोगों को औसतन दो समय खाने को भी नहीं मिलता था, उनसे उगाहे हुए करों का इतना विशाल हिस्सा एक ऐसे युद्ध में लगाया गया, जिससे भारत का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था।

मानवी सहायता की कहानी भी ऐसी ही है। युद्ध के लिए ९,५३,३७४ भारतीय सैनिक भारत से बाहर भेजे गए थे। उनमें ३० सहस्र के लगभग मारे गए, ६० हजार के लगभग घायल हुए। ७½ हजार के लगभग बन्दी और ५ हजार के लगभग लापता समझे गए।

भारत ने साम्राज्य की जो आर्थिक सहायता की उसका महत्त्व समझने के लिए यह जानना उपयोगी होगा कि ब्रिटिश जाति के अन्य लाडले उपनिवेशों से सहायता मिलना तो दूर रहा, उन्होंने इंग्लैण्ड से युद्ध-ऋण लिया। उपनिवेशों को युद्ध-ऋण के रूप में जो राशि मिली, वह १५ करोड़ पौण्ड से अधिक थी। रुपयों में यह राशि २ अरब से ऊपर होती है।

: २८ :

एकता की ओर

योरप के पहले महायुद्ध में, भारत के नरेश लोग स्वार्थभावना से, नरम नेता विश्वासवश, और मालवीय, तिलक तथा गान्धी-जैसे नेता देश का हित समझकर ब्रिटेन की सहायता करने के पक्ष में थे; परन्तु उनके अतिरिक्त राष्ट्रभक्तों का ऐसा समुदाय भी था, जो सहयोग की नीति में विश्वास नहीं रखता था। वह अंग्रेजों की ओर से निराश हो चुका था, और यह मानता था कि इंग्लैण्ड के संकट से लाभ उठाकर सशस्त्र क्रान्ति द्वारा भारत को स्वतंत्र कराने का समय आ गया है। युद्ध के पहले तीन वर्षों में अमरीका उदासीन रहा। बहुत-से भारतीय क्रान्तिकारी पहले से ही अमरीका में आश्रय पा चुके थे। युद्ध आरम्भ होने के पश्चात् भी कई नौजवान भिन्न-भिन्न रास्तों से वहां पहुंच गए, और एक 'गदर पार्टी' संगठित कर ली। जर्मन सरकार तो अंग्रेजों के शत्रुओं की तलाश में थी ही। उसने गदर पार्टी की पीठ पर हाथ रख दिया. और कुछ आर्थिक सहायता भी दी। जर्मनी का उद्देश्य यह था कि उन रुपयों से किसी प्रकार भारत में शस्त्रास्त्र पहुंचाकर सशस्त्र क्रान्ति करवाई जाय। गदर पार्टी ने काफ़ी प्रारम्भिक कार्य किया, परन्तु कोई परिणाम निकलने से पहले ही अमरीका युद्ध में कूद पड़ा, और इस तरह अमरीका में भारतीय क्रान्ति-

कारियों की काररवाइयां न केवल बन्द हो गईं, उनमें से बहुत-से नवयुवक पकड़े गए और दण्डित हुए। कुछ युवक बचकर दक्षिण अमरीका की ओर भाग निकले, परन्तु उनके जीवन भी समाप्त हो गए, क्योंकि इंग्लैण्ड के मित्रों की सफलता ने उनकी स्थिति को संकटमय बना दिया था। वे जहां जाते, खुफिया पुलिस उनका पीछा करती थी; जहां कहीं उन्हें पाती नोंच लेती थी। उनमें से अधिक लोग परदेस में ही समाप्त हो गए।

ला० हरदयाल एम० ए० तथा वैसे ही अन्य कई देशभक्त युद्ध से पूर्व ही बाहर जा चुके थे। वे भारतीय नौजवानों के केन्द्र बन गए। जो लोग युद्ध की घोषणा के पश्चात् योरप जा पहुंचे, उनमें से हाथरस के राजा महेन्द्र प्रताप का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राजा साहब भारत में उदार विचारों के रईस और दानी के रूप में विख्यात हो चुके थे। आपने अपनी बहुत-सी सम्पत्ति देकर वृन्दावन में प्रेम विद्यालय की स्थापना की थी। वह संस्था कई दृष्टियों से अपने ढंग की अनूठी थी, छात्रों में जात-पांत का भेद नहीं किया जाता था, कारीगरी की शिक्षा को प्रमुखता दी जाती थी और संस्था पर सरकार का कोई नियंत्रण नहीं था। युद्ध के आरम्भ में आपने विलायत जाने का पासपोर्ट प्राप्त कर लिया।

विलायत जाकर राजा साहब ने देश के लिए जो प्रयत्न किये उनकी कहानी बहुत लम्बी है। आप लगभग ३१ वर्षों तक देश से बाहर रहे। वह समय आपने निरन्तर भ्रमण और प्रचार में बिताया। योरप और एशिया का शायद ही कोई प्रमुख देश हो, जहां आप न गये हों, और भारत की चर्चा न की हो। सरकार आपकी प्रवृत्तियों से इतनी नाराज हो गई थी कि सब जायदाद ही जब्त कर ली।

विदेश में गये हुए हिन्दुस्तानियों के प्रति सरकार के अनुचित और कठोर व्यवहार का पता उस घटना से भली प्रकार चल जाता है, जो 'कामागाटामारू जहाज' के साथ सम्बद्ध है। ब्रिटिश कोलम्बिया में बसे हुए भारतवासियों के साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया जाता था कि वे भारत में आने के लिए बाध्य हो गए। भारत में आने के लिए उन्होंने 'कामागाटामारू' नाम का एक जापानी जहाज खरीद लिया। जो भारतवासी उस जहाज से यात्रा कर रहे थे, उनके नेता का नाम गुरुदत्त सिंह था। यात्रियों में २१ पंजाबी मुसलमान थे, और शेष ३५१ सिख थे। कामागाटामारू ने लंगर उठाया ही था कि उस पर अंग्रेजी सरकार की सन्देह-भरी दृष्टि पड़ गई। सरकार को यह प्रतीत होने लगा कि यह सारा जर्मन एजेण्टों का षड्यंत्र है। कामागाटामारू के यात्रियों के साथ रास्ते के सब बन्दरगाहों पर बहुत कठोरता का व्यवहार किया गया। उन्हें बन्दरगाह पर उतरने तक की अनुमति नहीं दी गई। अन्त में अनेक विघ्न-बाधाओं को पार करता हुआ कामागाटामारू २७ सितम्बर १९१४ को हुगली के बन्दरगाह पर पहुंचा, जहां से उसे बजबज के रेलवे स्टेशन के पास पहुंचा दिया गया। बहुत दिनों की यात्रा, और मार्ग के दुर्व्यवहार के सताये हुए यात्रियों को जहाज से उतरने पर यह आज्ञा दी गई कि उन्हें सीधे रेलगाड़ी में बिठाकर पंजाब पहुंचाया जायगा। कलकत्ते में या रास्ते के किसी अन्य स्टेशन

पर उतरने की आज्ञा नहीं दी जायगी। ऐसे विक्षुब्ध करनेवाले कठोर व्यवहार से वे लोग भड़क गए, और उन्होंने रेल में बैठने से इनकार कर दिया। इस पर सरकार ने गोली चलवा दी, जिससे ८ सिख मारे गए। बहुत-से यात्री, जिनमें जहाज का नेता गुरुदत्तसिंह भी था, पुलिस के घेरे से निकलकर लापता हो गए।

इस घटना ने देश में क्रोध की आंधी-सी उत्पन्न कर दी। १९१४ से १९१७ तक भारत में आतंकवाद का जो जोर रहा उसका एक कारण बजबज के हत्या-काण्ड से उत्पन्न हुआ विक्षोभ भी था।

यदि रौलट कमेटी की रिपोर्ट पर विश्वास करें तो कहा जा सकता है कि युद्ध-काल में विदेश में गये हुए भारतवासियों ने कम-से-कम तीन और जहाजों द्वारा भारत में क्रान्ति के लिए शस्त्रास्त्र लाने की चेष्टा की। उनमें से दो जहाज जर्मनी द्वारा सन्नद्ध किये गए थे, और एक जापान द्वारा। जर्मन जहाजों के नाम 'मावरिक' और 'हेनरी एस०' थे। रौलट रिपोर्ट में लिखा है कि एक और जापानी जहाज भी शस्त्रास्त्रों से लदा हुआ भारत की ओर चला था। सरकार का दावा है कि उन सब को रास्ते में ही व्यर्थ कर दिया गया, और उनमें यात्रा करनेवाले अनेक भारतीय कैद कर लिये गए।

युद्ध की परिस्थिति को संभालने के लिए इंग्लैण्ड में 'डिफेन्स आव रियल्म ऐक्ट इन इंग्लैण्ड' नाम का एक नियन्त्रण कानून स्वीकार किया गया-तो उसका दृष्टान्त देकर भारत में भी तुरन्त ही डिफेन्स आव इण्डिया आर्डिनेन्स, जारी कर दिया गया। कुछ समय पीछे वही ऐक्ट के रूप में परिणत कर दिया गया। इस ऐक्ट में आवश्यकता पड़ने पर सरकार को अधिकार दे दिया गया था कि वह सामान्य न्यायालयों को स्थगित करके स्पेशल ट्रिब्यूनल कायम कर सके, जो उन अनेक प्रतिबन्धों से मुक्त होंगे, जो साधारण न्यायालयों पर लगे रहते हैं। इस ऐक्ट के स्वीकार होने पर सरकार ने कई षड्यन्त्र केस चलाये, जिनमें से लाहौर षड्यन्त्र केस विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस केस में भाई परमानन्दजी को भी राजद्रोही करार देकर कालेपानी भेज दिया गया था। पंजाब के प्रसिद्ध कवि ला० लालचन्द फलक भी इन्हीं दिनों दण्डित हुए।

इस प्रकार, जब नेताओं की अनुपस्थिति और सरकार की दमन-नीति के कारण देश के आकाश में बहुत घना अन्धकार छाया हुआ प्रतीत हो रहा था, तब प्रकृति के नियम के अनुसार अन्तरिक्ष में उषा की किरणें दिखाई देने लगीं। ६ वर्षों की नजरबन्दी काटकर, १९१४ में लोकमान्य तिलक, पूना वापिस आ गए। उनकी यह ६ वर्षों की नजरबन्दी इतनी कठोर थी कि किसी साधारण व्यक्ति को पागल बना देती, परन्तु लोकमान्य मनस्वी थे। उन्होंने उन ६ वर्षों का ऐसा सदुपयोग किया, कि संसार चकित हो गया। मांडले के किले में एक वह थे, और दूसरा उनका कैदी रसोइया था। अन्य किसी मेल-जोल के आदमी का प्रवेश सम्भव नहीं था। ऐसी एकान्त निस्तब्धता में लोकमान्य ने पुस्तकों को साथी बनाया, और भगवद्-गीता-रहस्य (कर्मयोग शास्त्र) की रचना की। लोकमान्य ने घोर तपस्या के वाता-

वरण में रहकर जो ग्रन्थ लिखा, उसके प्रकाशित होने पर देश की समझ में आ गया कि एक तपस्वी पुरुष जेल में रहकर भी संसार को अमूल्य सेवा कर सकता है।

बाहर आकर लोकमान्य आराम से नहीं बैठे। १९१६ के अप्रैल मास में लोकमान्य तिलक ने राजनीतिक जीवन को पुनर्जीवित करने के लिए होमरूल लीग की स्थापना की। उसके ६ मास पश्चात् श्रीमती एनी बिसेण्ट ने इण्डियन होमरूल लीग नाम की दूसरी संस्था का आयोजन कर दिया। उससे पूर्व श्रीमती बिसेण्ट एक उत्कृष्ट वक्ता और थियोसोफिकल सोसायटी के अध्यक्ष की हैसियत से प्रसिद्ध थीं। लीग की स्थापना द्वारा वह भारत की राजनीति में नवशक्ति बनकर अवतीर्ण हुई।



श्रीमती एनीबिसेण्ट

लोकमान्य तिलक ने २३ अप्रैल १९१६ को होमरूल लीग की घोषणा की थी। जेल से मुक्त होने पर उनके अभिनन्दन के रूप में कृतज्ञ देशवासियों ने एक लाख की जो थैली भेंट की थी, आपने वह लीग को दे दी। होमरूल लीग का उद्देश्य और विधान वही रखा गया, जो कांग्रेस का था। उसके तुरन्त पश्चात् तिलक महाराष्ट्र के दौरे पर निकल पड़े, और नगर-नगर और गाँव-गाँव में जाकर स्वराज्य का सन्देश सुनाने लगे। इन समाचारों ने देश-भर के देशभक्तों के हृदयों में एक नई आशा का संचार कर दिया।

जब श्रीमती एनीबिसेण्ट ने राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रवेश किया, तो पुराने खिलाड़ी की भांति पूरी तैयारी के साथ आई। 'मद्रास स्टैंडर्ड' नाम के अंग्रेजी दैनिक को लेकर उसका नाम 'न्यू इण्डिया' रख दिया, और उसके द्वारा सरकार और जनता दोनों को जगाने का काम करने लगीं। देश में थियोसोफिकल सोसायटी की जितनी शाखाएं थीं, वे होमरूल लीग के कार्यालयों का काम देने लगीं, और इस तरह थोड़े ही समय में कांग्रेस के पुराने नेताओं के हाथ से छूटता हुआ राष्ट्र की नाव का चप्पू इस तेजस्विनी आयरिश महिला ने अपने हाथ में ले लिया।

श्रीमती बिसेण्ट ने अपने आन्दोलन-कार्य की योजना आयर्लेण्ड के होमरूल आन्दोलन के सांचे पर तैयार की। आयरिश होमरूल के प्रारम्भिक आन्दोलन के चार मुख्य भाग थे (१) स्वदेशी (२) बहिष्कार (३) राष्ट्रीय शिक्षा और (४) स्वराज्य। उन्हीं को होमरूल लीग ने आगे रखा, और अपने विचारों को स्थूल रूप देते हुए अपने कई स्कूलों का सम्बन्ध सरकार से तोड़ दिया। डा० अरण्डेल की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय शिक्षा-समिति स्थापित की, जिसका उद्देश्य चलती हुई संस्थाओं का राष्ट्रीय पद्धति पर संचालन और नई राष्ट्रीय संस्थाओं का आयोजन था। स्वयं श्रीमती बिसेण्ट आज यहां, कल वहां, सारांश यह कि देश के हरेक कोने में स्वाधीनता का सन्देश सुनाती हुई भ्रमण करती दिखाई देती थीं।

लोकमान्य तिलक और श्रीमती बिसेण्ट की होमरूल लीगों ने जीवन की जो

सरसराहट उत्पन्न की, उसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राष्ट्र के कार्य-कर्त्ताओं में एक केन्द्र में मिलकर काम करने की अभिलाषा जाग उठी। जब से सूरत में कांग्रेस का भंग हुआ, तब से देशभक्तों के हृदय सूनापन-सा अनुभव कर रहे थे। कांग्रेस राष्ट्र-भर की आवाज न रहकर केवल कुछ नर्मदल के लोगों की संस्था रह गई थी। नर्मदलवालों ने एक कन्वेन्शन करके उसके उद्देश्य और विधान में भी परिवर्तन कर दिया था, जिस कारण सर्वसाधारण ने नर्म-कांग्रेस को 'कन्वेन्शनिया कांग्रेस' की उपाधि दी थी। इस दशा से कोई भी सन्तुष्ट नहीं था। स्वयं सर्वश्री गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फीरोजशाह मेहता आदि नर्म विचारों के सज्जन भी निरुत्साहित हो उठे थे। कांग्रेस का हाथ निर्बल हो गया था। उसकी सदस्य-संख्या घट गई और यह अनुभव होने लगा कि यदि इसके रोग का उपाय न किया गया तो संस्था क्षयरोग से मर जायगी। श्रीमती बिसेण्ट भारत की राजनीति में नई थीं, परन्तु आयु और अनुभव के लिहाज़ से काफ़ी पुरानी थीं। देश के गर्म और नर्म दोनों पक्षों के बीच में जो खाई-सी बन गई थी, उसे पाटने का श्रीमती बिसेण्ट ने भरसक प्रयत्न किया। बम्बई में १९१५ में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ था, उसमें दोनों पक्षों को मिलाने की चर्चा आरम्भ हो गई थी। वर्ष-भर के प्रयत्न के पश्चात् वह चर्चा कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन के अवसर पर फली-भूत हो गई। लखनऊ में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, अनेक कारणों से वह इतना महत्त्वपूर्ण बन गया, कि उसकी कांग्रेस के उन पांच-छः अधिवेशनों में गणना हो सकती है जिनमे भारत के राजनीतिक भविष्य की रूपरेखा का निर्माण किया गया था।

: २९ :

लखनऊ की स्मरणीय कांग्रेस

१९१६ के दिसम्बर मास में, लखनऊ में, कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, वह अनेक विशेषताओं के कारण राष्ट्र के इतिहास में असाधारण महत्व का स्थान रखता है। उस अधिवेशन में गर्म और नर्म दोनों दलों के नेता आपस के मतभेदों को भुलाकर राष्ट्र की हितचिन्ता के लिए, फिर एक मंच पर एकत्र हुए। यह लखनऊ के अधिवेशन की पहली विशेषता थी। दूसरी विशेषता यह थी कि मुस्लिम लीग और कांग्रेस में एक राजनीतिक सौदा—जिसे उस समय समझौता कहा गया—हुआ, जिसका भारत की सम्पूर्ण राजनीतिक प्रगति पर गहरा प्रभाव पड़ा। उस अधिवेशन को भारत के राजनीतिक मार्ग का एक समकोण बनानेवाला मोड़ कह सकते हैं।

उस वर्ष राष्ट्रीय महासभा के मंच की शोभा देखने योग्य थी। कांग्रेस के वयो-

वृद्ध नेता श्री अम्बिकाचरण मजूमदार अध्यक्ष-पद पर आसीन थे। उनके एक ओर श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि नर्मदल के नेता, दूसरी ओर ला० लाजपतराय आदि गर्म नेता, और उनके पास ही श्रीमती एनी बिसेण्ट, डा० अरण्डेल आदि होमरूल के अग्रणी विराजमान थे। इन सब के अतिरिक्त जब यह घोषणा हुई कि लोकमान्य तिलक पण्डाल में आ रहे हैं, तब तो मानो उत्साह का समुद्र उमड़ पड़ा। उपस्थित प्रतिनिधियों और दर्शकों ने खड़े होकर लम्बी करतल-ध्वनि से लोकमान्य का अभिनन्दन किया। इन पंक्तियों के लेखक ने उस समय लोकमान्य के पहली बार दर्शन किये थे। आग में पड़कर तपे हुए सोने की तरह तपस्या से विशुद्ध उस मूर्ति को देखकर सब दर्शकों के सिर श्रद्धा से झुक गए। वही पुराना महाराष्ट्री ब्राह्मणों-वाला वेष था, और जेल-यातना के कारण चेहरे पर कुछ निर्बलता थी, परन्तु आंखों में वही अदम्य तेज था, और चाल में वही सेना के आगे चलनेवाले सेनापतियों की-सी दृढ़ता थी। लोकमान्य के मंच पर बैठ जाने पर मानो ऋषिमण्डल पूरा हो गया। ऋषिमण्डल की उस पूर्ति में महात्मा गान्धी की उपस्थिति ने बहुमूल्य अभिवृद्धि की। महात्मा गान्धी के साथ मि० पोलक और श्रीयुत एण्ड्रूज भी थे।

लोकमान्य तिलक का भाषण सदा की भांति शान्त दृढ़ता से भरा हुआ था। उस भाषण में यह वाक्य स्मरणीय था—"कांग्रेस के दोनों पक्षों में एकता स्थापित करने का सौभाग्य लखनऊ को प्राप्त हुआ है।"

ला० लाजपतराय दक्षिण अफ्रीका के प्रस्ताव पर हिन्दुस्तानी में बोले। उनका भाषण सदा की भांति ओजस्वी और भावुकतापूर्ण था। महात्मा गान्धी उस अधिवेशन में दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के नेता होने के अतिरिक्त प्रतिष्ठित दर्शक के रूप में ही विद्यमान रहे। लखनऊ में कांग्रेस को जो लोकप्रिय रूप मिला, वह सूरत की घटना से पहले की कांग्रेस को भी प्राप्त नहीं था। मानो बीच के १० वर्षों में कांग्रेस कठोर अग्नि-परीक्षा में से गुजरकर चमक उठी।

लखनऊ के अधिवेशन में दूसरा जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ वह कांग्रेस और मुस्लिम लीग द्वारा एक सम्मिलित मांगपत्र तैयार करना था। उसके स्वरूप और गुण-अवगुणों पर दृष्टि डालने से पूर्व यह आवश्यक है कि इससे पूर्व के १० वर्षों में मुसलमानों की राजनीतिक विचारधारा में जो परिवर्तन होते रहे, उनका सिंहावलोकन कर लिया जाय। उसे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर ही हिन्दू-मुसलमानों में हुए लखनऊ-पैक्ट का असली रूप समझ में आ सकेगा।

बंग-विच्छेद के कारण केवल बंगाल के ही नहीं, सारे देश के सर्वसाधारण मुसलमानों का दृष्टिकोण साम्प्रदायिक हो गया था। अंग्रेजी सरकार जिस भेद-नीति के सहारे से भारत में अपने शासन को अमर बनाना चाहती थी, बंग-विच्छेद उसका सबसे बड़ा आविष्कार था। शिक्षित मुसलमान जातीय स्वार्थ की दृष्टि से, और अशिक्षित मुसलमान राष्ट्रीयता से अनभिज्ञ या अप्रभावित होने के कारण यह विश्वास करने लगे थे कि अंग्रेजी सरकार दिल से मुसलमानों को अपना मित्र, और

हिन्दुओं को अपना शत्रु समझती है। स्वभावतः उनका झुकाव कांग्रेस के विरुद्ध और अंग्रेजों के पक्ष में हो गया था।

मुसलमानों की इस सुलभ सन्तोष की भावना को बंग-विच्छेद के रद्द होने से बहुत भारी ठेस लगी। उन्हें यह अनुभव हो गया कि अंग्रेजी सरकार को मुसलमानों से कोई प्रेम नहीं है। उसका प्रेम स्वार्थ पर अवलम्बित है। मुसलमानों ने यह भी अनुभव किया कि बरतानिया का शेर उतना वीर नहीं है, जितना उसे समझा जाता है। वह आन्दोलन के चाबुक से डरता भी है। बंग-विच्छेद का रद्द किया जाना वस्तुतः देशव्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन का ही परिणाम था। बंग-विच्छेद के हटने का मुसलमानों के हृदयों पर जो बुरा प्रभाव पड़ा, उसका एक दृष्टान्त ढाका के नवाब सलीमुल्ला का निधन था। पूर्वीय बंगाल के पृथक् प्रान्त बनने से ढाका के नवाब का गौरव बहुत बढ़ गया था। जब नवाब को समाचार मिला कि बंगाल के दोनों टुकड़ों को फिर से जोड़ दिया गया है तो उसके दिल पर मानो वज्राघात हुआ, और वह ऐसा रोगी हुआ कि फिर न उठा।

यह पहली चोट ही पर्याप्त थी, कि योरप का पहला महायुद्ध छिड़ गया। उस युद्ध में भारतीय मुसलमानों की दृष्टि से विशेष बात यह हुई कि टर्की जर्मनी का साथी बनकर इंग्लैण्ड के विरुद्ध लड़ाई में उतर आया। टर्की का बादशाह सारे मुस्लिम जगत् में ख़लीफा माना जाता था। वह एक प्रकार से मुसलमान-भ्रातृमण्डल का प्रधान था। उसे सुन्नी मुसलमान अपना धर्माध्यक्ष मानते थे। अन्त में जर्मनी की हार हो गई—जिसका परिणाम यह हुआ कि टर्की के सुल्तान का दबदबा समाप्त हो गया, और विजेताओं ने उसके 'ख़लीफापन' या 'खिलाफत' को ही उड़ा दिया। स्वभावतः भारत के मुसलमानों को अंग्रेजी सरकार का यह काम अच्छा नहीं लगा, और वे मन-ही-मन बरतानिया से बहुत असन्तुष्ट हो गए।

यह दशा थी, जब अंग्रेजी सरकार ने भारत के मुसलमानों को राष्ट्रीयता से फोड़ने के लिए एक नये जादू का आविष्कार किया। वह जादू था 'साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व'।

साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का अभिप्राय यह था कि भारत के विशेष सम्प्रदायों को धारा सभाओं तथा अन्य राज्य-सम्बन्धो निर्वाचित सभाओं में अलग प्रतिनिधि भेजने का विशेष अधिकार दिया जाय। 'विशेष' शब्द में यह अन्तर्निहित था कि अल्प संख्यावाले सम्प्रदायों को अनुपात की दृष्टि से अपनी संख्या से अधिक प्रतिनिधित्व दिया जाय। यों साम्प्रदायिक (Communal) शब्द का प्रयोग किया गया था, परन्तु वस्तुतः इस नये सूत्र का लक्ष्य मुसलमानों को विशेष अधिकार देना था। इस सूत्र का आविष्कार शिमला में किया गया, और फिर उसे सरकार के कृपापात्र मुसलमानों द्वारा फैलाया गया। डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने अपने 'इण्डिया डिवाइडेड' नाम के विवेचनात्मक ग्रन्थ में इंग्लैण्ड की मजदूर पार्टी के नेता मि० रैम्से मैक्डानल्ड की निम्नलिखित पंक्तियां उद्धृत की हैं:

"मुसलमान नेताओं को कुछ ऐसे ऐंग्लो-इण्डियन अफसरों से प्रेरणा मिल रही

थी, जो शिमला और लन्दन में भी तार हिला रहे थे, और जिनका उद्देश्य मुसलमानों को विशेष रियायत देने की आशा दिखाकर हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट पैदा करना था।*

मि० मैक्डानल्ड के इस कथन पर टिप्पणी करते हुए डा० प्रसाद ने ठीक ही लिखा है, कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का केवल इतना ही परिणाम नहीं हुआ, कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच में एक खाई खुद गई, बल्कि वह निरन्तर चौड़ी भी होती गई। १९०६ में ढाका के नवाब सलीमुल्ला के निमंत्रण पर ढाका में मुसलमानों की एक कान्फ्रेंस हुई जिसमें जहां बंग-विच्छेद का समर्थन किया गया, वहां मुसलमानों की एक स्थिर संस्था की नींव भी डाली गई और उसका नाम आल इण्डिया मुस्लिम लीग रखा गया।

उसके पश्चात प्रतिवर्ष मुस्लिम लीग का अधिवेशन होने लगा, और उसमें न केवल धारा सभाओं में, अपितु नौकरियों में और प्रिवी कौंसिल तक में मुसलमानों के लिए हिन्दुओं के समान अधिकारों की मांग की जाने लगी।

१९११ में बंग-विच्छेद रद्द हो गया। इससे मुसलमानों के दिलों को काफी झटका लगा। उधर युद्ध आरम्भ हो गया, और फिर टर्की जर्मनी के पक्ष में युद्ध-क्षेत्र में उतर आया। अंग्रेजी सरकार ने मुसलमानों को रियायती व्यवहार की जो आशाएं दिलाई थीं, वे समय की ठोकरें खाकर क्षीण होने लगीं। इन कारणों से मुसलमान नेताओं का झुकाव सरकार की ओर से हटकर धीरे-धीरे कांग्रेस की ओर होने लगा। मुसलमानों में एक ऐसा दल उत्पन्न हो रहा था जो अंग्रेजी सरकार की दुरंगी नीति से सर्वथा असन्तुष्ट होकर पूरी तरह राष्ट्रीय पक्ष में आ गया। जो मुसलमान नेता अभी इतनी दूर तक जाने को तैयार नहीं थे, वे भी यह समझने लगे थे कि अंग्रेजी सरकार से रियायतें लेने के लिए यह आवश्यक है कि यदि सब हिन्दुओं से नहीं तो कम-से-कम कांग्रेस से कोई समझौता कर लिया जाए। उन्हें यह विश्वास हो गया था कि कांग्रेस का और हिन्दुओं का कट्टर विरोध रहते अंग्रेज भी मुसलमानों को विशेष रियायती अधिकार न दे सकेंगे। मुस्लिम लीग पर उस समय ऐसा विचार रखनेवाले मुसलमान नेताओं का अधिकार था। १९१५ में, बम्बई में, कांग्रेस के अधिवेशन के साथ ही मुस्लिम लीग का भी अधिवेशन हुआ। यह हिन्दुओं और मुसलमानों के उस सान्निध्य का परिणाम था जो बंग-भंग के स्थगित होने और खिलाफत पर संकट आने के कारण अस्तित्व में आ गया था। यह चर्चा जारी हो चुकी थी कि ब्रिटिश सरकार भारत को शासन-सुधारों की एक

---

*"The Mahomedan leaders are inspired by certain Anglo-Indian officials, and these officials have pulled wires at Simla and in London, and of malice aforethought sowed discord between Hindu and Mahomedan Communities by showing the Moslem special favour."

नई किरन देनेवाली है। बम्बई में मुस्लिम लीग ने एक समिति नियुक्त की थी, जिसको कांग्रेस के साथ मिलकर शासन-सुधारों की सर्वसम्मत योजना तैयार करने का काम सौंपा गया। वर्ष-भर कांग्रेस और लीग के प्रतिनिधि मिलकर परामर्श करते रहे। जब लखनऊ में, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के अधिवेशन साथ-साथ हुए, कांग्रेस की बैठक में राजा महमूदाबाद, मि० मज़रुल हक, और मि० मुहम्मद अली जिन्ना आदि मुसलमान नेताओं और लीग की बैठक में पं० मदनमोहन मालवीय, श्रीमती सरोजिनी नायडू और महात्मा गान्धी आदि हिन्दू नेताओं की उपस्थिति समय के प्रवाह को सूचित करनेवाली थी। उस वर्ष लीग के अध्यक्ष मि० मुहम्मद अली जिन्ना थे।

मुस्लिम लीग के अध्यक्ष बनने से पूर्व, मि० जिन्ना की विशुद्ध राष्ट्रीय नेताओं में गिनती की जाती थी। मि० जिन्ना का जन्म बम्बई की प्रसिद्ध व्यापारी खोजा जाति में हुआ था। परमात्मा ने उन्हें असाधारण दिमाग और अद्वितीय वाक्-चातुर्य दिया था। विलायत से बैरिस्टरी पास करने के पश्चात् बम्बई की उपजाऊ भूमि में, कानूनी फसल काटने में उन्हें अधिक देर न लगी। उनकी न केवल बम्बई के अपितु भारत-भर के चार-पांच प्रमुख वकीलों में गिनती होने लगी। व्यापारियोंवाली चतुरता के साथ-साथ उनमें एक विशेष प्रकार की निर्भयता भी विद्यमान थी, जो उन्हें सार्वजनिक जीवन में साधारण व्यक्तियों से ऊंचा उठा देती थी। प्रारम्भिक सार्वजनिक जीवन में, मि० जिन्ना ने बम्बई में गवर्नर जनरल को अभिनन्दन-पत्र देने का खुला विरोध करके बहुत नाम कमाया था। बम्बई का जिन्ना हाल उसी राष्ट्रीयता के युग की स्मृति है।



मुहम्मद अली जिन्ना

मि० जिन्ना के मुस्लिम लीग में जाने का यह मूल कारण था कि वह लीग को कांग्रेस के पास लाना, या कांग्रेस को लीग के सामने झुकाना चाहते थे, यह कहना कठिन है। सम्भव है, थोड़े बहुत दोनों ही कारण रहे हों, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मि० जिन्ना-जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति के लीग के प्रधान-पद को स्वीकार कर लेने से भारत की राजनीति में जो गांठ लग गई, वह अन्त तक न खुल सकी। सौदेबाजी की ऐसी हाट-सी लग गई कि स्वाधीनता का विशुद्ध आदर्श चिरकाल के लिए तिरोहित-सा हो गया।

लखनऊ में कांग्रेस और लीग में जो समझौता हुआ, उसमें दो बातें मुख्य थीं। पहली बात तो यह थी कि लीग ने भी कांग्रेस के समान ही, भारत को उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन देने की मांग का समर्थन किया, और दूसरी बात यह थी कि कांग्रेस ने समझौते के तौर पर मुसलमानों को, राष्ट्र के अन्य भागों से अलग, राजनीतिक

सत्ता को स्वीकार कर लिया। इससे पहले इण्डियन नैशनल कांग्रेस का दावा था कि वह सारे भारतीय राष्ट्र की प्रतिनिधि संस्था है। कांग्रेस-लीग पैक्ट द्वारा कांग्रेस ने यह स्वीकार कर लिया कि मुसलमानों के राजनीतिक अधिकार अलग हैं, और उनका प्रतिनिधित्व करनेवाली संस्था भी अलग है। वह संस्था मुस्लिम लीग मान ली गई।

समझौता बहुत आसानी से नहीं हुआ। काफी खींचा-तानी रही। पं० मदन-मोहन मालवीय, श्रीयुत सी० वाई० चिन्तामणि आदि कई नेता ऐसे समझौते को सन्देह की दृष्टि से देखते थे, परन्तु कांग्रेस के अधिकतर नेताओं की प्रबल इच्छा थी कि वे उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की मांग को देश की सर्वसम्मत मांग के रूप में सरकार के सामने उपस्थित करें। यह अभिलाषा अपने-आपमें अत्यन्त शुभ थी। मि० जिन्ना-जैसे चतुर वकील से यह बात छुपी नहीं रह सकती थी कि कांग्रेस कुछ कीमत देकर भी अपनी मांग को सर्वसम्मत बनाना आवश्यक समझती है। वह सौदे के लिए तैयार हो गए, और जो सौदा हुआ, उसमें कांग्रेस को अपने राष्ट्रीय रूप की कीमत देनी पड़ी। कांग्रेस के उस समय के नेताओं ने समझा था कि जो पैक्ट बन रहा है वह सौदे का अन्तिम अध्याय है, पर वस्तुतः वह केवल पहला अध्याय निकला, और उसके अन्तिम अध्याय का शीर्षक बना—'पाकिस्तान।'

कांग्रेस-लीग योजना की प्रतिनिधित्व-सम्बन्धी धारा में निम्नलिखित शब्द हैं :

"महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यक जातियों के प्रतिनिधित्व का निर्वाचन के द्वारा यथेष्ट प्रबन्ध होना चाहिए, और प्रान्तीय कौंसिलों के लिए मुसलमानों का प्रतिनिधित्व विशेष निर्वाचन क्षेत्रों में, आगे लिखे अनुपात में होना चाहिए। पंजाब ५० प्रतिशत, संयुक्त प्रांत ३० प्रतिशत' बंगाल ४० प्रतिशत, बिहार २५ प्रतिशत, मध्य प्रदेश १५ प्रतिशत, मद्रास १५ प्रतिशत, बम्बई $\frac{१}{३}$ प्रतिशत।

इस विशेष साम्प्रदायिक रियायत को भी पर्याप्त न समझकर, पैक्ट में इस आशय की एक धारा भी रखी गई थी कि यदि विधान सभाओं में कोई ग़ैरसरकारी सदस्य ऐसा प्रस्ताव रखेगा जिसका किसी एक सम्प्रदाय के तीन-चौथाई सदस्य विरोध करें तो उस पर विचार नहीं किया जा सकेगा।

इन धाराओं के विश्लेषण से प्रतीत होगा कि मुसलमानों को प्रतिनिधित्व का जो अधिकार दिया गया था, वह उनके अनुपात से अधिक था। जब इस पृष्ठभूमि में हम पैक्ट को देखते हैं, तो प्रतीत होता है कि उस समय कांग्रेस ने इस पैक्ट द्वारा निम्नलिखित तत्त्वों को स्वीकार कर लिया था :

(१) भारतीय राष्ट्र के दो भाग हैं—एक मुस्लिम और दूसरा ग़ैर मुस्लिम।
(२) प्रतिनिधित्व की मात्रा निश्चित करने के लिए साम्प्रदायिकता को आधार माना जा सकता है।

(३) भारत में मुसलमानों का विशेष महत्त्व है, इस कारण उन्हें अपनी संख्या से अधिक प्रतिनिधित्व का अधिकार देना उचित है।

कांग्रेस ने कांग्रेस-लीग पैक्ट द्वारा इन तीन बातों को स्वीकार कर अच्छा किया या बुरा, इतिहास-लेखक इस प्रश्न का उत्तर 'हां' या 'न' में न देकर १९१६ से लेकर १९४२ तक के राष्ट्रीय संग्राम की कहानी पाठकों के सामने रखकर उनसे कहेगा कि वे स्वयं इस प्रश्न का उत्तर दें।

कांग्रेस के नेताओं का उद्देश्य बहुत ऊंचा था। वह उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के आन्दोलन में मुसलमानों का सहयोग चाहते थे। इसलिए उन्होंने सौदा किया, परन्तु अगले वर्षों के घटनाचक्र ने साबित कर दिया कि उस सौदे में राष्ट्र ने बहुत खोया। सरकार जिस साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को मोहिनी को बीच में डालकर हिन्दू-मुसलमानों को फोड़ना चाहती थी, कांग्रेस ने उसे अनजाने में स्वीकार कर लिया। मुसलमान भारत में अपनी विशेष राजनीतिक महत्ता का दावा करते थे; उस दावे को भी मान लिया गया, जिससे सारे भारतीय राष्ट्र को मुस्लिम और ग़ैर-मुस्लिम भागों में विभक्त करने की बुनियाद पड़ गई। भारत के स्वाधीनता संग्राम में तब तक उलझनें बढ़ती गईं, जब तक कांग्रेस ने अपनी कार्यनीति के कलुषित भाग को निकालकर 'भारत छोड़ो' (Quit India) की घोषणा नहीं की।

: ३० :

स्वराज्य की नई किश्त

अंग्रेजी राज्य के समय में लाहौर में जनरल लारेंस की एक मूर्ति थी, जिसके नीचे लिखा हुआ था—"तुम तलवार से शासित होना चाहते हो या कलम से?" यह प्रश्न, जो प्रत्यक्ष में भारतवासियों से किया गया था, वस्तुतः अंग्रेजों की अपनी अन्तरात्मा में उठता रहता था। जब से भारत में अंग्रेजी राज्य के प्रति असन्तोष की भावना जागृत हुई, तभी से अंग्रेज यह सोचने लगे थे कि भारत का शासन तलवार से करना चाहिए या कलम से? और इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर न मिलने के कारण उन्होंने दोनों का एक साथ प्रयोग जारी रखा। जब तक अंग्रेजी सरकार ने भारत छोड़कर जाने का अन्तिम निश्चय नहीं कर लिया, तब तक प्रायः सदा एक हाथ में तलवार रखी और दूसरे हाथ में कलम। वह सदा दमन और रियायत दोनों का प्रयोग एक ही समय में करने का यत्न करती थी, जिसका परिणाम यह होता था कि दमन और रियायत दोनों का पूरा प्रभाव नहीं हो पाता था। सरकार के रियायत देने की बात सुनकर प्रजा यह समझती थी कि यह हम लोगों के आन्दोलन का परिणाम है, इस कारण दमन का स्वागत करती थी, और दमन जारी रहता था। इस कारण रियायत निःसार हो जाती थी। तलवार और कलम दोनों एक-दूसरे

की काट कर देती थी। १९१६ से १९१९ तक के तीन वर्षों में भी वही कहानी दुहराई गई।

सन् १९१६ की कांग्रेस में, दोनों दलों में जो एकता दिखाई दी, सरकार ने उसके उत्तर का प्रारम्भ दमन द्वारा किया। १९१७ के जून मास में श्रीमती एनी-विसेण्ट, श्री अरण्डेल तथा मि० वाडिया नजरबन्द कर लिये गए। सरकार इस आघात द्वारा होमरूल के आन्दोलन को कुचलना चाहती थी, परन्तु सदा की भांति परिणाम उलटा ही हुआ। होमरूल लीग का आकर्षण पहले से भी अधिक हो गया। श्री सी० पी० रामस्वामी अय्यर और मि० जिन्ना-जैसे योग्य व्यक्ति लीग में सम्मिलित हो गए। श्रीमती बिसेण्ट और उनके साथियों का कारावास स्वराज्य आन्दोलन के लिए वरदान सिद्ध हुआ।

सरकार ने, लम्बी जेल-यातना से मुक्त होने के पश्चात्, लोकमान्य तिलक को कानूनी ज़ंजीरों में बांधने का यत्न किया था। ६० वर्ष की आयु पूरी होने पर, जहां जनता ने देश के स्वाधीनता-युद्ध में व्यय करने के लिए उन्हें १ लाख रुपयों की थैली भेंट की, वहीं पूना के मजिस्ट्रेट ने उनसे २० हज़ार रुपयों की नेकचलनी की जमानत मांगकर अपनी राज्यभक्ति का परिचय दिया। यों, सरकार का वह वार भी खाली गया। हाईकोर्ट में अपील करने पर मजिस्ट्रेट का हुक्म रद्द हो गया। प्रेस ऐक्ट अपना आरा चला ही रहा था। राष्ट्रीय समाचारपत्रों के गले जमानत, अभियोग आदि की रस्सियों से घोंटे जा रहे थे।

उन्हीं दिनों, अंग्रेजी सरकार महायुद्ध के सम्बन्ध में भारतवासियों से अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न कर रही थी। युद्ध की परिस्थिति बहुत पेचीदा हो गई थी। टर्की के युद्ध में पड़ जाने से संग्राम का कोलाहल भारत की सीमाओं के समीप पहुंच रहा था। साम्राज्य की शक्तियों को बढ़ाने और संगठित करने के लिए, १९१७ में, इंग्लैण्ड में साम्राज्य परिषद्-का अधिवेशन किया गया, जिसमें अन्य उपनिवेशों के समान भारत के दो प्रतिनिधि भी बुलाये गए। वे दो प्रतिनिधि थे, बीकानेर के महाराज और सर सत्येन्द्रप्रसाद सिंह। भारत में भी सरकार की ओर से कुछ ऐसी सभाएं की गईं, जिनका उद्देश्य युद्ध को जीतने में भारत से अधिक सहायता प्राप्त करना था। उन सभाओं में देश के अनेक राष्ट्रीय नेताओं ने भाग लिया। महात्मा गान्धी तथा पं० मदनमोहन मालवीय इस पक्ष में थे कि संकट के समय भारत को इंग्लैण्ड की बिना किसी शर्त के सहायता करनी चाहिए। लोकमान्य तिलक उनसे पूरी तरह सहमत नहीं थे। वह इसी प्रसंग में स्वराज्य की चर्चा भी करना चाहते थे। जब दिल्ली में सरकार द्वारा बुलाई गई एक कान्फ्रेंस में लोकमान्य ने स्वराज्य का नाम लिया तो उन्हें दो मिनट में ही बोलने से रोक दिया गया, जिस पर वह सभा से उठकर चले गए।

सरकार भारतवासियों का पूरा सहयोग तो चाहती थी, परन्तु उनकी एक इस साधारण मांग को कि सेनाओं में भारतवासियों को भी योरोपियन सिपाहियों

के समान ही कमीशन प्राप्त करने का अधिकार दिया जाय, मानने को उद्यत नहीं थी। कांग्रेस ने बहुत पूर्व, १८८७ में, इस आशय का प्रस्ताव स्वीकार किया था कि महारानी की घोषणा के अनुसार अंग्रेजी सरकार को चाहिए कि अंग्रेजों के समान ही भारतवासियों को भी भारतीय सेना में ऊंचे-से-ऊंचे पद तक पहुंचने का अवसर दे। १९१४ में, जब महायुद्ध में, सरकार को भारतीय सैनिकों की आवश्यकता हुई तब देश के प्रतिनिधियों ने सुझाया कि यदि इस समय सेना के ऊंचे पद भारतवासियों के लिए खोल दिये जायं तो देश से हार्दिक सहायता प्राप्त करने में बहुत सुविधा हो जायगी। भारत सरकार ने यह सुझाव विलायत के देवताओं को लिख भेजा, जहां जाकर वह फाइलों के ढेर के नीचे दबा दिया गया। जब लड़ाई का रूप गम्भीर हो गया, तब हिन्दुस्तानियों को हिम्मत बढ़ाने के लिए सेक्रेटरी आव स्टेट ने उस कागज को फाइलों के ढेर के नोचे से निकाला और यह घोषणा कि कि हिज़ मैजेस्टी ने ९ हिन्दुस्तानी अफसरों को ब्रिटिश कमीशन देने की कृपा की है। यह केवल दिलबहलाव था, क्योंकि मांग ९ या १० नियुक्तियों की नहीं थी। मांग यह थी कि भारतीय सेना के वे सब ऊंचे ओहदे, जो केवल अंग्रेजों को दिये जाते थे, हिन्दुस्तानी सिपाहियों के लिए भी खोल दिये जायं। १९१८ में युद्ध की दशा बहुत गम्भीर हो गई थी। तब भी सरकार उस मांग को खुले दिल से पूरा करने को उद्यत न हुई, किया तो केवल इतना कि तब तक ब्रिटिश सैनिकों के लिए सुरक्षित कुछ कमीशनों पर कुछ भारतीयों की अस्थिर नियुक्तियां करने की घोषणा की। सरकार की इस अनुदार और कंजूस नोति ने जहां देश के राजनीतिक हल्कों में रोष की भावना उत्पन्न कर दी वहां सेनाओं में भी आन्तरिक असन्तोष फैला दिया।

सेनाओं के बारे में रूखेपन और देशभक्तों के निरन्तर दमन का यह परिणाम हुआ कि देश के राजनीतिक वातावरण का तापमान बहुत ऊचा चला गया और राजनीतिक बन्दियों को मुक्त कराने के लिए सविनय कानून-भंग की योजनाएं तैयार होने लगीं। १९१७ के जुलाई मास में कांग्रेस को महासमिति और मुस्लिम लीग की एक सम्मिलित बैठक हुई, जिसमें इस आशय का प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि प्रान्तों की कमेटियों से राय ली जाय कि राजनीतिक बन्दियों को मुक्त कराने के उद्देश्य से सत्याग्रह जारी करना सिद्धान्त और उपयोगिता की दृष्टि से उचित है या नहीं? प्रान्तों की कांग्रेस कमेटियों ने अपनी सम्मतियां भेज दीं। बरार सत्याग्रह के पक्ष में था। बिहार ने सम्मति दी कि होमरूल के बन्दियों के अतिरिक्त खिलाफत के मौ० अबुल कलाम आज़ाद और अली भाइयों-जैसे कैदियों के छोड़े जाने की तारीख के बारे में सरकार को नोटिस दे देना चाहिए। उस तारीख के निकल जाने पर सत्याग्रह करना उचित होगा। मद्रास सत्याग्रह का प्रबल समर्थक था। वहां तो बाकायदा सत्याग्रह के प्रतिज्ञा-पत्र भी भरे जाने लगे थे, और सर सुब्रह्मण्यम् अय्यर, सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर-जैसे सरकार द्वारा सम्मानित महानुभावों ने उस पर हस्ताक्षर कर दिये थे। दो-एक प्रान्त ऐसे भी थे, जो अभी

सत्याग्रह को असामयिक समझते थे, परन्तु प्रान्तों का बहुमत सत्याग्रह जारी करने के पक्ष में था।

इस प्रकार देश के वायुमण्डल का तापमान ऊंचा जा रहा था कि इंग्लैण्ड की राजनैतिक परिस्थिति ने फिर एक करवट ली। मेसोपोटामियां के रास्ते से टर्की पर आक्रमण करनेवाली ब्रिटेन की सेनाएं घेरे में आ गईं। इससे इंग्लैण्ड में रोष की एक आंधी-सी उठी, जिसने उस समय के भारत मन्त्री मि० आस्टिन चैम्बरलेन को गद्दी से उठाकर नीचे फेंक दिया, और उसके स्थान पर मि० मांटेगू को बिठा दिया।

मि० मांटेगू अभी युवक थे। उनकी आयु ३६ वर्ष की थी। उनमें आगे बढ़कर कुछ कर गुजरने की उमंग थी। पदारूढ़ होने से पूर्व भारत के सम्बन्ध में वह कई जोशीली वक्तृताएं दे चुके थे। भारत-सम्बन्धी एक वाद-विवाद में मि० मांटेगू ने इंग्लैण्ड की उस समय की नीति की लकड़ी और लोहे से उपमा देकर निन्दा की थी। लार्ड मार्ले और लार्ड क्र्यू के नीचे भारत के अण्डर सेक्रेटरी रहकर, और १९१२ में भारत का भ्रमण करके वह इस देश के मामलों का पुष्कल परिचय पा चुके थे। उनकी नियुक्ति से, भारत के माडरेट नेताओं को बहुत सन्तोष हुआ। सर्वसाधारण के हृदयों में भी नेताओं के सन्तोष के कारण आशा की एक लहर-सी दौड़ गई। सब लोग भारत के प्रति इंग्लैण्ड की नीति में किसी उदार और अनुकूल परिवर्तन की प्रतीक्षा करने लगे।

मि० मांटेगू ने अधिक समय तक प्रतीक्षा नहीं करवाई। पदारूढ़ होने के पश्चात् शीघ्र ही २१ अगस्त १९१७ को आपने पार्लियामेण्ट में एक वक्तव्य दिया जिसमें यह बतलाया कि इंग्लैण्ड की भारत-सम्बन्धी नीति का यह लक्ष्य है कि उसमें उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना की जाय। इस घोषणा के दूसरे ही दिन यह आदेश प्रकाशित किया गया कि भारतीय सेना के कमीशनवाले पदों पर नियुक्त होने का भारतवासियों का वैसा ही अधिकार होगा जैसा अंग्रेजों का है। इन घोषणाओं को हुए अभी एक महीना भी नहीं गुजरा था, कि भारत में नीति-परिवर्तन के चिह्न प्रकट होने लगे। १६ सितम्बर को श्रीमती बिसेण्ट और उनके साथी मुक्त कर दिये गए। इन सब सत्कार्यों को देश में अच्छी प्रतिक्रिया हुई। उससे पूरा लाभ उठाने के लिए मि० मांटेगू स्वयं परिस्थिति का अध्ययन करने और उसे अपने अनुकूल बनाने के उद्देश्य से भारत आये, और उस समय के गवर्नर जनरल लार्ड चैम्सफोर्ड के साथ मिलकर लोकमत को टटोलने और तैयार करने के विस्तृत प्रयत्न में लग गए। वे दोनों प्राय: सभी प्रमुख नेताओं से मिले, बीसियों छोटी-बड़ी संस्थाओं के प्रतिनिधि-मण्डलों से बातचीत की और आनेवाले शासन-सुधारों के लिए क्षेत्र तैयार किया। जो प्रतिनिधि-मण्डल मिले, उनमें से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कांग्रेस और मुस्लिम लीग का सम्मिलित प्रतिनिधि-मण्डल था, जिसने यह मांग पेश की कि नये शासन-सुधारों का आधार लखनऊ में स्वीकार की गई कांग्रेस-लीग योजना को बनाया जाय।

सुधारों की नई योजना, जो मांटेगू-चैम्सफोर्ड स्कीम के नाम से प्रसिद्ध हुई, सरकारी तौर पर १९१८ के जून मास में प्रकाशित की गई। उस समय यह समझा गया कि वह स्कीम मि० मांटेगू और लार्ड चैम्सफोर्ड ने भारत में आकर जो कुछ देखा, सुना, या भारत के नेताओं से परामर्श किया उसका परिणाम था; परन्तु पीछे से यह रहस्य खुल गया कि वह स्कीम तो बहुत पहले ही तैयार हो चुकी थी। इस विषय में हम डा० पट्टाभि द्वारा लिखित 'कांग्रेस के इतिहास' से निम्नलिखित अंश उद्धृत करते हैं :

"लेकिन दूसरी बात के सम्बन्ध में (मि० मांटेगू द्वारा भारतवासियों से परामर्श के सम्बन्ध में) जो असलियत है, वह तो बहुत से लोगों की जानकारी के लिए बहुत ही नई होगी। वह यह कि मांटेगू-चैम्सफोर्ड की यह सारी योजना विस्तृत रूप से मार्च १९१६ में ही तैयार हो गई थी। बात यह थी कि लार्ड चैम्सफोर्ड को वायसराय नियुक्त करने का जब हुक्म पहुंचा, उस समय वह भारत की टैरीटोरियल फौज में मेजर थे। मार्च १९१६ में जब वह इंग्लैण्ड पहुंचे तो उन्हें तैयार की हुई यह सारी योजना दिखाई गई, जिसके साथ उनका नाम जोड़ा जानेवाला था। इसका पता हमें १९३४ में जाकर लगा।"

कहा जाता है कि उस पहले से पकी-पकाई योजना के बनाने में संयुक्त प्रान्त के गवर्नर लार्ड मैस्टन का हाथ था।

रिपोर्ट के प्रकाशित होने पर देश के राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं में दो दल हो गए, अथवा यह कहना चाहिए कि कांग्रेस की दो भुजाएं फिर एक-दूसरे से विपरीत दिशाओं में हिलने लगीं। लखनऊ की कांग्रेस में जो एकता स्थापित हुई थी, उसे रिपोर्ट की कैंची ने फिर काट दिया। अग्रगामी दल (गर्म) रिपोर्ट को दोषयुक्त और इसी लिए त्याग देने के योग्य मानता था, तो माडरेट दल (नर्म) उसे दोषयुक्त मानता हुआ भी स्वीकार कर लेने के पक्ष में था। माडरेट दल के एक मुख्य संचालक मि० सी० वाई० चिन्तामणी ने उस समय की परिस्थिति का निम्नलिखित वर्णन किया है :

"संयुक्त रिपोर्ट अगले (१९१८ के) जून में प्रकाशित हुई। दुर्भाग्य से वह रिपोर्ट कांग्रेस के दोनों पक्षों में नये मतभेद उत्पन्न करने का कारण बन गई। दोनों पक्षों का मत, सुधार योजना के बारे में एक-दूसरे से बहुत भिन्न था। दोनों ही पक्ष मानते थे कि योजना दोषपूर्ण है, परन्तु पुराने कांग्रेसियों का यह विचार था कि यह योजना भारत के उस समय के चालू संविधान की अपेक्षा बहुत आगे बढ़ी हुई है। उनकी राय थी कि सामान्य रूप से सारी योजना, और विशेष रूप से केन्द्रीय सरकार के सम्बन्ध में परिवर्तनों के लिए प्रयत्न जारी रखते हुए, इस समय योजना को स्वीकार करके मि० मांटेगू के हाथ को मजबूत करना देश-हित के लिए आवश्यक है। दूसरा (गर्म) पक्ष योजना को अस्वीकार करने के पक्ष में था।"

यह मतभेद सर्वथा स्पष्ट हो गया जब १९१७ के अन्त में कांग्रेस का अधिवेशन बम्बई में हुआ। उसमें योजना के विषय में दोनों दलों में काफी खींचातानी हुई, परन्तु अन्त में समझौते के रूप में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया गया :

"सम्राट् के भारत मन्त्री ने साम्राज्य सरकार की ओर से यह घोषित किया है, कि उसका उद्देश्य भारत में उत्तरदायी शासन स्थापित करना है—इस पर यह कांग्रेस कृतज्ञतापूर्वक सन्तोष प्रकट करती है।

"यह कांग्रेस इस बात की आवश्यकता पर जोर देती है कि भारतवर्ष में स्वशासन की स्थापना का विधान करनेवाला एक पार्लियामेण्टरी कानून बने, और उसमें निर्दिष्ट समय तक पूरा स्वराज्य मिलने का निर्देश हो।

"इस कांग्रेस की यह दृढ़ सम्मति है कि सुधार की कांग्रेस-लीग योजना कानून के द्वारा सुधार की पहली किश्त के रूप में प्रारम्भ हो।"

बम्बई कांग्रेस में यह प्रस्ताव लगभग सर्वसम्मति से स्वीकार हो गया। हृदयों में मतभेद रहते हुए भी कांग्रेस-लीग योजना के आधार पर सहमति हो जाने से, राष्ट्रीय एकता के बाह्य रूप की रक्षा हो गई।

यह वाह्य एकता भी नष्ट हो गई, जब योजना पर आधारित मसविदा प्रकाशित हुआ। बहुत-से लोग आशा लगाये बैठे थे कि सरकार कांग्रेस और मुस्लिम लीग के समझौते को शासन-सुधारों का आधार बनायेगी। उन्हें निराशा हुई। भारतवासियों की कम-से-कम मांग यह थी कि प्रान्तों में पूरे उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना कर दी जाय; धारा सभा के सदस्य चुने हुए हों, और सब विभाग चुने हुए मन्त्रियों के हाथों में दे दिये जायं। उसके स्थान पर नये बिल में प्रान्तों में केवल डायरकी (द्वैध शासन) की स्थापना का प्रस्ताव था। कुछ गौण महकमे चुने हुए मन्त्रियों को सौंपे गए थे, शेष खजाना, सेना, रेल आदि सब महत्त्वपूर्ण महकमों पर सरकारी आदमियों का अधिकार रखा गया था। मन्त्री धारा सभा के प्रति उत्तरदायी थे, परन्तु सरकारी विभागाध्यक्ष गवर्नर के प्रति। केन्द्र की व्यवस्था में तो उत्तरदायित्व की छाया भी नहीं थी। सभी विभाग सरकारी आदमियों के हाथों में रखे गए थे। वे 'उन-उन विभागों के अध्यक्ष मेम्बर' कहलाते थे, और गवर्नर जनरल के प्रति उत्तरदायी थे। इस टूटी-फूटी योजना के प्रकाशित होने पर देश में निराशा और असन्तोष की आंधी का चलना आवश्यक ही था। अग्रगामी दल के नेताओं ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर दी कि उन्हें शासन-सुधार मान्य नहीं होंगे। माडरेट लोगों की स्थिति अद्भुत थी। वह भी सुधार-सम्बन्धी मसौदे से सर्वथा असन्तुष्ट थे, फिर भी 'अवसर' से लाभ न उठाने के विरुद्ध थे। उन्हें यह भी आशा थी कि यदि उनका शिष्टमण्डल विलायत जाकर सुधार-सम्बन्धी सिलेक्ट कमेटी के सामने कुछ सुझाव रखेगा, तो वे मान लिये जायंगे। इस कारण उन्होंने अपनी नीति का नाम रखा—'जो मिले सो ले लो और अधिक के लिए यत्न करो।' उनका शिष्टमंडल इंग्लैण्ड गया, और कमेटी के सामने अपने सुझाव भी रखे, परन्तु परिणाम कुछ भी नहीं निकला।

इस विचार-संघर्ष में श्रीमती एनी बिसेण्ट की स्थिति बहुत डांवाडोल हो गई। जब पहले-पहल मांटेगू-चैम्सफोर्ड योजना प्रकाशित हुई तो श्रीमती बिसेण्ट ने कहा था कि इंग्लैण्ड भारत को जो सुधार देना चाहता है, उनके देने में न इंग्लैण्ड की शोभा है, और लेने में न भारत की। अपनी नजरबन्दी से छूटने के पश्चात् श्रीमती बिसेण्ट ने कई बार वायसराय से मिलने का यत्न किया, परन्तु वायसराय ने मिलने का समय नहीं दिया। अन्त में १९१७ के अन्त में कहीं जाकर श्रीमती बिसेण्ट को भेंट का अवसर दिया गया। श्रीमती बिसेण्ट पर उस भेंट का गहरा असर हुआ, या पहले से ही उनका मत बदल चुका था, यह कहना कठिन है। परन्तु देशवासी आश्चर्यान्वित हो गए, जब भेंट के पश्चात् श्रीमती बिसेण्ट यह कहने लगीं कि हमें मि० मांटेगू का साथ देना चाहिए। इतना ही नहीं, होमरूल के कार्यकर्त्ता नये शासन-सुधारों के समर्थन में देशवासियों के हस्ताक्षर भी लेने लगे। उनके ऐसे मत-परिवर्तन को लक्ष्य करके लोकमान्य तिलक ने 'केसरी' में एक अग्रलेख लिखा था, जिसका शीर्षक था—'पुनर्मूषिको भव'। श्रीमती बिसेण्ट के मत-परिवर्तन ने वस्तुतः अग्रगामी दल को बहुत कठिनाई में डाल दिया था।

१९१८ के दिसम्बर मास में, दिल्ली में परिस्थिति पर विचार करने के लिए कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। उसके सभापति-पद के लिए लोकमान्य तिलक का निर्वाचन हुआ था, परन्तु उन्हें शिरोल केस के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड जाना पड़ा, इस कारण अधिवेशन पं० मदनमोहन मालवीय की अध्यक्षता में हुआ। अभी तक यह निश्चय नहीं हो सका था कि शासन-सुधार-सम्बन्धी बिल का अन्तिम रूप क्या होगा। इस कारण दिल्ली के अधिवेशन में फिर यह आशा प्रकट की गई कि सरकार कांग्रेस-लीग समझौते के मूल सिद्धान्तों को स्वीकार कर लेगी, और प्रान्तों में पूरा उत्तरदायित्वपूर्ण शासन प्रचलित करने में देर न लगायेगी इस अधिवेशन में उस रौलट रिपोर्ट की भी चर्चा हुई, जो भविष्य में आनेवाले भयंकर राजनीतिक उत्थान का मूल कारण बनी।

१९१७ और १९१८ के कांग्रेस अधिवेशनों ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि कांग्रेस के दोनों पक्षों में स्थायी एकता होना सम्भव नहीं। किसी मौलिक विषय में मतभेद न होते हुए भी मानसिक प्रवृत्तियों में इतना तीव्र भेद था कि दोनों का साथ-साथ चलना असम्भव-सा हो गया। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, और श्री चित्तरंजन दास, गोखले और लोकमान्य तिलक, इन चारों की देशभक्ति कुन्दन से भी अधिक खरी थी, तो भी प्रवृत्तियों में इतना अन्तर था कि उनका देर तक साथ मिलकर विचारना असम्भव हो गया था। परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस के पुराने महारथियों ने कांग्रेस को छोड़ने का निश्चय कर लिया। नवम्बर के महीने में, श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की अध्यक्षता में, बम्बई में एक विशेष सम्मेलन हुआ, जिसमें 'लिबरल पार्टी' की विधिपूर्वक स्थापना की गई, जिसे इससे पहले 'नर्मदल' या 'माडरेट पार्टी' के नाम से निर्दिष्ट किया

जाता था, वह अब इंग्लैण्ड की लिबरल पार्टी के अनुकरण में, भारत की लिबरल पार्टी कहलाने लगी। बहुत-से पुराने राष्ट्रीय नेता कांग्रेस को छोड़कर नई पार्टी में सम्मिलित हो गए।

: ३१ :

जन-जागरण

भारतवासियों के अनेक और निरन्तर प्रतिवादों की उपेक्षा करके, ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने १९१९ का इंडिया ऐक्ट लगभग उसी रूप में स्वीकार कर लिया, जैसा मांटेगू-चैम्सफोर्ड योजना में प्रस्तुत किया गया था। उस ऐक्ट को पास करके इंग्लैण्ड ने समझा कि उसने हिन्दुस्तानियों को इतने अधिकार दे दिये हैं, जितने के वे अधिकारी भी नहीं थे; और भारतवासियों ने यह माना कि इंग्लैण्ड ने उन्हें टालने के लिए केवल खिलौने पकड़ा दिये हैं, शासन के वास्तविक अधिकार कुछ भी नहीं दिये। फलतः १९१८-१९ में हमारा राजनीतिक घटनाचक्र उस बिन्दु पर पहुंच गया था, जहां भारत और इंग्लैण्ड का नैतिक-संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया था। इसके आगे दो ही मार्ग थे। या तो इंग्लैण्ड भारत की स्वाधीन होने की इच्छा को कुचलकर चिरकाल के लिए निश्चित हो जाता, या भारत उस मार्ग पर चल देता जिसका नाम राज्य-क्रान्ति है। उस तपे हुए वातावरण में बीच का कोई रास्ता शेष नहीं रहा था।

परन्तु यह समाजशास्त्र का एक अटल सिद्धान्त है कि कोई राजनीतिक क्रान्ति सफल नहीं हो सकती, जब तक वह राष्ट्र की मानसिक और सामाजिक क्रान्ति पर आधारित न हो। संसार की राज्य-क्रान्तियों का सम्पूर्ण इतिहास इस सिद्धान्त को पुष्ट करता है। योरप में १८वीं शताब्दी में जो राज्य-क्रान्तियां हुईं वे असम्भव थीं यदि पहले 'रिनेसां' और उसके पश्चात 'रिफार्मेशन' द्वारा योरप में मानसिक क्रान्ति न हो चुकी होती। यदि समर्थ गुरु रामदास और अन्य सन्त महाराष्ट्र की जनता को अपने उपदेशों से मानसिक रूढ़ियों के गढ़े में से निकालकर जीवन के ऊंचे स्तर पर पहुंचा न देते तो शिवाजी को स्वाधीनता के युद्ध में सफलता प्राप्त न होती।

१९१८ के अन्त में भारत के सामने एक भीषण समस्या आकर खड़ी हो गई थी। उधर इंग्लैण्ड उसे सदा अपने अधीन बनाये रखने के लिए साम, दान, दण्ड और भेद इन चारों उपायों का प्रयोग कर रहा था। इधर भारतवासियों का यह संकल्प दृढ़ होता जा रहा था कि वह अपने देश का शासन अपने हाथों में लेंगे। यदि किसी समय राज्य-क्रान्ति अनिवार्य समझी जा सकती थी, तो वह समय १९१८ में था। परन्तु प्रश्न यह था कि क्या भारत की जनता १९१८ में राज्य-क्रान्ति के

लिए तैयार थी? जब हम १८५७ से १९१८ तक के भारतीय इतिहास पर व्यापक दृष्टि डालते हैं, तो हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि उन वर्षों में देश की जनता में जो मानसिक और सामाजिक जागृति उत्पन्न हुई, वह राजनीतिक जागृति की अपेक्षा कुछ अधिक थी। किसी देश की राजनीतिक परिस्थिति उसकी आन्तरिक दशा का परिणाम होती है। प्रायः ऐसा देखा गया है कि देखनेवाले की दृष्टि चिह्नों तक सीमित रहती है, कारणों तक नहीं जाती। यह देखना आवश्यक है कि क्या १८५७ और १९१८ के मध्यवर्ती ६१ वर्षों में भारत की मानसिक और सामाजिक परिस्थिति में भी कोई परिवर्तन हुआ या नहीं? और हुआ तो कैसे?

१९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में राजा राममोहन राय, महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द आदि युग-निर्माताओं ने देश में जागृति की जो ज्योति जगाई, उसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। जागृति की वह ज्योति समय के साथ-साथ अधिक प्रखर होती गई। सशस्त्र क्रान्ति के पश्चात् कुछ वर्षों तक राजनीतिक परिस्थिति शान्त रही। उस शान्ति से देश ने पूरा लाभ उठाया। मानसिक तथा सामाजिक क्रान्ति का श्रीगणेश उन्हीं वर्षों में हुआ। १८८५ में राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) की स्थापना के पश्चात् राजनीतिक आन्दोलन की सहायता पाकर बौद्धिक क्रान्ति का प्रवाह और अधिक वेगवान हो गया, यहां तक कि कुछ समय पीछे सामाजिक क्रान्ति की लहर राजनीतिक क्रान्ति से भी आगे बढ़ गई। यदि केवल राजनीतिक चित्र-पट पर दृष्टि को सीमित न करके देश के सर्वांगीण इतिहास पर दृष्टि डालें तो हमें यह देखकर आश्चर्य होगा कि १९१८ में देश मानसिक उन्नति और सामाजिक परि-वर्तनों की दृष्टि से राजनीतिक सुधारों की अपेक्षा बहुत आगे जा चुका था।

मानसिक उन्नति का पहला साधन और लक्षण शिक्षा है। ब्रिटिश सरकार जानती थी कि प्रजा की शिक्षा उसके मन की चाबी है। उसने १८३५ के प्रस्ताव द्वारा उस चाबी पर अधिकार जमाने की चेष्टा की थी। पूर्वकाल में प्रचलित पाठ-शालाओं और मकतबों पर आश्रित शिक्षा के संगठन को अंग्रेज शासकों ने प्रारम्भ में ही काटकर फेंक दिया था। उनकी ओर से ऊंची शिक्षा को अपने हाथ में लेने के लिए जो प्रयत्न किए गये, उनका वृत्तान्त पहले दिया जा चुका है। उसके पश्चात् भी सरकार भारत की सम्पूर्ण शिक्षा को अपने शासन का सहायक बनाने के प्रयत्न में लगी रही।

लार्ड मेकाले का वह शिक्षा-सम्बन्धी खरीता, जिसे उस समय के अंग्रेजों की मनोवृत्ति का चित्र कह सकते हैं, १८३५ में प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् लगभग २० वर्षों तक भारतवासियों को शिक्षित करने के लिए सरकार की ओर से जो प्रयत्न किये गए, उसका वर्णन स्वयं सरकार के शब्दों में, १९०९ के इम्पीरियल गज़ेटियर में इस प्रकार किया गया है:

"यह सम्भव नहीं है कि आगामी २० वर्षों में स्वीकृत सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षा के लिए जो यत्न किये गए उनका संक्षिप्त वर्णन भी किया जाय। शिक्षा की उन्नति करने में ईसाई पादरियों के प्रयत्न जारी रहे।

शिक्षित 'नेटिवों' की दिलचस्पी बढ़ती रही, और सरकार अपने उत्तरदायित्व को अधिकाधिक अनुभव करती रही। बंगाल में बोर्ड आव एजूकेशन की देखरेख में ऊंची और मध्यम श्रेणी के बालकों को पढ़ाने के लिए कालेज और स्कूल खोले गए, परन्तु प्रारम्भिक शिक्षा की उन्नति के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं किया गया। अधिकारी उस कार्य की विशालता और कठिनाइयों से डरते रहे, और यह कहते रहे कि शिक्षा ऊपर की श्रेणी के लोगों से सर्वसाधारण में स्वयं ही टपक जायगी (अध्याय १३)।"

इस उद्धरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सरकार की ओर से सर्वसाधारण को शिक्षित करने का कुछ भी प्रयत्न नहीं किया गया; परन्तु फिर भी एक ओर ईसाई पादरी और दूसरी ओर देश के शिक्षित लोग शिक्षा के प्रचार में निरन्तर लगे रहे। सरकार की ओर से उपेक्षा होते हुए भी शिक्षा की उन्नति का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि १८८२ में सार्वजनिक शिक्षण संस्थाओं की संख्या ९०,००० हो गई थी, और उनमें २५ लाख के लगभग छात्र शिक्षा पाते थे। कालेजों में शिक्षा प्राप्त करनेवालों की संख्या ६,००० थी। यह संख्या निरन्तर बढ़ती गई। १९०२ में संस्थाओं की संख्या १ लाख से ऊपर हो गई थी, जिनमें लगभग ४० लाख छात्र पढ़ रहे थे। इन वर्षों में प्राइमरी स्कूलों में पढ़नेवाले छात्रों में ४९ फीसदी की और सेकेण्डरी स्कूलों के छात्रों में १८० फीसदी की वृद्धि हुई। यद्यपि देश की जनसंख्या को दृष्टि से यह संख्या बहुत कम थी, क्योंकि हिसाब लगाने से वह सारी आबादी का ७ फीसदी भी नहीं था, तो भी पहले की अपेक्षा अधिक थी।

जब हम १९१८-१९१९ की रिपोर्ट पर दृष्टि डालते हैं तो हमें शिक्षा के प्रसार में विशेष उन्नति के चिह्न दिखाई देते हैं। शिक्षणालयों में पढ़नेवाले छात्रों का सारी जनसंख्या से अनुपात धीरे-धीरे ऊंचा हो रहा था। वह अनुपात १९०९ में लगभग २ प्रतिशत था। १९१९ में वह ३ प्रतिशत और १९२० में ३·३६ प्रतिशत हो गया। यद्यपि आबादी के अनुपात से यह बहुत ही थोड़ा और नगण्य था, परन्तु वृद्धि की दृष्टि से पर्याप्त था। करोड़ों की आबादी में एक फीसदी का अभिप्राय था लाखों।

प्रारम्भ में अंग्रेजी सरकार का अधिक जोर ऊंची शिक्षा पर रहा। उन्हें अपना शासन-यंत्र चलाने के लिए पढ़े-लिखे पुर्जों की आवश्यकता थी। ये पुर्जे हाई-स्कूलों और कालेजों में ही गढ़े जा सकते थे, इस कारण सरकार मध्यम और ऊंची शिक्षा को बढ़ावा देती रही; परन्तु देश में शिक्षा की भूख अंग्रेजों के अनुमान से बहुत अधिक हो गई। शिक्षित भारतीयों की संख्या सरकारी नौकरियों की अपेक्षा बहुत बढ़ गई। फलतः शिक्षित समुदाय सरकार के लिए एक संकट बन गया। उस समय की सरकारी रिपोर्टों में इस बात पर बहुत चिन्ता प्रकट की जाती थी कि भारत के सेकेण्डरी स्कूलों और कालेजों में शिक्षा पानेवाले छात्रों की संख्या का सारी जनसंख्या से अनुपात इंग्लैण्ड और वेल्स से भी अधिक है। लार्ड कर्ज़न के

यूनिवर्सिटीज़ ऐक्ट का मुख्य उद्देश्य ऊंची शिक्षा पानेवाले भारतीय युवकों की संख्या को घटाना ही था।

ऊंची शिक्षा देने के परिणामों से घबराकर सरकार प्राइमरी शिक्षा को बढ़ावा देने की बात सोचने लगी। सरकार को प्राइमरी शिक्षा की ओर प्रवृत्त करने के दो और कारण भी हुए। श्रीयुत गोपाल कृष्ण गोखले के प्रारम्भिक शिक्षा-सम्बन्धी विल को यद्यपि सरकार ने स्वीकार नहीं किया तो भी संसार के सामने अपना मुंह उज्ज्वल रखने के लिए उसे प्रारम्भिक शिक्षा का वकील बनना पड़ा। दूसरा कारण यह हुआ कि कई उन्नतिशील रियासतों में अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा के सिद्धान्त को कार्यान्वित कर दिया गया। इस दिशा में सबसे पहला शानदार कदम बड़ौदा के प्रगतिशील शासक श्री सयाजीराव गायकवाड़ ने उठाया था। उसके पीछे अन्य भी कई रियासतों में प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य बना करके सर्वसाधारण को साक्षर बनाने के शुभ प्रयत्न का सूत्रपात किया गया।



सयाजीराव गायकवाड़

प्रारम्भिक, माध्यमिक और ऊंची—तीनों प्रकार की शिक्षा के विस्तार का जो कार्य १८८५ के पश्चात् देश की धार्मिक, सामाजिक और अन्य सार्वजनिक संस्थाओं और व्यक्तियों द्वारा प्रारम्भ किया गया था, वह निरन्तर विस्तृत होता गया। बंग-विच्छेद के कारण जो राजनीतिक जागृति उत्पन्न हुई थी, उसने राष्ट्रीय शिक्षा की भावना को खूब बढ़ाया। अनेक स्वतंत्र राष्ट्रीय शिक्षणालय खोले गए। पूना, कलकत्ता, लाहौर तथा अन्य सभी बड़े नगरों में छोटे-बड़े राष्ट्रीय विद्यालय खोले गए, जिनके कारण देश की जनता में शिक्षा का विस्तार तो हुआ ही, शिक्षा की मांग और भी अधिक बढ़ गई।

इस प्रकार अनेक बाधाओं के होते हुए भी सभी श्रेणियों में शिक्षा का प्रसार बढ़ रहा था। मध्यम और उच्च श्रेणियों में शिक्षा के प्रसार का वेग कुछ अधिक था। परन्तु उस शिक्षा का एक बड़ा दोष यह था कि वह केवल पुस्तकीय विद्या प्रदान करती थी। व्यावहारिक शिक्षा का उससे कोई वास्ता नहीं था। फलतः यूनिवर्सिटियों के स्नातक या तो सरकारी नौकरी कर सकते थे, अथवा वकालत-डाक्टरी आदि पेशों में जाकर रोटी कमा सकते थे। इन सब प्रकार के रोजगारों में ऊंची शिक्षा प्राप्त करनेवालों के केवल १० फीसदी भाग को ही स्थान मिल सकता था। शेष ९० फीसदी नवयुवक पढ़-लिखकर बेरोज़गारी की दलदल में फंस जाते थे। बेरोज़गारी असन्तोष की जननी है, और असन्तोष क्रान्ति का मुख्य कारण है। इस प्रकार उस समय की व्यावहारिकता से शून्य किताबी

शिक्षा बेचैनी को बढ़ाकर जनता के राजनीतिक जागरण का कारण बन रही थी।

शिक्षा, समाज-सुधार और घटना-चक्र के कारण देश की भिन्न-भिन्न श्रेणियों में जो जागृति उत्पन्न हो रही थी, उससे सम्पूर्ण राष्ट्र की जागृति को बहुत बल मिला। सबसे बड़ा मानसिक परिवर्तन महिलाओं में आ रहा था। हिन्दू स्त्रियों पर सदियों से जो कठोर और घातक नियन्त्रण लगे हुए थे, उनका विरोध १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में प्रारम्भ हो गया था। राजा राममोहन राय, महर्षि दयानन्द, पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे आदि सुधारक महापुरुषों की प्रेरणा, और उनके अनुयायियों के निरन्तर प्रयत्नों से स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार दिनोंदिन बढ़ रहा था, सती प्रथा उड़ हो चुकी थी, पर्दे की कुप्रथा धीरे-धीरे हट रही थी, विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा जारी हो गई थी, और उन्हें पुरुषों के समान सार्वजनिक अधिकार देने का समर्थन प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा किया जा रहा था। इन कारणों से राष्ट्र का वह भाग, जो एक शताब्दी पहले अर्धांग रोग से प्रभावित अवयव की भांति बिलकुल निराश पड़ा हुआ था, चेतना पाकर जीवन के रणक्षेत्र में कूदने के लिए तैयार हो गया था।

स्त्रियों में शिक्षा के प्रचार तथा पर्दा आदि की कुप्रथाओं को दूर करनेवाली संस्थाएं देश में प्रतिवर्ष बढ़ रही थीं। आर्य-समाज, ब्राह्म-समाज, प्रार्थना-समाज आदि धार्मिक संस्थाओं के प्रयत्न निरन्तर चल रहे थे। उन दिनों कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर प्रायः प्रतिवर्ष समाज-सुधार-सम्मेलन (सोशल कान्फ्रेंस) का अधिवेशन भी किया जाता था। उसमें स्त्रियों को शिक्षा देने और उन पर लगे हुए अनुचित प्रतिबन्धों को हटाने के पक्ष में भी प्रस्ताव स्वीकार किया जाता था। स्त्रियों में जागृति उत्पन्न करने के लिए जो अन्य संस्थाएं स्थापित हुईं, और बहुत उपयोगी कार्य करती रहीं, उनमें से कुछ-एक ये हैं—सेवासदन, पूना; नारी सुधार सभा, गुजरात; यंग वुमेन्स क्रिश्चियन एसोसियेशन।

हिन्दू स्त्रियों में पर्दे की हानिकारक प्रथा के हटने का इतिहास उतार और चढ़ाव से भरा हुआ है। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार का पहला प्रभाव यह हुआ कि समाज के एक भाग में से पर्दा एकदम हटना आरम्भ हो गया। इस पर पुराने समाज में जोर की प्रतिक्रिया होने लगी, जिससे कई श्रेणियों में पर्दे की लम्बाई हाथ-दो हाथ बढ़ गई। सैय्यद और सोती परिवारों के पर्दे, राजपूत और वैश्य परिवारों के पर्दे की लम्बाई से होड़ करने लगे; परन्तु यह प्रतिस्पर्द्धा देर तक न चली। सब बाधाओं के होते हुए भी नई सन्तति में स्त्री-शिक्षा का प्रसार बढ़ता गया, और समय के प्रभाव से दासता की कृत्रिम जंजीरें टूटती गईं। हम निःसंकोच भाव से कह सकते हैं कि १९१८-१९ में हिन्दू स्त्रियों का एक ऐसा समुदाय तैयार हो चुका था, जो न केवल अन्धकार के गढ़े से निकल गया था, अपितु अपनी बहिनों के शिक्षण और सुधार के काम को हाथ में लेने और देश के सार्वजनिक जीवन में भाग लेने को भी पूरी तरह सन्नद्ध था।

देश का दूसरा पिछड़ा हुआ वर्ग वह था, जिसे अन्त्यज, अस्पृश्य तथा अछूत-जैसे नामों से पुकारा जाता था। गत ४० वर्षों में उसकी दशा में बहुत परिवर्तन आ चुका था। सभी सुधारकों ने अस्पृश्यता के निवारण को अपने कार्यक्रम का एक आवश्यक भाग बनाया था। स्वामी दयानन्द सरस्वती देश की भलाई के लिए जात-पांत और छुआछूत के बन्धनों का निवारण आवश्यक मानते थे। उनके पीछे आर्य-समाज ने मेघ, रैगड़ आदि अस्पृश्य समझी जानेवाली जातियों को यज्ञोपवीत धारण करने और वेद पढ़ने तक का अधिकार देकर उस पिछड़े हुए वर्ग में एक नया आत्मसम्मान जागृत कर दिया था। प्रतिवर्ष कांग्रेस के साथ सोशल कान्फ्रेन्स के जो अधिवेशन होते थे, उनमें अछूतों के साथ होनेवाले अन्याय की जोरदार निन्दा की जाती थी। प्रायः प्रत्येक प्रान्त में ऐसी संस्थाएं स्थापित हो रही थीं, जो अस्पृश्यता के विरुद्ध प्रचार करती थीं, और व्यावहारिक रूप से ऐसे उपाय करती थीं कि सवर्णों और अवर्णों में जो कृत्रिम भेदभाव उत्पन्न हो गया है, वह नष्ट हो जाय। इन सब प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि यद्यपि अस्पृश्यता के विषवृक्ष का सर्वनाश नहीं हुआ था, तो भी उसकी जड़ें पूरी तरह हिल गई थीं। अछूत कहलानेवाली जातियों में यह भावना उत्पन्न हो गई थी कि "हम भी अन्य देशवासियों की तरह मनुष्यता के अधिकारी हैं। हम स्वभाव से हीन नहीं हैं, यदि हमारा जीवन ऊंचा हो जाय तो हम ऊंचे बन सकते हैं।" इस मानसिक जागरण ने उनमें से बहुत-से लोगों को इस योग्य बना दिया था कि वह देश के प्रति अपने कर्त्तव्य को समझ सकें, और बुलावा आने पर कर्त्तव्य के मैदान में उतर सकें

इसी प्रकार श्रमिक-वर्ग की दशा में भी बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया था। देश के किसानों और मजदूरों की ऐसी अनेक संस्थाएं बन गई थीं, जिन्होंने उन्हें अन्धकार और उपेक्षा के गढ़े से निकालकर जीवन-संग्राम के क्षेत्र में खड़ा कर दिया था। सदियों के अज्ञान और बिगड़ी हुई सामाजिक परम्पराओं के कारण कार्य तो बहुत कठिन था, परन्तु देश-भर में फैलती हुई चेतना का निचले स्तरों में न पहुंचना असम्भव था। किसानों में स्थान-स्थान पर किसान सभाएं स्थापित हो गईं, जो उन्हें ज़मींदारों और सरकार की ज्यादतियों से बचाने का यत्न करती थीं। उत्तर प्रदेश में 'एका' नाम की एक बड़ी यूनियन बनी थी, जिसका उद्देश्य अपने अधिकार प्राप्त करने के लिए सब किसानों को संयुक्त रूप से संगठित करना था। इस आन्दोलन से प्रभावित होकर सरकार ने भी अवध टैनेन्सी ऐक्ट और बेगार-विरोधी ऐक्ट आदि कानूनों द्वारा किसानों के संरक्षण का प्रयत्न किया। इन सब कारणों से देश के कृषिकारों में जो जागृति उत्पन्न हुई वह भी अवसर आने पर, देशव्यापी अशान्ति को बढ़ाने में सहायक हुई।

मज़दूर दल भी किसानों से पीछे नहीं रहा। नगरों में रहने के कारण उनमें किसानों की अपेक्षा जागृति की मात्रा कुछ अधिक ही थी। लोकमान्य तिलक को हाईकोर्ट से ६ वर्ष की जेल की सजा मिलने पर बम्बई की लगभग सब मिलों के

मजदूरों ने हड़ताल कर दी थी। वह इस बात का प्रमाण था कि उनके दिलों पर राष्ट्रीय भावना अपना प्रभाव जमा रही थी। देश के अनेक केन्द्रों में मजदूर संघ स्थापित हो रहे थे, जो मज़दूरों की आर्थिक तथा अन्य मांगों को पूरा कराने के लिए सम्मिलित प्रयत्न में लगे हुए थे। १९१८ का मज़दूर वर्ग १९०० के मज़दूर वर्ग से बहुत भिन्न था। वह अधिक चेतन, अपने अधिकारों से अधिक अभिज्ञ और देश के सामुदायिक जीवन से अधिक प्रभावित था।

नई चेतना उत्पन्न करने में अंग्रेजी सरकार का भी कम भाग नहीं था। अंग्रेजी सरकार ने अपने शासन की सुविधा के लिए देश के विभिन्न भागों को एक सूत्र में पिरोने का जो यत्न किया, उसने राष्ट्रीय जागृति की सब से पहली शर्त—एकता की भावना—को जन्म देने में जादू का-सा काम किया। एक वर्ग को दूसरे वर्ग मे लड़ाने के लिए अंग्रेजी सरकार निर्बल वर्गों को सहारा देती थी, इसका परिणाम यह हुआ कि जो श्रेणियां पिछड़ी हुई थीं, वे आगे बढ़कर उन्नत श्रेणियों के पास पहुंच गई, जिससे क्रान्ति की ज्वाला भड़कने पर देश के सभी वर्ग कन्धे-से-कन्धा लगाकर खड़े हुए दिखाई देने लगे।

मुसलमानों की पृथक् राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं को भड़काकर सरकार ने जो साम्प्रदायिकता का भूत खड़ा किया था, खिलाफत की समस्या उत्पन्न होने के कारण उसने भी अपने पंजे कुछ समय के लिए सरकार की ओर को ही फैला दिये, जिससे योरप के पहले महायुद्ध की समाप्ति पर हम सारे भारत को ऐसी बेचैनी और चेतना का केन्द्र बना हुआ पाते हैं, जिससे क्रान्ति का जन्म अवश्यम्भावी हो गया।

: ३२ :

साहित्यिक जागरण

भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं के साहित्य में, १८५७ की राज्य-क्रान्ति से पूर्व और पीछे के कुछ वर्षों में, जो जागृति अंकुरित हुई, उसकी थोड़ी-सी चर्चा हम इससे पूर्ववर्ती अध्यायों में कर आये हैं। अब अवसर आ गया है कि बीसवीं सदी के उस देशव्यापी साहित्यिक उत्थान का विस्तृत विवरण दिया जाय, जिसने देश को सर्वतोमुखी क्रान्ति के लिए तैयार किया।

नये युग में जिस प्रान्त में सब से प्रथम साहित्यिक जागरण आरम्भ हुआ वह बंगाल था। नये युग के प्रारम्भ में जिन यशस्वी लेखकों ने बंगला साहित्य को समृद्ध किया, उनमें से राजा राममोहन राय, पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि की चर्चा हो चुकी है। बंकिमचन्द्र न केवल एक महान् लेखक थे, वे एक नई शैली और नई चेतना के जन्मदाता भी थे। उनके प्रायः सभी उपन्यासों में देशभक्ति, वीरता और

स्फूर्ति की पुट थी। यदि हम यह कहें कि वंग-विच्छेद के पश्चात् बंगाल प्रान्त की राजनीति पर 'आनन्दमठ' और 'देवी चौधरानी' की छाप थी, तो अत्युक्ति न होगी। श्रीयुत रमेशचन्द्र दत्त के उपन्यासों में, विशेषत: 'जीवन प्रभात' और 'जीवन सन्ध्या' में, स्वाधीनता की तड़प भरी हुई थी।

बंगला में मौलिक नाटकों की रचना बहुत पहले से आरम्भ हो गई थी। जब अभी अन्य प्रान्तीय भाषाओं के वर्तमान रूप का निर्माण ही हो रहा था, बंगाल में माइकेल मधुसूदन दत्त, मनोमोहन बसु, हरलाल राय, ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर, अमृतलाल बसु और द्विजेन्द्रलाल राय आदि नाटककार अपनी कृतियों से बंगला साहित्य की निधि को भर चुके थे। इन नाटककारों में से जिनकी कृतियों ने राष्ट्रीय भावना को विशेष रूप से जागृत किया वे थे माइकेल मधुसूदन दत्त और द्विजेन्द्रलाल राय। द्विजेन्द्रलाल राय की भाषा तथा शैली में चाहे कृत्रिमता आदि अनेक दोष दिखाए जायं, परन्तु देशप्रेम को जागृत करने में उनके नाटकों ने जो अद्भुत कार्य किया, उससे इनकार नहीं किया जा सकता।

बंगला साहित्य को कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं, उपन्यासों तथा नाटकों ने उसकी चरम ऊंचाई तक पहुंचा दिया। उनकी कविताओं में भक्ति-रस और वीररस का, परलोक और इहलोक का, आदर्शवाद और व्यावहारिकता का इतना उत्कृष्ट समन्वय है कि वह अपने युग के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। केवल बंगला साहित्य ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय साहित्य ने उनकी कृतियों से जागृति और चेतना प्राप्त की है। जैसे 'वन्देमातरम्' गीत के कवि बंकिम को भारतीय स्वाधीनता के इतिहास का लेखक नहीं भुला सकता, उसी प्रकार 'जन गण मन' के कवि को भी विस्मरण नहीं कर सकता। ये दोनों गीत बंगाल के दो महाकवियों की भारत को देन हैं।

रवीन्द्रनाथ के समसामयिक और उत्तरवर्ती बंगला के कवियों पर कवीन्द्र रवीन्द्र की छाप है। नज़रुल हक़ ने यद्यपि बंगला में गज़लों का प्रवेश करके पुरानी पद्धति को विचलित कर दिया, तो भी उनमें ओजस्विता की कमी नहीं। यह कवि क्रान्ति की भावना का प्रतिनिधि है। उसकी कविताओं में युवक समाज को प्रेरित करने की शक्ति है।

बंगला गद्य के महान् जादूगर शरच्चन्द्र का देश के साहित्यिक जागरण में अनूठा स्थान है। यद्यपि शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय की कहानियों में राष्ट्रीयता अथवा राजनीति की सीधी चर्चा का लगभग अभाव है, परन्तु उनका सामाजिक दृष्टिकोण इतना नवीन और विशाल है कि उनसे हृदय और बुद्धि को नैसर्गिक प्रेरणा मिलती है, और वस्तुत: प्रेरणा ही जागृति का मूल कारण है। शरत् के उपन्यास पाठक के मन में उन लोगों के लिए सहानुभूति उत्पन्न कर देते हैं, जिन्हें सामान्य रूप से समाज गिरा हुआ अथवा अपराधी मान लेता है। स्त्री-स्वभाव के विश्लेषण में शरत् को अद्भुत सफलता मिली है। जो लोग परिस्थितियों के कारण कुमार्ग पर चले जाते हैं, उन्हें शरत् की कथाएं घृणा के क्षेत्र से निकालकर दया के क्षेत्र में

खड़ा कर देती हैं। यह भी एक महती विचार-क्रान्ति है, जिसके उत्पन्न करने में शरत्साहित्य ने पर्याप्त सहायता दी है।

बंगला के चार कदम पीछे हिन्दी ने नवयुग के द्वार में प्रवेश किया। हिन्दी केवर्तमान रूप का प्रादुर्भाव १८वीं सदी के अन्त में होने लगा था। यद्यपि सरकारी दफ्तरों में उस समय उर्दू और फारसी का एकछत्र राज्य था, तो भी साधारण जनों में प्रचार के लिए हिन्दी की उपयोगिता स्वीकार होने लगी थी। ईसाई मिशनरियों ने हिन्दी में अपने धार्मिक ग्रन्थ प्रभूत मात्रा में प्रकाशित किये, तथा कई प्रान्तों के प्रारम्भिक शिक्षाक्रम में उसे आवश्यक स्थान दिया गया। परन्तु वस्तुतः वर्तमान हिन्दी को देश की भाषाओं में प्रमुख स्थान दिलाने का श्रेय दो महापुरुषों को है। साहित्यिक क्षेत्र में नवीन हिन्दी के भगीरथ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे, और प्रचार क्षेत्र में उसके पथदर्शक स्वामी दयानन्द सरस्वती थे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र वर्तमान हिन्दी के पिता कहे जा सकते हैं। उनका जन्म सन् १८५० में हुआ, और मृत्यु १८८५ में। जीवन के इन ३५ वर्षों में उन्होंने जितना साहित्य निर्माण किया, उसे देखकर आश्चर्य होता है। उन्होंने हिन्दी गद्य का संस्कार करके उसे सुघड़ रूप दिया। ब्रजभाषा और खड़ी बोली में काव्य, नाटक तथा खण्ड-काव्य लिखकर न केवल हिन्दी का मुख उज्ज्वल किया, ऐसी प्रेरणा दी जिसने दर्जनों सुकवि और सुलेखक उत्पन्न कर दिये। आपकी समस्त रचनाएं सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक सुधार और चेतना से भरपूर थीं। उन्होंने हिन्दी के कवियों और लेखकों को उन्नति का जो मार्ग दिखलाया था, अगले लगभग १०० वर्षों तक हिन्दी साहित्य उसके कारण पथभ्रष्ट होने से बच गया।

धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों और भाषणों से हिन्दी को बहुत प्रेरणा मिली। स्वामीजी अपने समय के प्रख्यात सुधारक थे। उनकी मातृभाषा गुजराती थी, और शिक्षा प्राप्त करने की भाषा संस्कृत। परन्तु राष्ट्रभाषा के पद के योग्य और प्रचार के लिए उपयोगी समझकर उन्होंने हिन्दी को अपना लिया। हिन्दी में ग्रन्थ लिखे, और हिन्दी में भाषण दिये। फलतः उनके प्रभाव से उत्तरी भारत की जनता के हृदय में हिन्दी भाषा के प्रति, जिसे स्वामीजी के अनुयायी आर्यभाषा कहते थे, दृढ़ आस्था उत्पन्न हो गई। पंजाब और उत्तर प्रदेश में हिन्दी में चेतना और जागृति उत्पन्न करनेवाले साहित्य के निर्माण और प्रचार का बहुत-सा श्रेय स्वामीजी को तथा आर्य-समाज को है।

भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी में विविध प्रकार की रचना बड़े वेग से होने लगी। नव-निर्माण की विशेषता है कि वह प्रायः राष्ट्रीयता और सुधार की भावनाओं से प्रेरित होता है। पुराने ढंग के भक्ति रस तथा शृंगार रस से पूर्ण साहित्य की रचना जारी रही, परन्तु उसकी मात्रा निरन्तर कम होती गई। जो नवीन ग्रन्थ प्रकाशित होते थे, उनमें देशभक्ति, स्वाधीनता, समाज-सुधार आदि से सम्बन्ध रखनेवाले प्रगतिशील विचारों की प्रधानता रहती थी।

भारतेन्दु के निकट उत्तरकाल में पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, बा० राधाकृष्णदास आदि जो प्रतिभाशाली लेखक हुए, उनकी कृतियां भाव और भाषा की ओजस्विता से तो युक्त थी हीं, देशभक्ति को जागृत करने की सामर्थ्य भी रखती थीं। कुछ प्रहसन भी लिखे गए, जिनका उद्देश्य उस समय की सामाजिक कुरीतियों का दोष-दर्शन करना था।

बीसवीं सदी के आरम्भ में हिन्दी साहित्य ने अर्वाचीन युग में प्रवेश किया। हिन्दी के इतिहास-लेखक उसे द्विवेदी युग के नाम से याद करते हैं। उसके प्रवर्तक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी यद्यपि स्वयं राजनीतिक विषयों में हस्तक्षेप नहीं करते थे, परन्तु उनकी आलोचनाओं तथा रचनाओं की प्रवृत्ति उग्र स्वाधीन विचारों को जगानेवाली थी। इस कारण द्विवेदीजी स्वसम्पादित 'सरस्वती' द्वारा हिन्दी जगत् में स्वतंत्र विचार और मानसिक जागृति के प्रर्वतक बन गए। उन्होंने जान स्टुअर्ट मिल की जगत्प्रसिद्ध 'लिबर्टी' नामक पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद करके बहुत से दकियानूसी विचारकों की आंखें खोल दी थीं।

इस तरह नवयुग की प्रेरणा क्रमशः विस्तृत और उग्र होती गई। हिन्दी में नये उपन्यास-काल का प्रारम्भ बंगला उपन्यासों के अनुवाद के साथ हुआ। बंकिम आदि लेखकों के अनेक उपन्यास सरल हिन्दी में प्रकाशित हुए। उनका आधारभूत कथानक प्रायः ऐतिहासिक होता था, और सभी में देशभक्ति की थोड़ी-बहुत पुट रहती थी। कुछ तिलिस्मी साहित्य को छोड़कर शेष उपन्यास-साहित्य थोड़ा-बहुत नव-जागरण के भावों से अनुप्राणित होता था।

कवियों में श्री जयशंकर 'प्रसाद', श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री सुमित्रानन्दन पन्त, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' आदि की साहित्यिक कृतियों का पाठकों के हृदयों पर जो सम्मिलित प्रभाव पड़ा, वह सर्वतोमुखी क्रान्ति को उत्पन्न करनेवाला था।

बीसवीं सदी के प्रथम चरण में अनेक ऐसे उपन्यास-लेखकों ने हिन्दी के क्षेत्र में प्रवेश किया, जिन्हें हम नवयुग के सन्देशवाहक कह सकते हैं। उनमें से सबसे प्रथम नाम बाबू प्रेमचन्द का है। प्रेमचन्द पहले उर्दू में लिखते थे। राष्ट्रीय भावना उन्हें हिन्दी में खींच लायी। आपने हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में एक नई प्रवृत्ति का श्रीगणेश किया। उस प्रवृत्ति को हम 'साहित्य का राष्ट्रीयकरण' कह सकते हैं। आपने भाषा को सरल और परिमार्जित बनाया, और कथावस्तु की तलाश नरेशों और सम्पन्न लोगों को छोड़कर, ग्रामों और गरीबों में प्रारम्भ की। प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि वे उपन्यासों में राष्ट्र की निचली सतह की समस्याओं को स्पष्टता से प्रकाशित कर सके। प्रेमचन्दजी का दृष्टिकोण सर्वथा सामयिक होने के कारण विचार-क्रान्ति का समर्थक था।

नये युग के अन्य अनेक कहानी-लेखक बीसवीं सदी के प्रथम चरण में साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश कर चुके थे। पं० चतुरसेन शास्त्री, श्री सुदर्शन, श्री शिवपूजन सहाय, श्री वृन्दावनलाल वर्मा तथा अन्य एक दर्जन से अधिक लेखकों के उपन्यासों तथा

कथाओं में बौद्धिक और सामाजिक जागरण को सहायता देनेवाले गुण ओतप्रोत थे।

उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में उर्दू का कायाकल्प भी आरम्भ हो गया था। मौलाना अल्ताफ हुसैन हाली के मुसद्दस ने रूढ़ियों की चट्टान तोड़कर उर्दू कविता के लिए आगे बढ़ने का रास्ता निकाल दिया। हाली ने मुसलमानों की सामाजिक और राजनीतिक दशा पर काव्य-रचना करके नया रास्ता बनाया।

हाली के पश्चात उर्दू को नया रूप देनेवाले कवि इक़बाल हुए। सर मुहम्मद इक़बाल ने अपने जीवन में कई कलाबाजियां खाईं। प्रारम्भ में प्रचलित पद्धति पर कविता करने लगे, फिर राष्ट्रीयता से भरी हुई अमर कविताएं कीं, और अन्त में साम्प्रदायिकता के प्रचारक बन गए। रूप अनेक बदले, परन्तु इसमें दो मत नहीं हो सकते कि इक़बाल महाकवि थे। जो कुछ कहा, नये ढंग पर कहा, और बढ़िया कहा। उनका प्रत्येक पद्य चेतना उत्पन्न करने, और रक्त को गर्मानेवाला होता था।

उसी युग में पं० ब्रजनारायण 'चकबस्त' मैदान में आये। 'चकबस्त' विशुद्ध राष्ट्रीय कवि थे। उनकी रचनाएं जहां काव्यरूप में उत्कृष्ट होती थीं, वहीं सामाजिकता में भी लासानी थीं।

'चकबस्त' के पश्चात् कुछ समय के प्रभाव से और कुछ महाकवियों के दृष्टान्त के कारण देशभक्ति की कविता करनेवाले अनेक यशस्वी कवि उर्दू साहित्य क्षेत्र में आये, परन्तु वे उत्तरकालीन उपज हैं, जिन्हें स्वाधीनता-संग्राम के साहित्यिक सिपाही कहा जा सकता है।

उन्हीं दिनों उर्दू गद्य भी नवीन रूप धारण कर रहा था। सामयिक पत्र और नये उपन्यास उसे रूढ़ि की बन्द कोठरी से निकालकर खुले कार्य क्षेत्र में ला रहे थे।

मराठी साहित्य का नवीकरण उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ही आरम्भ हो गया था, परन्तु उसे प्रवाहयुक्त और ओजस्वी रूप देने का श्रेय मुख्य रूप से श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर को है। चिपलूणकर ऊंचे दर्जे के विद्वान् और लेखनी के धनी थे। उन्होंने विविध विषयों पर निबन्ध तथा ग्रन्थ लिखकर महाराष्ट्र की शिक्षित जनता में मानसिक जागृति उत्पन्न की। अन्य भी अनेक साहित्यकार चिपलूणकर के समकालीन थे। उन सभी ने सामयिक मराठी साहित्य को पुष्ट किया। परन्तु मराठी का जो वर्तमान विश्लेषणात्मक और ओजस्वी रूप है, वह लोकमान्य तिलक के 'केसरी' पत्र और अन्य मराठी रचनाओं का परिणाम है। मराठी भाषा का साहित्य बहुत प्राचीन है। उसे रामदास और तुकाराम-जैसे महान् भक्त कवि अपनी रचनाओं से सम्पन्न कर चुके थे। तो भी यह बात असन्दिग्ध रूप से कही जा सकती है कि उसमें वीर रस और आधुनिकता का समावेश लोकमान्य के लेखों से हुआ है।

यह तो था लोकमान्य के लेखों का साहित्यिक प्रभाव। महाराष्ट्र की राजनीतिक

जागृति पर उनके लेखों का जो प्रभाव पड़ा वह तो अद्‌भुत था। अर्वाचीनकाल में किसी एक व्यक्ति को अपने प्रान्त के सर्वतोव्यापी नव-निर्माण में शायद ही इतनी सफलता मिली हो। 'केसरी' का प्रकाशन १८८१ में आरम्भ हुआ था। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में वह पत्र केवल महाराष्ट्र में ही नहीं, भारत के बहुत बड़े भाग में अग्रगामी राजनीतिक विचारों के धर्मग्रन्थ के समान पढ़ा जाता था। बंग-विच्छेद के दिनों में नागपुर से 'केसरी' का हिन्दी संस्करण भी निकलने लगा था। उसका प्रचार उत्तरी भारत में खूब हुआ। फलतः तिलक महाराज के महान् व्यक्तित्व से अनुप्राणित 'केसरी' पत्र उन्नीसवीं सदी के अन्तिम और बीसवीं सदी के प्रथम चरण में भारत में क्रान्ति का अग्रदूत-सा बन गया था।

उस युग ने मराठी को अन्य भी कई प्रभावशाली लेखक दिये। श्री विनायक सावरकर के 'सिंहगड़चा चायवास' और श्रीकृष्ण प्रभाकर के 'कीचकवध' नाम के नाटकों ने महाराष्ट्र में बहुत ख्याति प्राप्त की। मराठी नाटकों को किर्लोस्कर की प्रसिद्ध नाटक मण्डली से पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। मराठी के गद्य-लेखकों में सर्वश्री केलकर, खाडिलकर आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी लेखकों को हम लोकमान्य के शिष्य कह सकते हैं। उनकी सभी कृतियां राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत थीं। उपन्यास-लेखकों में श्री हरिनारायण आपटे का 'उषाकाल' नवीन चेतना और आशावाद से पूर्ण होने के कारण जहां अपने समय की उपज है, वहीं नई चेतना उत्पन्न करने का साधन भी है।

गुजराती साहित्य का आधुनिक विकास कुछ विलम्ब से आरम्भ हुआ। यों तो १८८७ में श्री गोवर्धनराम माधवराम त्रिपाठी के 'सरस्वतीचन्द्र' नामक उपन्यास ने नव-निर्माण का श्रीगणेश कर दिया था, और उसके पश्चात् महाकवि नर्मद, श्री मणिलाल ननुभाई द्विवेदी और श्री दलपतराम, नानालाल कवि आदि सुलेखकों ने गुजराती साहित्य को समृद्ध किया, परन्तु गुजराती भाषा को राष्ट्रीय जागृति का प्रबल साधन बनाने का श्रेय महात्मा गान्धी को है। मराठी को जो जीवन-दान तिलक महाराज के 'केसरी' से मिला, गुजराती को वैसा ही जीवनदान महात्माजी के गुजराती 'नवजीवन' से प्राप्त हुआ। महात्माजी की गुजराती भाषा जितनी सरल और जितनी भावपूर्ण थी, उतनी ही जोरदार भी। महात्माजी की अंग्रेजी में भी ये ही विशेषताएं थीं। गुजराती के 'नवजीवन' और 'हरिजन सेवक' ने गुजरात प्रान्त में केवल राजनीतिक जागृति ही उत्पन्न नहीं की, गहरे और विस्तृत साहित्यिक जागरण का भी सम्पादन किया। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी को गुजरात में महात्माजी का पट्टशिष्य कहा जा सकता है। उनकी साहित्यिक रचनाएं भी राष्ट्रीय चेतना की भावनाओं से ओतप्रोत हैं।

दक्षिण में साहित्यिक कायाकल्प की प्रतिक्रिया उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में आरम्भ हो चुकी थी। श्री गो० सूर्यनारायण शास्त्री पहले विद्वान् थे, जिन्होंने तमिल में बोलचाल की भाषा को साहित्यिक रूप देकर ग्रन्थों में प्रयुक्त किया। उन्होंने विज्ञानादि विषयों पर पुस्तकें लिखीं, नाटकों की रचना भी की।

श्री वै० दामोदरम् पिल्ले उनसे चार कदम और आगे बढ़े। उन्होंने न केवल पुराने बहुत-से तमिल साहित्य का उद्धार किया, व्याख्या द्वारा उन्हें सुबोध भी बना दिया। महामहोपाध्याय पं० स्वामीनाथ अय्यर को प्राचीन ग्रन्थों के प्रामाणिक उद्धार और उनकी व्याख्या के कार्य का भगीरथ कहा जा सकता है। जब देश की प्राची दिशा में राजनीतिक जागृति का उषःकाल अवतीर्ण हुआ तब तमिल को, श्री सुब्रह्मण्यम् भारती के रूप में, एक महाकवि प्राप्त हो गया, जिसने अपनी संजीवनी कविताओं द्वारा प्रदेश की सोती हुई प्रतिभा को जगाकर खड़ा कर दिया। उन्होंने नये विषयों पर, नई शैली में, भाषा के नवीन संस्करण द्वारा कविता की। वह एक प्रकार से क्रान्तिकारी कवि थे। उन्होंने नये छन्दों तक की रचना कर डाली। भारती केवल कवि ही नहीं थे, वह पत्रकार भी थे, और उपन्यास-लेखक भी। उनके विचारों में मौलिकता थी, और भाषा में ओज।

भारती के पश्चात् भी तमिल साहित्य में प्रगति जारी रही। उत्कृष्ट साहित्य की रचना बराबर होती रही, जिसके प्रभाव से तमिल प्रदेश का जागरण अनवरत रूप से वृद्धि करता गया।

तेलुगु साहित्य का इतिहास भारत की अन्य कई भाषाओं से अधिक पुराना है। उसका प्रारम्भ आज से १५०० वर्ष पूर्व हुआ माना जाता है। उसका उपलब्ध साहित्य-भण्डार बहुत बड़ा है। उसमें संस्कृत के रामायण, महाभारत-जैसे महान् ग्रन्थों के अनुवाद, और मौलिक ग्रन्थ इतनी प्रभूत संख्या में विद्यमान हैं कि देखकर आश्चर्य होता है।

अब से लगभग ५०० वर्ष पहले तेलुगु में मौलिक कविता करनेवाले विद्वानों की बाढ़-सी आ गई थी। महाकवि श्रीनाथ, श्री ताल्लपाक अन्नमाचार्य, श्री पिल्ललमर्रि पिनविरन्न, श्री दूरगुंट नारायण कवि आदि महाकवियों ने अपनी कविताओं से तेलुगु साहित्य को समृद्ध किया।

सत्रहवीं शताब्दी में तेलुगु साहित्य की प्रगति में कुछ शिथिलता-सी आ गई प्रतीत होती है। उसका एक कारण यह हो सकता है कि दक्षिण में धीरे-धीरे मुस्लिम राज्य का प्रवेश बढ़ता जा रहा था। राष्ट्रीय पतन के साथ-साथ प्रायः साहित्यिक ह्रास का आगमन भी होता है। तेलुगु प्रदेश जब तक मुसलमानों के प्रभाव से बचा रहा, उसकी साहित्यिक प्रगति निरन्तर जारी रही, परन्तु राजनीतिक दासता का गर्म पवन बहने पर साहित्य की कलियां मुरझाने लगीं। कवि और लेखक तो उस युग में भी हुए, परन्तु उनमें न वह ताजगी रही और न वह प्रौढ़ता।

उन्नीसवीं सदी के अन्त में अन्य प्रान्तों की भांति तेलुगु भाषा-प्रदेश का साहित्य-क्षेत्र भी नवकुसुमों से लहलहा उठा। कविवर विश्वनाथ नारायण, श्री अडिवि आपिराजु, श्री जाव्वा, श्री सीताराम मूर्ति, श्रीपाद सुब्रह्मण्य शास्त्री आदि कवियों तथा सुलेखकों की कृतियां राष्ट्र की सर्वतोमुखी क्रान्ति को जागृत करने लगीं।

इसी प्रकार अन्य प्रान्तों में भी राष्ट्रीय जागृति के हाथ-में-हाथ डालकर

१२

साहित्यिक जागृति आगे बढ़ रही थी। पंजाब में कविवर भाई वीरसिंह की ऊंचे दर्जे की साहित्यिक कविताओं ने पंजाबी साहित्य का पुनर्जन्म-सा कर दिया था, जिसके प्रभाव से उन दिनों पंजाबी में कुछ ऐसे तेजस्वी गीतों की रचना हुई जिन्हें सुनकर आज भी रक्त में गर्मी उत्पन्न हो जाती है। अन्य प्रान्तों में भी साहित्यकार राष्ट्रीय जागृति की अग्नि को व्यापक और प्रचण्ड करने में पवन का काम कर रहे थे।

: ३३ :

सशस्त्र क्रान्ति के सिपाही

भारत की जागृति और स्वाधीनता-प्राप्ति का इतिहास अधूरा रहेगा यदि हम उन जोशीले देशभक्तों के बलिदानों की चर्चा न करें, जिनका विश्वास था कि विदेशी राज्य को मिटाने के लिए शस्त्रों का प्रयोग आवश्यक है। अंग्रेजी सरकार उन्हें 'Terrorist' (आतंकवादी) और 'Anarchist' (अराजकतावादी) आदि उपाधियां देकर संसार के सामने अपना मुंह उज्ज्वल रखने का प्रयत्न करती थी, परन्तु इतिहास का लेखक नामों के धोखे में नहीं आ सकता। उसे देखना होगा कि उन देशभक्तों का उद्देश्य क्या था, भावना क्या थी, और व्यवहार कैसा था?

भारत ने महात्मा गान्धी के नेतृत्व में स्वाधीनता प्राप्त की है। महात्माजी अहिंसा के पक्षपाती थे। उन्होंने संसार को राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक अत्याचारों को हटाने के लिए सत्याग्रह नाम का एक नया शान्तिमय शस्त्र प्रदान किया है। यह स्वाभाविक ही था कि स्वतन्त्र भारत में उन आदर्शों का आदर हो, जो महात्माजी को प्रिय थे, और जिनको भारत में स्वाधीन राज्य स्थापित करने का प्रत्यक्ष श्रेय प्राप्त हुआ। परन्तु इस बात को भुलाना न चाहिए कि स्वाधीनता के लिए जी-जान से प्रयत्न करनेवाले देशभक्तों में, अन्त तक, एक बड़ा समुदाय ऐसे लोगों का भी रहा, जो न केवल यह विश्वास रखते थे कि दासता की बेड़ियों को काटने के लिए पैने हथियारों का प्रयोग करना आवश्यक है, अपितु अपने विश्वास के अनुसार आचरण भी करते थे, और उस आचरण के कारण आजन्म कारावास, फांसी आदि जो कठोर दण्ड मिलते थे, उन्हें सहर्ष अंगीकार करते थे। स्वाधीनता के यज्ञ में देश के उन युवकों की कुर्बानियां केवल इसलिए कुछ कम स्मरणीय या कम मूल्यवान नहीं हो जातीं, कि उन्हें अंग्रेजी सरकार 'आतंकवादी' और 'अराजकतावादी' नाम देती थी। यह तो मानना ही होगा कि देश के स्वाधीनता आन्दोलन में उन लोगों का भी बहुत बड़ा भाग है। न्यून-से-न्यून इतना तो आलोचकों को भी मानना पड़ेगा कि वे लोग अंग्रेजी राज्य की अनीति के ही स्वाभाविक परिणाम थे।

सशस्त्र क्रान्ति के जो प्रयत्न किये गए उनका अन्तिम उद्देश्य यही था कि भारत को विदेशी शासन से मुक्त कराया जाय। विदेशी शासन का अन्त करने के लिए भारत से अंग्रेजी राज्य को मिटाना आवश्यक था, इस कारण उन प्रयत्नों का प्रत्यक्ष रूप विप्लव के रूप में प्रकट होता था। पहली सशस्त्र क्रान्ति (जिसे अंग्रेज म्युटिनी के नाम से पुकारते थे) के पीछे सरकार ने भारतवासियों के शस्त्र छीन लिये थे, और देशभक्तों के दमन के लिए अनेक कानून बना दिये थे, इस कारण क्रान्तिकारियों को अपना कार्य गुप्त रूप से करना पड़ता था। उन्हें परिस्थितियों ने षड्यन्त्रकारी बना दिया था—वे अपनी जान बचाने के लिए षड्यन्त्रकारी नहीं बने थे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह था कि जब वे पकड़े जाकर दण्डित होते थे तो वीर तात्या टोपे की तरह, गीता हाथ में लेकर, हँसते हुए प्राण दे देते थे। हमारे इस कथन की पुष्टि स्वयं रौलट की रिपोर्ट के १५वें परिच्छेद के अन्तिम वाक्यों से होती है। आतंकवाद की लम्बी कहानी लिखकर अन्त में रौलट कमेटी के सदस्यों ने निम्नलिखित सम्मति दी थी:

"ये सब षड्यन्त्र एक ही उद्देश्य से बनाये गए थे—और वह उद्देश्य था बलप्रयोग द्वारा भारत से अंग्रेजी राज्य को हटाना। कभी वे प्रयत्न छिटपुट होते थे, कभी परस्पर सम्बद्ध होकर चलते थे, और कभी-कभी उन्हें जर्मनी से प्रोत्साहन और समर्थन प्राप्त हो जाता था।"*

१८५८ से लेकर १९१८ तक के भारतीय क्रान्तिकारियों के प्रयत्नों का इतना अच्छा संक्षिप्त वर्णन शायद ही अन्यत्र मिलेगा।

गुरु रामसिंहजी और सिखों का 'कूका' संगठन

सन् ५७ की क्रान्ति के पश्चात भारत से अंग्रेजी राज्य को उखाड़ देने के उद्देश्य से जो संगठन बना, वह पंजाब के 'कूका नामधारी' सिखों का था। कूका आन्दोलन के संस्थापक श्री गुरु रामसिंहजी का जन्म पंजाब के लुधियाना जिले में, भैणी नामक स्थान पर हुआ था। युवावस्था में वह महाराज रणजीतसिंह की सेना में भर्ती हुए, परन्तु उनकी प्रवृत्ति मुख्य रूप से भक्ति की ओर थी, इस कारण कुछ समय के पीछे फौज की नौकरी छोड़कर ईश्वर-भक्ति और उपदेश के काम में लग गए। उनके शिष्यों को 'नामधारी सिख' कहते हैं।

गुरु रामसिंह की दृष्टि जाति के केवल धार्मिक या सामाजिक पहलुओं तक परिमित नहीं थी। उन्हें अपनी जाति की राजनीतिक दासता देखकर भी दुःख

*"All these plots have been directed towards one and the same objective, the overthrow by force of British rule in India. Sometimes they have been isolated, sometimes they have been inter-connected; sometimes they have been en-conraged and supported by German influence."

हुआ। उन्होंने अपने शिष्यों को भक्ति-मार्ग के उपदेश के साथ-साथ देश को स्वाधीनता के लिए प्रयत्न करने का भी उपदेश दिया। रामसिंहजी ने सारे पंजाब को २२ हिस्सों में बांटकर उनके अलग-अलग अधिकारी नियत कर दिये। जब संगठन फैलने लगा तब सरकार ने घबराकर उसपर बहुत-सी पाबन्दियां लगा दीं, लेकिन कुछ सोचकर १८६९ में पाबन्दियां हटा दी गईं। परिणाम यह हुआ कि कूका सिपाही अपनी विशेष भूषा और हथियारों से लैस होकर प्रान्त-भर में फैल गए। उन दिनों 'कूका' शब्द निर्भीक साहसी सिपाही का पर्यायवाची बन गया। दो-चार स्थानों पर जब उनपर आक्रमण का प्रयत्न किया गया या उन्हें किसी मामले में जोश दिलाया गया तो उन्होंने मारकाट भी की। कूकों का सबसे बड़ा मार्का मालेरकोटला रियासत में हुआ। १८७२ के जनवरी मास में कुछ कूके माघी के स्नान के लिए अमृतसर जा रहे थे। रास्ते में उनका कुछ मुसलमानों से झगड़ा हो गया। झगड़ा यहां तक बढ़ा कि कूकों के जत्थे ने मालेरकोटला के मुसलमान शासक के किले और महलों पर आक्रमण कर दिया। शीघ्र ही कूकों के आक्रमण की सूचना लुधियाना के डिप्टी कमिश्नर तक पहुंच गई। सरकारी सेना ने मौके पर पहुंचकर न केवल कूकों के आक्रमण को व्यर्थ कर दिया, पीछा करके उन्हें तितर-बितर भी कर दिया। जो कूके पकड़े गए, उनमें से ४९ मालेरकोटला में ही तोप के मुंह पर बांधकर उड़ा दिये गए। एक बालक को आयु का लिहाज करके उसे इस शर्तपर क्षमा करने की आशा दिलाई गई कि वह गुरु रामसिंह का चेला होने से इनकार कर दे। इस पर क्रोध में आकर उस बालक ने अंग्रेज अफसर की दाढ़ी को दोनों हाथों से इस जोर से पकड़ लिया कि वह तब छूटी जब बालक के दोनों हाथ काट दिये गए; बालक को वहीं टुकड़े-टुकड़े करके डाल दिया गया। दर्जनों कूके भिन्न-भिन्न स्थानों पर फांसी पर लटका दिये गए।

गुरु रामसिंहजी १८१८ के रेगुलेशन ३ के अनुसार गिरफ्तार करके बर्मा में नज़रबन्द कर दिये गए, जहां सन् १८८५ में (जिस वर्ष कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन हुआ) उनका देहान्त हो गया।

चाफेकर बन्धु और व्यायाम-मण्डल

१८९६-९७ में दामोदर चाफेकर और बालकृष्ण चाफेकर नामक दो भाइयों ने पूना में व्यायाम-मण्डल नाम की एक संस्था स्थापित की, जिसका उद्देश्य राजनीतिक था। उसमें बहुत-से नवयुवक व्यायाम और शस्त्र-संचालन का अभ्यास करते थे। २२ जून १८९८ को रात्रि के समय महारानी विक्टोरिया के राज्यारोहण समारोह से लौटते हुए रास्ते में मि० रैण्ड और लेफ्टिनेण्ट एमहर्स्ट की हत्या का वृत्तान्त अन्यत्र लिखा जा चुका है। रैण्ड से पूनावालों को यह शिकायत थी कि प्लेग के निवारण का कार्य करते हुए उसने भले घरों में घुसकर बहुत कठोरता का व्यवहार किया था और स्त्रियों को अपमानित किया था। दामोदर चाफेकर ने जेल में रहते हुए अपनी आत्मकथा लिखी थी। उसमें उसने स्वीकार किया था

कि बम्बई में विक्टोरिया की मूर्ति के मुँह पर कोलतार फेरनेवाले हम दोनों भाई ही थे। १८९९ के फरवरी मास में व्यायाम-मण्डल के सदस्यों ने उन द्रविड़ भाइयों को भी मृत्युदण्ड दे दिया जिन्होंने चाफेकर बन्धुओं के विरुद्ध गवाही दी थी। सरकार को कोई सहारा चाहिए था। उसने मण्डल के ४ अन्य सदस्यों को फांसी पर लटका दिया, एक को जन्म कैद दे दी, पूना के दो प्रतिष्ठित नागरिक नातू भाइयों को देश निकाला दे दिया, और 'केसरी' के लेखों को भड़कानेवाला बतलाकर लोकमान्य तिलक को जेल में बन्द कर दिया।

मदनलाल धींगरा

लन्दन में श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा इण्डिया हाउस की योजना और उसमें श्री विनायक सावरकर के प्रभाव की चर्चा इससे पूर्व हो चुकी है। इण्डिया हाउस १९०८ में इंग्लैण्ड के भारतीय साम्राज्य के प्रति असन्तोष का जोरदार केन्द्र बन गया था। १९०८ के मई मास में उसमें सन् सत्तावन की सशस्त्र राज्य-क्रान्ति का अर्द्ध शताब्दी उत्सव मनाया गया। इंग्लैण्ड में रहनेवाले लगभग १०० भारतीय विद्यार्थी एकत्र हुए, जिनके सामने सावरकरजी के आवेशपूर्ण भाषण हुए। भारत से सरकारी दमन के जो समाचार विलायत पहुंचते थे, वे भारतीय नौजवानों के रोष में तेल का काम देते थे। १९०९ में इण्डिया हाउस के सदस्य रिवाल्वर चलाने का अभ्यास भी करने लगे थे।

इण्डिया हाउस के सदस्यों में मदनलाल धींगरा नाम का एक पंजाबी विद्यार्थी था। वह अमृतसर का निवासी था और भारत में बी० ए० पास करके आगे पढ़ने के लिए विलायत गया था। कहा जाता है कि जब मदनलाल ने सावरकरजी से यह निवेदन किया कि वह उसे क्रान्तिकारी दल का सदस्य बना लें तो उन्होंने उसे परीक्षा के लिए जमीन पर हाथ रखने को कहा। मदनलाल ने दोनों हाथ जमीन पर रख दिये। तब सावरकरजी ने उसके हाथ पर एक सुआ मार दिया। सुआ हाथ को छेदकर पार हो गया और रक्त की धार बह चली। सावरकरजी ने उस समय मदनलाल के चेहरे की ओर देखा तो उसमें विकार का कोई चिह्न न पाया। तब भरे हुए दिल और गीली आंखों से उन्होंने उस नौजवान को छाती से लगा लिया. और दीक्षित कर दिया।

उन्हीं दिनों भारत से बंगाल के क्रान्तिकारी कन्हाईलाल दत्त और सत्येन्द्र को फांसी चढ़ाये जाने के समाचार विलायत पहुंचे। मदनलाल ने उत्तेजित होकर १ जुलाई १९०९ के दिन, सर कर्जन वायली नाम के एक अंग्रेज अधिकारी की छाती पर सामने से जाकर गोली दाग दी। सर कर्जन वायली भारत मन्त्री का ए० डी० कांग था।

भारतीय लोगों के प्रति उसके दुर्व्यवहार की कई शिकायतें इण्डिया हाउस में पहुंच चुकी थीं। जब गोली लगी, तब वह इम्पीरियल इन्स्टीटयूट के जहांगीर हाल के सामने कुछ मित्रों से बातचीत कर रहा था। मदनलाल वहीं पकड़ लिया

गया। कर्नल वायली की मृत्यु हो गई। मदनलाल पर हत्या का अभियोग चलाकर, फांसी की सजा दी गई, जिसे उसने 'वन्देमातरम्' की घोषणा के साथ सहर्ष स्वीकार किया। उसने अदालत में जो बयान दिया उसमें निम्नलिखित वाक्य कहे थे :

> "मैं यह मानता हूं कि उस दिन मैंने एक अंग्रेज का रक्त बहाया। ऐसा करने से मेरा उद्देश्य यह था कि अमानुषिक फांसियों और निरपराध नौजवानों के निर्वासनों द्वारा अंग्रेज भारतवासियों पर जो अत्याचार कर रहे हैं, उनका थोड़ा-सा बदला ले लूं। यह निश्चय मैंने स्वयं ही किया था, इसमें मेरा कोई सलाहकार नहीं था। मैंने अपने कर्त्तव्य के अतिरिक्त किसी से गुप्त मन्त्रणा नहीं की। मैं मानता हूं कि जो जाति किसी विदेशी जाति के पांव तले दबी हुई हो, वह निरन्तर युद्ध की दशा में रहती है, क्योंकि बेहथियार जाति सीधा संग्राम नहीं लड़ सकती। मैंने अकस्मात् आक्रमण किया, क्योंकि मुझे बन्दूक रखने का अधिकार नहीं था। मैंने पिस्तौल निकाली और गोली दाग दी। एक हिन्दू होने के नाते मैंने अनुभव किया कि पराधीनता हमारे परमात्मा के अपमान के समान है। मातृभूमि की सेवा ही श्रीराम और श्रीकृष्ण की सेवा है। मेरे पास न धन है, और न बुद्धि है; मेरे-जैसे निर्बल पुत्र के पास माता की भेंट चढ़ाने के लिए अपने रुधिर के अतिरिक्त कुछ नहीं, मैंने वही भेंट दे दी है। भारत में आज एक ही पाठ पढ़ाने की आवश्यकता है, और वह यह है कि मरा कैसे जाता है। और उसे सिखाने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि हम स्वयं मरकर दिखायें। इस कारण मैं मर रहा हूं, और अपनी इस मृत्यु पर गर्व करता हूं।"

१९०५ में बंग-विच्छेद होने पर सारे बंग प्रान्त में अशान्ति का जो बवंडर उठा, उसने शीघ्र ही आतंक का रूप धारण कर लिया। हथियार रखने का अधिकार न होने के कारण खुला युद्ध सम्भव नहीं था, इस कारण जोशीले और देशभक्त नौजवान गुप्त मन्त्रणाओं और षड्यन्त्रों के मार्ग पर चढ़ गए। यदि हम उस मार्ग का, उसके लक्ष्य और भावना के अनुसार नामकरण करना चाहें तो उसे सशस्त्र क्रान्ति कहना ही उचित होगा। साधनों को दृष्टि में रखकर उसे 'आतंक मार्ग' भी कहा जा सकता है।

उस सशस्त्र क्रान्ति में जिन देशभक्तों ने सिपाही बनकर कार्य किया, उनकी पूरी संख्या सहस्रों तक पहुंचेगी। सबके नाम-धाम मिलने भी कठिन हैं। जो मिलते हैं, इस इतिहास में उनका भी पूरा-पूरा विवरण नहीं दिया जा सकता। यहां तो हम इतना ही कर सकते हैं कि कुछेक दृष्टान्त देकर उस भावना और उस प्रणाली का दिग्दर्शन करा दें, जिसके अनुसार वे कार्य करते थे। इस दृष्टि से १७ वर्ष के नौजवान खुदीराम बोस का वृत्तान्त सर्वथा उपयुक्त है।

खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी

हम पहले बतला आये हैं कि श्री अरविन्द घोष के छोटे भाई वीरेन्द्रकुमार

घोष ने बंग-विच्छेद के कारण उत्पन्न हुए असन्तोष से लाभ उठाकर मानिकतल्ला में क्रान्ति का एक केन्द्र स्थापित किया था। यह केन्द्र १९०७ में प्रारम्भ हुआ। बारीन्द्र के व्यक्तित्व में इतना आकर्षण था कि बहुत शीघ्र वहां जान पर खेल जाने-वाले नवयुवकों का एक बड़ा दल एकत्र हो गया। शस्त्र भी प्रभूत मात्रा में संगृहीत हो गए। मानिकतल्ला के बाग में बम भी तैयार होने लगे।

इतनी तैयारी हो जाने पर क्रान्तिकारियों ने निश्चय किया कि अब कुछ कार्य करना चाहिए। पहले उन्होंने यह लक्ष्य बनाया कि लेफ्टिनेंट गवर्नर सर एण्ड्रू फ्रेज़र पर वार किया जाय। कई प्रयत्न भी हुए। उसके रास्ते में बम रखा, उल्लास दत्त ने चन्द्रनगर जाकर, जिस रेलगाड़ी में फ्रेज़र साहब सफर कर रहे थे, उसके रास्ते में बम रखा, परन्तु कुछ फल न हुआ। गाड़ी हिली तक नहीं। इसी प्रकार फ्रेजर की गाड़ी पर भिन्न-भिन्न समयों में तीन आक्रमण किये गए, जो निष्फल हुए।

१९०८ के अप्रैल मास में क्रान्तिकारियों ने एक दूसरे अफसर को अपना लक्ष्य बनाया। मि० किंग्ज़फोर्ड पहले कलकत्ता में मजिस्ट्रेट था, फिर सेशन जज बनकर मुजफ्फरपुर चला गया था। दल ने उसे मारने का निश्चय किया। पहले एक तिकड़म का प्रयोग किया गया। एक मोटी पुस्तक के मध्य में कुछ कागज को काटकर एक खोल-सा बनाया गया, उसके अन्दर बम रख दिया गया। ऐसी व्यवस्था की गई कि जब किताब खोली जाय, तब बम फट जाय, परन्तु मि० किंग्ज़फोर्ड के भाग्य प्रबल थे। जब डाक से पुस्तक आई, तो उसने समझा कि किसी मित्र ने कोई पहले मांगी हुई पुस्तक वापस की है। पुस्तक बन्द की बन्द रख दी। इस तरह वह वार खाली गया। उस पुस्तक का तब पता चला जब अभियोग चलने पर एक क्रान्तिकारी ने सरकारी गवाह बनकर अदालत में उसकी चर्चा की।

क्रान्तिकारी दल की ओर से किंग्ज़फोर्ड को मारने का काम प्रफुल्लचन्द्र चाकी और खुदीराम बोस के सुपुर्द किया गया। उन्हें दो-दो तमंचे दे दिये गए ताकि पकड़े जाने का भय होने पर आत्महत्या कर सकें। कलकत्ते की पुलिस को यह समाचार मिल गया था कि किंग्ज़फोर्ड की हत्या का उद्योग हो रहा है। उसने मुजफ्फरपुर के दफ्तर को चेतावनी भेज दी थी। फलतः रक्षा की विशेष व्यवस्था कर दी गई थी।


खुदीराम बोस

मुजफ्फरपुर में गोरों का एक क्लब था। किंग्ज़फोर्ड प्रायः सायंकाल के समय उसमें जाता था। क्रान्तिकारियों ने अपना कार्य करने के लिए वही समय चुना। चाकी और बोस ने दिन में किंग्ज़फोर्ड की गाड़ी की पहिचान कर ली, और रात के समय क्लब के बाहर उसकी प्रतीक्षा करने लगे। रात के साढ़े आठ बज चुके थे। क्लब से एक गाड़ी आती दिखाई दी। उसका रंगरूप किंग्ज़फोर्ड की गाड़ी का-सा

था, परन्तु वह थी एक दूसरे अंग्रेज अफसर मि० कैनेडी की गाड़ी। उस गाड़ी में कैनेडी की पत्नी और पुत्री सवार थीं। उस पर बम फेंका गया। बम ठीक निशाने पर लगा, जिससे गाड़ी चूर-चूर हो गई, और दोनों महिलाएं घायल हो गईं। मिस कैनेडी तो उसी समय मर गईं, और मिसेज़ कैनेडी का देहान्त दो दिन के पश्चात् हो गया। बम फेंककर दोनों युवक वहां से भाग निकले। दिन के समय पुलिस के आदमियों ने उन दोनों को इधर-उधर घूमते हुए देख लिया था, और दो-एक बार वहां से हट जाने को भी कहा था। बम चलने की खबर फैलने पर चारों ओर की पुलिस चौकन्नी हो गई। बम-घटना ३० अप्रैल १९०८ के दिन हुई थी। १ मई को खुदीराम बोस एक मोदी की दूकान पर गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तारी के समय उसके पास दो रिवाल्वर थे। उस समय उसकी आयु १७ साल की थी।

प्रफुल्ल चाकी १ मई को मुकामा के स्टेशन पर पकड़ा गया। जब उसे निश्चय हो गया कि अब वह बचकर निकल नहीं सकता तो उसने पहले पकड़नेवाले पर गोली चलाई, जब वह खाली गई, तो दूसरी गोली अपनी ओर दाग दी। चाकी वहीं समाप्त हो गया।

खुदीराम बोस पर ३०२ धारा के अनुसार अभियोग चलाया गया। अपराध स्पष्ट था। बोस ने कोई सफाई नहीं दी। लगभग सप्ताह-भर में अभियोग के सब पर्व समाप्त कर दिये गए, और खुदीराम बोस को क्रान्तिकारी का सर्वोच्च पारितोषिक—मृत्युदण्ड दिया गया।

११ मई के दिन खुदीराम को फांसी दी जानेवाली थी। वह युवक हाथ में गीता का गुटका लेकर मुस्कराते हुए चेहरे से फांसी के तख्ते पर जा खड़ा हुआ, और उसी शान्त मुद्रा में प्राण त्याग दिये। उसकी अन्तिम इच्छा थी कि उसके वकील श्री कालिदास बोस अपने हाथ से अन्त्येष्टि-क्रिया करें। वही हुआ। शव-यात्रा ऐसी धूम से निकली कि किसी राजा की न निकली होगी। सड़कों पर आदमी ही आदमी दिखाई देते थे। कहते हैं कि उसकी भस्म को हजारों नर-नारी पवित्र समझकर घर ले गए।

टेनीवली के वांची अय्यर

सन् १९१० में मद्रास में भी क्रान्तिकारी आन्दोलन का सूत्रपात हो गया। नीलकण्ठ ब्रह्मचारी, शंकरकृष्ण नय्यर तथा वी० वी० एस० अय्यर कार्य के मुख्य संचालकों में थे। कुछ समय पीछे शंकर का बहनोई वांची अय्यर भी दल में शामिल हो गया। वांची अय्यर त्रावणकोर के जंगलात के महकमे में नौकर था। वी० वी० अय्यर ने लन्दन के इण्डिया हाउस में क्रान्तिकारी कार्यों का पाठ पढ़ा था। वांची ने भी उससे रिवाल्वर चलाने की शिक्षा प्राप्त की। रौलट कमेटी की रिपोर्ट में वांची के कुछ वाक्य उद्धृत किये गए हैं, जो एक गवाह द्वारा अभियोग के प्रसंग में दुहराये गए थे। वांची ने कहा था—"अंग्रेजों का शासन हमारे देश को रसातल में ले जा रहा है। देश के उद्धार का एक ही उपाय है कि भारत में विद्यमान सब

अंग्रेजों की हत्या कर दी जाय।" उसने यह भी कहा कि सबसे पहले टेनीवली के कलेक्टर को मारना चाहिए क्योंकि सन् १९०८ के दमन में उसका मुख्य हाथ था। जब वांत्री गिरफ्तार हुआ तो उसकी जेब से तमिल भाषा का एक पत्र मिला, जिसमें लिखा था :—

"प्रत्येक भारतीय भारत में विद्यमान अंग्रेजों को बाहर निकालने और अपने धर्म के उद्धार के प्रयत्न में लगा हुआ है। राम, शिव, कृष्ण, गुरु गोविन्दसिंह और अर्जुन ने अपने राज्य-काल में सब धर्मों की रक्षा की, किन्तु अंग्रेज गोमांस का भक्षण करनेवाले म्लेच्छ पंचम चार्ज का राजतिलक करना चाहते हैं। तीन सहस्र मद्रासियों ने यह प्रतिज्ञा की है कि वे पंचम जार्ज के भारत की भूमि पर पैर रखते ही उसे मार डालेंगे। उनकी इस इच्छा को प्रकट करने के लिए मैंने यह कार्य किया है।"

वांत्री ने रेल पर यात्रा करते हुए मि० ऐश पर गोली चलाई, जो निशाने पर लगी। मि० ऐश की हत्या के अपराध में नौ नवयुवकों को भिन्न-भिन्न दण्ड दिये गए, जिनमें वांत्री भी था।

मास्टर अमीरचन्द और उनके साथी

१२ दिसम्बर १९१२ के दिन, उस समय के वायसराय लार्ड हार्डिंज ने, भारत में अंग्रेजों की नई राजधानी दिल्ली में प्रवेश की रस्म अदा करने के लिए चांदनी चौक में से हाथी पर सवारी निकाली। वायसराय का हाथी जब पंजाब नेशनल बैंक की इमारत के सामने पहुंचा तो किसी ने उस पर बम फेंक दिया। बम ठीक निशाने पर न लगकर पीछे बैठे हुए अंगरक्षक पर लगा, जो उसी समय मर गया। वायसराय के चोट तो कम लगी, परन्तु शायद धक्के के कारण वह मूर्च्छित हो गए। जुलूस वहीं बन्द कर दिया गया, और निकटतम मार्ग से वायसराय को घर पहुंचाया गया।


मास्टर अमीरचन्द

अंग्रेजों को अपनी प्रबन्ध-व्यवस्था की क्षमता पर बड़ा गर्व था। दिन के समय, चांदनी चौक-जैसे खुले बाजार में, वायसराय के हाथी पर बम गिर गया, और फेंकनेवाला पकड़ा न गया, इससे सरकार की झल्लाहट का कोई ठिकाना न रहा। जैसे चोट खाया हुआ सांप, चोट मारनेवाले को न पाकर जिसे पाता है, उसी को डस लेता है, उसी प्रकार सरकार की क्रोधाग्नि बम फेंकनेवाले व्यक्ति को न पाकर अनेक रूपों में प्रकट होने लगी। पहला वार चांदनी चौक पर हुआ। उन दिनों चांदनी चौक के बीच एक नहर पर पटरी बनी हुई थी, जिसके दोनों ओर छायादार पेड़ लगे हुए थे। सरकार ने पटरी और पेड़ दोनों उखाड़कर फेंक दिये। खबर तो

यह थी कि जिन इमारतों के पास से बम फेंका गया था, उन सबको गिरा दिया जायगा, परन्तु वैसा हुआ नहीं।

परन्तु बम फेंकनेवाले के न मिलने से सरकार बहुत लज्जित हुई। तब उन्होंने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई कि दिल्ली में कौन-कौन-से ऐसे व्यक्ति हैं, जिन पर सन्देह किया जा सकता है। मास्टर अमीरचन्दजी उन दिनों दिल्ली के राजनीतिक जीवन के प्राण थे। उनके साथी लाला हनुमन्त सहाय उन नवयुवकों में से थे, जो सामाजिक सुधार में भी अगुआ थे। सबसे पहले दिल्ली में आप ही अपनी सहधर्मिणी के साथ बाहर भ्रमण के लिए निकले थे। उन दिनों यह बात समाज की दृष्टि में कुफ्र से कुछ कम नहीं समझी गई थी। लाला हरदयाल एम० ए० का जन्म-स्थान दिल्ली था, इससे भी दिल्ली के क्रान्तिकारी संगठन को प्रेरणा मिली। १९१०-११ में मास्टर अमीरचन्दजी का मकान राष्ट्रीय कार्य का एक दृढ़ केन्द्र बन गया था। वहां वाचनालय, स्कूल आदि अनेक संस्थाओं द्वारा नवयुवकों में गहरी देशभक्ति भरने का प्रयत्न किया जाता था। यों मास्टरजी चुपचाप व्यक्ति थे। व्याख्यान आदि देना उन्हें पसन्द नहीं था। ऐसे व्यक्तियों पर विदेशी सरकारों की सदा कड़ी नजर रहती है। वह आसानी से बजनेवाले पटाखे की अपेक्षा दबकर फटनेवाले बारूद के गोले को अधिक भयानक समझती है। वायसराय के हाथी पर बम पड़ने पर सरकार की दृष्टि एकदम मास्टर अमीरचन्द और उनके साथियों पर गई। पुलिस ने उनके मकान पर छापा मारकर कुछ कागज बरामद किये, जिनमें एक बम का नुस्खा भी था। मा० अमीरचन्द, उनका भतीजा मुल्तान-चन्द (जो पीछे से सरकारी गवाह बन गया) और श्री अवधबिहारी उसी समय गिरफ्तार कर लिये गए। श्री अवधबिहारी एक सुयोग्य और होनहार नवयुवक थे। आपने बी० ए० होने के पश्चात् बी० टी० की परीक्षा में स्वर्ण पदक प्राप्त किया था। आप मा० अमीरचन्दजी के जोशीले और विश्वसनीय सेनानायकों में से थे।

आगे चलकर इसी मामले को शाखा-प्रशाखाएं निकालकर सरकार ने लाहौर में दीनानाथ (मुखबिर), श्री बलराज तथा भाई बालमुकुन्दजी को भी पकड़ लिया।

लगभग दो वर्षों तक अभियोग चलता रहा। अन्त में १९१४ के अक्तूबर मास में सेशन जज ने फैसला सुना दिया। मास्टर अमीरचन्द, श्री अवधबिहारी और भाई बालमुकुन्द को फांसी, और श्री बलराज, लाला हनुमन्त सहाय, और वसन्त-कुमार को आजन्म कैद की सजा दी गई। चीफ कोर्ट में अपील होने पर लाला हनुमन्त सहाय की सजा घटकर ७ वर्ष रह गई, शेष सजाएं बहाल रहीं।

यह उस युग का न्याय था। अदालत ने भी स्वीकार किया कि बम फेंकनेवाला व्यक्ति नहीं पकड़ा गया। भाई बालमुकुन्दजी की फांसी की सजा रद्द करके केवल जेल की सजा शेष रखी गई थी। मा० अमीरचन्द, श्री अवधबिहारीलाल और वसन्तकुमार को मृत्युदण्ड दिया गया। कहते हैं कि जब अवधबिहारीलाल को फांसी देने का समय आया तो अंग्रेजों ने उनसे पूछा कि "तुम्हारी अन्तिम इच्छा

क्या है ?" उत्तर मिला, "यही कि अंग्रेजी राज्य नष्ट हो जाय।" इस पर अंग्रेजो ने कहा, "अब मृत्यु के समय तो शान्त हो जाओ।" देशभक्त ने कहा—"हमें शान्ति कैसी ? मैं तो चाहता हूं कि यह आग और जोर से चारों ओर भड़के, जिसमें तुम, हम और हमारी दासता सब जलकर राख हो जाय।"

गदर पार्टी का विस्तृत संगठन

सत्याग्रह से पूर्व के काल में ब्रिटिश राज्य को पलटने के लिए जो सबसे गम्भीर और विस्तृत आयोजन किया गया वह गदर पार्टी के नाम से विख्यात है। उसका प्रत्येक सदस्य सशस्त्र क्रान्ति का समर्थक था। उस पार्टी की स्थापना की चर्चा इससे पूर्व आ चुकी है। यहां हम उसकी विविध और फैली हुई प्रवृत्ति का संक्षिप्त विवरण देंगे।

हम इससे पूर्व, लाला हरदयाल एम० ए० की अद्भुत प्रतिभा, ज्वलन्त देश-भक्ति और उनके द्वारा पंजाब तथा दिल्ली में उत्पन्न की गई विचार-क्रान्ति का वृत्तान्त सुना चुके हैं। जब उन्हें सरकार की अशुभ कामनाओं से प्रेरित होकर देशत्याग करना पड़ा, तब वह पहले लन्दन गये और वहां के वातावरण को अपने अनुकूल न पाकर पेरिस और फिर वहां से अल्जीरिया चले गये। कुछ दिन वहां निवास करने के अनन्तर उनके मन में यह विचार घर कर गया कि देश को स्वतंत्र कराने के लिए महारथी अर्जुन की तरह घोर तपस्या करने की आवश्यकता है। इस संकल्प को मन में लेकर वह अमरीका के पश्चिमी प्रदेश में मार्टिनीज़ नामक द्वीप में जाकर रहने लगे। वहां का उनका जीवन एक तपस्वी का-सा था। एक छोटी-सी खोली में रहते थे, और प्रतिदिन पहाड़ी पर जाकर साधना किया करते थे। आप बिना बिस्तर के भूमि पर सोते, अनाज और आलू उबालकर खाते, और सारा दिन पठन-पाठन या ध्यान में व्यतीत करते थे। उन दिनों लालाजी के हृदय में यह प्रश्न उठने लगा था कि क्यों न महात्मा बुद्ध की भांति तप करके एक नये धर्म की स्थापना की जाय। कहा जाता है कि भाई परमानन्दजी, जो उन दिनों अमरीका पहुंचे हुए थे, मार्टिनीज़ जाकर लालाजी के पास रहे। इसी बीच में उनका जो परस्पर विचार-विमर्श हुआ उससे लालाजी फिर इस संसार में वापिस आ गए, और हार्वर्ड विश्वविद्यालय में भारतीय दर्शन के उपाध्याय का कार्य करने लगे।

लालाजी की प्रतिभा तो चमत्कारपूर्ण थी ही। थोड़े ही समय में उनकी ख्याति अमरीका के विश्वविद्यालयों में फैल गई, और कई अमरीकन विद्वान् उनके भक्त बन गए। वहां के कई समाचारपत्रों ने उन्हें 'हिन्दू ऋषि' की उपाधि दे दी।

लालाजी के विचारों ने फिर एक बार पलटा खाया, और वह कम्यूनिज़्म की ओर झुक गए। अमरीका सदा ही कम्युनिस्ट विचारों का विरोधी रहा है। नई विचारधारा के कारण लालाजी को अमरीका के शिक्षणालयों से सम्बन्ध तोड़ना पड़ा, और वह स्वतंत्र होकर राजनीति की ओर मुड़ गए।

१९१३ के मई मास की १० तारीख के दिन आपने कैलीफोर्निया में कुछ भारतीय देशभक्तों को एकत्र करके 'गदर पार्टी' (क्रान्तिकारी दल) की स्थापना की। जो देशभक्त उस पार्टी की स्थापना के समय उपस्थित थे, उनके नाम ये हैं–(१) पं० जगतराम (२) सरदार कर्तारसिंह (३) सरदारसिंह डक्की (४) रूढसिंह बिज्जल (५) श्री तारकनाथ दास (६) बा० गोविन्दबिहारीलाल।

उसी समय यह भी निश्चय किया गया कि पार्टी की ओर से 'गदर' नाम का एक पत्र जारी किया जाय। छापाखाने का नाम 'युगान्तर आश्रम प्रेस' रखा गया। 'गदर' का प्रकाशन १९१३ के नवम्बर मास में आरम्भ हुआ। वह हिन्दी, उर्दू, गुरुमुखी और गुजराती भाषा में प्रकाशित होता था। उसके सम्पादक बा० गोविन्द-बिहारीलाल थे। यह पत्र भारतवासियों को जोरदार भाषा में राज्य-क्रान्ति करने के लिए ललकारता था। अनेक रुकावटों के होते हुए भी यह पत्र खुले या गुप्त रूप में उन सभी देशों में पहुंच जाता था, जहां भारतवासी रहते थे।

इस पार्टी और पत्र ने भारतीय देशभक्तों के हृदयों में जो उत्तेजना उत्पन्न की थी, वह स्थान-स्थान पर फूट पड़ी, जब १९१४ में पहले योरोपियन महायुद्ध में इंग्लैण्ड ने पदार्पण किया। ब्रिटिश साम्राज्य के संकट को 'गदर' के संचालकों ने अपना चिरप्रतीक्षित अवसर समझा और भारत में और भारत के बाहर अपनी काररवाइयां आरम्भ कर दीं। कामागाटामारू जहाज और बजबज के दंगे का वृत्तान्त हम सुना आये हैं। उसकी तथा वैसे ही अन्य काण्डों की योजना करनेवाले या तो गदर पार्टी के सदस्य थे अथवा उनके प्रभाव में आये हुए व्यक्ति थे।

गदर पार्टी के कनाडा-प्रवासी देशभक्त भारतीयों में से भाई भागसिंह और भाई वतनसिंह की कहानी रोमांचकारी है। सरदार भागसिंह का जन्म पंजाब के एक साधारण जमींदार कुल में हुआ था। अपने प्रयत्न से बढ़ते-बढ़ते वह कनाडा पहुंचकर अच्छे व्यापारी बन गए। 'गदर' पत्र निकलने पर, वह न केवल उसके पाठक बने, आर्थिक सहायता भी करते रहे। जब कनाडा में कामागाटामारू जहाज़ के यात्रियों पर प्रतिबन्ध लगने लगा तब जिन देशभक्तों ने किश्तों का धन एकदम अदा करके संकट को टाला था, भागसिंह उनके मुखिया थे। इन कारणों से इमिग्रेशन विभाग के सरकारी अधिकारी भागसिंह और उनके साथियों पर देर से दांत पीस रहे थे। उन्होंने कई बार यह बात स्पष्ट रूप से कही थी कि वह किसी दिन भागसिंह को गोली का शिकार बनाकर छोड़ेंगे। आखिर एक दिन उनका दावं चल गया। भाई भागसिंह एक सिख भाई के मृतक संस्कार में गये, और गुरुद्वारे में ग्रन्थ साहिब का पाठ करने लगे। पाठ के पश्चात् आप मत्था टेकने के लिए झुके ही थे कि बेलासिंह नाम के एक सिख ने पीछे से उन पर गोली दाग दी। गोली छाती को पार करती हुई फेफड़ों में जा घुसी। भाईजी घायल दशा में अस्पताल ले जाये गए। वहां जब उनका लड़का सामने आया तो उन्होंने कहा—"यह लड़का मेरा नहीं, कौम का है। इसे दरबार में ले जाओ। मेरे पास क्यों लाये?" आपरेशन करके गोली निकाल दी गई, परन्तु उनका जीवन न बच

सका। भाई भानसिंह शत्रु की गोली के शिकार होकर वीरगति को प्राप्त हो गए।

जिस समय बेलासिंह ने भाई भागसिंह पर गोली चलाई, उस समय भाई वतनसिंह पास ही थे। भागसिंहजी के गोली लगती देखकर वतन का खून खौल उठा। वह बेलासिंह को पकड़ने के लिए लपके तो बेलासिंह ने एक के बाद दूसरी ७ गोलियां वतनसिंह पर छोड़ीं। उन सात गोलियों को शरीर में लिये हुए भी वतनसिंह आगे बढ़ता गया और अन्त में बेलासिंह की गर्दन जा पकड़ी। रक्त बहुत जा चुका था, इस कारण बेलासिंह छूटकर भाग गया, परन्तु वतनसिंह को वह अमर-पद प्रदान कर गया, जो केवल युद्ध में प्राण देनेवाले शूरों को प्राप्त होता है।

पंजाब में क्रान्ति की चिनगारियां

१९१४ के अन्त में उत्तरी अमरीका और कैनेडा से स्वदेश में लौटे हुए भारतीयों की संख्या लगभग ६ सहस्र तक पहुंच गई थी। इनमें से ९९ फीसदी सिख थे। उनमें से अधिकतर लोगों को तो देश में आने पर या तो जेलों में डाल दिया गया, अथवा नजरबन्द कर दिया गया। शेष अपने-अपने घरों को चले गए। उनमें से कुछ तो घर के काम-काज में लग गए, परन्तु बहुत-से ऐसे देशभक्त भी थे, जिनके मन में स्वाधीनता की लगन आग की भांति जल रही थी। वे घरों में चैन से न बैठ सके, और कहीं सम्मिलित रूप में तो कहीं अलग-अलग विद्रोह की योजना में लग गए। आगामी कुछ वर्षों में अंग्रेजी राज्य को पलटने के जितने संगठित प्रयत्न पंजाब में किये गए उतने उन्हीं वर्षों में शायद दूसरे किसी प्रान्त में नहीं हुए। पंजाब और दिल्ली में विप्लव के जो आयोजन हुए उनकी प्रेरणा करनेवालों में श्री रासबिहारी बोस और श्री शचीन्द्र सान्याल मुख्य थे।

पंजाब में क्रान्ति की सब योजनाओं और उनके कारण प्राणों की आहुति देनेवाले देशभक्तों का पूरा विवरण देना यहां सम्भव नहीं। केवल कुछ उदाहरण दे देना ही पर्याप्त होगा।

फिरोजपुर में एक राजनीतिक डकैती के सिलसिले में कुछ आदमी पकड़े गए। उस अवसर पर एक थानेदार गोली से मारा गया। इस अपराध में ७ व्यक्तियों को फांसी दी गई। जिस आठवें व्यक्ति को फांसी दी गई वह गन्धासिंह था। जब जज ने उसे फांसी का हुक्म सुनाया तो कहा—"जो सात आदमी पहले फांसी पर चढ़ाये गए थे, वे असली अपराधी नहीं थे, असली अपराधी यह है, जिसे आज फांसी का हुक्म दिया जा रहा है।" तात्पर्य यह हुआ कि पहले ७ व्यक्तियों को असल अपराधी के न मिलने से कानून का पेट भरने के लिए फांसी पर चढ़ाया गया था। पंजाब के अन्य क्रान्तिकारी शहीदों में से डा० मथुरासिंह, श्री बनतासिंह, सरदार रंगासिंह, सरदार उत्तमसिंह, सरदार वीरसिंह, डा० अरूड़सिंह, श्री केहरसिंह, श्री जीवनसिंह, बा० हरनामसिंह आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रत्येक सैनिक के साथ दो-दो चार-चार अन्य सैनिक भी बलि-

वेदी पर चढ़ते रहे। पं० काशीराम एक उत्साही व्यापारी थे। सरकार ने उनकी हजारों की सम्पत्ति जब्त कर ली। उनके साथी रहमत अली शाह को फांसी पर लटका दिया गया।

१९१५ में पंजाब में एक संगठित और विशाल क्रान्ति की योजना तैयार की गई। योजना का रूप यह था कि २१ फरवरी १९१५ के दिन सारे उत्तरी भारत में एक साथ विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित की जाय। इस योजना के संचालकों में रासबिहारी और शचीन्द्र के अतिरिक्त पंजाब के श्री कर्तारसिंह, श्री जागत्‌सिंह आदि अनेक पंजाबी देशभक्त भी शामिल थे। पंजाबी युद्ध में जितने तेज हैं, षड्-यन्त्र में उतने ही अनाड़ी हैं। पंजाब में सीधे संघर्ष देर तक चलते रहते हैं, परन्तु षड्यन्त्र बहुत शीघ्र फूट पड़ता है। विप्लव की योजना के साथ भी वही हुआ। योजना का सूराग सरकार को लग गया, जिससे योजना गुब्बारे की तरह शीघ्र ही फट गई; परन्तु अपना स्थायी असर अवश्य छोड़ गई। उसके कारण प्रान्त-भर में क्रान्तिकारियों का ऐसा जाल-सा फैल गया कि उसे समेटने के लिए सरकार को पूरी शक्ति लगानी पड़ी। सैंकड़ों गिरफ्तारियां हुईं, और लाहौर षड्यन्त्र केस नाम के तीन बड़े-बड़े मुकदमे चलाये गए। क्रान्ति की चिनगारियों को शान्त करने के लिए पंजाब में भारत रक्षा कानून (Defence of India Act) लागू किया गया, जिसके अनुसार षड्यन्त्र-सम्बन्धी अभियोग स्पेशल ट्रिब्यूनल के सामने पेश किये जाते थे।

पहला अभियोग ६१ व्यक्तियों पर चलाया गया, जिनमें सर्वश्री पृथ्वीसिंह, पं० परमानन्द, श्री कर्तारसिंह, भाई परमानन्द, विनायक गणेश पिंगले, जगत्‌सिंह आदि देशभक्त प्रमुख थे। अभियोग में सरकार की ओर से ४०० गवाह पेश किये गए। जजों ने अन्त में २४ व्यक्तियों को फांसी का हुक्म दिया, और अन्यों को काले-पानी आदि के दण्ड प्रदान किये। सबसे अधिक आरोप कर्तारसिंह पर लगाये गए थे। मृत्युदण्ड सुनकर उस वीर ने कहा—"Thank you!" कहते हैं, मृत्युदण्ड की आज्ञा और फांसी लगने के बीच के दिनों में कर्तारसिंह इतना प्रसन्न रहा कि उसका वजन १० पौण्ड बढ़ गया। अन्त समय तक वह "भारत माता की जाय" पुकारता रहा। दूसरे लाहौर षड्यन्त्र केस में ७४ अभियुक्त बनाये गए थे। इस अभियोग में सर्वश्री बलवन्तसिंह, मथुरासिंह, बनतासिंह, वीरसिंह आदि को फांसी की तथा ४२ अभियुक्तों को कालेपानी की सजा दी गई।

तीसरा लाहौर षड्यन्त्र केस १२ व्यक्तियों पर चलाया गया। इस केस के फलस्वरूप सर्वश्री उत्तमसिंह, अरूड़सिंह, केहरसिंह, जीवनसिंह आदि को मृत्यु-दण्ड मिला।

सिंगापुर में सैनिकों का विद्रोह

२१ फरवरी का दिन उत्तरी भारत में क्रान्ति के लिए नियत किया गया था। षड्यन्त्र के समय से पूर्व फूट पड़ने से प्रान्त में तो सफलता नहीं हुई, परन्तु उसी

दिन सिंगापुर में बहुत-से भारतीय सैनिकों ने अंग्रजी सरकार के विरुद्ध झण्डा खड़ा कर दिया। कुछ समय के लिए तो सारी सिंगापुर की छावनी पर विद्रोही सैनिकों का कब्जा हो गया। परन्तु सिंगापुर में कहीं से भी मदद नहीं पहुंच सकती थी। आन-की-आन में अंग्रेजी, रूसी और जापानी जहाजी बेड़ों ने सिंगापुर को चारों ओर से घेर लिया। विद्रोही सैनिक सप्ताह-भर बड़ी दृढ़ता से लड़ते रहे, परन्तु साधारण बन्दूक हाइट्जर तोपों का सामना कहां तक करती। विद्रोही सिपाही पराजित होकर जंगलों में भाग निकले, जहां अंग्रेज सिपाहियों ने पीछा करके प्रायः उन सभी को पकड़ लिया और कोर्ट-मार्शल के सुपुर्द कर दिया।

रेशमी रूमाल का षड्यन्त्र

उस युग में अंग्रेजी सरकार को उन्मूलित करने के लिए जो प्रयत्न किये गए, उनमें 'रेशमी रूमाल' के षड्यन्त्र का अपना अलग ही स्थान है। उसका प्रारम्भिक रूप मजहबी था। १८५७ से भी पूर्व मुसलमानों में एक सम्प्रदाय का जन्म हुआ था, जिसका नाम 'वहाबी' था। उसके संस्थापक अबुल वहाब ने इस्लाम में फैली हुई बहुत-सी रूढ़ियों का विरोध करके विशुद्ध एकेश्वरवाद और मनुष्य-मात्र की समानता के भाव का प्रचार किया था। मूलरूप में मजहबी होते हुए भी अन्य अनेक सम्प्रदायों की तरह वहाबी लोग राजनीति के चक्कर में आ गए, और अंग्रेजी राज्य को दारूल-हरब (शत्रु का देश) मानकर हिजरत करके सीमाप्रान्त में जा बसे। १९१५ में जब भारत के मुसलमान टर्की के मामले में अंग्रेजों से नाराज हो गए, तब लाहौर के कुछ मुसलमान नवयुवकों को दारूल-हरब (अंग्रेजी राज्य) में रहना असह्य हो गया, और वे भी हिजरत करके मुजाहिद (मजहब के लिए मर-मिटने-वाले) लोगों में जा मिले। उनमें से कुछ नौजवान काबुल में नजरबन्द कर दिये गए, तीन को रूसियों ने पकड़कर अंग्रेजों के सुपुर्द कर दिया, और दो भारत वापिस आ गए।

उन दिनों भारत के मुसलमानों में खिलाफत आन्दोलन के कारण अंग्रेज़ों के विरुद्ध जोश भड़क रहा था। देश के कई प्रान्तों से भागकर जोशीले मुसलमान मुजाहिदों में सम्मिलित होने लगे। इस प्रकार सीमाप्रान्त पर रहनेवाले मुजाहिदों का भारत के असन्तुष्ट मुसलमानों से सम्बन्ध स्थापित हो गया, और एक व्यापक षड्यन्त्र तैयार हो गया जिसे अंग्रेज़ी सरकार ने 'रेशमी रूमाल का षड्यन्त्र' नाम दिया था। उस षड्यन्त्र में रेशमी रूमाल का यह महत्त्व था कि सन् ५७ की चपातियों की तरह उस षड्यन्त्र के आदेशों और संदेशों को एक जगह से दूसरी जगह पहुंचाने का साधन रेशमी रूमाल को बनाया गया था।

षड्यन्त्रकारियों का उद्देश्य भारत में विप्लव करके अंग्रेजी राज्य को नष्ट करना था। अंग्रेजी सरकार का कहना था कि वे लोग जिहाद द्वारा अंग्रेजों को मारकर भारत में हिन्दुओं पर इस्लामी हुकूमत कायम करना चाहते थे। सम्भव है ऐसा हो, परन्तु उनके एक प्रमुख नेता महमूद हसन के पास से गिरफ्तारी के पश्चात्

टर्की के एक बड़े अफसर का दिया हुआ जो 'ग़ालिबनामा' (आदेशपत्र) पाया गया, उससे षड्यन्त्र का अन्तिम लक्ष्य राजनीतिक ही प्रतीत होता है। ग़ालिबनामा का आवश्यक अंश निम्नलिखित है :

"एशिया, योरप और अफ्रीका के मुसलमानों ने सब प्रकार के हथियार उठा लिये, और जिहाद में शामिल होकर खुदा के रास्ते में मिल गए। ओ मुस्लिम लोगो, उस ईसाई सरकार पर हमला कर दो जिसने तुम्हें दबा रखा है। अपनी कोशिशों में देर न लगाओ, मजबूती से काम करो, और दुश्मन के लिए मन में नफरत और दुश्मनी का अहसास लेकर उसका गला घोंट दो।"

यह षड्यन्त्र भी अन्य षड्यन्त्रों की भांति कुछ करने के पहले ही दबा दिया गया।

१९१४ में बर्मा में भी कुछ मुसलमान नौजवानों ने क्रान्ति का आयोजन किया था। वह बर्मा षड्यन्त्र केस के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उस षड्यन्त्र की प्रारम्भिक प्रेरणा टर्की से मिली थी, परन्तु अन्त में वह गदर पार्टी की एक शाखा के रूप में परिणत हो गया। उसके संचालकों में फायम अली और अली मुहम्मद सिद्दीकी नाम के दो मुसलमान युवक मुख्य थे। यह योजना भी वैसी अन्य योजनाओं के समान सफल होने से पूर्व ही सरकार के काबू में आ गई और तोड़-फोड़ दी गई।

वृन्दावन के प्रेम महाविद्यालय के प्रसिद्ध संस्थापक राजा महेन्द्रप्रतापजी, १९१४ में भारत से योरप चले गये थे। आप वहां स्विटजरलैण्ड होते हुए जर्मनी पहुंचे, और जर्मन कैसर से मिलकर भारत को स्वाधीन कराने में सहायता मांगी। कैसर ने आपका स्वागत तो खूब किया, परन्तु अफगानिस्तान का रास्ता दिखा दिया। अफ़गानिस्तान के अमीर ने उस समय अंग्रेजों से उलझना उचित न समझा, परन्तु राजा साहब वर्षों तक अपने प्रयत्न में लगे रहे। अन्त में आपने यह अनुभव करके कि सभी राष्ट्रों में स्वार्थ की मात्रा बहुत अधिक है, विश्वबन्धुत्व का प्रचार आरम्भ कर दिया।

सशस्त्र क्रान्तियों का परिणाम

इस अध्याय में सशस्त्र क्रान्ति के संगठनों का और क्रान्ति के सिपाहियों के बलिदानों का जो विवरण दिया गया है, वह सर्वथा अधूरा है। यहां पूरा विवरण देना न अभिप्रेत था और न सम्भव। यहां तो कुछ दृष्टान्त देकर यह दिखाना अभीष्ट था कि देश में कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग-जैसी संस्थाओं के राजनीतिक आन्दोलन के साथ-साथ सशस्त्र क्रान्ति करने के प्रयत्न भी हो रहे थे।

जिन देशों में, विदेशी अथवा अत्याचारी राज्यों से मुक्ति पाने के प्रयत्न हुए हैं, उनमें से शायद ही कोई ऐसा देश हो जिसमें गुप्त षड्यन्त्र अथवा सशस्त्र क्रान्ति के छुटपुट संगठन न बनाये गए हों। वे संगठन पूरी तरह कहीं भी सफल नहीं हुए, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे अपने-आपमें जहां अत्यन्त स्वाभाविक होते हैं, वहां उनकी उपयोगिता भी होती है। अत्याचार की स्वाभाविक प्रतिक्रिया आतंक है।

यह प्रकृति का नियम है, जिसे न अब तक कोई टाल सका और न टाल सकेगा। अत्यन्त बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता से आप उस नियम को कुछ समय तक और कुछ दूर तक दबा सकते हैं, परन्तु ऐसे प्राकृतिक नियमों की यह प्रवृत्ति होती है कि दबाव के हटते ही सिर उठा लेते हैं। इस दृष्टि से विदेशी तथा अत्याचारी शासनों में सशस्त्र क्रान्ति के षड्यन्त्रों या खुले प्रयत्नों का होना स्वाभाविक है। यदि वह रोग का इलाज नहीं, तो कम-से-कम रोग का लक्षण अवश्य है।

इसके अतिरिक्त सशस्त्र क्रान्ति करनेवाले देशभक्तों का देश पर एक और उपकार भी है। आप चाहे तो उन्हें देश के दीवाने कह सकते हैं, परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उनके बलिदानों के समाचारों ने देशवासियों के हृदयों में स्वाधीनता की अग्नि प्रज्वलित करने में चकमक का काम किया। जब वह खुदीराम बोस के गीता हाथ में लेकर फांसी पर चढ़ने और अवधविहारीलाल के हंसते-हंसते झूल जाने के समाचार पढ़ते थे, तो उनकी आंखों में आंसू भर आते थे, शरीर में रोमांच हो जाता था, परन्तु गर्व के मारे माथा ऊंचा भी हो जाता था। उनके हृदय देश के स्वाधीनता-यज्ञ में आहुति बनने के लिए उतावले हो उठते थे। ऐसे बलिदानों से देश का वातावरण क्रान्ति के उस दौर के लिए तैयार हो रहा था, जिसका अब आरम्भ होने को था।

: ३४ :

रौलट ऐक्ट

जब सन् १९१९ ने पृथ्वी पर अपना पहला चरण रखा, तब भारत का अन्तरिक्ष काले-काले बादलों से आच्छादित था। १९१८ के नवम्बर मास में योरप का पहला महायुद्ध समाप्त हो गया था। जर्मनी और उसके साथियों को पूरी तरह परास्त करके वह पक्ष जीत गया था, जिसका सबसे बड़ा भागीदार ब्रिटेन था। उस जीत ने भारत के वातावरण को बिल्कुल बदल दिया था। युद्ध के दिनों में अंग्रेज शासकों में जो थोड़ा-सा विनय का भाव दिखाई दिया था, वह विजयी होने पर काफूर हो गया। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् एक देशभक्त के इस कहने पर कि 'यदि इंग्लैण्ड भारतवासियों की इच्छा को पूरा नहीं करेगा, तो उसका परिणाम बहुत बुरा होगा' प्रयाग के ऐंग्लो-इण्डियन पत्र 'पायनियर' के सम्पादक ने एक वाक्य लिखा था, जो उस समय के अंग्रेजों की गर्वित मनोवृत्ति का नमूना था। उसने लिखा था :

> "क्या ये लोग समझते हैं कि वह ब्रिटिश केसरी, जो अभी-अभी संसार के सबसे बड़े युद्ध में से विजयी होकर निकला है, ऐसी फजूल धमकियों से डर जायगा ?"

ऐसा गर्व दूसरी ओर बुरी प्रतिक्रिया उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकता।

भारतवासी अनुभव करने लगे थे कि अब युद्ध से निश्चिन्त इंग्लैण्ड भारत को किसी प्रकार के शासनाधिकार देने को उद्यत नहीं होगा।

युद्ध की समाप्ति का दूसरा प्रभाव यह हुआ कि भारत के मुसलमानों में टर्की और विलायत के भविष्य के सम्बन्ध में बहुत बेचैनी फैल गई। जब तक युद्ध जारी था, जर्मनी की जीत के साथ-साथ टर्की की जीत की भी आस लगी हुई थी। युद्ध की समाप्ति के साथ आशा का वह सूत्र भी टूट गया। भारत के मुसलमानों में एक ऐसा दल तैयार हो गया जो टर्की की विपत्ति के लिए इंग्लैण्ड को जिम्मेदार समझता था। उसके प्रमुख नेता मौ० अबुल कलाम आज़ाद, मौ० मुहम्मद अली और मौ० शौकत अली थे। मौ० आज़ाद अरबी-फारसी के उद्भट विद्वान् होने के अतिरिक्त उर्दू के प्रभावशाली वक्ता भी थे। वह अपने साप्ताहिक पत्र 'अल हिलाल' के लेखों द्वारा मुसलमानों को अंग्रेजी सरकार का बागी बना रहे थे। मौलाना मुहम्मद अली ने दिल्ली से अंग्रेज़ी और उर्दू में अखबार निकालकर उत्तरी भारत के मुस्लिम जगत् में हलचल पैदा कर दी थी। मौ० मुहम्मद अली की योग्यता और जोश की एक टैंक से उपमा दे सकते हैं। वह जिधर झुक जाते थे, उधर आफत मचा देते थे, और उनके बड़े भाई शौकत अली टैंक के साथ नत्थी हुई तोप की भांति उनकी शक्ति को दुगना कर देते थे। उस समय वह खिलाफत की रक्षा के लिए भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का साथ दे रहे थे। सरकार ने उन लोगों को नज़रबन्द करके देश के मुसलमानों में उनकी बढ़ती हुई लोकप्रियता पर स्वीकृति की मुहर लगा दी थी।



मौ० अबुल कलाम आज़ाद

१९१९ के प्रारम्भ में देश की आर्थिक स्थिति भी बहुत विकट हो रही थी। यों तो अंग्रेजों के राज्यकाल में साधारण प्रजा सदा ही थोड़े-बहुत अर्थ-कष्ट में रहती थी क्योंकि सरकार की शोषण-नीति यथापूर्व चल रही थी। सूद और पेन्शनों के नाम पर विलायत को जो धनराशि ले जाई जाती थी, उसकी मात्रा ही कम नहीं थी, उस पर प्रतिवर्ष अन्न तथा कपास आदि कच्चे माल का खुला निर्यात देश को कंगाल बना रहा था। यह तो देश की साधारण दशा थी। योरप का महा-युद्ध वस्तुतः इंग्लैण्ड का युद्ध था। उससे भारत का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था, तो भी उसका भारत पर बहुत घातक असर हुआ। जो अन्न उत्पन्न हुआ, उसका बहुत बड़ा भाग देश के बाहर गई हुई सेनाओं के लिए भेज दिया गया। गांव में सेना की नई भर्ती के कारण खेती करनेवालों की कमी हो गई, जिससे अन्न की उपज में कमी हो जाना स्वाभाविक था। परिणाम यह हुआ कि १९१७-१८ में अन्न बहुत महंगा हो गया। सरकारी आंकड़ों पर विश्वास करें तो उस समय अनाज के मूल्य में ९३ फीसदी की वृद्धि हो गई थी। कपड़ों के मूल्य भी एकदम बढ़ गए थे।

कई स्थानों पर कपड़े के दाम दुगने से भी अधिक हो गए थे। सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि महंगा होने के अतिरिक्त अनाज और कपड़ा अत्यन्त दुर्लभ हो गए थे, जिसका फल यह हुआ कि मध्यम श्रेणी और ग़रीब लोगों का जीवन-निर्वाह भी कठिन हो गया।

विशेष रूप से दयनीय दशा थोड़े वेतन पानेवाले बाबुओं और मज़दूरों की थी। वे दुर्भिक्ष-पीड़ितों से भी बदतर दशा में पहुंच गए। मज़दूरों में लेबर यूनियनों तथा मज़दूर-संघों की स्थापना, और स्थान-स्थान पर हड़तालों का उपक्रम उन्हीं वर्षों में हुआ। एक ओर ग़रीबों की यह दशा थी, तो दूसरी ओर व्यापारी और कारख़ानेदार लोग महंगाई से लाभ उठाकर बेतरह मालामाल हो रहे थे। उनके पास अभूतपूर्व पूंजी एकत्र हो रही थी। सरकार भला अवसर पर कब चूकनेवाली थी, उसने अतिरिक्त लाभकर (exccss profit tax) लगाकर पूंजीपतियों से धन प्राप्त करने की योजना कार्यान्वित कर दी। इस प्रकार जब १९१८ के नवम्बर मास में योरप का युद्ध समाप्त हुआ, तब भारत देश की प्रत्येक श्रेणी मानो आर्थिक कष्ट के तेज़ बुख़ार में से गुजर रही थी।

भारतीय प्रजा की बेचैनी नाममात्र के शासन-सुधारों या दमन से शान्त न होते देख अंग्रेजी सरकार ने उसे एकबारगी दबाने के उद्देश्य से इंग्लैण्ड की हाई-कोर्ट के जज मि० जस्टिस रौलट के सभापतित्व में एक कमेटी नियुक्त की, जो उनके नाम पर रौलट कमेटी कहलाई और उस कमेटी की सिफारिशों पर आधारित काला कानून रौलट ऐक्ट कहकर पुकारा गया।

कमेटी की स्थापना की घोषणा १० दिसम्बर १९१७ को हुई। कमेटी ने लगभग ४ महीनों तक 'तहकीकात' की। वह केवल बंगाल और पंजाब दो प्रान्तों में गई। बंगाल में अधिक समय व्यतीत किया, और पंजाब में कम। कमेटी की लगभग सारी तहकीकात उस काग़ज़ी सामग्री के आधार पर हुई, जो भारत सरकार ने उसके सामने उपस्थित की थी। कमेटी के सभापति ने १५ अप्रैल १९१८ के दिन अपनी रिपोर्ट भारत मन्त्री की सेवा में उपस्थित की, और उसी दिन वह भारत में भी प्रकाशित की गई। वह रिपोर्ट भारत में 'रौलट कमेटी की रिपोर्ट' के नाम से प्रसिद्ध हुई। रिपोर्ट में भारत के जोशीले देशभक्तों द्वारा किये गए बड़े और छोटे आतंकपूर्ण कार्यों को बढ़ा-चढ़ाकर बड़े उग्र रूप में चित्रित करते हुए जो परामर्श दिये गए थे, वे उग्रतम थे। वे दो भागों में विभक्त थे। पहला परामर्श यह था कि एक ऐसा कानून बनाया जाय जो युद्ध समाप्त हो जाने पर भी भारत रक्षा कानून का काम दे सके। दूसरा परामर्श फौजदारी कानून में ऐसे स्थायी परिवर्तन करने का था, जिससे राजनीतिक आन्दोलन का गला आसानी से घोंटा जा सके। उन परामर्शों के आधार पर जो बिल बनाये गए, वे रौलट बिल के नाम से प्रसिद्ध हुए।

उनमें से पहले बिल में यह विधान था कि क्रान्तिकारियों के मुकदमे हाईकोर्ट के तीन जजों की अदालत में पेश हों, जो शीघ्र ही उनका फैसला कर दें। निचली कचहरियों में उनके जाने की आवश्यकता न हो, ताकि अपील की भी कोई गुंजायश

न रहे। इस बिल में यह विधान भी रखा गया था कि जिस व्यक्ति पर राज्य के विरुद्ध अपराध करने का सन्देह हो, उससे ज़मानत ली जा सके, और उसे किसी विशेष स्थान पर जाने तथा विशेष कार्य करने से रोका जा सके। किसी ऐसे व्यक्ति को आज्ञा देने से पहले, मामले की जांच एक जज और एक ग़ैरसरकारी आदमी द्वारा की जाय। प्रान्तीय सरकारों को यह अधिकार दिया गया था कि वे किसी भी व्यक्ति को, जिस पर उन्हें सन्देह हो गिरफ्तार करके कहीं नज़रबन्द कर सकती हैं और यदि सन्देहास्पद आदमी जेल में हो तो उसे वहीं रोककर रख सकती हैं।

दूसरा बिल, जिसका उद्देश्य साधारण फौजदारी कानून में स्थायी परिवर्तन करना था, अधिक विस्तृत था। उसमें किसी राजद्रोही समझे जानेवाली सामग्री का प्रकाशन या वितरण करना या करने के लिए अपने पास रखना, ऐसा अपराध करार दिया गया था, जिस पर जेल का दण्ड मिल सकता था। सरकारी गवाह बन जानेवाले की सुरक्षा की विशेष व्यवस्था की गई थी। किसी भी ऐसे आदमी से, जिसे राज्य के विरुद्ध कोई अपराध करने के कारण दण्ड मिल चुका हो, दो वर्ष तक की नेकचलनी की जमानत लेने का अधिकार अधिकारियों को दिया गया था।

रिपोर्ट के प्रकाशित होने पर देश में जो बेचैनी पैदा हुई थी, बिलों के प्रकाशित होने पर वह सौगुना बढ़ गई। जब ६ फरवरी १९१९ के दिन सर विलियम विन्सेण्ट ने रौलट बिलों को बड़ी कौंसिल में उपस्थित किया, तब सरकार को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि न केवल कौंसिल के बाहर अपितु अन्दर भी कड़े विरोध का भाव विद्यमान है।

बिलों के प्रति देश में विरोध का जो भाव था, वह १९१८ के दिसम्बर मास के अन्त में दिल्ली के कांग्रेस अधिवेशन में प्रकट हुआ। वह अधिवेशन २६ दिसम्बर को पं० मदनमोहन मालवीय के सभापतित्व में हुआ था। स्वागताध्यक्ष हकीम अजमल खां थे। वह अधिवेशन वस्तुतः समाप्त होते हुए राजनीतिक युग का अन्तिम और आनेवाले युग का प्रथम पदन्यास था। पंडाल उस मैदान में बनाया गया था, जहां अब लाजपतराय मार्केट खड़ी है। उस समय वह पीपल पार्क के नाम से प्रसिद्ध था। उसमें पीपल का एक विशाल पेड़ था जिसकी छाया में प्रसिद्ध पत्थरवाला कुआं था। वहां दिन में हजारों व्यक्ति ठण्डा जल पीते और विश्राम करते थे। पहले उस पीपल के नाम से ही उसे पीपल पार्क कहा जाता था, परन्तु जब उसमें सार्वजनिक सभाएं होने लग गईं, तब अंग्रेजी के 'People' शब्द के आधार पर वह जनता का मैदान बन गया।

कांग्रेस के उस अधिवेशन को पुराने युग का अन्तिम पग कहा गया है, क्योंकि उसके मंच पर अन्तिम बार नवीनतम कट के अंग्रेजी सूट, चरचराते हुए शू, और शानदार हैट दिखाई दिये। जब अगला अधिवेशन अमृतसर में हुआ, तब तक देश के वातावरण में क्रान्ति आ चुकी थी। इंग्लैण्ड और भारत के बीच में दिल्ली के घण्टाघर पर, और जलियांवाला बाग़ में भारतवासियों के रुधिर की धारा बह

चुकी थी, जिसने उस मायाजाल को काटना आरम्भ कर दिया था, जो एक शताब्दी से भारतवासियों को ग्रसे बैठी थी। १९१९ के अन्त में अंग्रेजी नाम और अंग्रेजी टीपटाप का जादू बहुत कुछ उड़ चुका था।

दिल्ली की कांग्रेस में कई महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकार हुए। उनमें से मुख्य दो थे। पहला प्रस्ताव शासन-सुधारों के सम्बन्ध में था। उसमें मांटेगू-चैम्सफोर्ड योजना को अपर्याप्त बतलाते हुए यह घोषणा की गई थी कि भारत उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन के सर्वथा योग्य है, और इस आधार पर पूरे उत्तरदायित्व की मांग पेश की गई।

रौलट कमेटी की रिपोर्ट के बारे में कहा गया था कि वह अत्यन्त प्रतिक्रिया-वादी है, और यदि उसकी सिफारिशों को स्वीकार किया गया तो शासन-सुधारों को व्यावहारिक रूप देने में बाधाएं उत्पन्न होंगी। इस बात पर जोर दिया गया कि भारत रक्षा कानून, प्रेस कानून, सभाबन्दी कानून, क्रिमिनल ला अमेण्डमेण्ट एक्ट, रेगूलेशन्स आदि सभी दमनकारी राजनियमों को कानून की किताब में से निकाल देना चाहिए। जब तक वे प्रचलित रहेंगे, देश में शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती।

सरकार को कांग्रेस का मत विदित हो चुका था। समाचारपत्रों में रौलट रिपोर्ट और उस पर आधारित बिलों का कठोर विरोध किया जा रहा था, फिर भी सरकार ने उन्हें छोड़ा नहीं और बड़ी कौंसिल के फरवरी १९१९ के अधिवेशन में उन्हें स्वीकृति के लिए उपस्थित कर दिया।

भारतीय प्रतिनिधियों ने बिलों का डटकर विरोध किया। पं० मदनमोहन मालवीय, श्रीयुत विट्ठल भाई पटेल, मि० मुहम्मद अली जिन्ना, श्री मज़रूल हक तथा श्रीयुत श्रीनिवास शास्त्री आदि लोकनेताओं ने सरकार को समझाने का बहुत यत्न किया कि इस प्रकार के विषैले कानूनों के स्वीकार करने से देश में असन्तोष की अग्नि शान्त होने की जगह और अधिक प्रचण्ड हो जायगी, परन्तु सरकार ने एक न मानी। सरकारी सदस्य और उनके कुछ भारतीय वशंविदों ने काले कानूनों के समर्थन में यह युक्ति दी कि उनका उद्देश्य राजनीतिक आन्दोलन को दबाना नहीं, अपितु देश को आतंकवाद से छुड़ाना है। देश सरकार की इस युक्ति की निःसारता को वर्षों के कटु अनुभव से जान चुका था। जो रस्सी आतंकवाद के नाम पर बनाई जाती थी, वह प्रायः राजनीतिक आन्दोलन के गले में कसी जाती थी।

कांग्रेस ने स्पष्ट विरोध किया, समाचारपत्रों ने घोर प्रतिवाद किया, और कौंसिल के भारतीय सदस्यों ने बार-बार चेतावनी दी, परन्तु सरकार अपने हठ पर तुली रही। विरोध की उग्रता को देखकर उसने केवल इतना किया कि दूसरे बिल को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया, और मार्च के तीसरे सप्ताह में पहला बिल सरकारी बहुमत से पास कर दिया गया।

इस प्रकार अर्द्धसुषुप्त भारतवासियों की छाती में जोर का घूंसा मारकर अंग्रेजी सरकार ने उसे पूरी तरह जगा दिया।

: ३५ :

महात्मा गान्धी

अब हम भारतीय इतिहास के उस युग में प्रवेश कर रहे हैं, जिसके साथ 'गान्धी' शब्द जुड़ा हुआ है। इस कारण यह उचित प्रतीत होता है कि गान्धीजी ने वह अद्भुत व्यक्तित्व कैसे प्राप्त किया, जिसकी शक्ति से वह युगनिर्माता महापुरुष बन सके, इस प्रश्न का उत्तर उनके जीवन की घटनाओं से दिया जाय। संसार-प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता आइन्स्टीन ने गान्धीजी की ७५वीं वर्षगांठ के अवसर पर कहा था कि "आगे आनेवाली पीढ़ियां शायद ही विश्वास कर सकेंगी कि मनुष्यों-जैसा हाड़-मांस का गान्धी नाम का पुतला कभी इस भूमि पर पैदा हुआ था।" यह समस्या केवल इतिहास से ही नहीं, मनोविज्ञान से भी सम्बन्ध रखती है कि गान्धी-जी में ऐसी अद्भुत मनुष्यता का विकास कैसे हुआ?

गान्धीजी का अपना नाम मोहनदास और पिता का नाम करमचन्द था। गान्धी उनकी जाति थी। उनका जन्म २ अक्तूबर १८६९ को सौराष्ट्र के पोरबन्दर नगर में हुआ था।

प्रारम्भ से ही गान्धीजी के स्वभाव में कुछ विशेषताएं थीं। झूठ बोलना या करना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। आप जब राजकोट के अल्फ्रेड हाई स्कूल में शिक्षा पाते थे, तब की एक घटना है। एक अंग्रेज इन्स्पेक्टर परीक्षा लेने आये। छात्रों से कई अंग्रेजी शब्द लिखवाये गए, जिनमें केटल (चायदानी) शब्द था। गान्धीजी को उसके हिज्जे याद नहीं थे। एक अध्यापक बीच में घूम रहा था। उसने उन्हें इशारा किया कि अपने सामनेवाले छात्र की स्लेट से नकल कर लो। बालक मोहनदास ने वह इशारा स्वीकार नहीं किया। कुछ छात्रों को तो ठीक हिज्जे याद थे, जिन्हें याद नहीं थे, उन्होंने अध्यापक का इशारा पाकर नकल कर लिये थे। पीछे से अध्यापक ने मोहनदास को उसके बुद्धूपन पर बहुत डांट लगाई।



महात्मा गांधी

१३ वर्ष की आयु में गान्धीजी का कस्तूरबाई से विवाह हो गया। १९ वर्ष की आयु में शिक्षा प्राप्त करने के लिए उन्हें विलायत भेजा गया। गान्धीजी की माता पुतलीबाई कट्टर विचारों की धर्मपरायणा महिला थीं। वह पुत्र को विदेश भेजने से बहुत डरती थीं। एक साधु महात्मा ने गान्धीजी से विलायत में मदिरा, मांस और स्त्री को न छूने की प्रतिज्ञा लेकर माता की आशंका को दूर कर दिया, तब गान्धीजी बैरिस्टरी पास करने इंग्लैण्ड जा सके। उस समय पढ़े-लिखे हिन्दु-स्तानियों का मक्का इंग्लैण्ड ही था।

बैरिस्टरी पास करने में गान्धीजी को ३ वर्ष लगे। विलायत में, छात्रावस्था में, वह पूरे योरोपियन वेश में, आदर्श जण्टिलमैन बनकर रहते थे। वेश में पाश्चात्य बनकर भी रहन-सहन और भोजन के बारे में उन्होंने उन प्रतिज्ञाओं का यथाशक्ति पालन किया जो माता के सामने की थीं। मांस, शराब और स्त्री इन तीनों दोषों में हल्का-सा पाँव धरकर वह विलायत जाने से पूर्व ही पहरेजगार बन चुके थे, इस कारण लन्दन के प्रलोभनपूर्ण वातावरण में रहकर भी वह अछूते रहे। यह उनके स्वभाव की सात्विक प्रवृत्तियों का ही परिणाम था।

१८९१ के जून मास में गान्धीजी बैरिस्टर बनकर अपने देश में वापिस आ गए। यहां आकर उनका विचार वकालत जमाने का था, परन्तु वैसा न हो सका। गान्धीजी ने 'आत्मकथा' में इस विषय पर लिखा है :

"राजकोट में तुरन्त वकालत शुरू करना तो हंसी ही कराना था। ज्ञान की पूंजी तो अपने पास इतनी न थी कि राजकोट के पुराने वकीलों के मुकाबले में खड़ा हो सकूं और फीस उनसे दस गुनी लेने का दावा। कौन मूर्ख मुवक्किल मुझे वकील बनाता। और कोई ऐसा मूर्ख मिल भी जाता तो मेरे लिए क्या यह मुनासिब होता कि मैं अपने अज्ञान में औद्धत्य और दगाबाजी को शामिल करके अपने ऊपर का दुनिया का कर्ज़ और भी बढ़ा लूं?"

इस प्रकार राजकोट से निराश होकर कुछ मित्रों के अनुरोध से गान्धीजी हाईकोर्ट में प्रैक्टिस करने के लिए बम्बई चले गए। वहां जाकर जो कुछ हुआ, उसके बारे में गान्धीजी ने 'आत्मकथा' में लिखा है :

"पर मेरा बम्बई में चार-पांच महीनों से अधिक रहना मुमकिन नहीं था, क्योंकि खर्च बढ़ता जाता था, और आमदनी कुछ भी नहीं थी।"

गान्धीजी के बड़े भाई संसारी आदमी थे। वह चाहते थे कि जब बैरिस्टर बनने में हजारों रुपयों का खर्च हुआ है, तो लाखों की आमदनी भी होनी चाहिए। वह गान्धीजी को वकालत करने की प्रेरणा करते थे, और अपने रसूख से मुकदमे भी जुटाते थे, परन्तु वकालत का पेशा गान्धीजी की अन्तरात्मा को अखरता था। अभियोग को सफल बनाने के लिए जो झूठ घड़ने या बोलने पड़ते हैं, उनसे गान्धीजी को घृणा थी; बैरिस्टर होने के कारण उन्हें हिन्दू या मुस्लिम कानून का पूरा परिचय नहीं था, और इतनी हिमाकत नहीं थी कि न जानते हुए भी जानने का दम भर सकें। इन मौलिक कारणों से उनका और वकालत का मेल नहीं मिल रहा था। यह डांवाडोल अवस्था थी, जब गान्धीजी को एक अंग्रेज अफसर से मिलने का अवसर मिला। उस प्रसंग ने हठात् गान्धीजी की दुविधा को समाप्त करके भारत में उनके कानूनी जीवन का अन्त कर दिया। उस प्रसंग का गान्धीजी के भावी जीवन के निर्माण पर बहुत भारी असर पड़ा।

स्वयं उन्हीं के शब्दों में :

"पोरबन्दर के भूतपूर्व राणा साहिब को गद्दी मिलने से पहले मेरे भाई उनके मन्त्री और सलाहकार थे। उस बीच राणा साहिब को ग़लत सलाह देने की तोह-

मत उन पर लगाई गई थी। तात्कालिक पोलिटिकल एजेण्ट से इसकी शिकायत होने के कारण मेरे भाई के बारे में उनका खयाल खराब हो रहा था। इस अफसर से मैं विलायत में मिला था। बल्कि कह सकता हूं कि वहां उसने मुझसे मजे की दोस्ती जोड़ी थी। भाई ने सोचा कि उस परिचय से लाभ उठाकर मैं पोलिटिकल एजेण्ट से दो शब्द कहूं, और उन पर जो खराब असर पड़ा है, उसे मिटाने की कोशिश करूं। मुझे यह बात तनिक भी न रुची।'' इच्छा न रहते भी बड़े भाई के आग्रह से गान्धीजी ने उस अंग्रेज अफसर से मुलाकात की। उस मुलाकात का वर्णन गान्धीजी के शब्दों में पढ़िए :

''भाई की बात मैं टाल न सका। अपनी इच्छा के विरुद्ध मैं गया। मुझे अफसर के पास जाने का कोई हक नहीं था। जाने में मेरा स्वाभिमान भंग होता था। इसका मुझे खयाल था। फिर भी मैंने मिलने का समय मांगा। वह मिला, और मैं मिलने गया। मैंने पुराने परिचय की याद दिलाई, पर मैंने तुरन्त देखा कि विलायत और काठियावाड़ में अन्तर है। अपनी कुर्सी पर विराजे हुए अफसर और छुट्टी पर गये हुए अफसर में भी भेद है। साहिब ने परिचय स्वीकार किया, पर इस स्वीकृति के साथ ही वह अधिक तन गया। यह मैंने उसकी अकड़ से देखा, और उसकी नजर में पढ़ा, मानो वह कह रही थी कि इस परिचय का लाभ उठाने ही तो तुम नहीं आये हो न ? यह समझते हुए भी मैंने अपनी कहानी शुरू की। साहिब का धैर्य लुप्त हो गया।

''तुम्हारे भाई खटपटिये हैं। तुमसे मैं ज्यादा बातें सुनना नहीं चाहता। मुझे समय नहीं है तुम्हारे भाई को कुछ कहना हो तो बाकायदा दर्ख्वास्त दें।' यह जवाब काफी था, ठीक था; पर ग़रज़ तो वावली होती है। मैं तो अपनी कहानी कहे जा रहा था। साहब उठा 'अब तुम्हें जाना चाहिए।'

'मैंने कहा—''पर मेरी बात तो पूरी सुन लीजिए।''

'साहब बहुत खीझ गया। 'चपरासी' इसको दरवाजा बतलाओ।'

'हज़ूर!' चपरासी दौड़ा आया। मैं अब भी कुछ बड़बड़ा ही रहा था कि चपरासी ने मुझे हाथ लगाया और दरवाजे से बाहर कर दिया।''

इस दुःखजनक काण्ड का गान्धीजी के हृदय पर बहुत गहरा असर हुआ। घर जाकर उन्होंने उस अफसर को एक चिट्ठी लिखी : ''आपने मेरा अपमान किया। चपरासी के जरिये मुझ पर हमला किया। आप माफी न मांगेंगे तो आप पर बाकायदा मानहानि की नालिश करूंगा।''

साहब ने जवाब दिया—''तुम मेरे साथ असभ्य रीति से पेश आये। जाने के लिए कहने पर भी तुम नहीं गये। इससे मैंने चपरासी को तुम्हें दरवाजा दिखाने को जरूर कहा। चपरासी के कहने पर भी तुम दरवाजे से बाहर नहीं गये। तब उसने तुम्हें दफ्तर से बाहर कर देने के लिए जितना जरूरी था, उतना बलप्रयोग किया। तुम्हें जो करना हो, वह करने को तुम आजाद हो।''

यह उत्तर पाकर गान्धीजी की अन्तरात्मा तड़प उठी। पहले अपमान

किया, और अब क्षमा मांगने की जगह चैलेंज फेंक दिया। उन्होंने एक मित्र की मार्फत सर फीरोज़शाह मेहता से सलाह ली। सर मेहता ने जो सलाह दी उसने गान्धीजी की मानो आंखें खोल दीं। सलाह यह थी :

"गान्धी से कहो, ऐसे अनुभव तो सभी वकील-बैरिस्टरों को हुए होंगे। तुम अभी नये-नये हो। अभी विलायत की हवा तुम्हारे दिमाग़ में भरी है। तुम अंग्रेज अधिकारी को पहिचानते नहीं। तुम्हें चैन से बैठना हो, और दो पैसे कमाने हों तो इस जवाब को फाड़ फेंको। और जो अपमान हुआ है, उसे पी जाओ। मामला चलाने से फूटी कौड़ी भी न मिलेगी, उल्टे तुम हैरान-बर्बाद होगे। जीवन का अनुभव होना तुम्हें बाकी है।"

यह पूरी घटना हमने इसलिए उद्धृत की है कि हमारी सम्मति में गान्धीजी के जीवन में मानसिक क्रान्ति उत्पन्न करने में इस घटना का बहुत बड़ा हाथ था।

वकालत के पेशे से या सरकारी नौकरी से पैसा कमाने की भावना का यदि कोई अणु गान्धीजी के मन में विद्यमान था तो वह इस घटना से निकल गया। उन्हें एक ही प्रसंग में अपने देशवासियों की लाचारी, अंग्रेजों की मदान्धता और देश की दयनीय दशा का अनुभव हो गया, जिसने उनके भावी जीवन के मार्ग में प्रतिकूल परिस्थितियों की दीवार-सी खड़ी कर दी।

दैव को गान्धीजी से अभी बहुत-सा काम लेना था, इस कारण अकस्मात् उलझन को सुलझाने का निमित्त भी उत्पन्न हो गया। पोरबन्दर के एक मुसलमान व्यापारी को अपने एक अभियोग के काग़जात दक्षिण अफ्रीका ले जाकर वहां के बड़े वकीलों को मामला समझाने के लिए एक व्यक्ति की आवश्यकता थी। वह व्यापारी गान्धीजी के बड़े भाई लक्ष्मीदास का मित्र था। व्यापारी के कहने से भाई ने गान्धीजी को दक्षिण अफ्रीका जाने पर राज़ी कर लिया। वह आसानी से राज़ी हो गए, क्योंकि अपने देश की परिस्थिति से वह बहुत कुछ निराश हो चुके थे।

१८९३ में गान्धीजी जहाज से डरबन पहुंचे। वहां से मुकदमे के काम से उन्हें प्रिटोरिया जाना था। उनके लिए पहले दर्जे का टिकट ख़रीदा गया था। वह सामान रखकर पहले दर्जे में बैठ गए। रास्ते में एक गोरा उसी डिब्बे में बैठने के लिए आया। जब उसने एक काले आदमी को गाड़ी में बैठे देखा तो जाकर रेल के अधिकारियों को बुला लाया। उन्होंने गान्धीजी से तीसरे दर्जे में चले जाने को कहा। गान्धीजी ने उतरने से इनकार किया। इस पर वे लोग पुलिस को ले आये, जिसने गान्धीजी को सामान-सहित बाहर निकाल दिया। गान्धीजी चाहते तो तीसरे दर्जे में बैठ सकते थे, परन्तु उन्होंने रात-भर वेटिंग रूम में पड़े रहना पसन्द किया। ख़ूब सर्दी थी। इसमें सन्देह नहीं कि गान्धीजी उस रात सर्दी से ठिठुरते और विदेश में भी भारतीयों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार पर दुःखित होते रहे होंगे। अपने देश की राजनीतिक परिस्थिति के सम्बन्ध में गान्धीजी के हृदय पर गहरा आघात करनेवाली यह दूसरी घटना थी।

पैसा कमाने या वकालत के पेशे की ओर गान्धीजी की बिलकुल रुचि नहीं थी।

भारतवासी होने के कारण अंग्रेजों द्वारा उनके आत्मसम्मान को जो आघात पहुंचे थे, उसने उनकी अन्तरात्मा को बेचैन कर दिया था। किसी आघात से हार मानना उनके स्वभाव के विरुद्ध था, इस कारण जब उन्हें यह समाचार मिला कि नैटाल सरकार भारतवासियों को विधान सभा का सदस्य चुनने के अधिकार से वंचित कर देना चाहती है, तो वह इस अन्याय का विरोध करने के लिए एकदम खड़े हो गए। मानो मुसलमान व्यापारी को भारत के सुदैव ने ही प्रेरणा की थी कि उसने गान्धीजी को दक्षिण अफ्रीका में भेजकर एक ऐसा आन्दोलन खड़ा करने का अवसर दे दिया, जो राजनीतिक क्षेत्र में बिलकुल नया था।

महात्माजी के नेतृत्व में दक्षिण अफ्रीका के भारतवासियों ने जो शानदार सत्याग्रह बरसों तक चलाया, उसकी कहानी इस इतिहास के पाठक इससे पूर्व के अध्यायों में पढ़ चुके हैं। यहां उसे न दुहराकर हम केवल यह दिखाना चाहते है कि दक्षिण अफ्रीका की घटनाओं का गान्धीजी के जीवन पर क्या असर पड़ा, और ऐसे कौन-से कारण हुए जिन्होंने बैरिस्टर मोहनदास कर्मचन्द गान्धी को महात्मा की पदवी पर पहुंचा दिया।

दक्षिण अफ्रीका में, सत्याग्रह का प्रारम्भ और संचालन करते हुए गान्धीजी ने चरित्र की तीन विशेषताएं प्राप्त कीं। इससे पूर्व उनमें अपने विश्वास पर दृढ़ रहने की प्रवृत्ति तो थी, परन्तु आत्मविश्वास की कमी थी। जब उन्होंने पहले-पहल बम्बई में वकालत आरम्भ की तब आत्मविश्वास की कमी के कारण विरोधी वकील के सामने बोलते या प्रतिपक्षी साक्षियों से जिरह करते घबराते थे। दक्षिण अफ्रीका के अधिकार-संग्राम ने उनके आत्मविश्वास को पुष्ट किया।

इंग्लैण्ड की शिक्षा के कारण उनमें पहले से ही धार्मिक कट्टरता का अभाव था। दक्षिण अफ्रीका में उनके आन्दोलन को न केवल मुसलमानों और हिन्दुओं से समान रूप में सहयोग प्राप्त हुआ, बल्कि अनेक योरोपियन भी सहयोगी बन गए। इसका परिणाम यह हुआ कि उनका दृष्टिकोण बहुत अधिक असाम्प्रदायिक हो गया। अन्त में वह धर्म-भेद की परिभाषाओं के अस्तित्व को मानने से इनकार करने लगे थे।

पहले इंग्लैण्ड के और फिर दक्षिण अफ्रीका के जीवन का गान्धीजी के जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव यह पड़ा कि उनका योरप और अमेरिका के अनेक क्रान्तिकारी लेखकों के विचारों से सम्पर्क हो गया। रस्किन, इमर्सन, थोरे आदि पाश्चात्य विचारकों के ग्रन्थों के अतिरिक्त बाइबिल के कई हिस्सों ने अहिंसा की भावना को क्रियात्मक रूप देकर, सविनय कानून-भंग, असहयोग और अन्त में सत्याग्रह-जैसी सजीव कल्पनाओं को जन्म दिया। सब से बढ़कर जिस विदेशी विचारक का गान्धीजी पर असर पड़ा, वह रूस के महान् ऋषि टालस्टाय थे। टालस्टाय के विचारों ने रूस में विचार-क्रान्ति का सूत्रपात किया था। जब गान्धीजी ने टालस्टाय के युद्ध-विरोधी विचार पढ़े तो वह उनके शिष्य बन गए और पत्र-व्यवहार द्वारा शान्तिवाद की दीक्षा ग्रहण कर ली।

चारों ओर से इतने संस्कारों को वही व्यक्ति अपने अन्दर एकत्र कर सकता है, जिसमें अच्छे संस्कार ग्रहण करने की शक्ति हो। इंग्लैण्ड, बम्बई और दक्षिण अफ्रीका से सत्संस्कारों को अपने अन्दर धारण करके गान्धीजी ने वह चमत्कारिक व्यक्तित्व प्राप्त किया, जिसने उन्हें महात्मा पदवी का अधिकारी बना दिया।

: ३६ :

अहिंसक राज्य-क्रान्ति का शंखनाद

महात्मा गान्धी ने १८ मार्च १९१९ को सत्याग्रहियों के लिए निम्नलिखित प्रतिज्ञा-पत्र प्रकाशित किया :

"सच्चे हृदय से मेरा यह मत है कि इण्डियन क्रिमिनल ला अमेण्डमेण्ट बिल सं० १ और क्रिमिनल ला अमेण्डमेण्ट बिल सं० २ अन्यायपूर्ण हैं, और न्याय तथा स्वाधीनता के सिद्धान्तों के विघातक हैं। उनसे व्यक्ति के उन मौलिक अधिकारों का हनन होता है, जिन पर भारत की और स्वयं अंग्रेजी राज्य की रक्षा निर्भर है। अतः मैं शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता हूं कि यदि इन बिलों को कानून का रूप दिया गया, तो जब तक उन्हें वापिस न लिया जायगा, तब तक मैं इन तथा अन्य ऐसे कानूनों को भी, जिसे इसके बाद नियुक्त की जानेवाली सत्याग्रह कमेटी उचित समझेगी, मानने से नम्रतापूर्वक इनकार कर दूंगा। मैं इस बात की प्रतिज्ञा करता हूं कि इस युद्ध में ईमानदारी के साथ, सत्य का अनुसरण करूंगा, और किसी के जान-माल को हानि नहीं पहुंचाऊंगा।"

यह प्रतिज्ञा व्यक्तिगत रूप से भी ली जा सकती थी, और सामूहिक रूप से भी।

सत्याग्रह की घोषणा के साथ ही बम्बई में एक सत्याग्रह कमेटी स्थापित कर दी गई, जिसका उद्देश्य सत्याग्रह का संचालन करना था।

देश में इस घोषणा ने मानो एक बिजली-सी दौड़ा दी। सहस्रों देशवासी सत्याग्रह का शंखनाद सुनकर न केवल सोते से जाग उठे, बल्कि स्वाधीनता-संग्राम में जूझने के लिए कमर कसकर खड़े भी हो गए।

यह नहीं कि महात्माजी की सत्याग्रह-घोषणा का कहीं विरोध ही नहीं हुआ। लिबरल पार्टी के लोगों ने उसे देशहित का विघातक कदम बतलाया, और अब उनके चरण-चिह्नों पर चलनेवाली श्रीमती एनी बिसेण्ट ने महात्माजी को 'राजनीतिक बच्चा' कहकर उनके कार्यक्रम का उपहास किया। सत्याग्रह और महात्मा गान्धी के सम्बन्ध में श्रीमती बिसेण्ट का यही लेख था, जिस पर लोकमान्य तिलक ने 'केसरी' में 'पुनर्मूषिको भव' शीर्षक से चार स्तम्भों का अग्रलेख लिखकर श्रीमती एनी बिसेण्ट के नैतिक जीवन का अन्त्येष्टि संस्कार कर दिया था। लोकमान्य तिलक ने

महात्माजी के आन्दोलन का स्वागत किया था। उनके हृदय में स्वाधीनता की अभिलाषा इतनी तीव्र थी कि वह उसके लिए किये गए प्रत्येक प्रभावशाली साधन का हृदय से स्वागत करते थे।

महात्माजी की सत्याग्रह-घोषणा ने जो कई अद्‌भुत चमत्कार किये, उनमें से एक यह भी था कि स्वामी श्रद्धानन्दजी को राष्ट्रीय संग्राम में लाकर खड़ा कर दिया। स्वामीजी इससे पूर्व प्रचलित राजनीति से अलग-थलग रहते थे। वह उसे अवसरवादिता की नीति समझते थे। महात्माजी की सत्याग्रह-घोषणा होने पर, जिन नेताओं ने तुरन्त सत्याग्रह की प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर करके महात्माजी को सहयोगसूचक तार भेजे, उनमें पहला नम्बर स्वामीजी का था। आपने महात्माजी को तार दिया—



स्वामी श्रद्धानन्द

"मैंने अभी-अभी सत्याग्रह की प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर कर दिये हैं। इस धर्मयुद्ध में सम्मिलित होने से मैं बहुत प्रसन्न हूं।"

घोषणा के दो दिन पीछे दिल्ली में सत्याग्रह कमेटी ब न गई, जिसमें एक तिहाई संख्या मुसलमानों की थी। दिल्ली में सत्याग्रह कमेटी ।बनने का देश व्यापी प्रभाव हुआ। भारत के उत्तरी भाग में शायद ही ऐस कोई नगर या ग्राम होगा, जिसके प्रमुख आर्य-समाजी और राष्ट्रीय विचारों के मुसलमान सत्याग्रह संग्राम में न कूद पड़े हों।

महात्माजी के प्रारम्भ किये हुए सत्याग्रह-आन्दोलन में सम्मिलित होनेवाले मुसलमानों को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है। कुछ मुसलमान पहले से ही राष्ट्रीय विचार रखते थे। वे सत्याग्रह को देश की स्वाधीनता प्राप्त करने का एक उपयोगी साधन समझकर उसमें शामिल हो गए। बहुत-से मुसलमान ऐसे भी थे जो टर्की की पराजय के कारण अंग्रेजों से नाराज थे। चाहे उनका यह विचार न हो कि खिलाफत का अन्त केवल अंग्रेजों ने ही किया है, तो भी प्रायः सभी मुसलमानों का विश्वास था कि खलीफा की शक्ति को बचाना अंग्रेजों का कर्त्तव्य था, और यदि अंग्रेज चाहते तो उसे बचा सकते थे। अंग्रेजों ने खिलाफत को समाप्त हो जाने दिया, इस बात से भारतीय मुसलमान अत्यन्त रुष्ट थे। उनके महात्माजी के आन्दोलन में सम्मिलित होने का यह भी एक मुख्य कारण हुआ।

सत्याग्रह का मंगलाचरण इस घोषणा से किया गया कि ३० मार्च १९१९ के दिन देश-भर में दूकानों तथा कारखानों की हड़ताल की जाय; और सब लोग एक दिन का उपवास कर के हृदयों को शुद्ध करें।

बाद में हड़ताल का दिन बदलकर ६ अप्रैल कर दिया गया। परिवर्तन की सूचना समाचारपत्रों में ज़रा देर से निकली। दिल्ली की सत्याग्रह कमेटी परिवर्तन

की सूचना प्रकाशित होने से पहले ही ३० मार्च के सम्बन्ध में सब आदेश और निर्देश निकाल चुकी थी, इस कारण दिल्ली में भारत के अन्य स्थानों से एक सप्ताह पहले ही सत्याग्रह-युद्ध का डंका बज गया। उस दिन की विस्तृत घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन डा० पट्टाभि के लिखे हुए 'कांग्रेस के इतिहास' से उद्धृत किया जाता है :

> "इसलिए वहां ३० मार्च को ही जलूस निकला, और हड़ताल हुई। इस दिन के जलूस का नेतृत्व स्वामी श्रद्धानन्दजी कर रहे थे। उन्हें कुछ गोरे सिपाहियों ने गोली मारने की धमकी दी। इस पर उन्होंने अपनी छाती खोल दी, और कहा—'लो, मारो गोली।' बस गोरों की धमकी हवा में उड़ गई; लेकिन दिल्ली के रेलवे स्टेशन पर कुछ झगड़ा हो गया, जिसमें गोली चली और ५ मरे तथा अनेक घायल हुए।"

जो लोग हताहत हुए उनमें हिन्दू भी थे, और मुसलमान भी। इस घटना का शहर के वातावरण पर चमत्कारिक असर हुआ। हिन्दू और मुसलमान मिलकर घी-शक्कर हो गए। 'हम' शब्द की यह नई व्याख्या कि हमें 'ह' से हिन्दुओं और 'म' से मुसलमानों का बोध होता है, ३० मार्च को सरकारी गोलियों की कृपा का ही परिणाम था। उस दिन दोनों जातियों के शहीदों का रक्त मिलकर एक हो गया।

दिल्ली में ३० मार्च की घटनाओं ने एक नये युग का सूत्रपात कर दिया। राष्ट्र की एकता के जो दृश्य उन दिनों दिखाई दिये, वे भारतवासियों के लिए भी नये थे, और सरकार के लिए भी। जब हिन्दू शहीद की अर्थी निकली तो उसे हकीम अजमल खां साहब ने कन्धा दिया और जब मुसलमान शहीद का जनाज़ा निकला तो उसके साथ कब्रिस्तान तक हिन्दुओं की भीड़ गई, जिसके नेता स्वामी श्रद्धानन्दजी थे। पं० रामचन्द्र महोपदेशक-जैसे प्रख्यात शास्त्रार्थ महारथी, और मौलाना अहमद सईद-जैसे मुसलमानों के सर्वसम्मानित वायज़ एक मंच पर आकर सरकार की दमन-नीति की निन्दा कर रहे थे। एक दिन दिल्ली के अंग्रेज चीफ़ कमिश्नर ने शहर के हिन्दू तथा मुसलमान नेताओं को टाउनहाल में शान्ति स्थापना के सम्बन्ध में परामर्श के लिए बुलाया। जब सब लोग हाल में पहुंच गए तो शहर में मशहूर हो गया कि वहीं पर स्वामी श्रद्धानन्दजी और हकीम अजमल खां साहब को गिरफ्तार कर लिया जायगा। बस फिर क्या था? घंटाघर के नीचे नागरिकों की अपार भीड़ इकट्ठी हो गई, जिसमें पहाड़ीधीरज के जाट और सदर के कस्साबों के मुखिया एक-दूसरे के हाथ-में-हाथ डालकर घोषणा कर रहे थे कि "अगर ऐसा हुआ तो. . . ."

दिल्ली से उसी वर्ष के आरम्भ में हिन्दी का दैनिक पत्र 'विजय' निकलने लगा था। उसने आन्दोलन को बढ़ाने में पर्याप्त भाग लिया। वह दिल्ली का पहला राष्ट्रीय पत्र था।

६ अप्रैल को देश के अन्य अनेक नगरों में हड़ताल हुई। पंजाब की दशा अधिक नाज़ुक थी, इस कारण स्वामी श्रद्धानन्दजी और डा० सत्यपाल के आग्रह पर महात्माजी शान्ति स्थापित करने के हेतु पंजाब के लिए रवाना हो गए। सरकार को

महात्माजी का पंजाब जाना अभीष्ट नहीं था, इस कारण उन्हें दिल्ली के समीप पलवल में रोककर बम्बई वापिस भेज दिया गया। उधर पंजाब में स्थान-स्थान पर उपद्रव और गोलीकाण्ड होने लगे। दिल्ली की परिस्थिति पर उन घटनाओं का गम्भीर असर पड़ा। शहर का सारा कारोबार बन्द हो गया। जब सरकार ने और नेताओं ने हड़ताल खोलने को कहा तो दूकानदारों की ओर से उत्तर मिला कि पहले महात्मा गान्धी के दर्शन करा दो, फिर हड़ताल खुलेगी। हड़ताल १७ दिनों तक चलती रही। अन्त में नेताओं के प्रयत्न से शहर का कारोबार जारी हो गया। पीछे से पता चला कि यदि हड़ताल कुछ दिन और चलती तो सरकार मार्शल ला लगा देना चाहती थी।

दिल्ली में परिस्थिति बहुत बिगड़कर भी हाथ से बाहर नहीं हुई, इसका श्रेय नगर के नेताओं और दिल्ली के चीफ़ कमिश्नर मि० बैटन दोनों को ही है।

: ३७ :

पंजाब में दमन का नग्न नृत्य

पंजाब सदा से भारत के शासकों की योग्यता को परखने की कसौटी रहा है। उस प्रदेश के निवासियों को प्रकृति ने जलवायु और उत्तम अन्न का उत्कृष्ट उपहार दिया है। पंजाब के पानी और धरती की तुलना नहीं की जा सकती। फिर पंजाबी होते भी हैं परिश्रमी। लेकिन स्वास्थ्य, साहस और उदारता आदि सिपाहियों के योग्य गुणों के साथ कुछ ऐसी न्यूनताएं भी पंजाबियों के स्वभाव में मिली हुई हैं, जो सदा समस्या का रूप लिये रहती हैं। भावुकता का अतिरेक होने के कारण वे जल्दी विक्षुब्ध हो जाते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप उनके व्यवहार और बातचीत में ऐसी रुखाई आ जाती है, जिसे पंजाब से बाहर के लोग झगड़ालूपन का नाम दे सकते हैं। परन्तु एक बात यह भी है कि वे जल्दी तेज़ हो जाते हैं, और जल्दी से मान भी जाते हैं। साथ ही यह भी मानना होगा कि उनके आवेश को वाणी और हाथों पर सक्रिय प्रभाव डालने में देर नहीं लगती। अन्य लोगों की भाँति वे अपने आवेश को पीना नहीं जानते; वह एकदम सक्रिय रूप ले लेता है। यही कारण है कि चिरकाल से पंजाब भारत के शासकों के लिए समस्या सुलझाने का परीक्षा-स्थल बना रहा है।

दिल्ली में जागृति हुई, गोली चली और १७ दिनों की हड़ताल हुई, परन्तु धीरे-धीरे समस्या सुलझ गई, सब-कुछ शान्त हो गया। पंजाब में प्रारम्भ में वही सब-कुछ हुआ जो दिल्ली में हुआ था, परन्तु जो आग दिल्ली में थोड़े-से परिश्रम से शान्त हो गई, उसने पंजाब में पंजाबियों की चारित्रिक विशेषता के कारण दावानल का रूप धारण कर लिया। १९१९ में अंग्रेजी सरकार ने पंजाब में जो काले कारनामे किये, उन्होंने १८५७ में जनरल नील द्वारा किये गए नृशंस अत्याचारों को

भी मात कर दिया। उसका मुख्य कारण यह हुआ कि जिस समय देश में सत्याग्रह आन्दोलन का बिगुल बजा, पंजाब के शासन की बागडोर ऐसे लोगों के हाथों में थी, जिनमें अच्छा शासन करने की योग्यता का अभाव था। उनके हृदय प्रजा के प्रति सहानुभूति से सर्वथा शून्य थे, उनके शब्दकोश में क्रूरता का नाम दृढ़ता और अत्याचार का नाम अनुशासन था। उस कठिन समय में, पंजाब की गद्दी पर माइकेल ओड्वायर आसीन था, जिसे हम एक कल्पनाशून्य जिद्दी हाकिम का नमूना कह सकते हैं। अन्य ऊंचे अफसर भी लगभग उसी सांचे में ढले हुए थे। जब जनता ने रौलट बिलों के प्रति अपने गहरे असन्तोष को दूकानों की हड़ताल-जैसे शान्तिपूर्ण ढंग से प्रकट किया, तब प्रत्येक अधिकारी दिमाग खो बैठा, और जिधर देखा उधर वार करने लगा। उन्होंने स्थिति को संभालने की जगह, उसे निरन्तर बिगाड़ने का यत्न किया।

जब पंजाब पर मार्शल-ला के बादल आग बरसा रहे थे, तब सरकार ने प्रान्त के चारों ओर सेन्सर का ऐसा जाल बिछा दिया था कि कोई समाचार बाहर न जा सके, और बाहर से कोई दर्शक अन्दर न पहुंच सके। जब वह जाल हटा, तो भारतवासी पंजाब के समाचारों से स्तब्ध रह गए। देश की जबर्दस्त मांग से बाध्य होकर सरकार ने एक कमीशन बिठाया, जो कमीशन के प्रधान, जस्टिस जी० सी० हण्टर, के नाम से 'हण्टर कमीशन' कहलाया और साथ ही कांग्रेस की ओर से एक तहकीकाती कमेटी नियुक्त की गई, जिसके पं० मदनमोहन मालवीय, पं० मोतीलाल नेहरू, महात्मा गान्धी, देशबन्धु चित्तरंजनदास, मि० अब्बास तय्यबजी और श्री जयकर सदस्य थे। दोनों कमेटियों ने स्वतंत्र रूप से प्रान्त में घूमकर लोगों के बयान लिये, और उन बयानों के आधार पर अपनी रिपोर्टें प्रकाशित कीं। दोनों रिपोर्टों के दृष्टिकोण और परिणामों में भेद होते हुए भी घटनाओं के सम्बन्ध में लगभग एकमत है। यहां पंजाब की घटनाओं का जो वृत्तान्त दिया जायगा, वह उभय-सम्मत है।

६ अप्रैल की हड़ताल

६ अप्रैल को पंजाब के सभी बड़े-बड़े नगरों और अनेक ग्रामों में शान्तिपूर्वक हड़ताल मनाई गई। सर माईकल ओड्वायर को यह अभिमान था कि उसकी सरकार पंजाब को राजनीति से अछूता रखने में सफल हुई है। उसने तथा स्थानीय अफसरों ने भरसक यत्न किया कि हड़ताल न होने पाये, परन्तु जब वे ६ अप्रैल के प्रातःकाल उठे तो दूकानों के दरवाजों को बिलकुल बन्द देखकर चकित रह गए। जालन्धर के प्रसिद्ध बैरिस्टर रायजादा भगतराम ने अपने बयान में बतलाया कि "पंजाब की लेजिस्लेटिव कौंसिल की बैठक के बाद मैं ड्राइंगरूम में लेफ्टिनेंट गवर्नर से मिला, तो उन्होंने पूछा कि जालन्धर में कैसी हड़ताल रही? मैंने उत्तर दिया कि हड़ताल सर्वथा शान्तिपूर्ण थी—कोई झगड़ा नहीं हुआ। सर ओड्वायर ने प्रश्न किया कि इसका क्या कारण समझते हो, तो मैंने कहा कि यह गान्धीजी के आत्मबल का प्रताप है। इस पर सर माइकेल ओड्वायर ने अपना मुक्का तान

कर कहा—'रायजादा साहब, याद रखो, गान्धी के आत्मबल में बड़ी भी एक शक्ति है।'

यह थी उस व्यक्ति की मनोवृत्ति, जिसके हाथ में सारे पंजाब प्रान्त का भाग्य सौंप दिया गया था। पंजाब में सबसे अधिक मार-काट अमृतसर में हुई। हण्टर कमेटी की रिपोर्ट में लिखा है कि "अमृतसर में दूसरी (६ अप्रैल को) हड़ताल शान्तिपूर्वक गुज़र गई, और योरोपियन लोग बिना किसी रोक-टोक के भीड़ में घूमते रहे। अमृतसर में पहली हड़ताल ३० मार्च को दिल्ली के साथ भी हुई थी। वह भी पूरी और शान्त थी।"

लाहौर में ६ अप्रैल को पूरी हड़ताल हुई। विराट जलूस निकला, और ब्रेडला हाल में ऐसी महती सभा हुई जैसी उससे पहले कभी नहीं हुई थी। जलूस जब माल रोड पर जाने लगा तो पुलिस ने उसे रोका। आशंका थी कि कहीं संघर्ष न हो। जाय, इसलिए लाला दुनीचन्द और डा० गोकुलचन्द नारंग ने मौके पर पहुंचकर जलूस के लोगों को समझा-बुझाकर आगे जाने से रोक दिया। उस दिन की सम्पूर्ण योजना शान्त और शानदार रही।

इस तरह ६ अप्रैल का दिन पंजाब में शान्ति से गुज़र गया। हड़ताल, जलूस और सभा सभी कुछ हो गया। अफसरों ने बहुत यत्न किया कि यह सब-कुछ न हो परन्तु और सब-कुछ हो गया केवल दंगा-फिसाद न हुआ। प्रतीत होता है कि इसे सर माइकेल ओड्वायर और अन्य अंग्रेज अफसरों ने अपना अपमान समझा और उसका बदला लेने का उपाय सोचने लगे।

अमृतसर

रौलट बिलों के सम्बन्ध में जो आन्दोलन खड़ा हुआ, उसकी प्रारम्भ से ही यह विशेषता थी कि उसमें हिन्दू, मुसलमान और सिख सभी एक दिल होकर सम्मिलित हो गए थे। अमृतसर में भी ६ अप्रैल के समारोह में सब लोग घी-शक्कर, होकर सम्मिलित हुए। ७ और ८ अप्रैल भी शान्ति से गुजर गए। ९ अप्रैल को रामनवमी थी। उत्सव तो हर साल ही होता था, पर उस समय नगरवासियों ने उसे राष्ट्रीय त्योहार बना दिया। एक जुलूस निकला, जिसमें जितने हिन्दू थे, शायद उतने ही मुसलमान थे। जुलूस का नेतृत्व डा० सत्यपाल और डा० किचलू कर रहे थे। दोनों महानुभाव उस समय अमृतसर के सर्वसम्मानित राजनीतिक नेता माने जाते थे। सरकार ने भी दोनों को ज़ुबानबन्दी की आज्ञा लगाकर सम्मानित किया था। जुलूस बहुत बड़ा था, परन्तु सर्वथा शान्तिपूर्ण था। उसमें 'महात्मा गान्धी की जय', 'हिन्दू-मुसलमान भाई-भाई' 'डा० सत्यपाल और डा० किचलू की जय' के नारे लगाये जा रहे थे। पंजाब की सरकार उसे इतना महत्त्व दे रही थी कि स्वयं डिप्टी कमिश्नर और अन्य बड़े-बड़े पुलिस के अफसर जुलूस के साथ या आसपास मंडराते रहे। यह सब-कुछ होते हुए भी लोगों ने धैर्य से काम लिया और कोई गड़बड़ न हुई।

अब तो अधिकारियों का धैर्य जाता रहा। १० अप्रैल के प्रातःकाल १० बजे डिप्टी कमिश्नर ने डा० सत्यपाल और डा० किचलू को मिलने के लिए अपने बंगले पर बुलाया, और वहीं से गिरफ्तार करके निर्वासित कर दिया।

शहर में दोनों नेताओं के पकड़े जाने का समाचार तब फैला, जब सरकारी मोटरें उन्हें लेकर अमृतसर से बीसों मील दूर जा चुकी थीं। समाचार फैला तो जनता बेचैन हो गई। उन्हें और तो कुछ न सूझा। इकट्ठे होकर फरियाद करने के लिए डिप्टी कमिश्नर के बंगले की ओर रवाना हो गए। फरियादियों का जलूस शहर के सब मुख्य बाजारों में से गुज़रता हुआ आगे बढ़ रहा था। वह शहर के मुख्य हाल बाज़ार में से शान्तिपूर्वक गुज़र गया। नेशनल बैंक, टाउन हाल, क्रिश्चियन मिशन हाल आदि इमारतों के पास से वह बिलकुल पुर अमन ढंग से निकल गया, जिन्हें गोली चलने के बाद ही लोगों ने हानि पहुंचाई। उस समय तो लोग यह कहते हुए जा रहे थे, कि "हम डिप्टी कमिश्नर से दोनों नेताओं की रिहाई की मांग करेंगे।"

रास्ते में रेल का पुल आया। जब जलूस उस पर पहुंचा तो सिपाहियों ने रास्ता रोक दिया। अफसरों ने जलूस के नेताओं से आगे जाने का कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि हम डिप्टी कमिश्नर साहिब के सामने अपनी फरियाद रखने जा रहे हैं। अफसर अपनी बात पर अड़े रहे। इतने में दो स्थानीय वकील मि० सलारिया और मि० मकबूल महमूद वहां आ गए और जलूस के लोगों को पीछे हटने की बात समझाने लगे। उन्हें कुछ सफलता मिल भी रही थी कि अधिकारियों ने गोली चलाने की आज्ञा दे दी। सरकारी बयान है कि गोरे सिपाहियों ने तीन या चार राउंड चलाये। कुछ आदमी मारे गए, और कुछ घायल हो गए। नेताओं के निर्वासन से सूखे घास में जो चिनगारी पड़ी थी, उसे ११ अप्रैल की गोलियों ने हवा देकर भड़का दिया। जो जनसमूह खाली हाथ केवल फरियाद करने के लिए निकला था, वह अपने निहत्थे साथियों को मरते और लहूलुहान होते देखकर एकदम उत्तेजित हो गया। फिर तो उनमें से जिसे जो कुछ मिला, वही उठाकर हाथ में ले लिया। किसी ने डंडा उठा लिया, तो किसी ने पत्थर। जनसमूह जोश में आकर फिर आगे की ओर बढ़ा। उस समय जनता और सिपाहियों में जो संघर्ष हुआ, उसमें लोगों ने लकड़ी और पत्थर मारकर अपने क्षोभ का परिचय दिया। इस पर सिपाहियों को दूसरी बार गोली चलाने की आज्ञा दी गई। तड़ातड़ गोलियां बरसाई गईं, जिससे २० व्यक्ति जान से मारे गए, और बहुत-से घायल हुए। घायलों की संख्या पूरी तरह नहीं जानी जा सकी। अनुमान लगाया गया है कि वह सैकड़ों तक पहुंची होगी।

इसके पश्चात भीड़ रेलवे पुल से पीछे हटकर शहर की ओर लौट पड़ी। उस समय साथियों का रक्त देखकर उनकी आंखों में भी रक्त उतर आया। जिस हाल बाजार में से अभी कुछ समय पहले लोग शान्तिपूर्वक गुज़र गए थे, अब उसमें रौद्र रूप धारण करके वापिस आये। उस समय उन्होंने कई अनर्थ कर डाले। नैशनल बैंक पर आक्रमण करके उसके अंग्रेज़ मैनेजर और सहायक मैनेजर को मार

डाला। बैंक के सहन में मेजें और कुर्सियां इकट्ठी कीं और लाशों को उन पर रख-कर आग लगा दी।

उसके पश्चात भीड़ अनायास बैंक पर चढ़ गई। उसके मैनेजर मि० रायसन ने रिवाल्वर चलाकर भीड़ को डराना चाहा, पर वह जान से मारा गया। उसकी लाश भी जला दी गई। बैंक का मकान एक भारतीय का था, वह नहीं जलाया गया। टाउन हाल और उसके समीप सब-पोस्ट आफिस को आग लगा दी गई। तारघर तोड़-फोड़ डाला गया।

कुछ लोग स्टेशन की ओर चले गए। उन्होंने एक अंग्रेज गार्ड को मार डाला और स्टेशन सुपरिण्टेण्डेण्ट को पीटा। सार्जेण्ट रौलेंड्स शहर से किले की ओर जा रहा था, उसकी भी हत्या कर दी गई। एक पादरी महिला, जिसका नाम मिस शेरवुड था, वह मिशन स्कूल की ओर जा रही थी। क्रोध में भरे हुए लोग उस पर टूट पड़े, और उसे मार डाला। यद्यपि उसकी हत्या का आंखों देखा वर्णन, दोनों कमीशनों के सामने किसी गवाह ने नहीं किया, परन्तु मार्शल ला कमीशन ने जो फैसला दिया, उसमें बतलाया गया था कि मिस शेरवुड की हत्या बहुत निर्दयता से की गई। मारने में निर्दयता वरती गई या नहीं, इस प्रश्न को हम गौण समझते हैं, क्योंकि हत्या का कार्य स्वयं इतना निर्दयतापूर्ण और घृणित था कि प्रक्रिया के अच्छे या बुरे होने का कोई प्रश्न नहीं उठता।

इण्डियन क्रिश्चियन चर्च, और रिलिजस बुक सोसायटी के भवन जला दिये गए, तीन छोटे-छोटे सब-पोस्ट आफिस लूट लिये गए।

इस प्रकार गोलियों के चलने और साथियों के मारे जाने से भड़के हुए जन-समूह ने बहुत-से ऐसे कार्य कर दिये, जो बुरे थे। इसमें विचारणीय प्रश्न यह है कि जो जनसमूह एक घण्टा पहले सर्वथा शान्त था, वह एक घण्टा पीछे हत्यारा कैसे बन गया। जो अन्य देशों को क्रान्तियों में होता रहा है, वह भारत में भी हुआ। शासकों की हिंसा जनता के हृदय में प्रतिहिंसा उत्पन्न कर देती है। सोचने की बात तो यह है कि यदि भारतवासियों की स्वाभाविक शान्तिप्रियता और महात्मा गान्धी का शान्ति सन्देश जनता को रोकनेवाले न होते तो न जाने उत्पात कितना अधिक हो जाता! यदि इंग्लैण्ड या फ्रांस में ऐसी घटना हुई होती तो हजारों लाशें भूमि पर लोटती दिखाई देतीं।

उस रात दिल्ली की तरह अमृतसर से भी पुलिस तथा मिलिटरी को हटा लिया गया, परिणाम भी वैसा ही हुआ। रात-भर में न कहीं चोरी हुई और न लूट। दूसरे दिन अधिकारियों से अनुमति लेकर लोगों ने मृतकों का अन्त्येष्टि-संस्कार कर दिया।

जलियांवाला बाग का हत्याकाण्ड

११ अप्रैल के प्रातःकाल अमृतसर की विचित्र दशा थी। शहर के चारों ओर पुलिस और मिलिटरी का पहरा था। स्थान-स्थान पर तोपें खड़ीं थीं। शहर में

जानेवालों पर कठोर प्रतिबन्ध था। सबसे बड़ी मुसीबत यह थी कि शहर-भर के पानी के नल और बिजली के कनेक्शन बन्द कर दिये गए थे। न पानी था, और न रोशनी। यह प्रतिबन्ध चार-पांच दिन तक जारी रखा गया।

१२ अप्रैल को हंसराज नाम के एक व्यक्ति ने (जो पीछे सरकारी गवाह बन गया था) धाबा खटीकान में एक सार्वजनिक सभा करके यह घोषणा की कि १३ अप्रैल के सायंकाल जलियांवाला बाग में एक विराट् सार्वजनिक सभा होगी, जिसमें सरकार के कार्यों पर असन्तोष प्रकट किया जायगा। हंसराज ने किसकी ओर से सभा बुलाई, इसका कुछ पता नहीं चलता। प्रतीत होता है कि यह उसके अपने दिमाग की ही उपज थी।

अमृतसर के अधिकारियों के हाथ-पांव तो १० तारीख को ही फूल गए थे। पुलिस को काफी न समझकर उन्होंने रक्षा का भार सेना के सुपुर्द कर दिया था। १३ अप्रैल के प्रातःकाल ९-३० बजे जनरल डायर बहुत-सी सेना लेकर शहर में प्रविष्ट हुआ, और एक घोषणा कराई। वह घोषणा ढोल बजाकर शहर के कुछ भागों में सुनाई गई। हण्टर कमेटी के सामने बयान देते हुए जनरल डायर ने यह स्वीकार किया कि यह सम्भव है कि शहर के अधिक भागों में घोषणा न सुनाई गई हो। घोषणा का सारांश यह था कि शहर के अन्दर या बाहर कोई जुलूस नहीं निकलने दिया जायगा, और यदि ४ आदमी इकट्ठे देखे गए, तो उन्हें ग़ैर कानूनी सभा के सदस्य माना जायगा। जरूरत हुई तो जलूस और ऐसी ग़ैर-कानूनी सभा को शस्त्र-प्रयोग द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया जायगा। यह घोषणा शहर के आधे से भी कम भाग में सुनाई गई थी।

जनरल डायर को दिन के १२ और १ बजे के मध्य में यह समाचार मिल गया था कि सायंकाल के समय जलियांवाला बाग में जलसा होनेवाला है। वह यदि चाहता तो जलियांवाला बाग की ओर जानेवाले रास्तों को रोककर सभा को बन्द कर सकता था। जलियांवाला बाग के नाम से भ्रम हो सकता है कि वह कोई खुला और हरा-भरा बाग होगा। था वह इसके सर्वथा विपरीत। उसके किसी मालिक का नाम था, जल्ली। उसकी सम्पत्ति होने से वह जलियांवाला बाग कहलाया। बाग कभी रहा होगा। जिस समय की घटना है, तब तो वह मकानों से घिरा हुआ एक जमीन का टुकड़ा था, और उसके कई मालिक थे। उसमें एक कुआं था, एक पुरानी समाधि थी, और सब मिलाकर ३ पेड़ थे। उसमें जाने का केवल एक तंग रास्ता था, जिसमें से बड़ी कठिनाई से आर्मर्ड कार गुजर सकती थी। घरों के बीच-बीच में कुछ बहुत तंग गलियां थीं, जिनमें से एक आदमी एक समय में निकल सकता था। यदि डायर चाहता तो रास्तों पर कुछ सिपाहियों का पहरा लगाकर लोगों को अन्दर जाने से रोक सकता था। परन्तु उसकी मन्शा सभा को रोकने की नहीं थी। उसने हण्टर कमेटी के सामने बयान देते हुए कहा था, कि "मेरी मन्शा तो अमृतसरवालों को 'सबक देने' की थी।" उसने लोगों को आजादी से घेरे के अन्दर जाने दिया।

नियत समय पर सभा प्रारम्भ हो गई। उस समय तक वहां लगभग २० हज़ार आदमी एकत्र हो चुके थे। वही हंसराज, जिसने आज की सभा बुलाई थी, व्याख्यान दे रहा था। जनरल डायर लगभग सौ सिपाहियों और दो आर्मर्ड कारों के साथ ५ बजे के लगभग बाग में पहुंच गया। सभी सिपाही सशस्त्र थे। उस समय एक हवाई जहाज़ भी शहर के ऊपर मंडरा रहा था। जनरल डायर और अन्य सरकारी लोगों के बयानों में यह स्वीकार किया गया था कि सभा में बहुत-से लड़के थे, और कई आदमी छोटे गोदी के बच्चों को भी साथ लाये थे। वे लोग यह भी नहीं जानते थे कि सभाबन्दी का कोई हुक्म जारी हो चुका है।

बाग के आहाते में पहुंचकर जनरल डायर ने जो कुछ किया वह हम सरकारी (हण्टर कमेटी की) रिपोर्ट से उद्धृत करते हैं :

> "ज्योंही जनरल डायर बाग में घुसा, उसने रास्ते के दोनों ओर ऊंचे स्थानों पर पच्चीस-पच्चीस सिपाही खड़े कर दिये। भीड़ को कोई चेतावनी दिये बिना ही उसने गोली चलाने की आज्ञा दे दी। उसने चेतावनी देना अनावश्यक समझा, क्योंकि लोग आज्ञा का भंग कर रहे थे। गोली १० मिनट तक चलती रही। यह कुछ नहीं कहा जा सकता कि जो भाषण हो रहा था, उसका क्या अभिप्राय था। उनमें से किसी के पास भी कोई हथियार नहीं था, यद्यपि सम्भव है, कुछ के पास छड़ियां रही हों। ज्योंही गोली चलनी शुरू हुई, भीड़ तितर-बितर होने लगी। सब मिलाकर १६५० गोलियां छोड़ी गई। गोलियां अलग-अलग चल रही थीं, 'वौली' के रूप में नहीं। भीड़ में बहुत लोग मारे गए। ज्योंही गोली चलना बन्द हुआ, जनरल डायर अपनी सेनाओं को लेकर शहर से बाहर रामबाग (अपने अड्डे) को चला गया। उस समय यह जानना कठिन था कि कितने आदमी मरे या घायल हुए। पहले यह समझा गया था कि लगभग २०० व्यक्ति मारे गए। उस समय यही संख्या घोषित भी की गई थी। अब इलाहाबाद की सेवा समिति की मदद से एक सूची तैयार हुई है, जिससे प्रतीत होता है कि लगभग ३७९ व्यक्ति मारे गए। इनमें से लगभग ८७ शहर के बाहर या गांव से आये हुए थे। घायलों की संख्या बताई नहीं जा सकती, परन्तु सम्भवतः उनकी संख्या मृतकों से तिगुनी होगी।"

यह है जलियांवाला बाग के भयंकर हत्याकाण्ड का सरकारी बयान। अन्य दर्शकों का खयाल था कि मृतकों की संख्या एक हजार से कम नहीं थी। संख्या कुछ भी हो, सारी घटना इतनी नृशंसतापूर्ण और भयावनी थी कि उसे दीनबन्धु श्री एण्ड्रूज के शब्दों में 'कत्लेआम' (massacre) कहना ही उचित है। हण्टर कमेटी के सामने बयान देते हुए डायर ने कहा था कि "मैंने बाग में जाते ही, बिना किसी प्रकार की चेतावनी दिये गोली चलाने की आज्ञा दे दी।" उसने यह भी माना कि यदि केवल भीड़ को तितर-बितर करना होता तो गोली चलाने की आवश्यकता नहीं थी। मेरा उद्देश्य तो उन्हें वहां इकट्ठे होने के लिए सजा

देना था।" डायर की राय में सभा में इकट्ठा होना ऐसा बड़ा अपराध था कि सबको गोलियों से भून दिया जाता तो भी अनुचित न होता। जब भीड़ भागी तो डायर ने सिपाहियों को लोगों पर तान-तानकर गोली चलाने की आज्ञा दे दी। यही बात भारतवासियों को विक्षुब्ध करने के लिए पर्याप्त थी। उनके दुःख और रोष का ठिकाना न रहा जब मालूम हुआ कि सर माईकेल ओडायर ने उस कठोर नृशंसता के लिए डायर की पीठ थपथपाई।

यदि गम्भीर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि सन् ५७ की राज्य-क्रान्ति के बाद जलियांवाला हत्याकाण्ड की घटना राजनीतिक क्रान्ति की सब से अधिक प्रभावपूर्ण घटना थी, क्योंकि उसका ब्रिटिश राज्य के अगले २८ वर्षों के इतिहास पर गहरा असर पड़ा। वह एक युग-प्रवर्तक चीज़ थी—जो जातियों की जीवनी में भाग्य से आया करती है। उसने ब्रिटिश राज्य के मुंह पर से न्याय की नकाब को उतार दिया और उसके अन्दर छुपा हुआ असली राक्षसी रूप दिखाकर भारतीयों को स्वाधीनता प्राप्ति के लिए दृढ़प्रतिज्ञ कर दिया। इसी कारण हमने इस घटना का विस्तार से वर्णन किया है।

मार्शल ला

जलियांवाला बाग के हत्याकांड ने पंजाब सरकार की उग्रता को शान्त न करके और अधिक प्रज्वलित कर दिया। १३ अप्रैल के हत्याकाण्ड ने न केवल अमृतसर में, बल्कि पंजाब के अन्य नगरों में भी भयानक आतंक फैला दिया था। फिर भी पंजाब के लैफ्टिनेंट गवर्नर ने आवश्यक समझा कि अमृतसर में तथा अन्य कुछ स्थानों पर मार्शल ला लगा दिया जाय। उसने गवर्नर जनरल से मार्शल ला घोषित करने की अनुमति मांगी, जो तुरन्त मिल गई। एक दिन पूछ-ताछ में लग गया। १५ अप्रैल के प्रातःकाल अमृतसर में कानून का राज्य समाप्त हो गया, और शहर फौज के हाथों में चला गया। उसी दिन लाहौर में भी मार्शल ला लगा दिया गया।

मार्शल ला में अमृतसर के निवासियों पर कैसी बीती, इसका उत्तर उन आज्ञाओं से मिल जायगा जो सैनिक अधिकारियों की ओर से वहां प्रचारित की गई थीं। उनमें से कुछ आज्ञाएं इस प्रकार थीं :

(१) जिस बाजार में मिस शेरवुड पर आघात हुआ था, उसमें लोगों को बेत मारने के लिए टिकटिकी लगा दी गई, और यह आज्ञा प्रचारित कर दी गई कि उसमें से जो भारतवासी गुजरेगा वह पेट के बल रेंगकर जायगा, खड़ा होकर नहीं।

(२) आज्ञा दी गई कि प्रत्येक भारतवासी को चाहिए कि जब अंग्रेज अफसर सामने आये, तो उसे सलाम करे। कहने को अंग्रेज अफसर था, परन्तु सलाम करना पड़ता था प्रत्येक अंग्रेज को। न करने का दण्ड था गिरफ्तारी और परेशानी।

(३) ज़रा-ज़रा-सी बात पर बेत लगाई जाती थीं। ३० बेतें लगाना तो साधारण बात थी। कई बेचारे बेत खाते-खाते बेहोश हो गए, तो भी पिटते ही रहे।

(४) शहर के सब वकीलों को स्पेशल कान्स्टेबल बनाकर रात-दिन काम लिया जाता था।

(५) गिरफ्तारी, हथकड़ी, बेड़ी और बिना खिलाये-पिलाये किले में जेल की कोठरी में बन्द कर देना आदि तो साधारण दण्ड समझे जाते थे, जिन्हें प्रत्येक अफसर बेरोक-टोक दे सकता था।

(६) सब अदालतें भंग कर दी गई थीं। सैनिक ढंग के स्पेशल ट्रिब्यूनल बना दिये गए थे, जिनकी मौज ही कानून था। आगे कोई पूछनेवाला नहीं था। क्योंकि अपील नहीं हो सकती थी।

ये आज्ञाएं जितनी कठोर थीं, इनका प्रयोग उससे भी अधिक कठोरता से किया गया था।

जिस गली में से जाने के लिए, भारतवासियों के लिए पेट के बल सरकना आवश्यक करार दिया गया था, वह १५० गज़ लम्बी थी। छोटा हो, या बड़ा, जवान हो या बूढ़ा, जाने का उद्देश्य पानी लेने के लिए जाना हो या बीमार के लिए दवा लाना हो—रेंगना अनिवार्य था। रेंगने के समय बन्दूक की नली पीठ पर रहती थी। ज़रा रुका कि गोरे सिपाही ने ठोकर लगाई। अन्धों और बूढ़ों को भी अपवाद नहीं माना जाता था। लगभग ५० आदमियों पर इस अमानुषिक आज्ञा का प्रयोग किया गया।

नगर में उपद्रव की शान्ति तो १२ अप्रैल को ही हो गई थी। १३ अप्रैल को कोई उपद्रव नहीं हुआ, केवल जनरल डायर की ओर से हत्याकाण्ड हुआ। १५ अप्रैल को दूकानें खुल गईं। इस प्रकार सामान्य रूप से शान्तिस्थापना का अवसर आ गया था, परन्तु अंग्रेज अफसरों के हृदयों में बदले की जो तीव्र भावना उत्पन्न हो चुकी थी, वह शान्त नहीं हुई थी। उसे पूरा करने के लिए मार्शल ला लागू कर दिया गया, और उसे ९ जून तक जारी रखा गया।

लाहौर तथा पंजाब के अन्य नगरों में

लाहौर की उस समय दो विशेषताएं थीं। वह प्रान्त की राजधानी होने के कारण शिक्षा का केन्द्र भी था। उसमें १० लड़कों के और २ लड़कियों के कालिज थे। स्कूलों की संख्या इनसे दुगनी से अधिक थी। दूसरी विशेषता यह थी कि उसकी आबादी में मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक थी।

वहां भी ६ अप्रैल की हड़ताल मुकम्मिल रही। उसकी सफलता से सर माइकेल ओडायर और उनके साथियों के दिल दहल गए। उन्होंने हड़ताल को रोकने का सिर तोड़ यत्न किया। परन्तु रुकना तो एक ओर रहा, हड़ताल को आशातीत सफलता प्राप्त हुई, जिससे विक्षुब्ध होकर अधिकारियों ने लाहौर में भी

आतंक का राज्य स्थापित करने का निश्चय कर लिया। पलवल में महात्मा गान्धी की गिरफ्तारी का समाचार पहुंचने पर लाहौर-निवासियों ने फिर हड़ताल करके अपने हृदय के भावों को प्रकाशित किया। कुछ लोग जलूस बनाकर माल रोड की ओर जाने लगे, तो पुलिस ने उन पर गोली चला दी, जिसमें दो-तीन व्यक्ति मर गए, और बहुत-से घायल हुए। इस पर भीड़ वहां से वापिस हो गई। कुछ देर के बाद पुलिस ने भीड़ पर फिर गोली चला दी, जिसमें कुछ मरे और कुछ घायल हुए। सरकारी गवाहों ने भी हण्टर कमेटी के सामने यह बात मानी कि जिस भीड़ पर दो बार गोली चलाई गई उसके हाथ खाली थे, और उसकी ओर से कोई उपद्रव या खून-खराबी नहीं की गई। फिर भी १६ अप्रैल को लाहौर में मार्शल ला जारी कर दिया गया।

लाहौर में, मार्शल ला का मुख्य अधिकारी कर्नल जोन्सन था। उसने हण्टर कमेटी के सदस्य सर चिम्मनलाल सीतलवाड के एक प्रश्न के उत्तर में अपने हृदय का भाव इन शब्दों में प्रकट किया था :

> "**प्रश्न**—कर्नल, मैं यह समझा हूं कि जैसे आपने अपनी रिपोर्ट में प्रकट किया है, आप ऐसे अवसर की तलाश में थे कि उन लोगों के मिलने पर मार्शल ला की शक्ति का सिक्का जमा सकें।
>
> "**उत्तर**—हां, ऐसा ही था।"

कर्नल जौन्सन ने मार्शल ला की शक्ति का सिक्का जमाने के लिए जो-जो वीरता के कार्य किये, उनमें से कुछ ये थे :

(१) आज्ञा दी गई कि यदि उनकी सेना पर कोई विस्फोटक पदार्थ फेंका गया तो उस इलाके के मन्दिरों और मस्जिदों को छोड़कर शेष सब इमारतें तोड़-फोड़ दी जायंगी।

(२) किराये के ८०० तांगों और भारतीयों की सब मोटरकारों को अपने अधिकार में ले लिया, ताकि लोग शहर से बाहर न जा सकें।

(३) साधारण न्यायालयों को स्थगित करके सैनिक कचहरियां स्थापित कर दीं। २७७ मामलों का स्वयं निर्णय किया, जिनमें ३० तक कोड़े और १०००) तक जुर्माने के दण्ड दिये।

(४) जेल को पूरी तरह नरक बना दिया, और गिरफ्तारी के पश्चात प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित नागरिक के हाथ-पांव में हथकड़ी-बेड़ी डालना आवश्यक कर दिया।

(५) बिना विशेष आज्ञा के रेल की यात्रा बन्द कर दी।

(६) विद्यार्थियों और उनके शिक्षकों पर अकथनीय अत्याचार किये गए। सनातन धर्म कालिज के द्वार पर मार्शल ला का एक नोटिस लगाया गया था, जिसे किसी ने फाड़कर फेंक दिया। यह अपराध ऐसा भारी समझा गया कि ५०० छात्र, और उनके सब प्रोफेसरों को गिरफ्तार कर लिया गया, और उन्हें हुक्म दिया गया कि अपना-

अपना बिस्तर सिर पर रखकर किले तक पैदल चलते हुए जायं। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि आज्ञा मई के महीने में दी गई थी, जब पंजाब की गर्मी अपने पूरे यौवन पर होती है। इसी प्रकार मेडिकल कालिज, डी० ए० वी० कालिज, और दयालसिंह कालिज के छात्रों पर भी ब्रिटिश शक्ति को धाक जमाने के लिए नृशंसतापूर्ण उपाय प्रयोग में लाये गए। किसी-किसी दिन छात्रों को हाजिरी देने के लिए मई की भरी दोपहरी में सोलह-सोलह मील पैदल चलना पड़ता था।

(७) आज्ञा दी गई थी कि १० से अधिक व्यक्ति कहीं इकट्ठे न हों। एक बारात में १० से अधिक आदमी जा रहे थे। वे सब गिरफ्तार कर लिये गए।

यह उन अत्याचारों के कुछ नमूने हैं, जो मार्शल ला के नाम पर लाहौर के निवासियों पर ढाये गए, और यह उस दशा में जब कि लाहौर में नगर-निवासियों द्वारा न सरकार की किसी सम्पत्ति को हानि पहुंचाई गई, और न किसी गोरे या देशी अधिकारी पर किसी प्रकार का प्रहार हुआ।

अन्य स्थानों पर

पंजाब के कसूर, गुजरानवाला, नजीराबाद, निजामाबाद, अकालगढ़, रामनगर, हाफिजाबाद, सांगलाहिल, नवांपिण्ड, चूहड़खाना, शेखूपुरा, लायलपुर, गुजरात, जलालपुर जट्टां, मलकवाल, आदि स्थानों पर भी मार्शल ला लगाया गया, और अमानुषिक कठोरता से प्रयुक्त किया गया। मार्शल ला के प्रत्येक तानाशाह अफसर ने अत्याचारों की कठोरता में एक दूसरे को परास्त करने का प्रयत्न किया। कुछ आदेश ऐसे अद्भुत थे कि उन्होंने इंग्लैण्ड में रहनेवाले अंग्रेजों को भी चकित कर दिया था। कसूर में सब छात्रों को इस कारण कोड़े लगाये गए कि उस स्कूल के कुछ अन्य छात्रों ने कहना नहीं माना। एक साधु पर सन्देह हुआ तो उसके शरीर पर कलई पोत दी गई। गुजरानवाला में गुरुकुल के समीप रेलवे लाइन पर कुछ लोगों ने पत्थर फेंके, इस पर गुरुकुल के बूढ़े प्रबन्धकर्त्ता ला० रलारामजी को, जो रिटायर्ड सरकारी नौकर थे, पकड़ लिया गया, और अन्य अनेक वकीलों और प्रतिष्ठित नागरिकों के साथ हथकड़ी-बेड़ी पहिनाकर लाहौर ले जाया गया। गुजरानवाला के सैनिक शासक कैम्पबेल ने एक हुक्म निकाला कि जब कोई सरकारी अफसर सामने आये तो प्रत्येक भारतवासी उसे सलाम करे, और यदि वह घोड़े पर हो या गाड़ी में बैठा हो तो नीचे उतर जाय, और तब सलाम करे। शहर के प्रतिष्ठित नागरिकों के हाथों में झाड़ू देकर उनसे बाजारों की और गन्दी नालियों की सफाई करवाई गई। कई नगरों से बहुत भारी राशियां जुर्माने के रूप में वसूल की गईं; जिन बस्तियों से जुर्माना वसूल नहीं किया गया, उनके दूकानदारों पर सेनाओं के पालन-पोषण का बोझ लाद दिया गया।

मार्शल ला की रक्तरंजित घटनाओं का पूरा ज्ञान करने को लिए कांग्रेस की तहकीकाती कमेटी और सरकारी हण्टर कमेटी के रिपोर्टों को मिलाकर पढ़ना चाहिए। उन्हें पढ़कर भारत की भावी सन्तानें आश्चर्यपूर्वक यह सोचा करेंगी कि क्या कभी हमारे पूर्वपुरुष ऐसी विवशता की दशा में भी रहे थे ?

: ३८ :

मार्शल ला की प्रतिक्रिया

जब तक पंजाब में मार्शल ला जारी रहा, सरकार ने उस पर लोहे का ढकना-सा डाले रखा। बाहर के लोग ढकने के अन्दर होनेवाले क्रूर कामों का अनुमान तो लगा रहे थे, परन्तु जब ढकना उठा तब मालूम हुआ कि वह अनुमान असलीयत से बहुत हल्का था। वास्तविकता कल्पना की अपेक्षा बहुत अधिक भयंकर थी।

अभी मार्शल ला चल ही रहा था कि देश की पश्चिमोत्तर सीमा पर अफग़ानिस्तान के अमीर अमानुल्ला ने आक्रमण कर दिया। उसे अंग्रेज इतिहास-लेखक तीसरे अफगान युद्ध का नाम देते हैं। वस्तुत: वह कोई बड़ा युद्ध नहीं था। पंजाव में लगे हुए मार्शल ला से यह अनुमान लगाकर कि शायद भारत विप्लव के द्वार पर खड़ा है, जोशीले अमीर अमानुल्ला ने सीमाप्रान्त पर छेड़छाड़ शुरू की, परन्तु जब अंग्रेजों के हवाई जहाज, बेतार का तार और भारी बमों का जमाव देखा तो अमीर ने सुलह की प्रार्थना करके अपना पिण्ड छुड़ा लिया। राज्य पर से विदेशी आक्रमण की वह आपत्ति तो टल गई, परन्तु अंग्रेजी सरकार को उसने जून के महीने तक मार्शल ला को घसीटने का बहाना दे दिया।

इधर महात्मा गान्धी ने देश में स्थान-स्थान पर हुए उपद्रवों से प्रभावित होकर सत्याग्रह स्थगित कर दिया। स्थगित करते हुए महात्माजी ने जो वक्तव्य दिया, उसमें पूरी तैयारी के बिना सत्याग्रह जारी करने को "हिमालय जितनी बड़ी भूल" बतलाते हुए देशवासियों द्वारा किये गए हिंसात्मक कार्यों की घोर निन्दा की थी। कुछ राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं ने जहां उस अवसर पर सत्याग्रह स्थगित करने का समर्थन किया, वहां उपद्रवों के लिए सरकार को उत्तरदायी ठहराकर अपने देशवासियों पर दोषारोपण करने से असहमति प्रकट की। उधर सरकार ने महात्माजी की सद्भावना का जो उत्तर दिया, वह अंग्रेजी शासन की क्षुद्र मनोवृत्ति के योग्य ही था। भारत के हितैषी मि० सी० एफ़० एण्ड्रूज़ को गिरफ्तार करके पंजाब से बाहर कर दिया, और बम्बई के भारत-प्रेमी पत्रकार मि० हार्निमैन को देशनिकाला दे दिया। मार्शल ला के दिनों में लाहौर में मुफ्त लंगर खोलकर नगरवासियों की भूख मिटाने के अपराध में पंजाब के मुख्य कारोबारी श्री हरकिशनलालजी को

न केवल आजन्म कालेपानी का दण्ड दिया गया, उनकी लगभग ४० लाख की सम्पत्ति भी जप्त कर ली गई।

यदि कोई योरप का देश होता तो देश पर अत्यचार करनेवालों के रक्त की मांग की जाती, परन्तु स्वभाव से शान्ति-प्रेमी भारतवासियों की ओर से यह मांग की गई कि अप्रैल से जून तक पंजाब पर जो कुछ बीता उसकी स्वतंत्र रूप से जांच करके सच्चा-सच्चा विवरण संसार के सामने रखा जाय। बहुत जोर डालने पर सरकार ने पंजाब की घटनाओं की जांच के लिए एक तहकीकाती कमेटी नियुक्त की, जो उसके सभापति के नाम से हण्टर कमेटी के नाम से प्रसिद्ध हुई। कांग्रेस ने मांग की कि जेलों में पड़े हुए लोगों को भी जेलों से मुक्त करके कमेटी के सामने बयान देने का अवसर दिया जाय, वह मांग स्वीकार न की गई तो कांग्रेस ने अपनी ओर से एक पृथक् तहकीकाती कमीशन नियुक्त किया।

कांग्रेस ने पंजाब के सम्बन्ध में पं० मोतीलाल नेहरू और पं० मदनमोहन मालवीय की एक समिति नियुक्त कर दी थी, जिसका काम जांच के कार्य को देख-भाल करना था। कार्य आरम्भ करने से पूर्व स्वामी श्रद्धानन्दजी और श्रीयुत एण्ड्रूज को भी कमीशन के कार्य में सम्मिलित कर लिया गया था।

दोनों ओर से जांच का कार्य आरम्भ होने पर देशवासियों को यह आशा थी कि सरकार दमन के मार्ग पर आगे पग बढ़ाना बन्द कर देगी। उनकी मांग थी कि जो अभियोग अभी चल रहे हैं, उनके फैसले मुल्तवी कर दिये जायं, और सरकारी कर्मचारियों पर जनता की ओर से कठोरता और अत्याचार के जो आरोप लगाये गए हैं, उन पर भी तब तक अन्तिम निर्णय न दिया जाय जब तक पूरी कहानी सामने न आ जाय; परन्तु जर्मनी पर विजय से उन्मत्त सरकार ऐसी बातों को कब सुननेवाली थी। मुकदमों के फैसले धड़ाधड़ होते रहे, और सरकार ने अपने अपराधी कर्मचारियों की संरक्षा के लिए एक इण्डेमनिटी बिल तैयार करके धारा सभा में पेश भी कर दिया। इण्डेमनिटी बिल का आशय यह था कि मार्शल ला के दिनों में व्यवस्था की रक्षा के नाम पर सरकारी अधिकारियों तथा कर्मचारियों द्वारा साधारण कानून की सीमा से बाहर जो भी कार्य किये गए हों, वे क्षम्य समझे जायं, उनके लिये उनपर कोई मामला न चलाया जा सकेगा।

राष्ट्रीय सदस्यों ने कौंसिल में इस बिल का बहुत डटकर विरोध किया। पं० मदनमोहन मालवीय ने बिल के विरोध में चार घण्टों तक वक्तृता दी, परन्तु सरकार टस-से-मस न हुई। अपने मनोनीत बहुमत के बल पर सितम्बर के महीने में जब तहकीकाती कमेटी की नियुक्ति हुई, तभी इण्डेमनिटी बिल भी पास कर दिया गया। सर शंकरन नायर, जो वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्य थे, मार्शल ला के प्रयोग से असन्तुष्ट होकर जुलाई के महीने में ही त्यागपत्र दे चुके थे। इण्डेमनिटी बिल के पास हो जाने पर कौंसिल के राष्ट्रीय सदस्य भी सरकार की ओर से निराश होकर पंजाब के घावों की मरहमपट्टी में लग गए।

पं० मालवीयजी तथा श्री टण्डनजी के नेतृत्व में प्रयाग की सेवा-समिति ने और स्वामी श्रद्धानन्दजी के नेतृत्व में आर्य-समाजी कार्यकर्ताओं ने मिलकर घायल पंजाब को सान्त्वना देने और मार्शल ला के पीड़ितों को सहायता पहुंचाने का जो समयोचित कार्य किया, वह पंजाब के इतिहास में स्मरणीय रहेगा।

तब कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन दिसम्बर में हुआ करता था। वह समय समीप आ रहा था। जब कांग्रेस की महासमिति के सामने अधिवेशन के स्थान का प्रश्न पेश हुआ तो उसने सर्वसम्मति से निश्चय किया कि उस वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में किया जाय।

अमृतसर की कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द और अध्यक्ष पं० मोती-लाल नेहरू निर्वाचित हुए। दोनों ने पीड़ित पंजाब की वेदना को जानने और कम करने का भरसक प्रयत्न किया था, और दोनों बहुत पुराने संगी थे। कालिज के जीवन में दोनों इलाहाबाद में एक साथ पढ़े और खेले थे। उनका युद्ध के क्षेत्र में साथ-साथ खड़े हो जाना स्वाभाविक भी था और शोभाजनक भी।

मार्शल ला की रक्तरंजित कहानियों ने देश-भर में ऐसी उत्तेजना और सहा-नुभूति उत्पन्न कर दी थी कि अमृतसर की कांग्रेस में भाग लेने के लिए देशभक्त सब प्रान्तों से मानो पंजाब की ओर दौड़ पड़े। पंजाब पर अंग्रेजी सरकार की ओर से जो अमानुषिक प्रहार किये गए थे, वे भारतीय राष्ट्र को एक प्रकार की चुनौती थी। यह देखना था कि अभी देश में इतनी चेतना उत्पन्न हुई या नहीं कि शरीर के एक अंग पर चोट पहुंचे तो दूसरा अंग भी तिलमिला उठे। अमृतसर की कांग्रेस ने सिद्ध कर दिया कि देश में चेतना उत्पन्न हो चुकी है। वह सरकार की दी हुई चुनौती का करारा जवाब था।

जब हण्टर कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई, और सरकार को अपने मुंह से अपने अफसरों की नृशंसता स्वीकार करनी पड़ी, तब ब्रिटिश राज्य का आसन दिल्ली से लन्दन तक हिल गया। सत्ताधारियों ने समझ लिया कि हमारे प्रतिनिधियों से कुछ ऐसे अनर्थ हो गए हैं जो आसानी से न धोये जा सकेंगे, और न भुलाये जा सकेंगे। अमृतसर में एकत्र और घनीभूत होते हुए राष्ट्र के लोकमत से घबराकर उन्होंने कांग्रेस से पूर्व ही रोष की आग पर पानी डालने का प्रयत्न किया। इंग्लैण्ड के बादशाह पंचम जार्ज की ओर से एक लम्बा-चौड़ा शाही फरमान निकाला गया, जिसमें भारतवासियों को यह आश्वासन दिया गया था कि "जब से भारत की रक्षा का भार हमारे शाही परिवार के कन्धों पर डाला गया है तब से हम उसे एक पवित्र धरोहर मानते रहे हैं।" और विश्वास दिलाया गया कि भारतवासियों को शीघ्र-से-शीघ्र अपने देश के शासन का भागीदार बनाना अंग्रेजी सरकार का ध्येय है। घोषणा के अन्त में यह सूचना दी गई थी कि "नये संविधान के प्रचारित होने के साथ ही मैंने रियासतों के शासकों की सभा संगठित करने की भी स्वीकृति दे दी है, जिसका उद्घाटन करने के निमित्त मैं अपने प्यारे बेटे 'प्रिंस आव वेल्स' को अगली सर्दियों में भारत भेजने की इच्छा रखता हूं।" फरमान में यह भी घोषणा की गई

थी कि "गत उपद्रवों के कारण जिन लोगों को दण्ड गिये गए हैं, उनमें से जिनके छोड़ने से सार्वजनिक सुरक्षा को कोई भय न हो, उन्हें छोड़ दिया जायगा।"

यह घोषणा जिस समय और जिस ढंग पर की गई वह वस्तुतः अंग्रेज जाति की स्वाभावसिद्ध नीतिज्ञता को प्रमाणित करती थो। जो प्रतिनिधि सरकार से दो-दो हाथ करने के लिए तैयार होकर रेल में सवार हुए थे, उन्होंने रास्ते के स्टेशनों पर प्रातःकाल के समाचारपत्रों में घोषणा को पढ़ा तो उनकी रोष-रूपी तलवारें मानो बेकार हो गईं। प्रतिक्रिया ढोली पड़नी आरम्भ हो गई, और जब अमृतसर पहुंचकर उन्हें पता चला कि डा० सत्यपाल, डा० किचलू, आदि बहुत-से नेता छोड़ दिये गए है, तो कई प्रतिनिधियों का जोश बहुत ठंडा पड़ गया। फल यह हुआ कि जब मुख्य प्रस्ताव बनने लगा तब नेताओं में मतभेद के अंकुर उत्पन्न हो गए। नेताओं के मत तीन हिस्सों में बंट गए। महात्मा गान्धी, जो सब से अधिक भावुक थे, सरकार के इशारे से बहुत प्रभावित हो गए, और उन्होंने सम्मति दी कि सरकार के बढ़ाये हुए हाथ का सहर्ष स्वागत करते हुए सहयोग के लिए उद्यत हो जाना चाहिए। दूसरो ओर नवयुवक दल था, जिसे एक नया नेता मिल गया था। श्री चितरंजन दास कलकत्ते के उन वकीलों में से थे, जिनकी मासिक आमदनी पच्चीस-तीस हजार तक मानी जाती थी। उनकी कानूनी योग्यता, और वक्तृत्व-शक्ति की बंगाल के कानूनी जगत पर धाक थी। खूब कमाते थे, खूब खर्च करते थे, और खूब देते थे। सामान्य रूप से, विलायत से बैरिस्टरी पास करके आये हुए उन दिनों के कमाऊ भारतीय वकीलों में जो गुण-दोष होते थे, श्रीयुत दास में वे प्रभूत मात्रा में विद्यमान थे। विशाल शरीर, असाधारण प्रतिभा, ओजस्विनी वाणी, और विशाल हृदय आदि जिन वस्तुओं की नर को नरेश बनाने के लिए आवश्यकता होती है वे सभी श्री चित्त-रंजन दास को प्राप्त थे। जैसे वह कमाई के लिए प्रसिद्ध थे, वैसे ही उनकी विला-सिता और दान की कहानियां भी कलकत्ते में फैली हुई थीं। महात्मा गान्धी के सत्याग्रह ने देश में जो अनेक चमत्कार दिखलाये, उनमें से एक यह भी था कि देश-बन्धु चित्तरंजन दास अपरिमित कमाई की गद्दी को छोड़कर देश सेवा की कंटीली झाड़ियों में आकर खड़े हो गए। अमृतसर की कांग्रेस में, देशबन्धु पहली बार अग्रगामी दल के सर्वप्रथम नेता के रूप में देश के सामने आये। उनका मत था कि सम्राट् की घोषणा, और कैदियों को मुक्ति केवल सरकार का दम-झांसा है। कांग्रेस को दम-दिलासे में न आना चाहिए, और पंजाब पर किये गए अत्याचारों का मुंहतोड़ जवाब देना चाहिए।

लोकमान्य तिलक उन्हीं दिनों, शिरोल के विरुद्ध अभियोग से निबटकर, विलायत से लौटे थे। सर वैलंटाईन शिरोल ने अपनी Unrest in India नाम की पुस्तक में लोकमान्य पर भारत में आतंकवाद के जन्मदाता होने का आरोप लगाया था। लोकमान्य को कानूनी सलाहकारों ने सलाह दी कि यदि इंग्लैण्ड जाकर प्रिवी कौंसिल में शिरोल पर मिथ्या अपवाद लगाने के कारण मानहानि

का दावा किया जाय तो उसे क्षमा मांगनी पड़ेगी। लोकमान्य विलायत गये, और दावा किया; वह शिरोल से क्षमा मंगवाने में तो सफल न हुए, परन्तु भारतवासियों को यह विश्वास दिलाने में पूर्णरूप से सफल हो गए कि भारतवासियों को न भारत में और न इंग्लैण्ड में अंग्रेजी न्यायालय से पूरे न्याय की आशा रखनी चाहिए। वस्तुतः यह सफलता दिखावे की सफलता से कहीं अधिक कीमती थी। विलायत से आने के कुछ ही दिनों बाद लोकमान्य को अमृतसर के लिए चलना पड़ा। जब उन्हें सरकारी एलान का पता लगा तो उन्होंने रास्ते में ही एक छोटा-सा वक्तव्य दिया, जिसका अभिप्राय यह था कि कांग्रेस को प्रतियोगी सहयोग (Responsive Co-operation) की नीति स्वीकार करनी चाहिए। प्रतियोगी सहयोग का अभिप्राय यह था कि सरकार जितना हमारी ओर को आये, हम उतना ही उसकी ओर को बढ़ जायं। दो दिन तक आपसी मतभेद को मिटाने के प्रयत्न होते रहे। स्वागताध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्दजी तथा अनेक वयोवृद्ध मद्रासी नेता समझौते के काम में लगे रहे। अन्त में जो प्रस्ताव स्वीकार हुआ वह सचमुच समझौता था। देशबन्धु दास ने जो मूल प्रस्ताव उपस्थित किया था, वह निम्नलिखित था :

"(१) यह कांग्रेस अपने पिछले वर्ष की इस घोषणा को दोहराती है कि भारतवर्ष पूरे उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के योग्य है, और इसके विरुद्ध जो बातें समझी या कही गई हैं, उन्हें यह कांग्रेस अस्वीकार करती है।

"(२) वैध सुधारों के सम्बन्ध में दिल्ली की कांग्रेस द्वारा पास किये गए प्रस्तावों पर ही कांग्रेस दृढ़ है, और उसकी राय है कि सुधार-कानून अपूर्ण, असन्तोषजनक और निराशाजनक है।

"(३) यह कांग्रेस अनुरोध करती है कि आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार भारतवर्ष में पूर्ण उत्तरदायी सरकार स्थापित करने के लिए पार्लियामेंट को शीघ्र कार्रवाई करनी चाहिए।"

गान्धीजी ने इसमें निम्नलिखित संशोधन पेश किया :

"प्रस्ताव में से 'निराशापूर्ण' शब्द को निकाल दिया जाय, और अन्त में ये शब्द बढ़ा दिये जायं—'जब तक ऐसा न हो, यह कांग्रेस शाही घोषणा में प्रकाशित भावों का स्वागत करती है और विश्वास रखती है कि अधिकारी और प्रजा दोनों मिलकर शासन-सुधारों को कार्यान्वित करने में इस तरह सहयोग करेंगे कि जिससे पूर्ण उत्तरदायी शासन शीघ्र स्थापित हो। यह कांग्रेस माननीय मांण्टेगू को इस सिलसिले में किये उनके परिश्रम के लिए हार्दिक धन्यवाद देती है।'"

दूसरा संशोधन लोकमान्य तिलक का था, जिसका अभिप्राय 'प्रतियोगी सहयोग' के अन्दर आ जाता है। प्रस्ताव तथा संशोधनों को मिलाकर जो प्रस्ताव बना, उसका पहला भाग तो वही था जो देशबन्धु दास ने प्रस्तुत किया था। उसके अन्त में निम्नलिखित पंक्तियां जोड़ी गईं :

"यह कांग्रेस विश्वास रखती है कि जब तक इस प्रकार की कार्रवाई नहीं की जाती, तब तक जहां तक सम्भव हो, लोग सुधारों को इस प्रकार काम में लायें जिससे भारतवर्ष में शीघ्र पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना हो सके। सुधारों के सम्बन्ध में मांण्टेगू माननीय साहब ने जो मेहनत की है, उसके लिए यह कांग्रेस उन्हें धन्यवाद देती है।"

इस प्रस्ताव को सर्वसम्मति से स्वीकार करते हुए उपस्थित प्रतिनिधियों तथा दर्शकों ने जहां देर तक करतल-ध्वनि करके पंडाल को गुंजा दिया, वहां कई बार गगनस्पर्शी ध्वनि से 'महात्मा गान्धी की जय' का नारा भी लगाया। कांग्रेस में यह नारा पहली बार सुनाई दिया था—और वह तब से स्थायी हो गया। उसके पश्चात् कांग्रेस में और राष्ट्रीय संग्राम में कई उतार-चढ़ाव हुए, परन्तु यह नारा अक्षुण्ण रहा।

उस अधिवेशन के अन्तिम दिन को एक घटना इतिहास के लेखक को भली प्रकार याद है। अधिवेशन के पश्चात् कुछ नौजवान कार्यकर्ता, जिनमें से एक लेखक भी था, लोकमान्य तिलक की सेवा में उपस्थित हुए, और बहुत-सी बात-चीत के पश्चात् सीधा प्रश्न किया, "आप कहते हैं कि अब आपका स्वास्थ्य अच्छा नहीं, और आप कुछ विश्राम करना चाहते हैं। ऐसी दशा में हमारा मार्ग-प्रदर्शन कौन करेगा?" लोकमान्य ने उत्तर दिया—"अब गान्धी राष्ट्र का मार्ग-प्रदर्शक होगा। वही भावी नेता है।"

: ३९ :

असहयोग की आंधी

१९१८ में योरप का पहला महासंग्राम तो समाप्त हो गया, परन्तु उसने पृथ्वी-भर पर जो विक्षोभ उत्पन्न किया था, वह किसी-न-किसी रूप में २० वर्ष तक विद्यमान रहा—और अन्त में वही विक्षोभ दूसरे महासंग्राम का कारण बना। अन्य देशों की भांति भारत पर भी उसका गहरा असर हुआ, जिसके कारण राजनीतिक रंगस्थली में असाधारण तेजी से दृश्यों में परिवर्तन होने लगे। इस तीव्रगति का ही परिणाम हुआ कि १९१९ के अन्त में भारत के राजनीतिक चित्र-पट का जो रूप अमृतसर में दिखाई दिया था, १९२० के अन्त में हम उसे बिलकुल बदला हुआ, और विपरीत रंगवाला पाते हैं। अमृतसर में कांग्रेस ने 'प्रतियोगी सहयोग' का समर्थन किया था, और जब तक पूरी राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त न हो, तब तक मांण्टेगू-चैम्सफोर्ड सुधारों को प्रयोग में लाने का फैसला किया था; परन्तु १९२० के अन्त में नागपुर में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, उसमें कांग्रेस ने पूरे और क्रान्तिकारी असहयोग का पूर्ण रूप से समर्थन किया। सबसे अधिक

महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि असहयोग का प्रस्ताव उन्हीं महात्मा गान्धी द्वारा उपस्थित किया गया था, जो अमृतसर में ब्रिटिश सरकार से सहयोग करने के कट्टर पक्षपाती थे, और इस बार आशंका करनेवाले थे देशबन्धु दास, जो अमृतसर में असहयोग के पक्षपाती थे। ये मानसिक परिवर्तन किस प्रकार हुए, यह जानने के लिए वर्ष के आरम्भ में जो विशेष घटनाएं घटीं, उन पर दृष्टि डालना आवश्यक है।

खिलाफत के मामले का यद्यपि भारत से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था, तो भी राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ उसके जुड़ जाने का यह कारण हुआ कि जो मुसलमान नेता भारत के राष्ट्रीय जागरण से सहानुभूति रखते थे—वही खिलाफत के आन्दोलन में भी मुखिया थे। मौ० आज़ाद, डा० अन्सारी, हकीम अजमल खां, मौ० शौकत अली और मौ० मुहम्मद अली आदि कांग्रेस में भाग लेनेवाले मुसलमान अग्रणी खिलाफत की रक्षा को अपना मजहबी और सयासी फर्ज मान रहे थे। खिलाफत का प्रश्न था भी ऐसा ही कि उसका आधार तो था धार्मिक, परन्तु रूप था राजनैतिक। टर्की का खलीफ़ा टर्की का शासक होने के अतिरिक्त अन्य अनेक सुन्नी मुसलमान राज्यों का खलीफ़ा (धर्मगुरु) भी माना जाता है। उसको धार्मिक सत्ता के साथ राजनीतिक सत्ता भी मिली हुई थी। यही कारण था कि जब महायुद्ध में टर्की हार गया, और उसको शासन-सत्ता क्षीण होने लगी तो भारत के मुसलमानों ने अंग्रेजी सरकार पर ज़ोर दिया कि वह टर्की के बादशाह की धार्मिक सत्ता की रक्षा करे। मुसलमानों में अधिक असन्तोष न फैले, इस विचार से पहले तो इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री मि० लायड जार्ज ने ऐसा सन्दिग्ध उत्तर दिया, जिसे 'हां' भी समझा जा सके और 'ना भी'। परन्तु जब जीत सर्वथा निश्चित हो गई, और आखिरी फैसले का समय आया तो न केवल टर्की की राजनीतिक सीमाएं बहुत परिमित कर दी गईं, उसके शासक का 'खलीफ़ापन' ही समाप्त कर दिया गया। वह केवल कटे-छंटे टर्की का शाह रह गया—इससे अधिक कुछ नहीं।

१९२० के जनवरी मास में डा० अन्सारी की अध्यक्षता में मुसलमानों का एक शिष्टमण्डल वायसराय से मिला। उसने वायसराय को बतलाया कि भारत के मुसलमान खिलाफत के बारे में बहुत चिन्तित हैं। वायसराय का उत्तर मुसलमानों के लिए सन्तोषजनक नहीं था। उसके इस कहने को मुसलमानों ने केवल बहाना समझा कि खिलाफत-सम्बन्धी निर्णय करना केवल इंग्लैण्ड के हाथ में नहीं है। इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री की इस घोषणा ने मुसलमानों की रही-सही आशा पर भी तुषारपात कर दिया, कि तुर्की का केवल अपनी भूमि पर ही प्रभुत्व स्वीकार किया जायगा, अन्य देशों की भूमि पर नहीं। इस पर भारत के मुसलमानों ने अपना रोष प्रकट करने के लिए २९ मार्च १९२० को 'मातम का दिन' मनाया। उस दिन उपवास और हड़ताल आदि सभी कुछ किया गया।

यह परिस्थिति थी जब महात्मा गान्धी ने अपने असहयोग-सम्बन्धी प्रस्ताव को देश के सामने पेश किया। आपने देशवासियों को बतलाया कि खिलाफत का

मामला मुसलमानों के लिए जीवन-मरण की समस्या के समान है। खिलाफत बचती है तो इस्लाम बचता है, खिलाफत मरती है, तो इस्लाम मरता है। अब इस अन्याय का विरोध करने के दो ही उपाय हैं। हिंसात्मक विद्रोह या सरकार से असहयोग। हिंसा स्वयं महापाप है, उससे कोई समस्या स्थायी रूप से हल नहीं हो सकती। ऐसी दशा में केवल असहयोग ही एकमात्र उपाय रह जाता है।

इस प्रारम्भिक घोषणा में महात्माजी ने असहयोग की केवल मूलरूप में व्याख्या की थी, उसका पूरा रूप प्रकट नहीं किया था। मूलरूप में इसका थोड़ा-सा आभास महात्माजी अपनी 'हिन्द स्वराज्य' नाम की पुस्तक में दे चुके थे। असहयोग की प्रारम्भिक योजना आयर्लैण्ड के सिनफेन आन्दोलन से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। उस योजना में हिंसा का आमूलचूल विरोध महात्मा गान्धी की विशेष देन थी।

महात्माजी की असहयोग-सम्बन्धी घोषणा १० मार्च को प्रकाशित हुई। उसके १५ दिन बाद २५ मार्च को पंजाब के अत्याचारों पर ग़ैर-सरकारी रिपोर्ट देश के सामने आ गई। जो असहयोग को आंधी १० मार्च को, दूर दिशा में, केवल अंगुल-भर के संकेत के रूप में दिखाई दी थी, ग़ैर-सरकारी रिपोर्ट से उत्पन्न होने-वाले क्षोभ ने उसे हाथ-भर का विस्तार दे दिया। अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए महात्माजी ने होमरूल लीग की अध्यक्षता स्वीकार कर ली। यह वही होमरूल लीग थी, जिसकी स्थापना श्रीमती एनी बिसेण्ट ने की थी। महात्माजी होमरूल लीग के प्रधान बनने के साथ ही, लीग के मुखपत्र 'यंग इण्डिया' के सम्पादक भी बन गए।

माडरेट दल के लोग महात्माजी की नीति से सर्वथा असहमत होकर कांग्रेस से पूरी तरह अलग हो गए। उन्होंने इंग्लैण्ड की लिबरल पार्टी की नक़ल में अपना नाम भी 'लिबरल पार्टी' रख लिया और अपने वार्षिक-अधिवेशन में असहयोग की नीति का खुला विरोध करते हुए शासन-सुधारों को प्रयोग में लाने का निश्चय प्रकट किया। लोकमान्य तिलक ने श्रीमती बिसेण्ट की दब्बू नीति से असन्तुष्ट होकर 'भारतीय होमरूल लीग' नाम की अलग संस्था स्थापित की थी। दीर्घ कारागार और बड़ी आयु होने के कारण शरीर अस्वस्थ हो गया था, तो भी उनकी इच्छाशक्ति ऐसी अदम्य थी कि थोड़े ही समय में दक्षिण में भारतीय होमरूल लीग की शाखाएं पीपल की शाखाओं की तरह फैल गईं। उनकी नीति वही थी जिसका समर्थन उन्होंने अमृतसर में किया था; परन्तु जब गान्धीजी ने असहयोग की नीति का पूरा विवरण प्रकाशित किया तब तिलक महाराज के क्रान्तिकारी हृदय को वह बहुत पसन्द आया। वह—गान्धीजी से केवल एक बात में—स्वराज्य के साथ खिलाफत को नत्थी करने के—विरुद्ध थे, अन्यथा वह स्वराज्य-प्राप्ति के लिए असहयोग तथा सत्याग्रह के सम्पूर्ण कार्यक्रम के पक्ष में थे; उन्होंने महात्माजी को आश्वासन दे दिया था कि वह यथाशक्ति असहयोग आन्दोलन को बढ़ाने में सहायक होंगे, परन्तु जब देश स्वाधीनता-संग्राम के नये दौर में महाराष्ट्र

केसरी की सिंहगर्जना सुनने के लिए उत्सुक हो रहा था, और महात्मा गान्धी असहयोग की पुष्टि में प्रतियोगी सहयोग के वकील का समर्थन प्राप्त करने की आशा लगा रहे थे, देशवासी यह सुनकर स्तब्ध हो गए कि ३१ जुलाई को, आधी रात के समय, बम्बई के सरदारगृह में लोकमान्य तिलक ने भारत-भूमि को सूना कर दिया। वह निमोनिया के शिकार हो गए। देश की चिन्ता, घोर तपस्या, और लम्बी जेलयात्राओं से थका हुआ उनका शरीर कई वर्षों से रोगाक्रान्त था। वह तो केवल तपस्वी का आत्मबल था, जो रोगाक्रान्त शरीर से काम ले रहा था। अन्त में काल आ पहुंचा, और भारत की सोई जनता को जगाकर संग्राम-भूमि में खड़ा कर देनेवाला वीर सेनानी, सेना की कमान नये सेनापति श्री मोहनदास कर्मचन्द गान्धी के हाथों में देकर, विदा हो गया।

लोकमान्य की मृत्यु से देश पर एक बार तो मातम का गहरा अन्धकार छा गया, परन्तु तुरन्त ही देशवासियों को उनका वह अमर वाक्य याद आ गया जिसे वह अपने भाषणों में प्रायः कहा करते थे—"स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, हम उसे लेकर रहेंगे।"

लोकमान्य की परलोक-यात्रा के दुःखमय समाचार की चर्चा करते हुए प्रायः प्रत्येक पत्रकार और वक्ता ने इस अमर वाक्य को दोहराया था—उसका प्रभाव यह हुआ कि देशवासियों ने मृत्यु-समाचार से जनित अन्धकार को जीवनदायी सन्देश की ज्योति से नष्ट कर दिया और देश अहिंसात्मक संग्राम में जूझने के लिए उद्यत हो गया।

देश का घटनाचक्र बड़े वेग से चल रहा था। एक ओर मुसलमानों का रुख सरकार के प्रति कठोर होता जा रहा था, और दूसरी ओर सरकार मार्शल ला के चलानेवाले सरकारी अपराधियों को अभयदान देकर देश की जनता की असन्तोषाग्नि में घी की आहुतियां डाल रही थी। भारत के प्रतिनिधियों की ओर से जोरदार मांग होने पर भी सरकार ने जनरल डायर-जैसे हत्यारे को केवल इतना दण्ड दिया कि समय से पहले सेवा से अलग कर दिया; परन्तु वह भी केवल जग-दिखावा ही रहा, क्योंकि भारत तथा इंग्लैण्ड में रहनेवाली अंग्रेज स्त्रियों ने मिलकर, जनरल डायर को, भारतवासियों की नृशंस हत्या के पारितोषिक के रूप में इतनी बड़ी धनराशि पुरस्कार के रूप में दी जो उसकी दो पीढ़ियों के लिए पर्याप्त थी। अंग्रेज जाति की सहृदयता के इस नग्न प्रदर्शन ने भारतवासियों के हृदयों पर बहुत गहरे घाव कर दिये। वह घाव इतने गहरे थे कि १९१९ के अन्त में, उपनिवेशों में कुली प्रथा की समाप्ति का जो शुभ कार्य हुआ, वह भी वातावरण में मधुरता उत्पन्न न कर सका। इस सम्बन्ध में महात्मा गान्धी ने जो भगीरथ प्रयास किया, उसकी चर्चा की जा चुकी है। मि० एण्ड्रूज, मि० पियर्सन, और मि० पोलक आदि योरपियन सज्जनों और देशमान्य गोखले आदि भारतीय नेताओं के प्रयत्नों का यह फल हुआ कि अंग्रेजी सरकार को अपना हठ छोड़कर, भारत से शर्तबन्द कुलियों के भेजे जाने की प्रथा को सर्वथा रोकने के लिए बाध्य होना पड़ा। १९१९

के अन्त में इस आशय का फरमान जारी हो गया, और १ जनवरी १९२० का दिन देश-भर में प्रसन्नता मनाने के लिए नियत किया गया। यदि देश का वायु-मण्डल शान्त होता तो वस्तुतः वह दिन बड़े समारोह और उल्लास से मनाया जाता; परन्तु परिस्थिति के अनुकूल न होने से प्रतिक्रिया हल्की ही रही। इसमें सन्देह नहीं कि फिजी, ब्रिटिश गायना, ट्रिनिडाड, सुरीनाम और जमैका के प्रवासी भारतवासियों को हर्ष हुआ, क्योंकि वहां जितने भारतवासी अभी कुली-प्रथा के बन्धन में बंधे हुए थे, वे सब उस दिन मुक्त कर दिये गए।

देश की परिस्थिति पर विचार करने के लिए कांग्रेस की महासमिति की एक बैठक ३० मई को बनारस में हुई; फिर जून की २ तारीख को नेता लोग प्रयाग में एकत्र हुए। इन दोनों सभाओं में असहयोग की योजना को निश्चित रूप देने का यत्न होता रहा। योजना बन जाने पर निश्चय किया गया कि कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन करके उसकी सम्पुष्टि कराई जाय।

इसी बीच खिलाफत का आन्दोलन नये-नये रूप धारण करता रहा। सिन्ध और सीमाप्रान्त के कुछ मुसलमानों ने घोषणा की कि सरकार की मुस्लिम-विरोधी नीति के कारण हिन्दुस्तान मुसलमानों के लिए दारुलहर्ब (शत्रु का देश) हो गया है, इस कारण यहां से मुसलमानों को हिजरत करके मुसलमान राज्यों में चले जाना चाहिए। अनुमान लगाया गया था कि जून से लेकर अगस्त तक के तीन महीनों में लगभग १८ सहस्र मुसलमान भारत की सीमाओं को पार करके अफगानिस्तान में चले गए। अफगानिस्तान की सरकार इतने हिजरतियों को आश्रय देने के लिए उद्यत नहीं थी। अंग्रेजी सरकार से विरोध होने की सम्भावना के अतिरिक्त इतने नये व्यक्तियों की आर्थिक समस्या भी छोटी नहीं थी। आर्थिक दृष्टि से अफगानिस्तान बहुत निर्बल है। मुहाजरीन लोग (हिजरत करनेवाले) वहां जाकर भूख और सर्दी से परेशान होकर मरने लगे, तब अफगानिस्तान की सरकार ने उनका प्रवेश बन्द कर दिया। जो लोग प्रविष्ट हो चुके थे, वे भी तरह-तरह के दुःख उठाकर फटी-कटी हालत में वापिस आ गए।

असहयोग के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए १९२० के सितम्बर मास में, कलकत्ते में, कांग्रेस का विशेष अधिवेशन बुलाया गया। देश को तैयार करने के निमित्त, महात्माजी ने दोनों अली भाइयों के साथ देश के बड़े भाग का दौरा किया। इस समय महात्माजी और अली भाइयों की वह एकता शुरू हुई जो आगामी कई वर्षों तक भारत की राजनीति का एक मुहाविरा बनी रही। वह तब तक जारी रही, जब तक अली भाइयों का इस्लाम-प्रेम उनके देश-प्रेम पर हावी नहीं हो गया।

कलकत्ते के कांग्रेस-अधिवेशन को हम अमृतसर के अधिवेशन का उत्तरार्द्ध कह सकते हैं। अमृतसर में कांग्रेस की राजनीति पर महात्माजी की जो हल्की-सी छाप लगी थी, कलकत्ते में वह खूब गहरी हो गई। कुछ नेताओं ने काफी प्रयत्न किया कि कांग्रेस सोलहो आने असहयोगी होने से बच जाय, परन्तु उनकी

युक्तियों पर महात्माजी का सिद्धान्तवाद और तपोबल विजयी हो गया। कांग्रेस ने असहयोग के प्रस्ताव को सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लिया।

जो नेता कांग्रेस को पूर्ण असहयोग को एकदम स्वीकार करने से बचाना चाहते थे, उनमें प्रमुख नाम देशबन्धु दास का था। बंगाल के प्रतिनिधियों का बहुमत दास बाबू के साथ था। वे कौंसिलों के बहिष्कार के विरुद्ध थे। अधिवेशन के अध्यक्ष लाला लाजपतराय थे, जो अभी हाल में ही अमरीका से लौटे थे, वह भी अपने-आपको पूरी तरह पूर्ण असहयोग के पक्ष में नहीं ला सके थे। कांग्रेस में हण्टर कमेटी की रिपोर्ट पर घोर असन्तोष और असहमति प्रकट करके ब्रिटिश सरकार को यह सूचित किया गया कि उस रिपोर्ट में दोषी अफसरों के आचरणों के सम्बन्ध में जो कार्रवाई करने का सुझाव दिया गया है, वह मामले की गम्भीरता को देखते हुए बहुत ही हल्का है, और उसने ब्रिटिश जनता की पक्षपातहीनता पर से भारतवासियों का विश्वास उठा दिया है।

असहयोग-सम्बन्धी मुख्य प्रस्ताव महात्माजी ने स्वयं उपस्थित किया था। महात्माजी के प्रस्ताव प्रायः बहुत लम्बे और स्पष्ट होते थे। उनमें प्रस्ताव का आधार, प्रस्ताव का रूप और उसके परिणाम आदि सभी सम्बद्ध बातों पर प्रकाश डाला जाता था। वे प्रस्ताव उस भवन की तरह होते थे, जिसकी नींव, दीवार और छत सभी चीजें दृढ़ता से परस्पर जुड़ी हुई होती थीं। महात्माजी यह नहीं चाहते थे कि उसमें से एक भी ईंट निकाली जाय, क्योंकि ईंट निकालने का अभिप्राय था, मकान को निर्बल करके निकम्मा बना देना। कई सदस्यों ने संशोधन उपस्थित किये। देशबन्धु दास और श्री विपिनचन्द्र पाल भी संशोधन करनेवालों में से थे। महात्माजी ने कोई संशोधन स्वीकार नहीं किया। अन्त में महात्माजी का प्रस्ताव अपने असली रूप में ही स्वीकार हो गया। वही प्रस्ताव सारे असहयोग और सत्याग्रह आन्दोलन का आधार बना। वह प्रस्ताव यहां अविकल रूप में उद्धृत किया जाता है।

"क्योंकि खिलाफत के प्रश्न पर भारत और ब्रिटेन दोनों देशों की सरकारें भारत के मुसलमानों के प्रति अपना फर्ज अदा करने में खास तौर से असफल रही हैं, और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने जान-बूझकर मुसलमानों को दिये हुए वायदों को तोड़ा है, और क्योंकि प्रत्येक गैर-मुस्लिम भारतीय का यह फर्ज है कि अपने मुसलमान भाई पर आई हुई धार्मिक विपत्ति को दूर करने में प्रत्येक उचित उपाय से सहायता करे;

"और क्योंकि अप्रैल १९१९ की घटनाओं के मामले में उक्त दोनों सरकारों ने पंजाब की निरपराध जनता की रक्षा करने में और उन अफसरों को सज़ा देने में, जोकि पंजाब की जनता के प्रति असभ्य व धर्मविरुद्ध सैनिक आचरण करने के दोषी ठहरे हैं, घोर लापरवाही की है, और क्योंकि उन दोनों सरकारों ने सर माइकेल ओडायर को, जो अफसरों द्वारा किये गए बहुत-से अपराधों के लिए स्वयं प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी था, और जिसने जनता के दुःखों की सरा-

सर अवहेलना की थी, बरी कर दिया है, और क्योंकि इंग्लैण्ड की लार्ड सभा में हुए वाद-विवाद से भारतीय जनता के प्रति सहानुभूति का अभाव स्पष्ट रूप से प्रकट हो गया है और पंजाब में सुसंगठित ढंग पर आतंक और त्रास फैलाया गया है, और क्योंकि वायसराय की सबसे ताज़ी घोषणा इस बात का प्रमाण है, कि खिलाफत व पंजाब के मामलों पर तनिक भी पछतावे का भाव नहीं है, अतः इस कांग्रेस की राय है, कि जब तक उक्त दोनों भूलों का सुधार नहीं किया जाता, राष्ट्रीय सम्मान की मर्यादा को कायम रखने के लिए और भविष्य में इस प्रकार की भूलों को दोहराने से बचाने के लिए उपयुक्त उपाय केवल स्वराज्य को स्थापना ही है। इस कांग्रेस की यह राय है कि जब तक उक्त भूलों का सुधार न हो जाय, और स्वराज्य की स्थापना न हो जाय, भारतवासियों के लिए इसके सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है, कि वे गान्धीजी द्वारा संचालित क्रमिक अहिंसात्मक असहयोग की नीति को स्वीकार करें, और अपनायें;

"और क्योंकि इसका आरम्भ उन लोगों को ही करना चाहिए, जिन्होंने अब तक लोकमत को बनाया है, और उनका प्रतिनिधित्व किया है, और क्योंकि सरकार अपनी शक्तियों का संगठन लोगों को दी गई उपाधियों तथा सम्मान से, सरकार द्वारा नियन्त्रित स्कूलों से, तथा अपनी अदालतों और कौंसिलों द्वारा करती है, और क्योंकि अदालतों को चलाने में यह वांछनीय है कि कम-से-कम खतरा रहे, और अभीष्ट उद्देश्य की सिद्धि के लिए केवल आवश्यक त्याग कराया जाय, यह कांग्रेस आग्रहपूर्वक परामर्श देती है कि :

"(क) सरकारी नौकरियों तथा अवैतनिक सरकारी पदों को छोड़ दिया जाय, और म्युनिसिपल बोर्ड तथा अन्य स्थानीय सभाओं में जो लोग मनोनीत (नामजद) किये गए हों, वे त्यागपत्र दे दें।

"(ख) सरकारी दरबारों, स्वागत समारोहों, तथा सरकारी अफसरों द्वारा किये गए या उनके सम्मान में किये गए अन्य सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी उत्सवों में भाग लेने से इनकार किया जाय।

"(ग) सरकार से सहायता प्राप्त करनेवाले व सरकार द्वारा नियन्त्रित स्कूल तथा कालिजों से छात्रों को धीरे-धीरे निकाल लिया जाय; उनके स्थान में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में राष्ट्रीय स्कूल और कालिजों की स्थापना की जाय।

"(घ) ब्रिटिश अदालतों का वकीलों और मुवक्किलों द्वारा धीरे-धीरे बहिष्कार हो, और उनकी मदद से खानगी झगड़ों को तय करने के लिए पंचायती अदालतों की स्थापना हो।

"(च) फौजी, क्लर्की तथा मजदूरी करनेवाले लोग मेसोपोटामिया में नौकरी करने के लिए भर्ती होने से इनकार करें।

'(छ) नई कौंसिलों के लिए खड़े हुए उम्मीदवार अपने नाम उम्मीदवारी से वापिस ले लें, और यदि कांग्रेस की सलाह के बावजूद कोई उम्मीदवार चुनाव के लिए खड़ा हो तो मतदाता उसे वोट देने से इनकार कर दें।

"(ज) विदेशी माल का बहिष्कार किया जाय।

"और क्योंकि असहयोग को अनुशासन और आत्मत्याग के साधन के रूप में पेश किया गया है, जिसके बिना कोई राष्ट्र सच्ची उन्नति नहीं कर सकता, और क्योंकि असहयोग के सबसे पहले दौर में ही, हर स्त्री या पुरुष तथा बालक को इस प्रकार के अनुशासन और आत्मत्याग का अवसर मिलना चाहिए, यह कांग्रेस सलाह देती है कि एक बड़े पैमाने पर स्वदेशी वस्त्रों को अपनाया जाय, और क्योंकि भारतीय श्रम तथा प्रबन्ध से चलनेवाली भारत की वर्तमान मिलें देश की आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त सूत और कपड़ा तैयार नहीं कर सकतीं, और न ही इस बात की कोई सम्भावना है कि एक लम्बे समय तक कर सकें, यह कांग्रेस सलाह देती है कि हरेक घर में हाथ की कताई को फिर से, और देश के उन असंख्य जुलाहों द्वारा, जिन्होंने पुराने तथा सम्मानित पेशे को उत्साह न मिलने के कारण छोड़ दिया था, हाथ की बुनाई को पुनः जीवित करके बड़े पैमाने पर वस्त्रों की उत्पत्ति को तुरन्त ही बढ़ाया जाय।"

इस प्रस्ताव को कांग्रेस की अगले २६ वर्षों की कार्यनीति की आधार-शिला कह सकते हैं। कुछ दूर जाकर असहयोग के कार्यक्रम ने सत्याग्रह का रूप धारण कर लिया, परन्तु वस्तुतः उनमें केवल नामों का भेद है—मूल सिद्धान्त एक ही है। दोनों उन मूल सिद्धान्तों पर आश्रित हैं, जिनका बीज भारत की प्राचीन संस्कृति में मिलता है, और जिन्हें अब गान्धीवाद के नाम से पुकारा जाता है।

बहुत-से वादविवाद के पश्चात असहयोग-प्रस्ताव कांग्रेस में स्वीकृत हो गया। प्रस्ताव तो स्वीकार कर लिया गया, परन्तु महात्माजी उसे पत्थर की लकीर बना देना चाहते थे। विरोधी चुप हो गए, परन्तु उनकी प्रतिध्वनि देश के किसी-किसी कोने में सुनाई दे रही थी। इस कारण महात्माजी ने कलकत्ते के विशेष अधिवेशन द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव को नागपुर कांग्रेस की वार्षिक बैठक में, स्वीकार कराना आवश्यक समझा।

कलकत्ते में, कांग्रेस की जो आन्तरिक क्रान्ति आरम्भ हुई थी, वह नागपुर में पूरी हो गई। न केवल असहयोग-सम्बन्धी प्रस्ताव को दोहराया गया, उसमें कुछ बढ़ोतरी भी कर दी गई। भारतवासियों से सरकार की दी हुई पदवियां छोड़ देने का अनुरोध किया गया और यह इशारा भी दे दिया गया कि आवश्यकता होने पर कर देने से भी इनकार किया जा सकता है। एक विशेष बात यह हुई कि कांग्रेस का ध्येय बदल दिया गया। उस पर महात्माजी की छाप लग गई। उसका

नया रूप यह बना कि "कांग्रेस का ध्येय शान्तिमय तथा उचित उपायों से स्वराज्य प्राप्त करना है।"

नागपुर का अधिवेशन कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण था। उसमें प्रतिनिधियों की संख्या साढ़े चौदह हजार तक पहुंच गई थी। यह महात्माजी के व्यक्तित्व और असहयोग-सम्बन्धी प्रस्ताव का चमत्कार था। असहयोग-सम्बन्धी प्रस्ताव, जो कलकत्ते के अधिवेशन से पूर्व केवल एक हाथ-भर का इशारा था, अधिवेशन के पश्चात् उठती हुई आंधी के रूप में परिणत होकर नागपुर के अधिवेशन के समय देशव्यापी झंझावात का रूप धारण कर रहा था।

असहयोग की योजना के कई अंशों का विरोध न केवल कई प्रभावशाली सदस्यों द्वारा, अपितु स्वयं अधिवेशन के अध्यक्ष श्री विजय राघवाचार्य द्वारा भी किया गया। यह अध्यक्ष महोदय की न्यायवृत्ति का सूचक था कि जब उन्हें विरोध करना होता था, उतनी देर के लिए वह सभापति के आसन पर किसी अन्य सज्जन को बिठा देते थे। विरोधियों में देशबन्धु दास, लाला लाजपतराय, श्री विपिनचन्द्र पाल, पं० मदनमोहन मालवीय और मि० जिन्ना-जैसे जबर्दस्त नेता थे, जिनके बहुत-से अनुयायी भी थे। परन्तु उस समय सब लोग आत्मबल और आत्मविश्वास के चमत्कार को मान गए, जब उन्होंने देखा कि सारी कानूनी बहस, और संगठन की शक्ति एक पतले-दुबले तपस्वी के शान्त तर्क के आगे मात खा गई। महात्माजी के समर्थकों में पं० मोतीलाल नेहरू, स्वामी श्रद्धानन्द, श्री वल्लभभाई पटेल आदि दिग्गज थे, परन्तु वे तो केवल निमित्त-मात्र थे। असली शक्ति तो महात्माजी की अपनी थी, जिसने बरसाती बाढ़ की तरह जोर का धक्का देकर सारे विरोध को बहा दिया। एक बार तो ऐसा समय आ गया कि देश के सामने केवल एक ही कार्य-क्रम था—और वह था पूर्ण असहयोग द्वारा अंग्रेजी राज्य को पछाड़कर स्वराज्य प्राप्त करना। उस समय देश का बच्चा-बच्चा जाग उठा था और अंग्रेजी सरकार के पांव थरथरा गए थे।

: ४० :

सत्याग्रह की घोषणा

१९२१ का वर्ष भारत के लिए असहयोग के पूरे कार्यक्रम का सन्देश लेकर अवतीर्ण हुआ। देश-भर के वातावरण में उत्साह की बिजली-सी दौड़ रही थी, सरकार की दी हुई उपाधियों को छोड़नेवालों में अनेक 'सर' उपाधिधारी भी थे। उनमें राष्ट्र के महान कवि डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम विशेष रूप से उल्लेख-नीय है। असहयोग प्रस्ताव की दूसरी धारा में देशवासियों को प्रेरणा की गई थी कि वे सरकारी, दरबारों तथा अन्य उत्सवों में भाग लेने से इनकार कर दें। इस आदेश

का पालन भी स्थान-स्थान पर होने लगा। तीसरी धारा सरकारी स्कूलों और कालिजों के बहिष्कार के, और राष्ट्रीय शिक्षणालयों की स्थापना के सम्बन्ध में थी। इस धारा का बहुत शीघ्र और व्यापक असर हुआ। देश के सभी प्रान्तीय केन्द्रों में स्कूल और कालिज छात्रों से खाली होने लगे। सरकार के सिरतोड़ उद्योग करने पर भी नवयुवकों का जोश ठण्डा न हुआ, और वे सरकारी शिक्षणालयों को छोड़कर या तो उन राष्ट्रीय शिक्षणालयों में भर्त्ती होने लगे, जो पहले से विद्यमान थे, या उन दिनों खुल रहे थे। बहुत-से छात्र पढ़ाई छोड़कर राष्ट्रीय आन्दोलन में जी-जान से जुट गए।

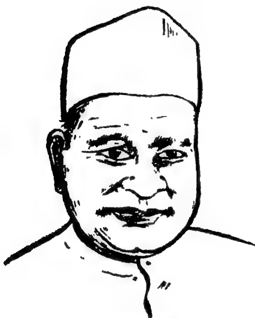
प्रारम्भ में लाला लाजपतराय स्कूल-कालिजों के बहिष्कार के विरुद्ध थे, परन्तु जब नागपुर में असहयोग की योजना पूर्णरूप में स्वीकार हो गई तो लाहौर में राष्ट्रीय शिक्षा का झण्डा उन्हीं ने खड़ा किया। उनकी प्रधानता में राष्ट्रीय शिक्षणालय की स्थापना हुई, जिसने अपने कुछ वर्षों के जीवन में ही पंजाब और दिल्ली को बहुत-से उत्साही कार्यकर्त्ता दिये। बंगाल में देशबन्धु दास के तेजस्वी नेतृत्व ने चमत्कार कर दिया। डेढ़ वर्ष के समय में छात्रों में अद्भुत क्रान्ति उत्पन्न हो गई, जिसके दो परिणाम हुए। एक तो फरवरी मास में गान्धीजी के आशीर्वाद के साथ नैशनल कालिज का उद्घाटन हो गया और दूसरे राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं में सैकड़ों सुशिक्षित नवयुवक कार्यकर्त्ताओं की वृद्धि हो गई। पटना में बिहार विद्यापीठ और अहमदाबाद में गुजरात विद्यापीठ की स्थापना हुई और हुई भी महात्माजी की उपस्थिति में, और उन्हीं के आशीर्वाद के साथ। पूना में तिलक-महाराष्ट्र विद्यापीठ और अलीगढ़ में मुस्लिम विद्यापीठ की स्थापना ने राष्ट्रीय शिक्षा के जाल को देशव्यापी बनाने में सहायता दी। काशी के दानवीर श्री शिवप्रसादजी गुप्त के अनेक देशोपयोगी कार्यों में अन्यतम काशी विद्यापीठ की स्थापना भी थी। विद्यापीठ की स्थापना यद्यपि कुछ पीछे हुई, तो भी वह परिणाम था १९२० के असहयोग आन्दोलन का ही। काशी विद्यापीठ को यह श्रेय प्राप्त है कि उसके अनेक स्नातकों ने देशसेवा के क्षेत्र में बहुत प्रशंसनीय कार्य किया, और यशोलाभ भी किया। उसके अनेक अध्यापक और छात्र देश के प्रान्तीय और केन्द्रीय शासन में मन्त्री और उपमन्त्री पदों पर आसीन हुए।

अदालतों के बहिष्कारवाली धारा को मान्यता देकर वकालत छोड़नेवाले वकीलों की संख्या यद्यपि बहुत अधिक नहीं थी, तो भी जिन देशभक्तों ने वकालत का त्याग किया, वे प्रभाव और योग्यता की दृष्टि से न्यायालयों के मूर्धन्य माने जाते थे। पं० मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु दास, केवल अपने-अपने प्रान्तों में ही नहीं, अन्य प्रान्तों में भी अदालतों के चक्रवर्ती वकील माने जाते थे। जब कांग्रेस ने संग्राम की तुरही बजाई तब दोनों ने वकालत छोड़ दी, और उनके समान अन्य अनेक भारत-पुत्र विलास और ऐश्वर्य को लात मारकर, राष्ट्रीय फकीर बन गए। उसी युग में बिहार ने देश को डा० राजेन्द्रप्रसाद, दिल्ली ने श्री आसफअली, और मद्रास ने श्री राजगोपालाचार्य के रूप में अमूल्य भेंट समर्पित की। ये तो कुछ प्रमुख

नाम हैं। उन देशभक्तों की संख्या यदि सहस्रों में नहीं तो सैकड़ों में अवश्य है, जिन्होंने कांग्रेस का आदेश पाकर अपने जीवन-निर्वाह के एकमात्र साधन, वकालत के पेशे, को छोड़कर देश-सेवा का व्रत धारण कर लिया ।

विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार का आन्दोलन भी बहुत वेग से चला। स्थान-स्थान पर विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गई। हजारों रुपये के विलायती कपड़े ढेर लगाकर फूंक दिये गए। अकेले पं० मोतीलाल नेहरू ने सहस्रों के विदेशी वस्त्र अग्नि को समर्पित किये।

उपाधियों के परित्याग के सम्बन्ध में जो निर्णय हुआ था, देश को उसके फल-स्वरूप जो एक बहुत बड़ी उपलब्धि हुई वह महात्माजी के परमप्रिय शिष्य और अनुयायी सेठ जमनालाल बजाज के रूप में थी। सेठजी राय बहादुर थे, आनरेरी मजिस्ट्रेट थे और मध्य प्रदेश में सरकार-द्वारा प्रतिष्ठा पानेवाले भारतीयों में अग्रणी माने जाते थे। आपने सरकार की दी हुई उपाधि और पद का सर्वमेधयज्ञ करके देश की सेवा में फकीरी स्वीकार कर ली, और सबसे बड़े राष्ट्रीय फकीर के अनन्य अनुयायी बन गए। मध्य प्रदेश के सेठ गोविन्ददासजी का त्याग भी इसी कोटि का था।


जमनालाल बजाज

इस वर्ष के मध्य में आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी का एक महत्वपूर्ण अधिवेशन बेंजवाड़ा में हुआ। ज्यों-ज्यों देश में असहयोग का वेग बढ़ता गया, कांग्रेस के प्रस्तावों का तापमान भी ऊंचा होता गया। बेंजवाड़ा के अधिवेशन में निश्चय किया गया कि तिलक स्वराज्य कोष में एक करोड़ रुपया एकत्र किया जाय, १ करोड़ कांग्रेस सदस्य भर्ती किये जायं, और देश-भर में पंचायतों के संगठन और शराबबन्दी का आन्दोलन जारी किया जाय। इन नये निश्चयों से देश का उत्साह दसगुना अधिक हो गया, जिसने सुख-निद्रा में ऊंघती हुई अंग्रेजी सरकार को चौकन्ना करके हाथ-पांव हिलाने के लिए मजबूर कर दिया।

सरकार ने, सबसे पहले दमन का परीक्षण किया। देशबन्धु दास एक सभा में व्याख्यान देने के लिए मैमनसिंह जा रहे थे, उन्हें रोक दिया गया। बा० राजेन्द्र-प्रसाद और श्रीयुत मजरुल हक को आरा जाने की मनाही कर दी गई। श्री याकूब हुसेन के कलकत्ता और लाला लाजपतराय के पेशावर जाने पर रोक लगा दी गई। यह व्यवहार तो नेताओं के साथ हुआ, कांग्रेस के साधारण कार्यकर्ताओं पर जो अन्य बहुत प्रकार के कठोर प्रयोग किये गए, उनका अनुमान लगाया जा सकता है।

यह सब-कुछ होने पर भी असहयोग का उफान कम न हुआ तो सरकार सम-झौते की ओर झुकी। उन्हीं दिनों भारत के वायसराय की कुर्सी पर लार्ड रीडिंग आसीन हुए थे। उन्हें शान्ति पसन्द शासक समझा जाता था। लार्ड रीडिंग

ने पं० मदनमोहन मालवीय को बीच में डालकर महात्माजी से सुलह की बातचीत आरम्भ की। बातचीत १९२१ के अप्रैल मास में जारी हुई। उस समय उस बातचीत के दो परिणाम हुए। लार्ड रीडिंग ने महात्माजी को विश्वास दिलाया कि वह असहयोग आन्दोलन के खिलाफ कोई दमनकारी कार्रवाई न करेंगे, और साथ ही यह शिकायत की कि अली भाइयों के भाषणों में प्रायः हिंसात्मक भावों की झलक होती है। उन्होंने कुछ दृष्टान्त भी दिये। महात्माजी ने भी उन्हें हिंसात्मक भावनाओंवाला समझा और अली भाइयों को प्रेरणा की कि वह उन भावों का प्रतिवाद कर दें। अली भाइयों ने एक वक्तव्य निकालकर यह स्पष्ट कर दिया कि उनका वह आशय नहीं था जो निकाला गया है। इस प्रसंग के सम्बन्ध में कांग्रेस के इतिहास-लेखक डा० सीतारामय्या ने लिखा है कि "यह माफी-प्रकरण इस आन्दोलन के इतिहास में एक युगान्तकारी घटना है। गोरे लोग सरकार की इस विजय पर बड़े खुश थे। माफी से लार्ड रीडिंग की तसल्ली हो गई, और उन्होंने अली भाइयों पर मुकदमा चलाने का विचार छोड़ दिया।"

अपने अनन्य साथियों से क्षमा मंगवाने का काम जितना साहसपूर्ण था, उतना ही भयावह भी था। देश के बहुत-से प्रमुख कार्यकर्त्ताओं ने उसे अच्छा नहीं समझा। उनका विचार था कि अंग्रेजी सरकार के वायदों पर विश्वास नहीं करना चाहिए, और न ही उसके आश्वासनों के आधार पर उदारता दिखाना उचित है। महात्माजी उपयोगितावादी नहीं थे, वह सत्य के अनन्य पुजारी थे, अतः उन्होंने लार्ड रीडिंग के सत्य की परीक्षा करने से पूर्व ही सत्य के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन कर देना उचित समझा।

फल वही हुआ, जिसकी आलोचकों को आशंका थी। अंग्रेजी सरकार का उद्देश्य असहयोग आन्दोलन के वेग को मन्द करना था। गान्धी-रीडिंग समझौते की स्याही अभी सूखने भी न पाई थी कि सरकार का दमनचक्र फिर उसी जोर से चलने लगा, जैसा समझौते से पूर्व चल रहा था। सभी प्रान्तों, और विशेष रूप से पं० मोतीलाल नेहरू के संयुक्त प्रान्त में सरकार निःसंकोच होकर राजदण्ड का प्रयोग कर रही थी। बहुत-से कार्यकर्त्ताओं को बिना कोई अभियोग चलाये, पकड़कर जेलों में ठूंस दिया गया। अभियोग द्वारा दण्डित लोगों की संख्या तो लाख के समीप पहुंच रही थी। कई जगह पुलिस ने लाठियां और गोलियां चलाकर सरकार का दबदबा जमाने का प्रयत्न किया। इस प्रकार गान्धी-रीडिंग समझौते का केवल इतना ही परिणाम हुआ कि अली बन्धुओं ने अपने वक्तव्यों की सफाई देकर देश के कार्यकर्त्ताओं में मतभेद के बीज बो दिये। सामान्य परिस्थिति सुधरने की जगह और अधिक बिगड़ गई।

परिस्थिति के बिगड़ने का स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि देश के कोने-कोने से सत्याग्रह आरम्भ करने की मांग सुनाई देने लगी। इस वर्ष में एक-दूसरे के बाद बम्बई तथा पटना आदि नगरों में महासमिति और कार्य समिति के कई अधिवेशन हुए, जिनमें देश की परिस्थिति पर विचार किया गया। प्रान्तों

को सत्याग्रह (सविनय कानून भंग) प्रारम्भ करने की मांग को उचित ठहराते हुए भी कांग्रेस उसमें जल्दी नहीं करना चाहती थी। इस कारण यह प्रतिबन्ध लगाया गया कि जब तक सारा देश विदेशी वस्त्रों का परित्याग करके स्वदेशी का प्रयोग नहीं करता तब तक सत्याग्रह आरम्भ नहीं किया जायगा। इन्हीं दिनों कई स्थानों पर छोटे-बड़े साम्प्रदायिक उपद्रव भी होते रहे, जिनसे वातावरण में विक्षोभ उत्पन्न हो रहा था। कांग्रेस ने उनके सम्बन्ध में यह नीति रखी कि उपद्रवकारियों की निन्दा की जाय और साथ ही उन उपद्रवों को उकसाने और उनके वृत्तान्तों को अतिरंजित करके पेश करने के कारण सरकार को दोषी ठहराकर जनता को सावधान किया जाय।

इस प्रकार देश के वायुमण्डल में गर्मी बढ़ रही थी कि सरकार ने उसे चरम सीमा तक पहुंचाने का उपाय स्वयं ही कर दिया। १४ सितम्बर को मौलाना मुहम्मद अली मद्रास जा रहे थे। रास्ते में वाल्टेयर के स्टेशन पर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तारी का वारंट मौलाना के उस भाषण के आधार पर दिया गया था, जो उन्होंने खिलायत कान्फ्रेंस के कराची अधिवेशन में दिया था। कराची में मौलाना ने भारत के मुसलमानों को प्रेरणा की थी कि वे अंग्रेजी सरकार की फौज में भर्ती न हों और जो भर्ती हो चुके हैं, वे नौकरी छोड़ दें। कान्फ्रेंस ने इस आशय का प्रस्ताव स्वीकार किया था कि "आज से किसी भी ईमानदार मुसलमान के लिए अंग्रेजों की फौज में नौकर रहना या भर्ती होना या सरकारी मदद करना हराम है।" कुछ दिनों के पश्चात् बम्बई में मौ० शौकत अली भी गिरफ्तार कर लिये गए।

अली बन्धुओं की गिरफ्तारी ने महात्माजी के मन पर आश्चर्यजनक प्रभाव डाला। वह अब तक इस कारण सत्याग्रह को स्थगित कराते आये थे कि देश उसके लिए पूरी तरह तैयार नहीं था। परन्तु मौलानाओं के काराबन्द होने से उनके मन में यह विश्वास हो गया कि सरकार आन्दोलन को कुचलने के लिए तत्पर हो गई है। महात्माजी ने स्वयं पहल करते हुए त्रिचनापल्ली की एक सभा में मौलाना शौकत अली के भाषाण के आपत्तिजनक समझे गए हिस्सों को पूर्ण रूप से दुहरा दिया, और देशवासियों को परामर्श दिया कि वे भी उन्हें दुहराकर सरकार द्वारा दी गई चुनौती का करारा जवाब दें। परिस्थिति पर विचार करने के लिए नवम्बर के आरम्भ में दिल्ली में कांग्रेस की कार्यसमिति का एक अधिवेशन हुआ, जिसमें प्रान्तीय कांग्रेस कमेटियों को अपनी जिम्मेदारी पर सविनय कानून-भंग की अनुमति दे दी गई।

इस प्रकार देश का वातावरण विक्षोभ से भरपूर हो रहा था जब अंग्रेजी सरकार ने भारतीयों की राजभक्ति को जगाने के लिए इंग्लैण्ड के युवराज को भारत में यात्रा करने के लिए भेज दिया। कांग्रेस असहयोग के कार्यक्रम में ही युवराज के स्वागत के बहिष्कार को सम्मिलित कर चुकी थी। जब तक युवराज भारत में आये, कांग्रेस का कदम असहयोग से आगे बढ़कर सत्याग्रह तक पहुंच चुका

था। अब तो युवराज के स्वागत समारोह के सक्रिय बहिष्कार की तैयारी होने लगी।

युवराज के बम्बई पहुंचने पर स्वाधीनता के संग्राम में ५३ आहुतियां पड़ीं। पुलिस की गोली से ५३ भारतवासी धराशायी हुए। घायलों को संख्या तो चार-पांच सौ तक पहुंच गई थी। सरकार की ओर से कहा गया कि जनता के उपद्रव के कारण पुलिस को गोली चलानी पड़ी। इस पर महात्माजी ने प्रायश्चित से रूप में ५ दिन का उपवास किया। प्रायश्चित का इतना प्रभाव अवश्य हुआ कि इससे आगे देश में युवराज के स्वागत के विरोध में जो प्रदर्शन किये गए, उनमें दोनों ओर से आतंक का प्रयोग नहीं हुआ, परन्तु साथ ही आन्दोलन का आवेग बहुत बढ़ गया। देश में सत्याग्रही स्वयंसेवकों की भर्ती की बाढ़-सी आ गई, बम्बई के ५३ शहीदों ने देश को न्यून-से-न्यून ५३ हजार सत्याग्रही स्वयंसेवक दिये होंगे। उत्तर में सरकार ने स्थान-स्थान पर क्रिमिनल ला अमेण्डमैण्ट ऐक्ट लगाकर स्वयंसेवकों की भर्ती को अपराध घोषित कर दिया। परन्तु भर्ती फिर भी बन्द नहीं हुई। तब सरकार ने गिरफ्तारियां जारी कर दीं। पं० मोतीलाल नेहरू, देशबन्धु दास, और उनकी पत्नी आदि को कारागार में बन्द कर दिया। पं० जवाहरलाल नेहरू, जो प्रारम्भ से ही सत्याग्रह आन्दोलन में भाग ले रहे थे इस अवसर पर कार्यकर्त्ताओं की अगली पंक्ति में आकर नेताओं की कोटि में प्रविष्ट हो गए। वह भी धर लिये गए। सरकार ने बहिष्कार आन्दोलन को दबाने की जितनी ही चेष्टा की उतना ही वह उभरता गया, यह देखकर नीतिविशारदों ने फिर एक बार पहलू बदला और सुलह का डोरा फेंका। इस बार डोरा फेंकनेवालों के सन्देशवाहक बने पं० मदनमोहन मालवीय और मि० मुहम्मद अली जिन्ना।

बातचीत कलकत्ते में आरम्भ हुई। उन दिनों वायसराय और युवराज दोनों वहीं थे। दिसम्बर के तीसरे सप्ताह में पं० मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व में एक शिष्टमण्डल वायसराय से मिला। देशबन्धु दास अलीपुर जेल में थे—उनसे टेली-फोन द्वारा बातचीत हुई। महात्माजी अहमदाबाद में थे, उनसे तार द्वारा परामर्श किया गया। सरकार इस बात पर राजी हो गई कि सत्याग्रह के कैदियों को छोड़ दिया जाय, और मार्च में गोलमेज़ कान्फ्रेन्स बुलाई जाय। सरकार केवल सत्याग्रह के कैदियों को छोड़ने के लिए उद्यत हुई थी, इस कारण समझौते में अड़चन पड़ गई। यदि समझौता केवल सत्याग्रह के कैदियों की रिहाई तक ही परिमित रहता तो लाला लाजपतराय, मौ० मुहम्मद अली, मौ० शौकत अली, डा० किचलू और वैसे ही अन्य सैकड़ों देशभक्त जेलों में पड़े रहते। महात्माजी ऐसे अधूरे समझौते के लिए उद्यत नहीं थे। परिणाम यह हुआ कि समझौते की बातचीत अफसल हो गई, और युवराज के स्वागत-बहिष्कार का आन्दोलन पहले से भी अधिक जोर से चलने लगा।

परिस्थिति का यह रूप था जब अहमदाबाद में कांग्रेस के अधिवेशन का अवसर

आ पहुँचा। वह अधिवेशन भारत की स्वाधीनता के इतिहास में विशेष महत्व रखता है।

: ४१ :

ज्वार-भाटा

१९२१ के अन्त में, अहमदाबाद में, कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ वह अनेक कारणों से अभूतपूर्व था। १९२१ के पूरे वर्ष में, देश-भर में जो विचारक्रान्ति हुई थी, अहमदाबाद में उसका पूर्ण रूप में प्रदर्शन हुआ। देशवासियों ने पहले से विदेशी कपड़ों को छोड़कर स्वदेशी कपड़े को अपनाया और फिर स्वदेशी को पीछे डालकर खद्दर को राष्ट्रीय वेष के रूप में अंगीकार कर लिया—यह दुहरा परिवर्तन, बड़े वेग से, एक ही वर्ष में हो गया। यह बात अहमदाबाद के कांग्रेसनगर पर एक दृष्टि डालने से प्रत्यक्ष हो जाती थी। जिधर दृष्टि जाती थी वहां सफेद टोपियों और सफेद कुर्तों के कारण चांदी का बिस्तर-सा बिछा हुआ दिखाई देता था।

कांग्रेस के अध्यक्ष-पद को सुशोभित करने के लिए देशबन्धु दास निर्वाचित किये गए थे, परन्तु उनके जेल में होने के कारण अधिवेशन के सभापति हकीम अजमल खां बनाये गए। देशबन्धु का भाषण श्रीमती सरोजिनी नायडू ने पढ़ा। कांग्रेस ने अहमदाबाद में प्रस्ताव तो कई स्वीकार किये, परन्तु मुख्य प्रस्ताव एक ही था, और वह स्वयं गान्धीजी ने उपस्थित किया था। वह प्रस्ताव बहुत लम्बा था। उसके पढ़ने में प्रस्तावक को लगभग आधा घण्टा लगा था। वह वस्तुतः कांग्रेस का अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध पूरा अभियोगपत्र था। यहां उसका वह भाग उद्धृत किया जाता है, जो भावी कार्यनीति से सम्बन्ध रखता था :

> "इसलिए यह कांग्रेस विश्वास करती है कि जहां कहीं आवश्यकता हो, कांग्रेस के अन्य सब कार्य स्थगित रखे जायं और सब लोगों से अनुरोध करती है कि वे शान्ति के साथ, बिना किसी धूमधाम के, स्वयंसेवक संस्थाओं के सदस्य होकर गिरफ्तार हो जायं।"

स्वयंसेवकों के लिए एक प्रतिज्ञापत्र का भरना आवश्यक था, जिसमें उसे ईश्वर को साक्षी करके अहिंसा, एकता, स्वदेशी, अस्पृश्यता-त्याग आदि की प्रतिज्ञाएं करनी पड़ती थीं।

प्रस्ताव का सबसे महत्वपूर्ण भाग अधोलिखित था :

> "यह देखते हुए कि थोड़े समय में बहुत-से कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं के गिरफ्तार होने का भय है, और क्योंकि यह कांग्रेस चाहती है कि कांग्रेस का प्रबन्ध उसी प्रकार चलता रहे, और वह यथासम्भव पहले की भांति कार्य करती रहे, जब तक दूसरा कोई निश्चय न हो तब तक के लिए यह कांग्रेस महात्मा गान्धी को

अपना सर्वाधिकारी नियत करती है, और उन्हें महासमिति के सब अधिकार देती है। इसमें कांग्रेस का विशेष अधिवेशन और महासमिति के अधिवेशन को बुलाने के अधिकार भी सम्मिलित हैं। इन अधिकारों का प्रयोग महासमिति की किन्हीं दो बैठकों के बीच किया जायगा। गांधीजी को, मौका पड़ने पर, अपना उत्तराधिकारी नियत करने का भी अधिकार है।

"यह कांग्रेस उपर्युक्त उत्तराधिकारी और उसके बाद नियत किये जाने-वाले अन्य उत्तराधिकारियों को ऊपर कहे हुए सब अधिकार देती है।

"किन्तु इस प्रस्ताव के किसी अंश का यह अर्थ नहीं है कि महात्मा गान्धी या उनके उपर्युक्त उत्तराधिकारियों को महासमिति की स्वीकृति, और उस विषय पर विचार करने के लिए किये गए कांग्रेस के विशेष अधिवेशन की मंजूरी के बिना भारत सरकार या ब्रिटिश सरकार से सन्धि करने का अधिकार है, और संगठन की पहली धारा भी कांग्रेस की पूर्व स्वीकृति के बिना महात्मा गान्धी अथवा उनके उत्तराधिकारियों द्वारा नहीं बदली जा सकती।"

इस प्रस्ताव में कई नई-बातें थीं। कानून-भंग के आन्दोलन की वैधानिक स्वीकृति दी गई, कांग्रेस के जनतन्त्री संविधान में सर्वाधिकारी नियत करने का एकतन्त्री सिद्धान्त नत्थी कर दिया गया, और कांग्रेस की अन्तिम अनुमति की अनिवार्यता केवल सरकार से सुलह तथा ध्येय में परिवर्तन करने तक परिमित कर दी गई।

इस अधिवेशन में एक और नई बात हुई, जिसे हम डा० पट्टाभि के कांग्रेस इतिहास से उद्धृत करते हैं:

"अहमदाबाद में एक खास बात हुई और वह थी मुसलमान उलमाओं का राजनैतिक मामलों में कांग्रेस को सलाह देना। व्यक्तिगत तथा सामूहिक सत्याग्रह की शर्तों के विषय में अहिंसा पर बहुत बहस-मुबाहिसा हुआ था—यह कि क्या मन, वचन और कर्म से उस पर अमल किया जाय? यहां याद रहे कि कलकत्तावाले प्रस्ताव में सिर्फ 'वचन और कर्म' का ही उल्लेख था, स्वयंसेवकों की प्रतिज्ञा में 'मन' शब्द के जोड़ने पर मुसलमान उलमाओं को एतराज था। उनका कहना था कि यह शरीयत के खिलाफ जाता है। इसलिए 'मन' की जगह 'इरादा' शब्द रख दिया गया। इन सब मामलात में अलकुरान, शरीयत और हदीस के मुताबिक राजनैतिक विचारों और भावों का अर्थ और निर्णय करने में उलमा ने बहुत बड़ा काम किया। आगे चलकर हम देखेंगे कि कौंसिल-प्रवेश और उसकी कार्रवाइयों के बारे में भी उनकी राय और फतवे लिये जाते थे।"

इस 'खास बात' का भारत की राजनीति पर बहुत गहरा असर पड़ा। देश में रहनेवाले अनेक धर्मानुयायियों में से केवल एक वर्ग को इतना अधिक महत्व देने से राजनीतिक जल-प्रवाह को एक ऐसा नीचान का रास्ता मिल गया, जो धीरे-धीरे नदी के रूप में परिणत होकर देश की सब से कठिन समस्या बन गया।

अहमदाबाद के शानदार प्रदर्शन और कांग्रेस के तीर के समान नोकीले प्रस्ताव का देश की सरकार और प्रजा दोनों पर गहरा प्रभाव पड़ा। विशेषरूप से नर्म विचारों के भारतीय नेता बहुत विचलित हो गए। उन्होंने स्थिति को संभालने के लिए बम्बई में एक सर्वदल सम्मेलन का आयोजन किया। स्पष्ट है कि इस सम्मेलन को सरकार का समर्थन प्राप्त था। इसमें देश के लगभग ३०० व्यक्तियों ने निजी हैसियत से भाग लिया। सम्मेलन के सभापति सर शंकरन् नय्यर थे। महात्माजी ने अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि "अब तक भी सरकार का दमनचक्र पूरे वेग से चल रहा है, इस कारण मैं कांग्रेस का प्रतिनिधि बनकर सम्मेलन में भाग नहीं ले सकता।" सम्मेलन के संचालकों में भी फूट पड़ गई। जो प्रस्ताव स्वीकृति के लिए उपस्थित किया गया उससे असमहत होने के कारण सर शंकरन् नय्यर सभापति का आसन छोड़कर चले गए, सम्मेलन ने एक सर्वतोभद्र प्रस्ताव स्वीकार किया, जिसमें सरकार से दमन को बन्द करने और कांग्रेस से सत्याग्रह को स्थगित करने का अनुरोध किया गया था।

इस सुलह के सन्देश का कांग्रेस ने तो इतना आदर किया कि एक मास तक के लिए सत्याग्रह को स्थगित कर दिया, परन्तु सरकार टस-से-मस न हुई। लार्ड रीडिंग ने सम्मेलन की मांग को स्वीकार नहीं किया, जिससे स्थिति सर्वथा स्पष्ट हो गई। सरकार यह तो चाहती थी कि युवराज की देशयात्रा निर्विघ्न रूप से पूरी हो जाय, परन्तु दमन-नीति का परित्याग करने को उद्यत नहीं थी, क्योंकि दमन-नीति की अन्तिम सफलता पर उसे पूरा विश्वास था।

फलतः महात्मा गान्धी ने बारडोली के इलाके में सत्याग्रह का मोर्चा जमाने की अनुमति दे दी। प्रान्तों से सत्याग्रह प्रारम्भ करने की अनुमति मांगे जाने पर महात्माजी ने जो आदेश दिया, उसके शब्द निम्नलिखित थे:

> "यदि सामूहिक सत्याग्रह-सम्बन्धी दिल्ली की शर्तों के अनुकूल वातावरण तैयार हो, और यदि आप लोगों का विश्वास हो कि सफलता मिलने की काफी सम्भावना है तो मैं केवल इतना ही कह सकता हूं कि मैं आपके मार्ग में बाधक नहीं बनना चाहता। ईश्वर आपकी सहायता करे।"

इस आदेश का यह अर्थ स्पष्ट था कि जो इलाका सब परिस्थितियों पर विचार करके सामूहिक सत्याग्रह प्रारम्भ करना चाहे, कर सकता है। इसके अनुसार गुजरात के बारडोली ताल्लुके ने सरकार की अन्यायपूर्ण नीति के विरुद्ध सत्याग्रह करने का निश्चय किया। कार्यसमिति ने ३१ जनवरी १९२२ की बैठक में उस निश्चय पर बारडोलीवालों को बधाई देते हुए देश-भर के निवासियों को सलाह दी कि बारडोली की सहायता करें। किसानों ने कर-बन्दी आन्दोलन जारी कर दिया। खेतों का लगान रोक दिया गया, और जंगलों में पशु चराने का कर देना बन्द कर दिया। इस पर पशुओं की कुर्कियाँ होने लगीं।

फरवरी १९२२ में महात्माजी ने सत्याग्रह युद्ध के नियमों के अनुसार वायसराय को अन्तिम चेतावनी के रूप में एक पत्र लिखा। उसमें वायसराय को

अपनी नीति में परिवर्तन करने के लिए ७ दिन का अवसर दिया गया। भारत सरकार की ओर से महात्माजी के पत्र का जो उत्तर प्रकाशित किया गया, उसमें जनता द्वारा किये गए उपद्रवों को दमन-नीति का कारण बतलाते हुए अन्त में कहा गया था कि "सरकार परिस्थिति को काबू में लाने के लिए जो और जिस प्रकार के साधनों को काम में लाना चाहेगी, लायेगी।"

सरकार के इस उत्तर के बाद महात्माजी के लिए देशव्यापी सत्याग्रह आरम्भ करने का मार्ग सर्वथा खुल गया था, परन्तु उसी समय एक ऐसी घटना हो गई जिसने देश की राजनीतिक परिस्थिति का रंग ही पलट दिया। ५ फरवरी को गोरखपुर के समीप चौराचौरी नामक स्थान पर कांग्रेस की ओर से एक जुलूस निकाला गया। पुलिस ने उसे रोकने का यत्न किया तो जनता और पुलिस में भिड़न्त हो गई। उत्तेजित जनता ने एक थानेदार और २१ सिपाहियों को एक थाने में बन्द करके बाहर से आग लगा दी, जिससे वे सब जल गए। ऐसी ही एक घटना युवराज के जाने के अवसर पर जनवरी मास में मद्रास में भी हो चुकी थी। महात्माजी मद्रास की घटना से कुछ खिन्न थे ही, चौराचौरी के समाचारों ने तो उनकी मानसिक शान्ति को सर्वथा भंग कर दिया। उन्होंने १२ फरवरी को बारडोली में, कांग्रेस की कार्य-समिति की एक बैठक की, जिसमें चौराचौरी की घटना के आधार पर सामूहिक सत्याग्रह की योजना स्थगित कर दी गई। मानो आक्रमण के लिए सरपट चाल में आगे बढ़ते हुए घुड़सवारों को एकदम रुककर पीछे हटने की आज्ञा दे दी गई।

देश में कार्यकारिणी के सत्याग्रह को स्थगित करने के निश्चय की अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों तरह की आलोचना हुई। जो लोग महात्माजी की कार्यनीति, और सत्याग्रह की व्याख्या से पूर्ण रूप से सहमत थे, उन्होंने उस निश्चय को चौराचौरी की घटना का आवश्यक परिणाम समझा। परन्तु जो लोग व्यवहार में महात्माजी के साथ सहमत होते हुए भी सर्वांश में उनके सिद्धान्तों को नहीं मानते थे, उन्होंने उस निश्चय को अत्यन्त असामयिक और घबराहट का परिणाम समझा। दिल्ली में उस निश्चय पर विचार करने के लिए महासमिति का जो अधिवेशन हुआ उसमें बंगाल और महाराष्ट्र के कतिपय प्रमुख कार्यकर्ताओं ने बहुत कठोर आलोचना की। अन्त में महासमिति ने कार्यसमिति के निश्चय को सम्पुष्ट कर दिया। परन्तु सारे वादविवाद से यह बुरा फल निकला कि सरकार कांग्रेस के आन्तरिक मतभेद को फूट का बीज समझकर दमन करने में शेर हो गई, और उसने शीघ्र ही सत्याग्रह आन्दोलन पर सब से भारी वार कर दिया।

२४ फरवरी १९२२ के दिन दिल्ली में महासमिति की बैठक हुई, और १३ मार्च को महात्माजी गिरफ्तार कर लिये गए।

अभियोग अहमदाबाद में चला। अभियोग में दो अभियुक्त थे। 'यंग इण्डिया' के सम्पादक की हैसीयत से गान्धीजी, और प्रकाशक की हैसीयत से श्री शंकरलाल बैंकर। दोनों पर 'यंग इण्डिया' के 'राजभक्ति में दखल', 'समस्या और उसका हल' और 'गर्जन-तर्जन' इन तीन लेखों के आधार पर राजद्रोह का अभियोग लगाया

गया था। दोनों सत्याग्रही अभियुक्तों ने यह स्वीकार कर लिया कि वे लेख राजद्रोहात्मक थे, और यह भी मान लिया कि उनकी जिम्मेदारी हम पर है। बात तो साफ हो गई परन्तु सरकार ने अभियोग का ढर्रा पूरा करना आवश्यक समझा, और कई गवाह पेश किये। महात्माजी ने सरकारी वकील द्वारा लगाये गए आरोपों को स्वीकार करते हुए एक विस्तृत बयान दिया, जिसका केवल भारत के ही नहीं, विश्व के राजनीतिक इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। उसमें न केवल महात्माजी ने अपने राजनीतिक जीवन का विस्तृत विश्लेषण किया था, सत्याग्रह सिद्धान्त का विशद विवेचन भी किया था। उस वक्तव्य के अन्तिम शब्द थे :

> "यदि आप लोग (जज और असेसर) हृदय से समझते हैं कि जिस कानून का प्रयोग करने के लिए आपसे कहा गया है वह बुरा है और मैं निर्दोष हूं, तो आप लोग अपने-अपने पदों से त्यागपत्र दे दें और बुराई से अपना सम्बन्ध तोड़ लें; परन्तु यदि आपको विश्वास हो कि जिस कानून का प्रयोग करने में आप सहायता दे रहे हैं, वह वास्तव में इस देश की जनता के मंगल के लिए है और मेरा आचरण लोगों के अहित के लिए है तो मुझे कड़े-से-कड़ा दण्ड दें।"

जज ने दूसरे विकल्प को स्वीकार करते हुए गान्धीजी को ६ वर्ष के कारावास का दण्ड दिया। दण्ड देते हुए जज ने लोकमान्य तिलक का दृष्टान्त दिया, जिन्हें भी राजद्रोह के अभियोग में छः साल की सजा दी गई थी।

देश ने इस दण्ड के समाचार को ऐसे सुना जैसे किसी पहले सुनी हुई बात को सुनते हैं। कहीं कोई उपद्रव या विशेष विक्षोभ नहीं हुआ। सारा देश, जो फरवरी के आरम्भ में आवेश की चोटी पर पहुंचा हुआ दिखाई देता था, मार्च के अन्त में शान्ति के भूतल पर बैठा प्रतीत होने लगा। मानो घोर परिश्रम से थककर शरीर विश्राम के लिए लेट गया हो।

: ४२ :

साम्प्रदायिक उपद्रव

हिन्दू-मुस्लिम एकता का महात्मा गान्धी के कार्यक्रम में बहुत ऊंचा और आवश्यक स्थान था। दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह-संग्राम में प्रवासी भारतीय मुसलमानों को महात्माजी ने सदा अपने साथ रखा। इस आधार पर उन्हें वहां के अनेक हिन्दू कार्यकर्ताओं का विरोध भी सहना पड़ा, परन्तु उन्होंने उसकी परवाह नहीं की, और हिन्दू-मुस्लिम एकता के सिद्धान्त पर जमे रहे।

भारत आकर, राजनीति की बागडोर हाथ में लेने पर, महात्माजी ने अपनी कार्यनीति का प्रयोग करने में देर नहीं लगाई। पहले उन्होंने कांग्रेस-लीग समझौता

कराने में पूरा सहयोग दिया, फिर असहयोग-आन्दोलन का नेतृत्व संभालने पर स्वराज्य की मांग के साथ खिलाफत को भी जोड़ दिया। महात्माजी का विश्वास था कि जब तक हिन्दू और मुसलमान एक दिल होकर देश की स्वाधीनता के लिए प्रयत्न न करेंगे, देश का अंग्रेजों की गुलामी से निकलना असम्भव है। खिलाफत को गान्धीजी मुसलमानों की गौ कहा करते थे। वह कहते थे "मैं मुसलमानों की खिलाफत की रक्षा करूंगा तो मुसलमान गौ की रक्षा करने में मेरे सहायक होंगे।" इस प्रकार वह हिन्दुओं के प्रेम और हार्दिक सहयोग के बल से भारत के मुसलमानों को स्वराज्य-संग्राम में अपना साथी बनाना चाहते थे।

इधर, अंग्रेजी सरकार ने, १८८५ में, कांग्रेस की स्थापना होने के साथ ही यह नीति निर्धारित कर ली थी कि हिन्दुओं के राजनीतिक आन्दोलन का उत्तर हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट उत्पन्न करके दिया जाय। उस समय हिन्दुओं में शिक्षा का प्रचार अधिक था, इस कारण उनमें राजनीतिक जागृति शीघ्र हुई। अंग्रेजों ने यह निश्चय किया कि मुसलमानों के हृदयों में हिन्दुओं के शक्ति-सम्पन्न होने का डर पैदा करके, उन्हें अंग्रेजी राज्य का सहायक बनाया जाय। सर सैयद अहमद का अलीगढ़ कालेज और धारासभाओं तथा नौकरियों में मुसलमानों को विशेष अधिकार देने की योजना सरकार की उसी भेद-नीति के स्थूल परिणाम थे।

बीसवीं सदी के आरम्भ में परिस्थिति यह हो गई थी कि सरकार और कांग्रेस दोनों मुसलमानों को अपनाने के प्रयत्न में लगे हुए थे। चतुर मुसलमान राजनीतिज्ञ परिस्थिति को भली प्रकार अनुभव करने लगे थे, और उससे यथासम्भव लाभ उठाने की चेष्टा कर रहे थे। उसी चेष्टा का परिणाम था कि लखनऊ में कांग्रेस और मुस्लिम लीग में जो पैक्ट हुआ, उसमें रियायत के तौर पर कांग्रेस ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। दोनों ओर से रियायतें पाकर मुसलमान सन्तुष्ट थे। लेकिन पहले महायुद्ध की समाप्ति पर टर्की के पराजय और खिलाफत के अन्त ने भारतीय मुसलमानों के बड़े भाग को अंग्रेजी सरकार का विरोधी और कांग्रेस का समर्थक बना दिया।

असहयोग-आन्दोलन में कई मुसलमानों ने आगे बढ़कर हिस्सा लिया; परन्तु १९२२ के मार्च मास में, महात्माजी के कारागार में पहुंच जाने पर, आन्दोलन की आंधी रुक गई, और देश पर उदासी छा गई। उस शिथिलता के समय देश में एक नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई, जिसने सोई हुई साम्प्रदायिकता को पहले से भी अधिक उग्र रूप में खड़ा कर दिया। देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में, साम्प्रदायिक उपद्रव होने लगे। ये उपद्रव असहयोग-युग से पहले होनेवाले उपद्रवों से कहीं अधिक भयानक और रक्तपूर्ण थे। इसके अन्य कारणों में से एक यह भी था कि खिलाफत आन्दोलन ने कांग्रेस की सहायता प्राप्त करके, मुसलमानों को असाधारण रूप से संगठित कर दिया था। उनकी हिम्मत और शक्ति दोनों में वृद्धि हुई थी, उधर खिलाफत की समस्या शान्त होती जा रही थी। खिलाफत को बनाना-बिगाड़ना

केवल अंग्रेजों के हाथ की बात नहीं रह गई थी, वह अब सारे मित्र-राष्ट्र के अधिकार का विषय हो गया था।

साम्प्रदायिक उपद्रव का पहला झटका दक्षिण के मलाबार प्रदेश में लगा। अन्य स्थानों की भांति मलाबार के निवासी मोपला मुसलमानों में भी खिलाफत के आन्दोलन ने जोर पकड़ा परन्तु मोपला लोग सत्याग्रह के अहिंसा-सिद्धान्त से अपरिचित थे। जब वहां खिलाफत का जोश बढ़ने लगा "तब सरकार ने इन ताल्लुकों में दफा १४४ लगा दी। अगस्त आते-आते रंग-ढंग ही बदल गया और मोपलों ने, जो अपने मुल्लाओं पर मस्जिदों में पुलिस द्वारा किये गए अपमान से क्षुब्ध हो रहे थे, मार-काट आरम्भ कर दी। शीघ्र ही उनकी हिंसा ने सैनिक रूप धारण कर लिया। मोपलों के पास बन्दूकें तो गिनी-चुनी ही थीं, पर तलवारें बहुत-सी थीं। उन्होंने लुक-छिपकर धावे मारने आरम्भ कर दिये। इस काम के लिए वह प्रदेश उपयुक्त भी है। अक्तूबर के महीने में पहले की अपेक्षा अधिक कठोर फौजी कानून जारी किया गया। मोपले सरकारी अफसरों को लूटने और बर्बाद करने के अलावा हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बनाने, लूटने, आग लगाने और हत्याएं करने के भागी बने।" (कांग्रेस इतिहास डा० पट्टाभि कृत)

जो हत्या-कार्य सरकार के विरुद्ध प्रारम्भ हुआ था, वह शीघ्र ही हिन्दुओं के विरुद्ध जिहाद के रूप में परिणत हो गया। मन्दिर तोड़े गए, जबर्दस्ती चोटियां काटकर और सुन्नत करके हिन्दुओं को मुसलमान बनाया गया, और स्त्रियों के अपहरण हुए। यह उपद्रव १९२१ में हुआ।

इसके पश्चात् मुल्तान, कोहाट आदि स्थानों पर, समय-समय पर, साम्प्रदायिक दंगे होते रहे। दंगे आरम्भ किसी कारण से हों परन्तु उनकी समाप्ति हिन्दुओं की दूकानें लूटने, या हिन्दुओं की मार-काट पर होती थी। मुसलमानों का जोश अवसर मिलते ही साम्प्रदायिक उपद्रव के रूप में परिणत हो जाता था।

आगरा-मथुरा के आस-पास कुछ जातियां ऐसी थीं, जिन्हें मूले-मलकाने आदि नामों से पुकारा जाता था। वे लोग किसी समय जाट या गूजर थे। मुसलमान शासकों के राज्यकाल में उन्होंने इस्लाम की दीक्षा ले ली; दीक्षा तो ले ली, परन्तु रीति-रिवाज में हिन्दू ही बने रहे। १९२०-२१ के वर्षों में राजा रामपालसिंह आदि क्षत्रिय नेताओं ने उन लोगों को फिर से हिन्दू धर्म में लाने के लिए शुद्धि सभा की स्थापना की। आर्य-समाज पहले से ही शुद्धि के काम का समर्थक था। फलतः शुद्धि-सभा के संगठन में आर्य-समाजियों की प्रधानता हो गई। मुसलमान प्रचारकों ने शुद्धि के कार्य को इस्लाम पर आक्रमण का नाम देकर शुद्धि पर आक्षेप करने प्रारम्भ कर दिये। शुद्धि के समर्थकों का कहना था कि जैसे इस्लाम को तबलीग करने और ईसाइयों को बप्तिस्मा देने का अधिकार है, वैसे ही हिन्दू धर्म के प्रचारकों को शुद्धि अथवा पुनः प्रवेश करने का पूरा अधिकार होना चाहिए। १९२० के पश्चात् एक ओर मलकानों की शुद्धि का कार्य आरम्भ

हुआ, तो दूसरी ओर मुसलमानों की ओर से यह आन्दोलन खड़ा किया गया कि शुद्धि-सभावाले मुसलमानों को मुर्तद बनाकर भारत की एकता को बिगाड़ रहे हैं।

विचार-संघर्ष की गर्मी बढ़ती जा रही थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि देश के भिन्न-भिन्न स्थानों पर जो उपद्रव होते थे, उनकी उग्रता भी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी। चौरीचौरा की घटना के पश्चात् सत्याग्रह स्थगित होने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि देश का वह एकता का वातावरण, जो उग्र राजनीतिक आन्दोलन का परिणाम था, ठंडा पड़कर साम्प्रदायिक खींचातानी को जगाने का साधन बन गया। उधर खिलाफत का मसला अब उस सीमा पर पहुंच गया था, जहां उसे सुलझाना या खिलाफत की रक्षा करना लगभग असम्भव हो गया था। इन सब कारणों से १९२२ का अन्त होते-होते मुसलमानों का कांग्रेस की ओर झुकाव मन्द पड़ गया। हिन्दुओं की सर्वसम्मत सामाजिक निर्बलता से लाभ उठाकर भिन्न-भिन्न मतों के प्रचारक, जो सस्ती फसल काटने के अभ्यासी थे, विक्षुब्ध होकर, शुद्धि पर रोक लगाने के नाम पर हंगामा करने पर उतारू हो गए। इस प्रकार शुद्धि आन्दोलन कुछ सामयिक घटनाओं का स्वाभाविक परिणाम होने के साथ-साथ नये घटनाचक्र को उत्पन्न करने का कारण भी बन गया।

: ४३ :

स्वराज्य पार्टी का जन्म

सत्याग्रह के स्थगित होने, और महात्माजी के कारागार में बन्द हो जाने का दूसरा गम्भीर परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस के नेताओं में विचारों की वे दो धाराएं, जो महात्माजी के प्रभाव से एक होकर चलने लगी थीं, फिर भिन्न रूप में प्रकट होने लगीं। ज्योंही महात्माजी जेल गये, वे लोग, जो सिद्धान्त रूप से पूरे असहयोग में विश्वास नहीं रखते थे, उभर आये और कांग्रेस के कार्यक्रम में परिवर्तन की मांग करने लगे। वे नेता, जो महात्माजी के नेतृत्व में पूर्ण विश्वास रखते थे, अब भी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते थे, परन्तु कुछ नेता, जिनमें से पं० मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु चितरंजन दास प्रमुख थे, कार्यक्रम में परिवर्तन करना आवश्यक मानते थे। विचारों का यह आघात-प्रतिघात अन्दर-ही-अन्दर चल रहा था कि १९२२ के अन्त में गया में कांग्रेस के अधिवेशन का अवसर आ पहुंचा।

१९२२ में वर्ष-भर जो घटनाएं घटित हुईं, उनसे देश के वातावरण में एक किंकर्त्तव्यविमूढ़ता-सी छा गई थी। इधर साम्प्रदायिक दंगों का सिलसिला चलता रहा, और उधर सरकार की दमन-नीति की तलवार की धार अधिक तेज होती गई। पं० जवाहरलाल नेहरू राजनीति में प्रवेश करने के पश्चात् इस तेजी से आगे बढ़ रहे थे कि पांच-छः वर्षों में ही भारत सरकार उनकी और देश के पुराने नेताओं के

बराबर ही ध्यान देने लगी थी। मई के महीने में युवराज के स्वागत का बहिष्कार करने के सिलसिले में अन्य नेताओं की भांति वह भी गिरफ्तार किये गए, और दण्डित हुए। उस अभियोग के अवसर पर जवाहरलालजी ने एक लम्बा वक्तव्य दिया, जिसे उनके आत्मचरित का सबसे पहला खण्ड कहा जा सकता है। उन्होंने उसमें बतलाया कि १० वर्ष पहले वह हैरो और कैम्ब्रिज में शिक्षा पाकर किस तरह अंग्रेज बन गए थे, और फिर सरकार की अन्यायपूर्ण नीति ने उन्हें किस प्रकार विद्रोही बना दिया। अन्त में उन्होंने कहा :

"मुझे अपने सौभाग्य पर स्वयं ही आश्चर्य होता है। स्वतंत्रता के युद्ध में भारत की सेवा करना बड़े सौभाग्य की बात है, और यदि वह सेवा महात्मा गान्धी-जैसे महापुरुष के नेतृत्व में करने का अवसर मिले तो उसे दुगुना सौभाग्य मानता हूं। यदि देश की सेवा में किसी भारतीय के प्राण भी चले जायं तो उससे बढ़कर सौभाग्य हो ही क्या सकता है।"

नेहरूजी के इस अभियोग के सम्बन्ध में यह बात बहुत ही मनोरंजक थी कि वह असहयोग के प्रचार के अभियोग में दण्ड भुगतकर आये ही थे, कि "धमकाने और रुपया वसूल करने का" नया अभियोग लगाकर उन्हें तुरन्त ही फिर जेल में भेज दिया गया।

ऐसे ही वातावरण में, गया में, कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। जो नेता कांग्रेस के कार्यक्रम में परिवर्तन के पक्षपाती थे उन्हें 'परिवर्तनवादी' और विरोधियों को 'अपरिवर्तनवादी' नाम से पुकारा जा रहा था। परिवर्तनवादी असहयोग के शेष सारे कार्यक्रम को स्वीकार करते हुए भी यह चाहते थे कि धारा सभाओं के चुनाव लड़कर सरकार के कानून बनाने के यंत्र पर अधिकार कर लिया जाय। अपरिवर्तनवादी लोग कौंसिल-प्रवेश को न केवल व्यर्थ अपितु एक प्रकार का पाप या अपराध मानते थे।

चौराचौरी की घटना के कारण सत्याग्रह को स्थगित करने के लिए कांग्रेस कार्यसमिति की जो बैठक हुई थी, उसमें सत्याग्रह को स्थगित करते हुए रचनात्मक कार्यक्रम की योजना देश के सामने रखी गई थी। रचनात्मक कार्यक्रम के मुख्य-मुख्य भाग निम्नलिखित थे :

(१) कांग्रेस के एक करोड़ सदस्य बनाये जायं;
(२) चरखे का तथा खद्दर का प्रचार किया जाय;
(३) राष्ट्रीय विद्यालय खोले जायं;
(४) शराब पीने का निषेध किया जाय; और
(५) ग्रामों में पंचायतें बनाई जायं।

उसी कार्यसमिति ने यह भी निश्चय किया कि सत्याग्रह के कारण जिन प्रदेशों में किसानों ने कर देना बन्द कर दिया था वे पिछड़ी हुई कर की राशि स्वयं सरकार में पहुंचा दें। इस प्रकार हम देखते हैं कि देश की परिस्थितियों ने सभी विचारशील नेताओं और कार्यकर्ताओं को थोड़े-बहुत परिवर्तन के पक्ष में विचार करने

के लिए बाध्य कर दिया था। भेद था तो केवल परिवर्तन की मात्रा और प्रकार में। वस्तुतः परिवर्तन का विरोधी कोई भी नहीं था, तो भी, क्योंकि व्यवहार की दुनिया में पारिभाषिक शब्दों की रचना केवल तर्क या हेतुवाद पर नहीं होती, आकस्मिक कारणों से होती है, उस समय केवल वे ही लोग परिवर्तनवादी कहलाये जो धारा-सभाओं पर कब्जा करने के पक्ष में थे।

गया की कांग्रेस के अध्यक्ष देशबन्धु चित्तरंजन दास थे। वह धारासभाओं पर अधिकार जमाने के कट्टर समर्थक थे। वह और पं० मोतीलाल नेहरू ही कौंसिल-प्रवेश की नीति के मुख्य उद्भावक थे। देशबन्धु का प्रारम्भिक भाषण उद्भट योग्यता और ऊंचे दर्जे की तर्क-शैली का बढ़िया नमूना था। उसमें उन्होंने कौंसिलों की अंग्रेजी सरकार के गढ़ से उपमा देते हुए बतलाया था कि कौंसिलों की कुर्सियों पर कब्जा करके सरकार के गढ़ को तोड़ना अत्यन्त आवश्यक है; धारा-सभाओं में घुसकर विरोध द्वारा सरकार से असहयोग करना भी असहयोग का ही एक अंग है।

देशबन्धु का भाषण खूब जोरदार और प्रभावशाली था। परन्तु कौंसिल-प्रवेश के विरोधी भी कुछ कम जोरदार या प्रभावहीन नहीं थे। श्री राजगोपालाचार्य की कैंची की भांति सीधी और प्रतिपक्षी की युक्तियों को काटनेवाली चमत्कारपूर्ण वकालत पहले-पहल गया में ही देशवासियों के सामने प्रकट हुई। कौंसिल-प्रवेश के दूसरे प्रतिपक्षी थे, सरदार पटेल। जब वह खड़े होकर दृढ़ और गम्भीर वाणी में घोषणा करते थे कि "यदि देश को स्वतन्त्र कराना है तो पहले कौंसिल-प्रवेश की चर्चा को कूड़ा-करकट की तरह आंगन से बाहर फेंक देना होगा," तो कौंसिल-प्रवेश के समर्थकों के दिल दहल जाते थे। सबको विश्वास हो चुका था कि सरदार जो कुछ कहते हैं, उसे करके रहेंगे, बारडोली के सरदार के लिए कुछ असम्भव नहीं था।

तीसरे विरोधी थे बिहार के अनन्य नेता बा० राजेन्द्रप्रसाद। उनकी सरल तपोमयी मूर्ति और अटल विश्वास-भरी वाणी श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर देती थी। ऐसे यशस्वी और प्रभावशाली तीन विरोधी ही पर्याप्त थे, फिर उन सबकी पृष्ठभूमि पर कारागार में बन्द वह जो महात्मा गान्धी की मूर्त्ति खड़ी थी, उसके आगे किसी की क्या चल सकती थी! फलतः कांग्रेस के अधिवेशन में कौंसिल-प्रवेश का प्रस्ताव स्वीकार न हो सका।

परन्तु दास और नेहरू इतनी असफलता से निराश होनेवाले नहीं थे। उन्होंने गया में ही कांग्रेस से अलग स्वराज्य पार्टी के संगठन की घोषणा कर दी, और सैकड़ों प्रभावशाली कांग्रेसियों को उसका सदस्य बना लिया। प्रायः सभी प्रान्तों के थोड़े-बहुत प्रभावशाली नेता नये दल में सम्मिलित हो गए। इसके पश्चात् जब तक कांग्रेस ने स्वयं धारासभाओं का चुनाव लड़ना स्वीकार नहीं कर लिया, स्वराज्य पार्टी ही कांग्रेस के विधान सभा-सम्बन्धी विभाग का काम करती रही। देशबन्धु दास ने स्वयं वैधानिक कार्य के लिए बंगाल को चुना। सार्वदेशिक नेतृत्व पं० मोतीलालजी ने संभाला।

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले उन वर्षों के एक विशेष आन्दोलन की चर्चा कर देना आवश्यक है। वह था पंजाब का गुरुद्वारा आन्दोलन, जो अन्त में अकाली-आन्दोलन के रूप में परिणत हो गया।

गुरुद्वारा आन्दोलन का उग्र प्रारम्भ छोटी-सी घटना से हुआ। 'गुरु के बाग' के अहाते के एक पेड़ की कटाई पर विवाद छिड़ गया। गुरुद्वारा कमेटी उस पर अपना अधिकार मानती थी। कुछ अकालियों ने उसे सिख जाति की सम्पत्ति समझकर काट दिया। यह घटना उस आन्दोलन का परिणाम थी जो कुछ वर्षों से अकालियों और उदासी साधुओं के शिष्यों में चल रहा था। अकाली अपने-आपको हिन्दुओं से अलग एक सम्प्रदाय मानते थे, और उदासी साधुओं के अनुयायी, जो नामधारी कहे जाते थे, हिन्दुओं से मिलते-जुलते थे। बड़े-बड़े सब गुरुद्वारे उदासियों के हाथों में थे, अकालियों की मांग थी कि गुरुद्वारों पर साधुओं का नहीं, सिख जाति का अधिकार होना चाहिए। इस आधार पर स्थान-स्थान पर छोटे-मोटे संघर्ष होते रहते थे। पुलिस प्रायः उदासी साधुओं का साथ देती थी, क्योंकि कानून के सामने वही वास्तविक अधिकारी माना जाता है, जो अधिकारारूढ़ हो।

गुरु के बाग के मामले ने शीघ्र ही बहुत प्रचण्ड रूप धारण कर लिया। पंजाब-भर से अकालियों के जत्थे बाग में पहुंचकर सत्याग्रह करने लगे, और उन पर पुलिस की ओर से बेहिसाब लाठी-प्रहार तथा अन्य अत्याचार होने लगे। कांग्रेस की और देश की प्रजा ने सामान्य रूप से अकालियों के साथ सहानुभूति प्रकट की, और राष्ट्रीय विचार के समाचारपत्रों ने महन्तों की अनधिकार चेष्टा और पुलिस की कठोरताओं की भरपूर निन्दा की। इस प्रकार जो प्रारम्भ में सिक्खों का आन्तरिक झगड़ा था, वह सरकार के बीच में पड़ने से राष्ट्रीय मोर्चे के रूप में परिणत हो गया।

अकालियों के मोर्चे ने आगे चलकर कई रूप धारण किये। सरकार ने लम्बी कृपाण रखना जुर्म करार दे दिया, इसके विरुद्ध सत्याग्रह हुआ। नाभा में अकालियों के अखण्ड पाठ पर रोक लगा दी गई। उस पर जैतो का मोर्चा चालू हो गया। देश-भर में अकालियों के आन्दोलन के प्रति सहानुभूति की ऐसी जोरदार लहर शुरू हो गई कि उनके मोर्चे पर पहुंचकर स्वा० श्रद्धानन्दजी, डा० चौइथराम गिडवानी, डा० किचलू, और पं० जवाहरलाल नेहरू आदि अनेक नेता गिरफ्तार हुए, और उनमें से कइयों को जेल की लम्बी-लम्बी सजाएं भी भोगनी पड़ीं।

: ४४ :

२१ दिन का उपवास

यों तो १९२२ से १९२६ तक के ४ वर्षों में देश में बहुत-सी ऐसी राजनीतिक और सामाजिक घटनाएं हुईं, जिनका भारत के भावी इतिहास पर गहरा असर पड़ा, परन्तु उन सब से अधिक गम्भीर और अधिक महत्वपूर्ण घटनाचक्र वह था, जिसका हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ा। हिन्दू-मुसलमानों के उपद्रव, सुलह के प्रयत्न, और समझौते की शर्तों का उस समय के राजनीतिक निश्चयों और भावी समझौतों पर जो गहरा और स्थायी प्रभाव हुआ, उसके सामने स्वराज्य पार्टी की स्थापना और रचनात्मक कार्यक्रम भी गौण प्रतीत होते हैं।

मोपला, मुल्तान और कोहाट के दंगों की संक्षिप्त चर्चा पहले की जा चुकी है। उनके पश्चात् भी दंगों का सिलसिला निरन्तर जारी रहा। गुलबर्गा, नागपुर, लखनऊ, शाहजहांपुर, इलाहाबाद, जबलपुर और दिल्ली-जैसे बड़े शहरों में कांग्रेस के तथा अन्य नेताओं के शान्ति-प्रयत्नों के होते हुए भी, दंगों का बराबर होते जाना इस बात का प्रमाण था कि रोग काफ़ी गहरा है; वह आकस्मिक नहीं है, अपितु कुछ कारणों और प्रवृत्तियों का परिणाम है।

गान्धीजी जेल में बीमार रहने लगे। सरकारी डाक्टरों ने शरीर-परीक्षा करके यह सम्मति दी कि अपेंडिसाइटिस का आपरेशन हुए बिना रोग से छुटकारा नहीं मिल सकता। १२ जनवरी १९२४ को रोग का भयंकर आक्रमण होने पर अंग्रेज डाक्टर कर्नल मैडाक ने आपरेशन कर दिया, जो पूर्णरूप से सफल हुआ। कुछ स्वस्थ हो जाने पर ५ फरवरी को महात्माजी समय से पूर्व ही जेल से मुक्त कर दिये गए।

जेल से मुक्त होकर विश्राम-द्वारा स्वास्थ्य लाभ करने के लिए कुछ समय तक महात्माजी, बम्बई के समीप जुहू के एक बंगले में ठहरे। वहां उनके सामने देश की परिस्थिति का जो चित्र प्रस्तुत किया गया, वह काफी अन्धकारमय था। उनका राजनीतिक आदर्शवाद बहुत पीछे धकेल दिया गया था यद्यपि कांग्रेस ने कौंसिल-प्रवेश के कार्यक्रम को नहीं अपनाया था, तथापि देश के अधिकतर राष्ट्रीय कार्य-कर्ताओं ने उसे स्वीकार कर लिया था। सत्याग्रह और असहयोग की तत्कालीन असफलता से जो उदासी छा गई थी, कौंसिलों पर अधिकार जमाने की आशा ने उसे बहुत कुछ दूर कर दिया था।

एक ओर गान्धीजी के आदर्शों पर अवसरवादिता की धुन्ध फैलती प्रतीत होती थी तो दूसरी ओर निरन्तर होनेवाले साम्प्रदायिक दंगों से राष्ट्रीयता का सारा भवन ही हिलता दिखाई देता था। महात्माजी के जेल से मुक्त होकर जुहू पहुंचने का समाचार पाते ही देश के सब प्रान्तों से उनके सहयोगी तथा अनुयायी उनके

दर्शनों के लिए और परिस्थिति के सम्बन्ध में परामर्श करने के लिए बम्बई की ओर रवाना होने लगे। एक सप्ताह के अन्दर जुहू का समुद्रतट मानो भारत का सबसे बड़ा तीर्थस्थान बन गया।

जो लोग जुहू पहुंचे, उनमें अली बन्धु भी थे। अन्य भी अनेक मुस्लिम नेताओं ने महात्माजी से मिलकर यह शिकायत की कि देश में जो साम्प्रदायिक दंगे हो रहे हैं, उनका मुख्य कारण आर्य-समाज और उसका चलाया हुआ शुद्धि आन्दोलन है। महात्माजी साम्प्रदायिक परिस्थिति से इतने अधिक विक्षुब्ध थे कि उन्होंने 'यंग इण्डिया' में हिन्दू-मुस्लिम एकता पर एक बहुत लम्बा लेख लिखा। महात्माजी ने अपने लेख में उपद्रवों के लिए शुद्धि को, आर्य-समाज और इन आन्दोलनों से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियों को काफ़ी ज़ोरदार लताड़ दी। उनकी भावना यह रही होगी कि मुसलमान नेता अपने अनुयायियों को डांट-डपट देंगे। महात्माजी ने जिस भावना से लेख लिखा था, वह पूरी न हुई, क्योंकि लताड़ एकतरफा रह गई, और उपद्रव बन्द होने की जगह अधिक तीव्र और विषैले होते गए।

१९२४ में जो दंगा ईद के अवसर पर दिल्ली में हुआ, उसका रूप बहुत बीभत्स बन गया, और राजधानी में होने के कारण उसका महत्व भी बहुत था। स्थानीय अधिकारियों ने, सदर बाजार के मुसलमानों को पहाड़ीधीरज के मुख्य रास्ते से, कुर्बानी के लिए सजी हुई गाय ले जाने की आज्ञा दे दी। पहले कभी उस रास्ते से कुर्बानी की गाय नहीं ले जाई गई थी। इस पर पहाड़ीधीरज के हिन्दुओं ने आपत्ति की। दोनों ओर से खींचा-तानी इतनी बढ़ गई कि उपद्रव का होना निश्चित-सा प्रतीत हो रहा था। ऐसे वातावरण में ईद के दिन, मुसलमानों के लगभग १० हजार व्यक्तियों का जुलूस पुलिस के संरक्षण में सजी हुई गाय को लेकर पहाड़ीधीरज से निकल रहा था कि कुछ हिन्दुओं ने लाठियों से उस पर आक्रमण कर दिया। जुलूस तितर-बितर होकर सदर के गली-कूचों में फैल गया। पुलिस परिस्थिति को संभाल न सकी। गली-कूचों में बाजार से भागी हुई भीड़ ने ऐसा उत्पात मचाया कि कई हिन्दू मारे गए, बीसियों घायल हुए, और थोड़ी-बहुत चोटें तो सैकड़ों को लगीं।

दंगा हो चुका तो सरकार के कल-पुर्जे जोर से हिलने लगे। कुछ हिन्दू और बहुत-से मुसलमान पकड़ लिये गए, और उन पर दंगा, फिसाद और हत्या के अभियोग चलाये गए। यों तो सारा राष्ट्र तिलमिला उठा, परन्तु सब से अधिक व्यथा महात्माजी को हुई, जिनकी आशाओं के महल का सबसे अधिक महत्वपूर्ण खम्भा —हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य—आमूलचूल डोल गया था।

महात्माजी की मनोव्यथा उन्हें दिल्ली खींच लायी। महात्माजी के दिल्ली आने और उपवास करने का वृत्तान्त कांग्रेस के इतिहास के लेखक डा० पट्टाभि के शब्दों में इस प्रकार है:

"दंगों के कारण और परिस्थितियों के सम्बन्ध में गान्धीजी और मौलाना शौकत अली की एक कमेटी नियुक्त की गई। दोनों ने रिपोर्ट पेश की,

पर दुर्भाग्य से दोनों का इस विषय में मतभेद था, कि दंगों की जिम्मेदारी किस पर है. . . . । दंगे के फौरन बाद ही कोहाट के भ्रातृ स्कूल के हैड मास्टर ला० नन्दलाल ने जो रिपोर्ट लिखी, और जिसे कोहाट दंगा पीड़ित सहायक समिति ने प्रकाशित किया, उसे पढ़ने पर अब भी शरीर में रोमांच हो जाता है। हम इससे अधिक कुछ नहीं कह सकते कि ९ और १० सितम्बर को गोलीकाण्ड और कत्लेआम के बाद एक स्पेशल ट्रेन ४००० हिन्दुओं को सवार कराकर ले गई। इनमें से २६०० व्यक्ति दो महीने बाद तक रावलपिण्डी की जनता की और अन्य स्थानों की जनता की दानशीलता पर जीते रहे। ऐसी दशा में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि गान्धीजी ने उपवास का व्रत लिया। इस क्रोधोन्माद और हत्या-प्रवृत्ति का जिम्मेदार उन्होंने अपने-आपको ठहराया, और उपवास के द्वारा अपने पाप का प्रायश्चित करने का निश्चय किया। अभी अपेण्डिसाइटिस के भयंकर और लगभग सांघातिक प्रकोप से निकले उन्हें अधिक दिन नहीं हुए थे। अतः यह उनके लिए अग्नि-परीक्षा थी। गान्धीजी ने मौलाना मुहम्मद अली के मकान पर (दिल्ली में) व्रत आरम्भ किया; पर बाद में उन्हें शहर के बाहर एक मकान में ले जाया गया। इस अवसर से लाभ उठाकर सारी जातियों के नेताओं को एकत्र किया गया। कलकत्ते के बड़े पादरी भी शरीक हुए। यह एकता-परिषद् २६ सितम्बर से २ अक्तूबर १९२४ तक होती रही। परिषद् के सदस्यों ने प्रतिज्ञा की कि वे धर्म और मत की स्वतंत्रता के सिद्धान्त का पालन कराने का अधिक-से-अधिक प्रयत्न करेंगे, और उत्तेजना मिलने पर भी इनके विरुद्ध किये गए आचरण की निन्दा करने में कोई कसर न रखेंगे। एक केन्द्रीय पंचायत बनाई गई, जिसके संयोजक और अध्यक्ष गान्धीजी हुए, और हकीम अजमल खां, ला० लाजपतराय, श्री के० एफ० नरीमन, श्री एस० के० दत्त, और लायलपुर के मास्टर सुन्दरसिंह सदस्य हुए। परिषद् ने धार्मिक सिद्धान्तों को मानने, धार्मिक विचारों को प्रकट करने, और गोवध तथा मस्जिदों के आगे बाजा बजाने, धार्मिक रीति-रिवाजों के पालन करने और धर्मस्थानों की पवित्रता का ध्यान रखने आदि के सम्बन्ध में सबका समान अधिकार माना, पर साथ ही उनकी मर्यादाओं का भी निदर्शन किया। अखबारों को चेतावनी दी कि वे साम्प्रदायिक मामलों पर समझ-बूझकर लिखा करें और जनता से अनुरोध किया कि गान्धीजी के उपवास के अन्तिम सप्ताह में देश-भर से प्रार्थना की जाय। ८ अक्तूबर सभाओं द्वारा ईश्वर को धन्यवाद देने के लिए नियुक्त किया गया।"

इस प्रकार शाब्दिक सफलता के साथ महात्माजी के उपवास और एकता-सम्मेलन की समाप्ति हुई। समय ने बतलाया कि उस सफलता में सार नहीं था। उस युग में हिन्दू-मुसलमानों की एकता स्थापित करने के लिए स्वयं महात्माजी या उनके निर्देश के अनुसार अन्य कांग्रेसी लोग, जो यत्न करते थे, उसकी एक विशेषता

यह होती थी कि प्रत्येक उपद्रव में असली दोषी को दोषी ठहराने का प्रयत्न न करके दोनों पक्षों को बराबर रखने का यत्न किया जाता था। यदि गोवध का प्रश्न उठाया जाता तो मस्जिद के सामने बाजे की समस्या साथ नत्थी कर दी जाती थी। यदि मजहबी जोश भड़काने या जिहाद के प्रचार की शिकायत की जाती तो उत्तर मिलता था कि हिन्दू भी तो शुद्धि करते हैं। फिसाद किसकी ओर से आरम्भ हुआ, इस प्रश्न को गौण बनाकर प्रमुखता इस बात को दी जाती थी, कि कुछ-न-कुछ तो दोनों ओर से हुआ है। नाराजगी के भय से मुसलमानों के उत्तरदायित्व को यथासम्भव हल्का करने का प्रयत्न किया जाता था। ऐसी विचार-पद्धति से यह अवश्य सूचित होता है कि महात्माजी और उनके साथी इतने उदार थे कि वे अपराध का बोझ सदा अपने पलड़े में डालने को तैयार रहते थे; परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि वह विचारशैली न्यायपूर्ण नहीं थी, इसी कारण रोग का ठीक इलाज न हो सका। रोग था धर्मान्धता का और इलाज हो रहा था नैतिक। दवा रोग की जड़ को नहीं छूती थी।

एकता-सम्मेलन के कई मास पीछे, १९२५ के मई मास में, हिन्दू-मुस्लिम समस्या के सम्बन्ध में कलकत्ते के मिर्जापुर पार्क में भाषण देते हुए गान्धीजी ने स्वयं कहा था: "यदि खून-खराबी अनिवार्य ही है, तो मर्दानगी के साथ करो, सहानुभूति या भावुकता की आड़ लेने की क्या जरूरत है?"

> "मानो इस वक्तव्य को ईश्वर की प्रेरणा सिद्ध करने के लिए ही कलकत्ते में एक मस्जिद के बाहर मुसलमानों और आर्य-समाजियों की मुठभेड़ से दंगा आरम्भ हो गया और ५ अप्रैल को पुलिस को गोली चलानी पड़ी। जगह-जगह सड़कों पर दंगे हुए। ११० जगह आग लगाई गई, मन्दिरों और मस्जिदों पर हमला किया गया। सरकारी बयान के अनुसार पहली मुठभेड़ में ४४ आदमी मरे, और ५८४ घायल हुए, और दूसरी मुठभेड़ में ६६ मरे और ३९१ घायल हुए।" (कांग्रेस का इतिहास)।

हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयत्न इसी ऊबड़-खाबड़ ढंग पर चलता रहा, परन्तु न जाने कैसे राष्ट्र के कुछ नेता उस प्रयत्न से सन्तुष्ट होते रहे, जब तक कि एक भयानक विस्फोट ने उसकी निःसारता को सिद्ध नहीं कर दिया। १९२६ के अन्तिम सप्ताह में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन गौहाटी में होनेवाला था। प्रतिनिधियों ने गौहाटी के मार्ग में जब २४ दिसम्बर के दैनिक पत्रों में यह समाचार पढ़ा कि दिल्ली में स्वामी श्रद्धानन्दजी को एक धर्मान्ध मुसलमान ने, रोगशय्या पर लेटे रहने की दशा में, गोली से मार दिया, तब उनको बहुत दुःख-मिश्रित आश्चर्य हुआ, और वह आश्चर्य और भी अधिक बढ़ गया, जब अधिवेशन में उन्हें स्वामीजी का मृत्यु से एक दिन पहले तार द्वारा भेजा गया यह सन्देश सुनाया गया —
"भारत के स्वाधीन होने की आशा केवल हिन्दू-मुस्लिम एकता पर अवलम्बित है।"*

---

*"In Hindu-Muslim unity alone lies India's salvation."

१९२७ में देश-भर में जो साम्प्रदायिक उपद्रव हुए उन्होंने इस बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया कि जब तक दोनों जातियों का राष्ट्रीय दृष्टिकोण एक न होगा तब तक केवल लोपापोती से समस्या सुलझ न सकेगी।

स्वामीजी की कायरतापूर्ण नृशंस हत्या से केवल गौहाटी की कांग्रेस ही नहीं सारा भारत विचलित हो गया। महात्माजी स्वयं इस दुविधा में पड़ गए कि एकता का जो उपाय वह कर रहे हैं, वह ठीक भी है या नहीं? यह स्पष्ट होता जा रहा था कि या तो रोग को समझने में भूल हुई है, अथवा इलाज उलटा हो रहा है।

१९२७ के दंगों का विवरण हम डा० पट्टाभि लिखित कांग्रेस के प्रामाणिक इतिहास से उद्धृत करते हैं:

> "सन् १९२७ की गर्मियों में, अन्य सालों की भांति कोई मार्के का कानून पास नहीं हुआ; लेकिन देश में हिन्दू-मुस्लिम दंगों की बाढ़-सी आ गई। सबसे भीषण दंगा लाहौर में हुआ, जो ३ मई से ७ मई तक होता रहा, और जिसमें २७ व्यक्ति मारे गए, और २७२ घायल हुए। बिहार, मुल्तान, बरेली व नागपुर में भी इसी प्रकार के दंगे हुए। लाहौर के बाद नागपुर का दंगा इन सब में भीषण था, जिसमें १९ व्यक्ति मारे गए, और १२३ घायल हुए।"

अगस्त १९२७ तक देश में २५ बड़े-बड़े उपद्रव हो चुके थे, जिनमें १० युक्त प्रान्त में, ३ बम्बई में, और पंजाब, मध्यप्रान्त, बिहार और दिल्ली प्रत्येक में दो-दो हुए। अगस्त में असेम्बली ने एक कानून द्वारा उपद्रवों को रोकने का यत्न किया, परन्तु उससे भी परिस्थिति पर कोई असर न पड़ा। समाचारपत्रों के विषैले आन्दोलन और उनके फलस्वरूप दंगे बराबर जारी रहे। मानो परिस्थिति की गम्भीरता को देशवासियों के हृदय पर अंकित करने के लिए १९२९ में लाहौर के एक धर्मान्ध मुसलमान ने दिन-दहाड़े महाशय राजपाल की हत्या कर दी।

महाशय राजपाल लाहौर के एक आर्य-समाजी पुस्तक-प्रकाशक थे। उनके यहां से 'रंगीला रसूल' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उस पुस्तक के नाम पर तथा कई अंशों पर मुसलमानों को आपत्ति थी। मुसलमान पत्रों में आन्दोलन हुआ तो सरकार की ओर से प्रकाशक पर अभियोग चलाया गया। अभियोग के सिलसिले में यह मालूम हुआ कि महाशय राजपाल पुस्तक के लेखक नहीं, प्रकाशक हैं। लम्बे मुकदमे के बाद हाईकोर्ट ने महाशय राजपाल को निरपराध करार दे दिया। कानून ने तो छोड़ दिया, परन्तु लाहौर के कुछ मुस्लिम समाचारपत्रों और मौलवियों ने मामले को गर्म बनाये रखा, फलतः ४ अप्रैल १९२९ को दिन के समय इल्मदीन नाम के एक व्यक्ति ने उन पर छुरे से कई संगीन आघात कर दिये जिससे वह अस्पताल जाकर मर गए।

ऐसी घटनाओं से यह स्पष्ट होता जा रहा था कि साम्प्रदायिक रोग वैसा सरल नहीं जैसा कुछ लोग समझ रहे थे। वह बहुत गहरा था। कुछ चतुर लोग साम्प्रदायिक विद्वेष की आग को प्रज्वलित रखना अपने राजनीतिक स्वार्थ को

सिद्धि के लिए आवश्यक समझते थे। संघर्ष केवल भावनाओं का नहीं था, घोर स्वार्थों का था। केवल उपदेश या प्रस्ताव उसे शान्त नहीं कर सकते थे।

: ४५ :

आतंकवाद का पुनर्जन्म

१९२३ के दिसम्बर में दिल्ली में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ, जिसमें एक प्रस्ताव द्वारा स्वराज्य पार्टी को मान्यता दे दी गई। प्रस्ताव के शब्द ये थे—"जिन कांग्रेसवादियों को कौंसिल-प्रवेश के विरुद्ध धार्मिक या अन्य किसी प्रकार की आपत्ति न हो, उन्हें अगले निर्वाचनों में खड़े होने और अपना मत देने के अधिकर का उपयोग करने की आजादी है, इसलिए कौंसिल-प्रवेश के विरुद्ध सारा आन्दोलन बन्द किया जाता है।" यद्यपि महात्माजी उस समय जेल में थे तो भी इस समाचार ने कांग्रेस की विचारधारा पर पर्याप्त असर डाला कि महात्मा जी स्वराज्य पार्टी का विरोध करना उचित नहीं समझते।

कांग्रेस का अगला अधिवेशन कोकीनाडा में हुआ। उसके कार्यक्रम-सम्बन्धी प्रस्तावों का सारांश मुख्य प्रस्ताव की इन प्रारम्भिक पंक्तियों से प्रकट होता है: "यह कांग्रेस कलकत्ता, नागपुर, अहमदाबाद, गया और दिल्ली में पास किये गए प्रस्तावों को फिर दोहराती है।" इन शब्दों का अभिप्राय यह था कि जहां कांग्रेस अपनी असहयोग-सम्बन्धी नीति पर सिद्धान्त रूप से दृढ़ है, वहां व्यवहार में स्वराज्य पार्टी को आशीर्वाद देती है।

चुनाव में स्वराज्य पार्टी को बहुत सफलता मिली। सबसे अधिक सफलता केन्द्रीय धारासभा में हुई, जहां चुने हुए सदस्यों में उनका स्पष्ट बहुमत था। यदि सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य न होते तो सारी कौंसिल में स्वराज्य पार्टी का बहुमत हो जाता, और सरकार एक भी मनमाना काम न कर सकती। परन्तु मनोनीति सरकारी और स्वतन्त्र सदस्य मिलकर संख्या में स्वराज्य पार्टी के सदस्यों से अधिक हो जाते थे। फिर भी उन दिनों पं० मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में, स्वराज्य पार्टी ने विरोधी दल के रूप में, जो कार्य किया, उससे देशवासियों को बड़ा उत्साह मिला था। कौंसिल में पहुंचकर पं० मोतीलाल की तीखी प्रतिभा, उनकी कानूनी योग्यता और विरोधियों को भी जीत लेनेवाली हंसी देश के बहुत काम आई। सरकारी



मोतीलाल नेहरू

सदस्य विरोधी पार्टी के उस शाही नेता की आंखों पर दृष्टि लगाये रहते थे। उन्हें डर लगा रहता था कि यह सफेद रंग, सफेद कपड़े, और सफेद हंसीवाला जादूगर न जाने कब सदस्यों का जोड़-तोड़ करके वोटों से सरकार को परास्त कर देगा, और वायसराय को वाध्य कर देगा कि वह कौंसिल द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव पर 'वीटो' (निषेधात्मक आज्ञा) और अस्वीकृत प्रस्ताव पर 'सर्टिफिकेशन' (स्वीकारात्मक आज्ञा) लगाकर संसार के सामने उपहासास्पद बने। सरकार को स्वराज्य पार्टी ने राजनीतिक कैदियों को छोड़ने, रैगुलेशन १८१८ की धारा ३ को रद्द करने-सम्बन्धी प्रस्तावों पर करारी हार दी; परन्तु संविधान ऐसा था कि वह हार केवल शब्दों की हार रही। कौंसिल के निश्चयों पर कार्रवाई करना या न करना सरकार की इच्छा पर था।

प्रान्तों में स्वराज्य-दल का बहुमत न होने से कोई उल्लेखनीय प्रदर्शन न हो सके; फिर भी कौंसिलों में लोकमत प्रकाशित होता रहा, जिससे देश में राजनीतिक अशान्ति की आग सुलगती रही।

देश की परिस्थिति शान्त हुए ज्वालामुखी पर्वत की-सी हो रही थी। ऊपर से शान्ति थी, परन्तु भीतर-ही-भीतर लावा खौल रहा था। स्वराज्य-दल के लोग कौंसिलों में सरकारी दीवारों की मिट्टी कुरेद रहे थे, महात्माजी रचनात्मक कार्यक्रम के सिलसिले में दक्षिण के दौरे पर थे, और आम कांग्रेसी चरखा कातकर अपने जीवन को सफल बना रहे थे; परन्तु भारत की साधारण जनता बुरी तरह दुःखी और बेचैन थी। उसके हृदयों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हो चुकी थी, परन्तु उसे प्रकट होने का अवसर नहीं मिलता था। वह स्वाधीनता के लिए कुर्बानियां करने को उद्यत थी, परन्तु उसको कोई रास्ता सुझाई नहीं देता था। यही कारण था कि शस्त्र-द्वारा स्वाधीनता प्राप्त करने की भावना रखनेवाले वे लोग, जो १९१९ से लेकर १९२४ तक प्रायः शान्त रहे थे, फिर सिर उठाने लगे। १९२४-२५ में आतंकवाद के पुनर्जागरण का मूल कारण यह था कि देश के सामने स्वाधीनता प्राप्त करने का कोई सक्रिय कार्यक्रम नहीं था और देश के नवयुवक स्वाधीनता के लिए उतावले हो रहे थे।

आंतकवाद के इस दौर का आभास तब मिला, जब १९२५ में अंग्रेजी में 'रिव्योल्यूशनरी' (क्रान्तिवादी) नाम का एक पत्र प्रकाशित होने लगा। इस पर्चे में रूस की पद्धति पर, भारत के लिए सशस्त्र क्रान्ति द्वारा, बौल्शेविक सरकार स्थापित करने का समर्थन था। यह पर्चा 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसियेशन' की ओर से प्रचारित किया गया था। यह एसोसियेशन क्रान्तिकारियों के कई दलों का एकीकरण करके बनाई गई थी। इसके मुख्य कार्यकर्ता सर्वश्री योगेशचन्द्र चटर्जी, शचीन्द्रनाथ सान्याल, रामप्रसाद 'बिस्मिल,' सुरेशचन्द्र भट्टाचार्य,


रामप्रसाद 'बिस्मिल'

विष्णुशरण दुबलिस, राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी आदि थे। पीछे से सर्वश्री अशफाकउल्ला और रौशनसिंह भी इस दल में शामिल हो गए। यद्यपि सरकार को स्पष्टरूप से इस एसोसियेशन का पता १९२५ में लगा, परन्तु इसके सदस्यों ने अपनी कार्रवाइयां तो १९२३ से ही आरम्भ कर दी थीं। पहला डाका बिचपुरा में डाला गया। इसमें रामप्रसाद 'बिस्मिल' के साथ रामकृष्ण खत्री और मन्मथनाथ गुप्त भी थे। दूसरा डाका १९२५ के मई मास में द्वारिकापुर में डाला गया। इस शृंखला की आखिरी कड़ी काकोरी की प्रसिद्ध ट्रेन डकैती थी, जिसने गिरोह के बहुत-से सदस्यों को पुलिस के चंगुल में फंसा दिया।

काकोरी लखनऊ से सहारनपुर जानेवाली लाइन पर तीसरा स्टेशन है। वह लखनऊ से आठ मील दूर है। ९ अगस्त १९२५ के सायंकाल लखनऊ से जो ६ डाउन गाड़ी रवाना हुई उसमें रेल के खज़ाने के अतिरिक्त बहुत-सा रुपया भी जा रहा था। खजाने और गाड़ी की रक्षा के लिए गाड़ी में बहुत-से हथियारबन्द गार्ड और गोरे सिपाही भी थे। यह अत्यन्त साहस का काम था कि दल के सदस्यों ने ऐसी सुरक्षित गाड़ी लूटने का निश्चय किया। शाहजहांपुर के स्टेशन पर उनमें से कुछ लोग दूसरे दर्जे के डिब्बे में, और कुछ तीसरे दर्जे के डिब्बे में बैठ गए। जब गाड़ी काकोरी के पास पहुंची, तो जो लोग दूसरे दर्जे में बैठे थे, उन्होंने पूरे जोर से गाड़ी की जंजीर खींच दी। ज्योंही गाड़ी खड़ी हुई, सब क्रान्तिकारी गाड़ी से उतरकर उसके दोनों ओर फैल गए। उनके पास चार पिस्तौल और अन्य हथियार भी थे। आकाश में खाली फायर करते हुए उन्होंने गाड़ी की सब सवारियों को डिब्बों में बन्द रहने के लिए ललकार दिया था। गार्ड और सिपाही उस ललकार से ऐसे घबरा गए कि अपने डिब्बों में ही दुबके रहे। गोरों ने तो खिड़कियां भी बन्द कर लीं। गार्ड ट्रेन के खड़े होने पर, उतरकर जंजीर खींचने का कारण पूछने के लिए आगे बढ़ा तो उसे पिस्तौल दिखाकर नीचे लेट जाने के लिए बाध्य कर दिया गया। इस प्रकार निश्चिन्त होकर उन लोगों ने डाक के डिब्बे में घुसकर थैले बाहर निकाल लिये। खजाना एक बक्स में था, उसे तोड़कर उसमें से भी थैले निकाल लिये। यह कार्रवाई चल ही रही थी कि सनसनाती हुई एक और गाड़ी पास से गुजर गई। वह कुछ भी न जान सकी कि ६ डाउन पर क्या बीत रही है। थैलों को चादरों में बांधकर दल के सब लोग सर्वथा सुरक्षित दशा में लखनऊ ले गए, और वहां पूर्व-निश्चित ठिकानों पर फैल गए।



चन्द्रशेखर 'आज़ाद'

इस सनसनीदार डकैती में १० व्यक्ति सम्मिलित थे—(१) राजेन्द्रनाथ

लाहिड़ी (२) रामप्रसाद 'विस्मिल' (३) अशफाकउल्ला खां (४) शचीन्द्रनाथ बख्शी (५) मुकुन्दीलाल (६) मन्मथनाथ गुप्त (७) चन्द्रशेखर 'आजाद' (८) मुरालीलाल शर्मा (९) सरदार भगतसिंह और (१०) बनवारीलाल (जो पाछे सरकारी गवाह बन गया)।

इस साहसिक डकैती से देश-भर में सनसनी फैल गई। वह सरकार के लिए एक प्रकार को खतरे की घण्टी थी। इतने सिपाहियों के रहते सांझ की हल्की अंधियारी में ट्रेन का लुट जाना कोई साधारण घटना नहीं थी। सरकार ने प्रान्त-भर के ऐसे प्रायः सब आदमियों को पकड़ लिया जो कभी राजनीतिक मामलों में आगे बढ़कर हिस्सा ले चुके थे। लगभग ४० गिरफ्तारियां को गईं। असली लोग कठिनाई से पकड़े गए। बख्शी और अशफाकउल्ला तो पूरे साल-भर तक न पकड़े जा सके।

गिरफ्तार लोगों में से कुछ को पुलिस ने सरकारी गवाह बना लिया। बनवारी-लाल और इन्दुभूषण मुखबिर बन ही चुके थे। पीछे से वीरभद्र तिवारी भी सरकारी गवाह बन गया। सरकार ने बहुत लम्बा-चौड़ा मामला तैयार करके अभियोग चलाया। लगभग २५० गवाह पेश किये और ५ लाख के लगभग रुपया व्यय किया। दो वर्ष तक मुकदमा चलता रहा। अन्त में पं० रामप्रसाद 'विस्मिल' आदि १८ अभियुक्तों को तीन-तीन वर्ष के कठोर कारागार का दण्ड मिला। अशफाकउल्ला और बख्शी पर हत्या का आरोप लगाकर अलग अभियोग चलाया गया। उसमें 'बिस्मिल' तथा अशफाकउल्ला को फांसी और बख्शी को आजन्म कारावास की सजा मिली। चन्द्रशेखर 'आजाद' पकड़ में नहीं आये।

काकोरी के मामले में जिन नवयुवकों को दण्ड मिले, वे प्रायः सभी सुशिक्षित थे, और मध्यम श्रेणी के अच्छे घरानों से सम्बन्ध रखते थे। उनमें से कोई भी अपराधी श्रेणी का नहीं था। रामप्रसाद 'बिस्मिल' धार्मिक प्रवृत्ति के, दयावान और सुशिक्षित नवयुवक थे।। वह कवि भी थे। फांसी के तख्ते पर खड़े होकर बिस्मिल ने ये वाक्य कहे थे:

"मालिक तेरी रजा रहे और तू ही तू रहे।
बाकी न मैं रहूं न मेरी आरजू रहे॥"

"अब न पिछले वलवले हैं, और न अरमानों की भीड़
एक मिट जाने की हसरत अब दिले 'बिस्मिल' में है।"



अशफाकउल्ला

अशफाकउल्ला ने ऊंचे पठान घराने में जन्म लिया था और खूब ठाठ-बाट से रहते थे। रामप्रसाद 'बिस्मिल' के संग आकर वह सोना बन गए। वह कट्टर देशभक्त थे, और साम्प्रदायिकता के स्पर्श से बिलकुल बचे हुए थे। जब उन पर काकोरी केस में जुर्म लगा दिया गया तो पुलिस के आदमियों ने क्षमा

मांगने की प्रेरणा की। उन्होंने उत्तर दिया—"खुदा बन्दे करीम के सिवा और किसी से माफी मांगना मैं हराम समझता हूं।" वह भी शायर थे, उनका आखिरी कलाम है :

"तंग आकर जालिमों के जुल्म और बेदाद से।
चल दिये सूए अदम ज़िन्दाने फैजाबाद[1] से।।"

: ४६ :

साइमन कमीशन का नाटक

१९२७ ई० के अन्तिम भाग में महात्मा गान्धी बंगलौर में रचनात्मक कार्य-क्रम का सन्देश सुना रहे थे कि उन्हें भारत के वायसराय लार्ड इर्विन का एक तार मिला। तार में उन्हें दिल्ली आकर मिलने का निमन्त्रण दिया गया था। कोई अत्यन्त आवश्यक कार्य समझकर महात्माजी दौरे को स्थगित करके दिल्ली पहुंच गए, और अगले दिन वायसराय से मिले। उस समय देश के कुछ अन्य निमन्त्रित नेता भी वहां उपस्थित थे। सब लोगों के हाथों में एक-एक पर्चा दे दिया गया, जिसमें ब्रिटिश मंत्री की यह घोषणा अंकित थी कि भारत के वैधानिक सुधारों के प्रश्न पर रिपोर्ट करने के लिए एक कमीशन बनाया गया है, जिसके प्रधान सर जान साइमन होंगे। कमीशन की एक मुख्य विशेषता यह थी कि उसके सदस्यों में एक भी भार-तीय नहीं था, सब अंग्रेज थे। भारतवासी उससे पूर्व अंग्रेजी सरकार द्वारा नियुक्त कमीशनों का परिणाम देख चुके थे। वे जान गए थे कि कमीशन नाम के पहाड़ को खोदने से छोटी-सी चुहिया भी नहीं निकलती। अन्त में होता वही है जो सरकार के मन में होता है। कमीशन की सूचना का कागज पढ़कर महात्माजी ने वायसराय से पूछा—"बस यही?" उत्तर मिला, "हां, यही सूचना देने के लिए आपको बुलाया था।" वायसराय भवन से लौटकर महात्माजी बंगलौर वापिस चले गए और अपना दौरे का टूटा हुआ सूत्र फिर से बांध दिया।

साइमन कमीशन की भारत के लिए अपमानजनक घोषणा से देश-भर में असन्तोष और रोष की बाढ़-सी आ गई। महात्माजी का "बस, यही" वाक्य हजार शब्दों की आलोचना से अधिक महत्वपूर्ण था! पं० मोतीलाल नेहरू उस समय विलायत में थे। उन्होंने कमीशन का समाचार पढ़कर कहा था कि "यह तो केवल आंखों में धूल झोंकने का एक तरीका है।" डा० एनी बिसेण्ट-जैसी उन दिनों गरम और नरम के बीचोबीच नाव खेनेवाली महिला को भी कहना पड़ा था कि "यह कमीशन जले पर नमक छिड़कना नहीं तो और क्या है?" ऐसे

---

१. फैजाबाद के कारागार से।

कमीशन का यदि देश में निन्दात्मक शब्दों और रोष-भरे प्रस्तावों द्वारा स्वागत हुआ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

सरकार को चाहिए था कि भारत के लोकमत को देखकर अपने कमीशन की व्यर्थता का अनुमान लगा लेती, परन्तु शक्ति के मद का यही दोष है कि वह आंखों पर पत्थर की ऐनक लगा देता है, जिससे प्रत्यक्ष दीखनेवाली वस्तु का दीखना भी बन्द हो जाता है, परोक्ष का तो कहना ही क्या? देश के विरोध की पर्वाह न करके सरकार अपनी योजना पर अड़ी रही, और ३ फरवरी १९२८ के दिन साइमन कमीशन को बम्बई के बन्दरगाह पर ला उतारा

इससे पूर्व १९२७ के अन्त में मद्रास में कांग्रेस का जो अधि शन हुआ था, उसने साइमन कमीशन के प्रति अपने विरोध की बिलकुल स्पष्ट वेशब्दों में घोषणा कर दी थी। अधिवेशन के सभापति डा० अन्सारी थे। डा० अन्सारी का व्यक्तित्व भारत के स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेनेवाले मुसलमानों में बहुत ऊंचा और बेलाग था। यदि कोई व्यक्ति पूरी तरह असाम्प्रदायिक कहा जा सकता है, तो वह डाक्टर अन्सारी थे। वह केवल कुशल चिकित्सक ही नहीं थे, जाति के अत्यन्त विश्वसनीय नेता भी थे। आपकी अध्यक्षता में कांग्रेस ने साइमन कमीशन के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव स्वीकार किया, उसके प्रारम्भिक शब्द ये थे :


डा० अन्सारी

"चूंकि ब्रिटिश सरकार ने भारत के स्वभाग्यनिर्णय के अधिकार की पूर्ण उपेक्षा करके एक शाही कमीशन नियुक्त किया है, यह कांग्रेस निश्चय करती है कि भारत के लिए आत्मसम्मानपूर्ण एकमात्र मार्ग यही है कि वह कमीशन का हर हालत में और हर तरह से बहिष्कार करे।"

जिस दिन कमीशन ने भारत की भूमि पर पांव रखा, उस दिन देश-भर में हड़ताल मनाई गई। हड़ताल के दिन एक अपशकुन यह हो गया कि मद्रास में पुलिस ने जनता पर गोली चला दी। कमीशन बम्बई से दिल्ली आया। दिल्ली की पुलिस ने जनता को चकमा देने के लिए काफी चालबाजी से काम लिया। कमीशन को नई दिल्ली में स्टेशन के प्लेटफार्म पर न उतारकर यार्ड के एक भाग में उतार दिया और अन्धेरी रात में चोरों की तरह उसे होटल तक भगा ले जाने की योजना बनाई; परन्तु षड्यन्त्र फूट गया, जिससे हजारों की भीड़ ने उसी स्थान पर पहुंचकर काले झण्डों और 'साइमन गो बैक' के नारों से बिन-बुलाये मेहमानों का स्वागत किया।

कमीशन के लाहौर पहुंचने पर उसका यथायोग्य स्वागत करने के लिए जो

जनता एकत्र हुई उसका नेतृत्व स्वयं पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय कर रहे थे। लोगों के हाथों में काले झण्डे थे। 'साइमन गो बैक' के नारों से आकाश गूंज रहा था। यह देखकर पुलिस के होश जाते रहे, और वह लोगों पर लाठी बरसाने लगी। लाला लाजपतरायजी सब से आगे थे। इस कारण उन पर कई लाठियां पड़ीं। समझा जाता है कि लालाजी पर प्रहार करने के सम्बन्ध में, पुलिस के सिपाहियों को, अधिकारियों की ओर से, विशेष आदेश दिया गया था। अधिकारियों का विचार था कि इससे पंजाब में आतंक फैल जायगा; परन्तु इसका असर उलटा ही हुआ। लाला लाजपतराय का व्यक्तित्व साधारण नहीं था। अपनी लम्बी सेवाओं के कारण, केवल पंजाब में ही नहीं, अपितु सारे देश में उनका व्यक्तित्व सामान्य संस्थाओं से भी ऊंचा समझा जाने लगा था। जब वह कांग्रेस से नाराज होकर राष्ट्रीय दल की ओर से धारासभा के चुनाव में खड़े हुए तो प्रान्त के तीन में से दो हल्कों में कांग्रेसी नेताओं के मुकाबिले में चुना जाना कोई साधारण बात नहीं थी। फिर लालाजी की ख्याति केवल देश तक परिमित नहीं थी। आपके भाषणों और लेखों ने भारत के सम्बन्ध में योरप और अमेरिका के लोगों की आंखें भी खोल दी थीं। ऐसे वयोवृद्ध महान् व्यक्ति पर पुलिस के साधारण सिपाहियों से लाठी का प्रहार करवाकर सरकार ने वस्तुतः अपनी कब्र अपने ही हाथों से खोद ली थी। चिकित्सकों का मत था कि कुछ समय पश्चात् लालाजी की मृत्यु के कारणों में लाठियों के वे प्रहार भी शामिल थे जो साइमन कमीशन की मानरक्षा के लिए अंग्रेजी सरकार की पुलिस ने किये थे। प्रान्त-भर में लालाजी पर हुए प्रहारों की बहुत तीव्र प्रतिक्रिया हुई। पंजाबियों का रुधिर खौल उठा। १९२९ में उत्तरी भारत में आतंकवाद का जो तूफान-सा उठा था, वह इसी प्रतिक्रिया का परिणाम था।

लखनऊ की पुलिस भी मूर्खता और क्रूरता की दौड़ में पीछे न रही। वहां जो जुलूस निकला उसमें पं० जवाहरलाल नेहरू और पं० गोविन्दवल्लभ पन्त शामिल थे। उस जुलूस पर भी पुलिस ने खूब डंडे बरसाये, जिनमें से कुछ जवाहरलालजी पर और पन्तजी पर भी पड़े। पुलिस केवल डंडे बरसाकर ही सन्तुष्ट नहीं हुई। चार दिन तक मानो शहर का शासन उसी के हाथ में रहा। उसने 'साइमन गो बैक' कहनेवालों को घरों में घुस-घुसकर गिरफ्तार किया तथा पीटा। नगर-निवासियों ने पुलिस के इस बलात्कार के उत्तर में भूमि को छोड़कर आकाश का सहारा ले लिया। शहर-भर पर ऐसे गुब्बारे मंडराने लगे जिन पर 'साइमन गो बैक' और 'भारत भारतवासियों के लिए' आदि वाक्य लिखे हुए थे।

पटना में लगभग ५० हजार की भीड़ ने कमीशन का काले झण्डों और 'वापिस जाओ' की घोषणाओं से स्वागत किया।

देश के लगभग सभी वर्गों ने कमीशन का बहिष्कार किया। कुछ मुसलमान नेताओं को छोड़कर शेष राजनीतिक कार्यकर्त्ता और प्रमुख नागरिकों ने कमीशन के सामने गवाही तक देना उचित न समझा। सरकार को आशा थी कि 'सर'

उपाधिधारी लोग कमीशन के दरबार में उपस्थित होना आवश्यक समझेंगे। वह आशा भी पूरी न हुई। तब सरकार ने भारतवासियों को सन्तुष्ट करने के लिए यह घोषणा की कि केन्द्रीय और प्रान्तीय धारासभाओं के कुछ चुने हुए प्रतिनिधियों को कमीशन की बैठकों में सहयोग देने का अधिकार दिया जायगा। देश ने इस उपहासास्पद प्रस्ताव का खूब करारा जवाब दिया। धारासभाओं ने तब तक प्रतिनिधि चुनने से इनकार कर दिया जब तक उनके प्रतिनिधियों को कमीशन के बराबर के सदस्य न स्वीकार किया जाय। केन्द्रीय धारासभा ने लाला लाजपतराय के निषेधात्मक प्रस्ताव को, पं० मोतीलाल नेहरू की इस टिप्पणी के साथ, बहुमत से स्वीकार कर लिया कि यदि साइमन कमीशन में जितने अंग्रेज सदस्य हैं उतने ही भारतीय सदस्य भी नियुक्त कर दिये जायं तो हमें कमीशन के साथ सहयोग करने में कोई आपत्ति न होगी।

इसे अंग्रेज जाति की अद्भुत ढिठाई और हिम्मत का ही प्रमाण मानना होगा कि ऐसे विरोधी वातावरण में भी कमीशन कागजी कार्रवाई में लगा रहा, और रिपोर्ट का एक बड़ा पोथा तैयार कर दिया। साइमन कमीशन की सारी कार्रवाई को 'एक खर्चीले नाटक' का नाम दिया जाय तो अनुचित न होगा।

: ४७ :

बारडोली का मोर्चा

अब हम भारत के स्वाधीनता-संग्राम के उस पर्व पर आ गए हैं जो असाधारण सुव्यवस्था और सफलता के कारण स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। वह भारत के स्वाधीनता महायुद्ध का बारडोली पर्व है।

गुजरात प्रान्त के सूरत जिले में बारडोली नाम का एक ताल्लुका है। उस ताल्लुके की लम्बाई और चौड़ाई लगभग २०-२० मील है और जन-संख्या ९० हजार के लगभग है। आन्दोलन के आरंभ में गुजरात का भ्रमण करते हुए महात्माजी ने यह अनुभव किया था कि बारडोली का ताल्लुका सत्याग्रह के परीक्षण के लिए अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है। वहां के निवासी समझदार भी थे और जानदार भी। महात्माजी सत्याग्रह का श्रीगणेश वहीं से करना चाहते थे। उन्होंने इस कार्य में अपना मुख्य सहायक श्री वल्लभभाई पटेल को चुना।

बारडोली की समस्या का संक्षिप्त रूप यह था कि कानून के अनुसार उसकी मालगुजारी की जांच-पड़ताल तीस वर्षों के पश्चात् होती थी। १९२४ ईस्वी में प्रान्तीय कौंसिल ने निर्णय किया कि जब तक लगान-सम्बन्धी नये नियम न बन जायं तब तक लगान लेना स्थगित रहे। परन्तु सरकार को इससे सन्तोष न हुआ।

सरकार की ओर से नियुक्त किये हुए अफसर ने रिपोर्ट कर दी कि लगान की मात्रा पच्चीस फीसदी बढ़ा दी जाय। कौंसिल में वसूली के स्थगित करने का प्रस्ताव स्वीकार हो जाने पर भी बम्बई सरकार ने बढ़ा हुआ लगान वसूल करना स्थगित नहीं किया। १९२७ के जनवरी मास में किसानों को एक विराट् सभा हुई, जिसमें सरकार के रेवेन्यू-मेम्बर से भेंट करने के लिए एक शिष्टमण्डल नियुक्त किया गया। उस शिष्टमण्डल ने अंग्रेज अफसर से मिलकर यह बतलाया कि सरकारी सदस्य ने जिस आधार पर लगान में पच्चीस फीसदी की वृद्धि की है, वह गलत है. परिस्थिति उसके सर्वथा प्रतिकूल है; आवश्यक तो यह है कि लगान में कुछ कमी की जाय। उस सारे प्रयत्न का कोई फल न निकला। सरकार अपने हठ पर अड़ी रही और किसानों से जबरदस्ती बढ़ा हुआ लगान उगाहती रही। ६ सितम्बर १९२७ को किसानों की दूसरी सभा हुई, जिसमें बहुत-से कांग्रेसी नेताओं और कौंसिल के सदस्यों ने भाग लिया। उसमें निश्चय हुआ कि बढ़ा हुआ लगान न दिया जाय।

४ फरवरी १९२८ को अन्तिम निर्णय के लिए किसान फिर इकट्ठे हुए। इस सभा में भी कांग्रेस के कई प्रमुख नेता और कौंसिल के सदस्य विद्यमान थे। उन्होंने किसानों से कहा कि "हम लोग तो बाजी हार गए, अब तो वल्लभभाई-जैसे नेता ही बाजी जिता सकते हैं।"

श्री वल्लभभाई पटेल का एकछत्र प्रभाव तब तक गुजरात पर जम चुका था। जब अपनी युवावस्था में वह बैरिस्टरी पास कर के विलायत से आये और प्रैक्टिस करने लगे तब उनकी गिनती गुजरात क्लब के वैभवशाली सदस्यों में का जाती थी। श्री वल्लभभाई पटेल का क्लब के विलासी सदस्य से कांग्रेसी नेता और सरदार बनना एक चमत्कार का परिणाम था। सरदार पटेल ने सन् १९२१ में अपने एक भाषण में कहा था, "मैं तब एक छैल-छबीला रसिक था। राजनीति में भाग लेने की अपेक्षा ताश खेलने को हजार दर्जा अच्छा समझता था। मुझे उन दिनों की प्रचलित मक्कारी और मसखरेपन की राजनीति से बहुत घृणा थी। सहसा इस क्षेत्र में गान्धीजी प्रकट हुए। उन्होंने चमत्कार ही तो कर दिया। मेरी काया पलट दी।"



सरदार वल्लभभाई पटेल

गोधरा में प्रान्तीय राजनीतिक कान्फ्रेंस का अधिवेशन हो रहा था। उसमें सरदार पटेल भी शामिल हुए। कान्फ्रेंस में गान्धीजी ने रचनात्मक कार्यक्रम की एक योजना उपस्थित की। वह बैरिस्टर वल्लभभाई को पसन्द आ गई। आपने उस कमेटी के मन्त्री बनना स्वीकार कर लिया, जो उस योजना को कार्यान्वित करने के लिए निर्वाचित हुई थी। छैल-छबीले

पर गान्धीजी का जादू चल गया। इसके पश्चात् धीरे-धीरे वह महात्माजी की शान्तिमयी सेना के प्रधान सेनापति बन गए। आन्दोलनों में भाग लेने के अतिरिक्त अहमदाबाद की म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष की हैसियत से सरदार पटेल ने जो कार्य किया उससे उनकी प्रबन्धकुशलता की धाक सारे गुजरात प्रान्त में बैठ गई। यही कारण था कि बम्बई की कौंसिल के सदस्यों ने बारडोली की हारी हुई बाजी वल्लभभाई पटेल के हाथों में सौंप दी।

वल्लभभाई ने बाजी अपने हाथ में ले ली। युद्ध की तैयारी पूरे जोर से आरम्भ हो गई। बारडोली को तप और अहिंसा के इस नये प्रकार के युद्ध में सुसज्जित करने के लिए सैकड़ों स्वयंसेवक चारों ओर फैल गए और सत्याग्रह के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करवाने लगे। इधर स्वयं श्री वल्लभभाई ताल्लुके की मोर्चाबन्दी के लिए निकल खड़े हुए। सारे प्रदेश को पांच हिस्सों में बांटकर उनके अलग-अलग केन्द्र और केन्द्रपति नियुक्त कर दिये तथा वल्लभभाई उन सबके मुखिया बने। बस, उसी बढ़िया व्यवस्था के उपलक्ष्य में सारा बारडोली ताल्लुका वल्लभभाई पटेल को सरदार नाम से पुकारने लगा। नाम इतना समुचित था कि महात्माजी ने 'यंग इण्डिया' में उसका उल्लेख कर दिया। और तब वल्लभभाई पटेल गुण, कर्म और स्वभाव से देश-भर में सरदार कहलाने लगे।

बारडोली के जिले में सरदार का अनुशासन बहुत कठोर था। सब काम घड़ी की तरह समय पर चलते थे। डाक हरकारों द्वारा भेजी जाती थी और निरीक्षण के लिए मोटर सवार तैनात थे। कहा जाता है कि उस समय बारडोली के ताल्लुके में सरदार की आज्ञा के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता था।

किसानों ने लगान देना बन्द कर दिया तो सरकार के क्रोध की ज्वाला और अधिक वेग से भड़क उठी। दमन का यन्त्र दुगुनी उग्रता से चलने लगा। जब्तियों और कुर्कियों का बाजार गरम हो गया। अफसरों का इशारा पाकर बलूची सिपाही घरों में घुस-घुसकर मारपीट और स्त्रियों का अपमान करने लगे। किसानों के जानवर नीलामी पर चढ़ा दिये गए और दुकानों के ताले तोड़कर माल पर अधिकार कर लिया गया। सत्याग्रही स्त्रियों और पुरुषों ने यह सब-कुछ सहन किया, क्योंकि उन्हें महात्माजी की तपस्या और सरदार के नेतृत्व पर अटल भरोसा था।

जब इस साधारण दमन से काम न चला तो सरकार ने अन्धेरगर्दी का द्वार खोल दिया। पठान और गोरखे सिपाहियों को खुला लाइसेंस देकर गरीब किसानों पर मनमानी करने के लिए छोड़ दिया गया। सैकड़ों रुपयों का माल कौड़ियों में नीलाम होने लगा। इस समाचार ने देश में शोर मचा दिया। लुटेरों के राज्य की निन्दा न केवल सभाओं और समाचारपत्रों में, बल्कि भारत के घर-घर में और विदेशी समाचारपत्रों में भी होने लगी। तब कहीं जाकर सरकार के कान पर जूं रेंगी। उन्हें अनुभव होने लगा कि उनका डण्डा ही सबसे अधिक शक्तिमान नहीं है, भारत की प्रजा का आत्मिक बल और दृढ़ निश्चय उससे भी अधिक शक्तिमान है।

अन्त में महात्मा गान्धी की तपस्या और सरदार वल्लभभाई के नेतृत्व की जीत हुई। सरकार को झुककर सुलह की बातचीत प्रारम्भ करनी पड़ी। बम्बई के गवर्नर ने सरदार पटेल को और कुछ अन्य राष्ट्रीय नेताओं को परामर्श के लिए बम्बई बुलाया। गवर्नर की इच्छा थी कि रोष दिखाकर सरदार को अपने रास्ते पर ले आयें। परन्तु सरदार रोष में आनेवाले कहां थे? वह अपनी बात पर जमे रहे। इस पर झुंझलाकर गवर्नर ने कौंसिल में एक धमकी भरा भाषण दे दिया। परन्तु कुछ दिन पीछे १९२८ के अगस्त में सरकार को हथियार डालने ही पड़े। नये बन्दोबस्त का प्रस्ताव मानकर वसूलिया बन्द कर दी गईं और लूटी या कुर्क की हुई जमीनों तथा अन्य वस्तुओं को लौटाने और सत्याग्रह से सहानुभूति रखने के कारण नौकरी से अलग किये गए व्यक्तियों को फिर से नौकरी पर बहाल करने का आश्वासन दिया गया।

११-१२ अगस्त को गुजरात-भर में बारडोली के विजय का उत्सव मनाया गया। उस समारोह में 'महात्मा गान्धी की जय' के साथ-साथ 'सरदार पटेल की जय' की घोषणा भी आकाश में गूंजती रही। भारत की जनता ने बारडोली की लड़ाई को केवल एक ताल्लुके की लड़ाई न समझकर भारत की विस्तृत लड़ाई का एक भाग ही समझा। बारडोली की सफलता से उनका सत्याग्रह-सिद्धान्त की सफलता पर और महात्मा गान्धी के नेतृत्व पर विश्वास और भी अधिक दृढ़ हो गया।

: ४८ :

देश में रोष का तूफान

१९२८ के अन्त में देश-भर में जोश का तूफान-सा उमड़ पड़ा था। लोग न केवल अंग्रेजी सरकार से असन्तुष्ट थे, अपने उन नेताओं से भी असन्तुष्ट होते जा रहे थे, जो उन्हें धीरे चलने को कहते थे। इस मानसिक दशा का पहला परिणाम यह हुआ कि भारत की राजनीति के चित्रपट पर से माडरेट या लिबरल दल का निशान लगभग मिट गया। दूसरा परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस के अन्दर एक ऐसा दल प्रकट हो गया, जो औपनिवेशिक स्वराज्य को अपना अन्तिम लक्ष्य मानने को तैयार नहीं था। महात्मा गान्धी, पं० मोतीलाल नेहरू तथा अन्य बुजुर्ग नेता औपनिवेशिक स्वराज्य से सन्तुष्ट होने को उद्यत थे, परन्तु नवयुवक दल चाहता था कि कांग्रेस का ध्येय भारत के लिए पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना माना जाय। इस दल के नेता पं० जवाहरलाल नेहरू तथा श्रीयुत सुभाषचन्द्र बोस थे।

यह बढ़ता हुआ मतभेद कलकत्ते की कांग्रेस में उग्र रूप से प्रकट हुआ। कांग्रेस का अधिवेशन १९२८ के दिसम्बर मास के अन्त में रखा गया था। उसके निर्वाचित

सभापति पं० मोतीलाल नेहरू जब कलकत्ता पहुंचे, तो जनता की ओर से उनका शाहों को लजानेवाला स्वागत किया गया। १६ घोड़ों को गाड़ी में पंडितजी का जुलूस निकाला गया, जिसका संचालन पूरे सैनिक ठाठ से, श्रीयुत सुभाषचन्द्र बोस कर रहे थे। कांग्रेस के साथ एक सर्वदल सम्मेलन भी हुआ, जिसमें यह निर्णय किया गया कि इस समय भारत का ध्येय औपनिवेशिक ढंग का स्वराज्य प्राप्त करना है। सर्वदल सम्मेलन का यह प्रस्ताव जब सम्पुष्टि के लिए अखिल भारत कांग्रेस कमेटी के सामने आया, तो विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई। सर्वदल सम्मेलन के सभापति श्री पं० मोतीलाल नेहरू ही थे। उस संकट के समय में उन्होंने कांग्रेस की सदस्यता से भी अलग बैठे हुए श्री मोहनदास कर्मचन्द गान्धी का देवता रूप में आवाहन किया। भक्त की पुकार पर, महात्माजी ने कलकत्ता पहुंचकर, सर्वदल सम्मेलनवाले प्रस्ताव को अखिल भारत कांग्रेस कमेटी में पेश करना स्वीकार कर लिया। जवाहरलालजी और सुभाष बाबू ने उस प्रस्ताव पर संशोधन उपस्थित करने की सूचना दे दी। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि यदि स्वयं महात्माजी औपनिवेशिक स्वराज्यवाले प्रस्ताव को पेश न करते तो उसका स्वीकार होना सम्भव नहीं था। जवाहर-बोस के युगल के सामने अन्य पुराने महारथियों का किला ढह जाता, परन्तु बापू की कला के आगे किसी की एक न चली। उन्होंने जवाहरलालजी को अपनाकर झुका दिया, और श्री सुभाष को अकेला करके परास्त कर दिया। इस तरह उस समय पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव तो स्वीकार न हो सका, परन्तु नवयुवक दल के संशोधनों से एक बड़ा लाभ हुआ। कांग्रेस ने उस समय कांग्रेस के ध्येय और नेहरू कमेटी की योजना को स्वीकार करते हुए निम्नलिखित चेतावनी साथ लगा दी :

> "लेकिन यदि यह विधान ३१ दिसम्बर १९३० तक या उससे पहले नहीं माना गया तो कांग्रेस उससे बाध्य न होगी, और यदि ब्रिटिश पार्लियामेण्ट उस तारीख तक इस विधान को मंजूर न करेगी तो कांग्रेस देश को यह सलाह देकर कि वह सरकार को कर तथा हर प्रकार की सहायता देना बन्द कर दे, अहिंसात्मक असहयोग को फिर से जारी कर देगी।"

कांग्रस का नवयुवक दल इस चुनौती से सन्तुष्ट हो गया, क्योंकि उसे विश्वास था कि सरकार कांग्रेस द्वारा स्वीकृत संविधान को स्वीकार नहीं करेगी, और फलतः कांग्रेस को पूर्ण स्वाधीनता के लिए सत्याग्रह आरम्भ कर देना होगा। एक वर्ष तक प्रतीक्षा करने में कोई हानि न देखकर पं० जवाहरलालजी ने अपना संशोधन पेश नहीं किया, यद्यपि श्री सुभाषचन्द्र बोस का संशोधन बहुसम्मति से गिर गया, तो भी उसका उद्देश्य सिद्ध हो गया। युवक-दल के यत्नों से, कांग्रेस और पूर्ण-स्वाधीनता के लक्ष्य की घोषणा के मध्य में केवल एक वर्ष का अन्तर रह गया।

१९२९ का वर्ष युवक भारत के सक्रिय उत्थान का वर्ष था। स्थान-स्थान पर युवक-संघ, नौजवान भारत सभा आदि संस्थाओं का संगठन होने के साथ-साथ विद्यार्थी आन्दोलन तथा मजदूर आन्दोलन आदि का नया दौर भी शुरू हो गया।

ऐसी संस्थाओं के उत्सवों की अध्यक्षता या तो जवाहरलालजी करते थे, अथवा सुभाष बाबू। इन दोनों युवक-हृदय-सम्राट कहलानेवाले युवक नेताओं के व्यक्तिगत प्रभाव और आवेश-भरे भाषणों से देश का वातावरण विद्युत्पूर्ण हो गया। देश की जनता में राजनीतिक कारणों से जो विक्षोभ था, भाग्यवश उसे बढ़ाने के अन्य भी अनेक कारण उत्पन्न होते रहे। अमेरिका की मेयो नाम की एक महिला भारत में भ्रमण के लिए आई, और यहां के अंग्रेजी होटलों में ठहरकर, और अंग्रेज अफसरों से मिलकर भारत के विरुद्ध जो मसाला इकट्ठा कर सकीं, उसे 'मदर इण्डिया' नाम से प्रकाशित कर दिया। उस पुस्तक की आलोचना करते हुए महात्मा गान्धी ने उसे 'गटर-निरीक्षक की रिपोर्ट' का नाम दिया था। वह नाम तो ठीक था ही, मिस मेयो की पुस्तक शायद उससे भी अधिक गन्दी थी, क्योंकि गटर में जो गन्दगी बहती है, उसका अस्तित्व होता है; मिस मेयो ने भारतीय समाज पर जो आरोप लगाये थे, वह बदबूदार तो थे ही, कई अंशों में असत्य और प्रायः अत्युक्तिपूर्ण भी थे। उस पुस्तक ने भारतवासियों के हृदयों को बहुत गहरी चोट पहुंचाई, और उनके मन में पश्चिम के निवासियों के प्रति विरोध का भाव उत्पन्न करने में सहायता दी।

१९२८ और १९२९ में कई बड़ी-बड़ी हड़तालें हुईं। १९२८ में उनकी संख्या २०३ थी और १९२९ में १४१। १९२९ में जो कमी प्रतीत होती है, उसका यह कारण नहीं था कि सामान्य स्थिति में कुछ सुधार हुआ, अपितु यह था कि राजनीतिक आन्दोलन के अधिक गर्म हो जाने के कारण लोगों का और मजदूरों का भी ध्यान मजदूरों की समस्या की ओर से थोड़ा-बहुत हट गया था।

अंग्रेजी सरकार को अपनी पुलिस और सेना पर इतना अभिमान था कि वह 'क्रान्ति' को केवल 'बावेला' मानकर उसकी उपेक्षा करती रही। १९२७–२८ की 'इण्डिया' नाम की सरकारी रिपोर्ट की निम्नलिखित पंक्तियां सरकार की मनोवृत्ति को सूचित करती हैं:

> "ऐसे मामलों (राजनीतिक आन्दोलन) पर निश्चय ही राजनीतिज्ञों और सार्वजनिक समस्याओं के विद्यार्थियों का काफी ध्यान खिंचा रहा, परन्तु भारत की जनता न इन मामलों को जानती थी और न इनकी पर्वाह करती थी।"*

जब स्वराज्य और गान्धी का नाम, देश के नगरों और ग्रामों के घर-घर में पहुंच चुका था, जब जनता के निचले स्तर का दबाव उपरले स्तर को क्रान्ति की ओर वेग से चलने के लिए बाध्य कर रहा था, उस समय भी सरकार यह सोचकर सुख की नींद सोना चाहती थी कि "भारत की जनता न इन मामलों को जानती थी, और न इनकी पर्वाह करती थी।" ऐसी अज्ञान या अभिमान से उत्पन्न होने-

---

*These things, to be sure, engaged much attention from politicians and students of public-affairs but the people of India knew nothing about them.

वाली उपेक्षा का एक ही परिणाम होता है कि रोग बढ़ जाता है। सरकार को सर्वथा वज्रहृदय देखकर नवयुवक भारत का धैर्य छूटने लगा, जिसका परिणाम यह हुआ कि दबा हुआ आतंकवाद, जो १९२६-२७ में फिर से सुलगने लगा था, १९२८-२९ में गहरे और व्यापक रूप में भड़क उठा।

काकोरी-काण्ड के बाद कुछ समय तक देश की स्थिति कुछ शान्त-सी प्रतीत होने लगी थी, परन्तु वस्तुतः वह नये राजनीतिक षड्यन्त्रों के निर्माण का समय था। अन्दर-ही-अन्दर लावा तैयार हो रहा था। इस नये षड्यन्त्र की योजना दिल्ली और पंजाब में बनी। इसका केन्द्र सरदार भगतसिंह थे। भगतसिंह का नाम काकोरी काण्ड में आ चुका है। १९२३ ई० में लाहौर के नैशनल कालिज से बी० ए० पास करके भगतसिंह कानपुर आये और बलवन्तसिंह नाम से 'दैनिक प्रताप' में काम करने लगे। नाम-परिवर्तन का यह कारण था कि भगतसिंह के माता-पिता उनकी शादी करना चाहते थे, परन्तु उनका हृदय राष्ट्रसेवा के अर्पण हो चुका था। वह घर से भागकर कानपुर में पत्रकार का जीवन व्यतीत करने लगे, और साथ ही संयुक्त प्रान्त के क्रान्तिकारियों से सम्पर्क प्राप्त करने में लगे रहे। कुछ समय के पश्चात् यह सन्देह हो जाने पर कि शायद पुलिस पीछा कर रही है, वह दिल्ली जाकर साप्ताहिक 'सत्यवादी' के सम्पादकीय विभाग में काम करने लगे। उस समय भी नाम 'बलवन्तसिंह' ही था। उन्हीं दिनों काकोरी के स्टेशन पर रेलगाड़ी लूटी गई। उसमें सम्मिलित होने के लिए भगतसिंह दिल्ली से ही गए थे। उस मामले के बाद उन्होंने एकदम दिल्ली छोड़ दी, और लाहौर जाकर केश मुंडा दिये, और पुराने भगतसिंह नाम से रहने लगे। इस तरह चिरकाल तक वह पुलिस के पंजे से बचे रहे। भगतसिंह हिन्दी के अच्छे लेखक थे। उनके लेख गम्भीर और विचारपूर्ण होते थे।

सरदार भगतसिंह के लाहौर में जम जाने पर षड्यन्त्र की योजना कार्यान्वित होने लगी। उसमें जो लोग सम्मिलित हुए उनके नाम निम्नलिखित हैं—(१) भगतसिंह, (२) सुखदेव, (३) यशपाल, (४) दुर्गादेवी बोहरा, (५) भगवतीचरण, (६) जयगोपाल, (७) हंसराज बोहरा, (८) कैलासपति उर्फ कालीचरण, (९) गयाप्रसाद, (१०) शिवराम, (११) महावीरसिंह और (१२) कुन्दनलाल। यह गिरोह पंजाब के क्रान्तिकारियों का था। कुछ क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर 'आजाद' के नेतृत्व में संयुक्त प्रान्त में, और कुछ बिहार और बंगाल में भी संगठित होने की धुन में थे। १९२८ के सितम्बर में चारों प्रान्तों के प्रमुख क्रान्तिकारी दिल्ली के फीरोजशाह के मेले में एकत्र हुए। उन्होंने अपने दल का नाम 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी' रखकर यथासम्भव शीघ्र कार्रवाई करने का निश्चय किया। कई केन्द्रों पर बम बनाने के कारखाने स्थापित किये, और बहुत-से शस्त्रास्त्रों का संग्रह किया। डकैतियों द्वारा कुछ धन संग्रह भी किया गया। उत्तरी भारत का कोई सदस्य बम बनाने में कुशल नहीं था, इसलिए कलकत्ते से यतीन्द्रनाथ दास को विशेष रूप से बुलाया गया।

इस दल ने प्रारम्भ में कई छोटी-छोटी योजनाएं बनाईं, परन्तु उनमें विशेष सफलता नहीं मिली। एक बार एक बैंक को लूटने की योजना बनाई गई। साइमन कमीशन के आने पर उस गाड़ी को उड़ाने का विचार किया गया, जिसमें कमीशन सफर कर रहा हो। किसी-न-किसी कारण से वह काम पूरे न हो सके। अन्त में एक योजना में सफलता मिली, पर वह भी अधूरी; क्योंकि एक की जगह दूसरा आदमी मारा गया। यह प्रसिद्ध था कि पुलिस के जिस अधिकारी की लाठियों के आघात के कारण ला० लाजपतराय की मृत्यु हुई, वह मि० स्काट था। दल ने निश्चय किया कि उसे मारा जाय। योजना काफी सावधानी से बनाई गई थी। १७ दिसम्बर १९२८ को दोपहर के दो बजे सब क्रान्तिकारी अपनी-अपनी ड्यूटी पर तैनात थे कि मोटर साइकिल पर सवार एक अंग्रेज पुलिस अफसर पुलिस के दफ्तर से बाहर आया। पहिचानने के लिए लगाये हुए क्रान्तिकारी जयगोपाल ने भूल से उसी को मि० स्काट समझ लिया। असल में वह स्काट का असिस्टेंट सौंडर्स था। जयगोपाल का इशारा पाकर पहले शिवराम ने और फिर भगतसिंह ने उसे गोलियों से घायल कर दिया। सौंडर्स लहू-लुहान होकर मोटर-साइकिल समेत गिर गया। दोनों साथी भाग गए। पुलिस के एक हेड कान्स्टेबल ने उनका पीछा किया। भगतसिंह ने उसे भी गोली से मार दिया। उस समय दल के सदस्य भिन्न-भिन्न उपायों से पुलिस को तरह देकर तितर-बितर हो गए।

इस प्रकार फिर आतंकवाद को सिर उठाता देख सरकार घबरा गई, और साम्राज्य की रक्षा के लिए कोई नया अस्त्र बनाने की योजना में लग गई। जो नया बिल-रूपी अस्त्र तैयार किया गया उसका नाम था 'पब्लिक सेफ्टी बिल'। इस बिल का लगभग वही उद्देश्य था जो बदनाम रौलट बिलों का था। यह बिल पहली बार १९२८ के सितम्बर में सरकार की ओर से असेम्बली में पेश किया गया। देश के चुने हुए प्रतिनिधियों ने बिल का जमकर विरोध किया, परन्तु सरकार ज़िद पर अड़ी रही, और अन्त में मत-विभाजन हुआ। मत-विभाजन होने पर पक्ष और विपक्ष दोनों ओर बराबर-बराबर मत आये। भाग्यवश उस समय श्रीयुत विट्ठलभाई पटेल असेम्बली के अध्यक्ष थे। श्रीयुत विट्ठलभाई पटेल सरदार वल्लभभाई पटेल के बड़े भाई थे। दोनों भाई एक ही मिट्टी के बने हुए थे। उनकी आंखों में तेज था, और हृदय में निर्भीकता थी, जैसे समुद्र की ऊंची-से-ऊंची लहरें भी सह्याद्रि की चट्टानों को नहीं हिला सकतीं, और टूटकर वापिस चली जाती हैं, वैसे ही विरोधियों के बड़े-से-बड़े प्रहार उन दोनों



विट्ठलभाई पटेल

वीर सहोदरों को दृढ़ निश्चय से नहीं डिगा सकते थे। सरकार के आदमी फुंकारें मारते रहे परन्तु अध्यक्ष पटेल ने उनकी कोई पर्वाह न करते हुए अपने निर्णायक वोट से पब्लिक सेफ्टी बिल को गिरा दिया।

सरकार तिलमिला उठी। उसने चार महीनों तक सोच-विचार किया, और २९ जनवरी १९२९ को कुछ परिवर्तित रूप में फिर उसी बिल को असेम्बली में उपस्थित कर दिया। कई दिनों तक बिल पर बहस चलती रही। जब २ अप्रैल को उस पर विचार होने लगा तो अध्यक्ष पटेल ने एक महत्वपूर्ण वक्तव्य द्वारा सरकार को परामर्श दिया कि वह या तो इस समय इस बिल को वापिस ले ले, या उसने मेरठ में ३१ व्यक्तियों पर जो नया षड्यन्त्र का मामला चलाया है उसे उठा ले। अध्यक्ष की सम्मति थी कि पब्लिक सेफ्टी बिल का और मेरठ के अभियोग का लगभग एक ही विषय है, और क्योंकि जो विषय अदालत में विचाराधीन हो उसकी संसद में चर्चा नहीं होनी चाहिए; इस कारण या तो यह बिल ही उपस्थित हो सकता है, और या मेरठ का अभियोग ही चल सकता है; दोनों एक साथ नहीं चल सकते।

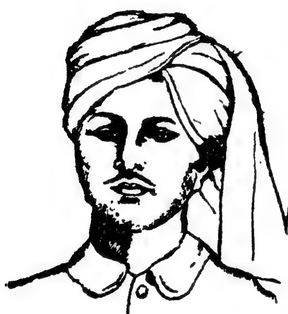
अध्यक्ष पटेल के इस आदेश से सरकारी सदस्यों के हृदयों पर गहरा आघात पहुंचा। एक भारतवासी व्यक्ति सरकार के उठते हुए हाथ को इस तरह झटका देकर पीछे हटा दे, यह बात अंग्रेजों को अचिन्तनीय मालूम होती थी। वह लोग अध्यक्ष के आदेश की ठोकर को सहने और समझने का यत्न कर ही रहे थे कि इतने में नई दिल्ली के कौंसिल हाल में जोर का धड़ाका हुआ। कौंसिल की गैलरी से एक बम गिरा जो बड़ी ध्वनि के साथ फटा। बम सरकारी बैंचों के बीच में गिरा था। बेचारे अंग्रेज होम मेम्बर घबराकर जमीन पर लेट गए और बहुत-से सदस्य इधर-उधर भाग गए। सर वामनजी दलाल आदि कुछ हिन्दुस्तानी सदस्यों के हल्की चोटें भी आईं। सारा हाल बम के धुएं से भर गया। धुएं के अन्धकार में से जब 'इन्कलाब जिन्दाबाद' और 'नौकरशाही मुर्दाबाद' के नारे सुनाई देने लगे तब कुछ सरकारी सदस्यों ने तो समझा कि शायद साम्राज्य का प्रलयकाल आ पहुंचा।

जब धुआं कुछ साफ हुआ तो लोगों की आंखें गैलरी की ओर गईं। देखा गया कि वहां दो नौजवान खड़े नारे लगा रहे हैं। ये दोनों नौजवान भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त थे। पुलिस ने एकदम गैलरी के सब दरवाजे बन्द कर दिये, परन्तु उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि यदि दोनों नौजवान भागना चाहते तो तभी भाग सकते थे जब सब जगह धुआं छाया हुआ था। वह भागने के लिए असेम्बली हाल में नहीं घुसे थे। जैसा कि अदालती बयान में सरदार भगतसिंह ने कहा था, उनका उद्देश्य बम के धड़ाके द्वारा अंग्रेजी सरकार के कानों तक भारतवासियों की उमंगों का सन्देश पहुँचाना था। यदि वे किसी को मारना चाहते तो उसी को लक्ष्य करके बम फेंकते। दोनों नवयुवक अपनी जगह खड़े नारे लगाते रहे जब तक कि पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार नहीं कर लिया। यह घटना ८ अप्रैल

१९२९ को हुई। लगभग एक मास एडिशनल डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट के यहां लगा और एक मास सेशन में। १२ जून को दोनों नवयुवकों को आजीवन कारावास की सजा हुई।

इसी बीच में पुलिस ने लाहौर षड्यन्त्र के मामले में बहुत-सी गिरफ्तारियां कर लीं। पकड़े गए लोगों में से जयगोपाल और हंसराज बोहरा सरकारी गवाह बन गए। उन दोनों के अतिरिक्त शिवराम ने भी पुलिस के वश में आने पर बहुत-सी सच्ची-झूठी बातें कह दीं। धीरे-धीरे पुलिस ने बहुत-से नवयुवकों को पकड़ लिया। मुखबिरों के बयानों के आधार पर जेल में पड़े हुए भगत सिंह को भी षड्यन्त्र के अभियोग में शामिल कर लिया गया। अभियुक्तों की संख्या १६ थी।

उन दिनों राजनीतिक बन्दियों के साथ साधारण बन्दियों-जैसा ही व्यवहार किया जाता था। उन्हें वही जुओं से भरे हुए गन्दे कपड़े पहिनाये जाते थे, और वैसा ही बदबू और मिट्टीवाला खाना खिलाया जाता था। भगतसिंह बहुत निडर और आत्म-सम्मानवाला नवयुवक था। उसे जेलवालों का व्यवहार मनुष्यता से गिरा हुआ प्रतीत हुआ, तो उसने भूख-हड़ताल कर दी। दत्त ने भी उसका साथ दिया। पहली १५ दिनों की भूख-हड़ताल दिल्ली में की, और दूसरी मियांवाली जेल में की। भूख-हड़ताल की दशा में ही उन्हें लाहौर लाया गया। वहां भी भूख-हड़ताल जारी रही और उसके कारण सारे पंजाब में जो बेचैनी उत्पन्न हुई थी, वह और भी बढ़ गई। ३० जून को भगतसिंह-दत्त दिवस मनाया गया, जिसमें सरकार के निर्दयतापूर्ण व्यवहार की निन्दा की गई। आन्दोलन से घबराकर सरकार ने निर्बलता के आधार पर उन्हें विशेष भोजन देने की रियायत देनी चाही, तो सरदार भगतसिंह ने उसे लेने से इनकार करते हुए कहा कि "हमारी मांग यह है कि हमें राजनीतिक कैदी की हैसियत से विशेष व्यवहार प्राप्त हो। व्यक्तिगत रूप से हमें कोई रियायत नहीं चाहिए। हम तो एक सिद्धान्त के लिए अपने जीवन को संकट में डाल रहे हैं।"



सरदार भगतसिंह

धीरे-धीरे उपवास में अन्य कई राजनीतिक बन्दी भी सम्मिलित हो गए। उनकी हालत बिगड़ती देखकर सरकार ने बलात् भोजन देने का प्रयत्न किया। उससे उपवासकारियों की दशा और भी निर्बल होने लगी। जब मुंह में नली डालकर जबर्दस्ती दूध आदि पेट में पहुंचाने का यत्न किया जाता था, तब खींचातानी होती थी, जिससे शरीर सर्वथा शिथिल हो जाता था। कभी-कभी मूर्च्छा भी आ जाती थी।

देश-भर में उपवास-सम्बन्धी आन्दोलन उग्ररूप धारण कर रहा था। कांग्रेस कमेटी ने सरकार के कार्य की निन्दा का प्रस्ताव स्वीकार किया। स्वराज्य-दल के नेता पं० मोतीलाल नेहरू ने सरकार की कठोर निन्दा की। अन्त में तंग आकर सरकार ने प्रत्येक प्रान्त में जेल के सुधारों पर विचार करने के लिए उपसमितियां नियुक्त करते हुए आशा दिलाई, कि सरकार वर्तमान शिकायतों को दूर करने का भरसक यत्न करेगी। इस पर अन्य उपवासकारियों ने तो उपवास तोड़ दिया परन्तु यतीन्द्रनाथ दास की दशा इतनी बिगड़ चुकी थी कि वह उपवास तोड़ने के योग्य ही न रहे। ६२ दिनों के अनशन के उपरान्त लाहौर के बोर्स्टल जेल में स्वाभिमानी वीर देशभक्त यतीन्द्रनाथ दास का देहान्त हो गया। इस कुसमाचार से असन्तोष की वह देशव्यापी आग, जो अब तक सुलग रही थी, भड़क उठी। जब शहीद यतीन्द्र का शव लाहौर से कलकत्ते पहुंचा तब उसका ऐसा शाही स्वागत हुआ कि सरकार चकित रह गई। १४ सितम्बर को उस बलिदान के उपलक्ष्य में देश-भर में हड़ताल मनाई गई।



यतीन्द्रनाथ दास

यतीन्द्रनाथ दास के बलिदान के दो परिणाम हुए। सरकार ने असेम्बली में वह बिल वापिस ले लिया जो जेल में भूख हड़ताल को अपराध बनाने के लिए गढ़ा गया था, और कुछ महीनों के विचार-विमर्श के पश्चात् १९३० के जुलाई मास में सरकार ने राजनीतिक बन्दियों को विशेष श्रेणी के बन्दी स्वीकार करके उनका ए, बी, सी, इन तीन कोटियों में विभाजन कर दिया। इस निर्णय से सन्तुष्ट होकर उन राजनीतिक कैदियों ने भी भूख-हड़ताल तोड़ दी जो तब तक अपने इस प्रण पर अड़े हुए थे कि जब तक राजनीतिक बन्दियों को एक पृथक् श्रेणी के रूप में विशेष रियायतें नहीं दी जायंगी, अन्न ग्रहण नहीं करेंगे।

देश पब्लिक सेफ्टी बिल, असेम्बली में बम, जेल में भूख-हड़ताल, और लाहौर षड्यन्त्र केस की सनसनीपूर्ण घटनाओं से अत्यन्त विक्षुब्ध हो रहा था। इधर वर्ष का अन्त आ पहुंचा, और लाहौर में रावी के तट पर, देश के प्रतिनिधि, भारत के राजनीतिक भविष्य का निर्णय करने के लिये एकत्र होने लगे।

: ४९ :

पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय की घोषणा

देश का मानसिक तापमान प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। यतीन्द्रनाथ दास के बलिदान से उत्पन्न हुआ विक्षोभ अभी शान्त नहीं हुआ था कि वर्मा के भिक्षु विजया के बलिदान ने उसे द्विगुणित कर दिया। भिक्षु विजया एक बौद्ध साधु थे। उन्हें पहले राजद्रोह के अपराध में २१ महीनों का कठोर कारावास दिया गया था। वह १९२९ के फरवरी मास में दण्ड की समाप्ति पर बाहर आये, तो सवा महीने बाद ही फिर राजद्रोह के अभियोग में धर लिये गए। उन्हें ६ वर्ष कालापानी की सज़ा दी गई, जो पीछे से घटाकर तीन वर्ष कर दी गई। जेल में उनसे जो अमानुषिक व्यवहार किया गया, उससे असन्तुष्ट होकर, और भिक्षुओं का भगवां वेश पहिनने की आज्ञा न मिलने के विरुद्ध प्रतिवाद के रूप में उन्होंने अनशन कर दिया। यह अनशन १६४ दिन तक जारी रहा, तो भी सरकार अपने व्यवहार में कोई परिवर्तन करने को उद्यत न हुई। भिक्षु विजया की तपस्या १९ सितम्बर को देहत्याग के साथ समाप्त हुई। वह अंग्रेजी सरकार की मनुष्यता पर कालिख पोतकर शहीद हो गए। इस बलिदान ने देश के विक्षोभ को और भी अधिक उग्र कर दिया।

अंग्रेजी शासक यद्यपि हल्की-सी ठोकर से हिलना नहीं जानते और न थोड़ी-सी प्रेरणा से किसी बड़े परिवर्तन के लिए तैयार होते हैं, परन्तु परिस्थिति को पहिचानने में वे बहुत कुशल हैं। १९२९ में देश के वातावरण में आनेवाले तूफान के काफी स्पष्ट प्रमाण दिखाई देने लगे थे। वायसराय लार्ड इर्विन ने उन्हें पहिचान लिया, और तूफान को रोकने के उपायों पर विचार करने के लिए विलायत जा पहुंचे।

लार्ड इर्विन ने विलायत में कई महीनों तक विचार-विमर्श किया। साइमन कमीशन के महारथियों के अतिरिक्त मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से भी भेंट की। उन सब मंत्रणाओं के परिणामस्वरूप प्रस्तावों का पुलिन्दा लेकर लार्ड इर्विन २५ अक्तूबर १९२९ को भारत वापिस आये, और आने के ६ दिन बाद ३१ अक्तूबर को भारतवासियों के लिए एक घोषणा प्रकाशित की।

उस घोषणा का आधार ब्रिटिश सरकार द्वारा १९१७ में उद्घोषित इस नीति को बतलाया गया था कि भारत को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रखते हुए धीरे-धीरे दायित्वपूर्ण शासन के योग्य बनाया जायगा। घोषणा में उसकी नई व्याख्या यह की गई कि ब्रिटिश सरकार भारत को अन्त में औपनिवेशिक स्वराज्य देना चाहती है।

यह तो हुआ अन्तिम ध्येय; इस समय सरकार क्या करना चाहती है, इसका उत्तर वायसराय की घोषणा में यह दिया गया था कि ब्रिटिश सरकार रियासतों

तथा अन्य विभागों के बारे में उठनेवाली कठिनाइयों पर विचार करने के लिए एक परिषद् बुलायेगी। यद्यपि उसमें भारत के शासन-सुधार की समस्या पर विचार होगा, परन्तु सब बातों का अन्तिम निर्णय तो पार्लियामेण्ट ही कर सकती है।

कांग्रेस ने १९२८ में सरकार को चेतावनी दी थी कि यदि सरकार ने एक वर्ष के भीतर भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य न दिया तो कांग्रेस यह घोषणा करने को स्वतंत्र हो जायगी कि कांग्रेस का ध्येय भारत के लिए पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करना है। ब्रिटिश सरकार और वायसराय ने यह समझकर ३१ अक्तूबर को घोषणा की थी कि उससे भारतवासी सर्वथा सन्तुष्ट हो जायंगे और मान लेंगे कि अब औपनिवेशिक स्वराज्य के मिलने में देर नहीं है। परन्तु भारतवासी अब अंग्रेजों की कूटभाषा का अर्थ पहिचानने लगे थे, और उनके वायदों का मूल्य भी जान गए थे। फलतः लार्ड इर्विन की घोषणा ने न भारतवासियों के दिमाग़ों को छुआ और न हृदयों को। वह स्पष्ट देख रहे थे कि सरकार जो कुछ दे रही थी, वह न औपनिवेशिक स्वराज्य था, और न नियत समय में औपनिवेशिक स्वराज्य का वायदा था। वह था केवल औपनिवेशिक स्वराज्य से सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओं पर विचार करने के लिए एक परिषद्, और एक पार्लियामेंटरी सब-कमेटी के होने की सम्भावना की सूचना। कुआं खोदने के विषय में विचार करने की सम्भावना की सूचना से, देश की स्वाधीनता के लिए उत्कट प्यास कैसे बुझ सकती थी ?

कोई विशेष आशा मन में न रखते हुए भी देश के नेताओं ने प्रारम्भ में समझौते का रुख लेना ही उचित समझा। घोषणा के तुरन्त पश्चात् दिल्ली में कांग्रेस की महासमिति की बैठक हुई। उस अवसर पर सर तेज बहादुर सप्रू, डा० बिसेण्ट और मालवीयजी आदि नर्म नेता भी दिल्ली पहुंच गए थे। जो निश्चय किये गए, उनमें सरकार की सदिच्छाओं का स्वागत करते हुए राजनीतिक बन्दियों को छोड़ने की मांग की गई थी। सम्भव है, महासभा के नर्म प्रस्ताव से देश के वातावरण पर कुछ ठण्डा पानी पड़ जाता, परन्तु वायसराय की घोषणा पर इंग्लैण्ड के हाउस आव लार्ड्स् में जो बहस हुई उसने ब्रिटिश राजनीति का चेहरा उघाड़कर रख दिया। जब अनुदार दल के लार्डों ने घोषणा का विरोध करते हुए कहा कि वह घोषणा इंग्लैण्ड की भारत के प्रति अब तक की नीति के प्रतिकूल है तो भारत मन्त्री ने उत्तर में यह सिद्ध करने का यत्न किया कि वस्तुतः घोषणा के शब्दों में भेद है, नीति वही पुरानी है।

हाउस आव लार्ड्स् की बहस से भारत पर जो बुरा प्रभाव पड़ा, उसे दूर करने के लिए वायसराय ने २३ दिसम्बर को भारत के कुछ नेताओं को दिल्ली में मिलने के लिए आमन्त्रित किया। बातचीत के लिए दक्षिण से नई दिल्ली आते हुए जब वायसराय की गाड़ी दिल्ली के पुराने किले के पास पहुँची, तो उसके पहिए के नीचे एक बम फटा। लार्ड इर्विन बाल-बाल बच गए, केवल उनके एक नौकर के हल्की-सी चोट लगी। यों घटना तो टल गई, परन्तु अपना असर छोड़ गई। वायसराय से नेताओं की बातचीत का कोई विशेष परिणाम नहीं निकला।

इधर दिल्ली में लीपा-पोती का प्रयत्न हो रहा था और उधर लाहौर में भारत की राजनीति के स्वरूप में कायापलट करने के लिए रंगमंच तैयार हो रहा था। दिसम्बर के अन्तिम दिनों में कांग्रेस का अधिवेशन होनेवाला था। उसके अध्यक्ष के चुनाव में तीन नाम आये थे। दस ने महात्मा गान्धी के लिए, पांच ने सरदार पटेल के लिए और तीन ने पण्डित जवाहरलाल के लिए मत दिये थे। महात्मा-जी ने और सरदार ने अपने-अपने नाम वापिस ले लिये। एक ही नाम शेष रह जाने से जवाहरलालजी अध्यक्ष निर्वाचित हो गए। महात्माजी का और सरदार का नाम वापिस लेना देश की बदली हुई परिस्थिति का सूचक था। पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी को रास्ता दे रही थी। विदेशी शासकों की हठधर्मी औपनिवेशिक स्वराज्य की कल्पना को पूर्ण स्वाधीनता के सामने से हट जाने की प्रेरणा कर रही थी।

लाहौर के बाजारों में घोड़े पर सवार पं० जवाहरलालजी का जो शानदार जुलूस निकला वह विदेशी शासन के बड़े-से-बड़े शासकों के स्वागत-समारोहों को मात करता था। नगर के निवासी देश के नवयुवक नेता को सम्मान देने के लिए एक-दूसरे से मानो होड़ कर रहे थे। सड़कों पर, मकानों की छतों पर, और खिड़कियों से 'महात्मा गान्धी की जय' और 'जवाहरलाल की जय' के नारे लगाते हुए उत्साहपूर्ण चेहरों को देखकर, एक अटारी से जुलूस का दृश्य देखती हुई माता स्वरूपरानी की आंखों से हर्ष के आंसू बह निकले थे।

पंजाब का जोश तो प्रसिद्ध है ही, वह अधिवेशन में उबल-उबलकर उठता था। उत्तर भारत की कठोर सर्दी हृदयों की गर्मी के सामने मानो पिघल गई थी। १९२८ के अन्त में कांग्रेस ने भारत सरकार को अन्तिम सूचना दी थी कि यदि एक वर्ष के भीतर भारत को स्वराज्य न दे दिया गया तो कांग्रेस पूर्ण स्वाधीनता को अपना ध्येय घोषित करने में स्वतंत्र हो जायगी। वर्ष समाप्त हो रहा था, और सरकार की ओर से वही मुर्गी की तीन टांगवाली कहावत चरितार्थ हो रही थी। यों तो ध्येय-सम्बन्धी मुख्य प्रस्ताव पर खूब गर्मागर्म बहस हुई, परन्तु अन्त में भारत की राजनीति में क्रान्ति उत्पन्न करनेवाला प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार हो गया। वह प्रस्ताव १९२९ की ठीक समाप्ति पर, ३१ दिसम्बर की रात के बारह बजकर एक मिनट पर गगनभेदी जयकारों और तालियों की गड़गड़ाहट के मध्य में स्वीकृत घोषित किया गया। उस समय की प्रसन्नता का यह हाल था कि पं० मोतीलाल नेहरू-जैसे वयोवृद्ध परन्तु युवकहृदय नेता हर्ष के उद्वेग मे आकर पंडाल में ही नाच उठे थे। भारत ने रावी के तट पर लगभग बारह सौ वर्षों की दासता पर कफन डालने का संकल्प करके संसार को सूचना दे दी थी कि भारत जाग उठा है, अब उसे देर तक पराधीनता में रखना किसी की शक्ति में नहीं है। भारत की साधारण प्रजा ने तो पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय की घोषणा को पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा ही समझकर स्वाभिमान से अपना मस्तक ऊंचा कर लिया था।

: ५० :

देशी राज्यों की समस्या

अंग्रेजों के राज्यकाल में देशी राज्यों की जैसी बुरी दशा थी, आज स्वतंत्र भारत में उसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। अंग्रेजो राज्य की समाप्ति से दो वर्ष पहले पं० जवाहरलाल नेहरू ने लिखा था :

"कुछ देशी नरेश अच्छे हैं, कुछ बुरे हैं। जो अच्छे हैं, उनके मार्ग में भी पग-पग पर बाधाएं डालीं और रोक-टोक की जाती है। सामान्यतः वे पिछड़े हुए हैं, उनका दृष्टिकोण सामन्ती है, और उनके तरीके तानाशाहों-जैसे हैं—वह अदब से झुकते हैं, तो केवल ब्रिटिश सरकार के सामने। शेलवंकर ने उनके बारे में ठीक ही कहा है कि वे भारत में ब्रिटेन का पांचवां दस्ता हैं।"[१]

नेहरूजी ने देशी राज्यों की दशा का जो सन्तुलित वर्णन किया है, उसकी यथार्थता स्वयं अंग्रेज लेखकों ने भी स्वीकार की है। रियासतों के बारे में हेनरी लारेंस ने १८४६ में लिखा था :

"यदि बुरे शासन का कोई ढंग निकालना हो तो वह रियासत का शासक और उसका दीवान हैं, जो ब्रिटिश फौज़ों पर निर्भर रहकर रेजीडेंट के आदेश से काम करे, क्योंकि यदि ये तीनों योग्य, गुणी और समझदार हों तो भी सरकार की गाड़ी बेरोक-टोक नहीं चल सकती। उनमें से प्रत्येक अकेला अपरिमित शरारत कर सकता है, परन्तु भलाई कोई नहीं कर सकता, यदि एक दूसरे के रास्ते में रोड़ा अटका रहे हों।"[२]

---

१. Some of the Princes are good, some are bad; even the good ones are thwarted and checked at every turn. As a class they are of necessity backward, feudal in out-look and authoritarian in method, except in their dealings with the British Government, where they show a becoming subservience. Shelvankar has rightly called the Indian States : 'Britain's Fifth Column in India'." (Discovery of India)

२. "If there was a device for ensuring mal-Government if is that of a native ruler and minister—both relying on foreign bayonets, and directed by a British resident; even if all these were able, virtuous and considerate, still the wheels of Government could hardly move smoothly. Each of these may work incalculable mischief but no one of them can do good if thwarted by the other."

कोचीन में, देसी राज्यों के सम्बन्ध में, भाषण देते हुए १९२६ में श्रीयुत गोपाल कृष्ण गोखले के उत्तराधिकारी श्रीयुत श्रीनिवास शास्त्री ने कहा था :

"अधिकतर देशी नरेश अपने महलों में नहीं मिलेंगे। वे कहीं ऐसे स्थान पर मिलेंगे जहां गरीब प्रजा के धन से अय्याशी खरीदी जा सके। आप लन्दन जायँ, या पेरिस, अथवा किसी भी अन्य फैशनेबुल शहर में जायं तो आपको कोई-न-कोई भारतीय राजा या अन्य रईस योरप के लोगों की आंखों को अपनी शान-शौकत से चौंधियाता और अपने समीप आनेवालों को गिरावट के मार्ग पर घसीटता हुआ मिलेगा।"

देशी राज्यों के शासकों की ऐसी अवांछनीय दशा का कारण क्या था, यह जानने के लिए हमें उनके जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त की जीवनचर्या पर दृष्टि डालनी होगी। देशी नरेशों के बच्चे प्रायः फूलों की सेज पर पैदा होते थे, और मखमली गदेलों पर पलते थे। यह तो हुई उनके सौभाग्य की बात; परन्तु इसके साथ ही दुर्भाग्य की बात यह थी कि वे प्रायः दाइयों की गोद में पलते थे। रानियां भला बच्चों को क्यों पालने लगीं ? वे बहुत छोटी आयु में ही नौकरों के हाथ में चले जाते थे, जहां उन्हें पिंजरे में बन्द मुर्गों की तरह रहना पड़ता था। प्रायः राजाओं के महल में एक से अधिक रानियां, और अनेक रखैलें भी रहती थीं। यह भय बना रहता था कि महल के आन्तरिक षड्यन्त्रों के कारण राजकुमार के प्राणों पर संकट न आ जाय। इस कारण उसे बाहर की दुनिया से अलग-थलग प्रायः दरबारियों के बच्चों की सोहबत में रखा जाता था। सदा अपने अधीन लोगों के संग में रहने का परिणाम यह होता था कि वे अपने को संसार-भर से बड़ा और प्रजाजनों को हेय और तुच्छ मानने लगते थे।

बड़ा होने पर उन्हें चीफ्स कालिजों में भेजा जाता था। चीफ्स कालिजों के सम्बन्ध में 'Indian Princes Under British Protection' के लेखक श्री पी० एल० चुडगर ने लिखा है :

"प्रायः सभी लोग जानते हैं कि प्रिंसेज़ कालिज अधिकतर बुराई और बदमाशी के शिक्षणालय होते थे।"[१]

इन कालिजों के प्रिंसिपल प्रायः अंग्रेज होते थे, उनकी दृष्टि उतनी राजकुमारों की शिक्षा पर नहीं रहती थी, जितनी उन्हें अंग्रेजी ढंग से रहने, शराब पीने, और पोलो खेलने में कुशलता प्राप्त करने की दीक्षा देने पर रहती थी। वहां रहकर राजकुमारों की वे सब दुर्वृत्तियां विकास पाती थीं, जो बचपन में अंकुरित हुई थीं। अधिक समृद्धिशाली राजाओं और नवाबों के लड़के प्रायः विलायत भेज दिये जाते थे। वहां की अच्छाइयों से उनका कोई वास्ता नहीं रहता था, वास्ता रहता था केवल विलासिता के साधनों से, जो उन्हें रियासतों की अत्यन्त निर्धन प्रजा के शोषण

---

१ "That these Princes Colleges have more often than not been a source of vice and wickedness is common enough knowledge."

से प्राप्त असीम धन के कारण सुगमता से प्राप्त हो जाते थे। यदि शिक्षा के लिए विलायत गये हुए राजकुमारों की घृणित कहानियों का संग्रह किया जाय तो अत्यन्त भ्रष्टता के कारण सरकार को उसके प्रचार पर प्रतिबन्ध लगाना पड़े। एक बड़े राज्य का उत्तराधिकारी गया पढ़ने, परन्तु बन गया पक्का शराबी। जब वह हरेक परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने लगा और उसे भारत में वापिस लाने का यत्न किया गया तो उसने आने से इनकार कर दिया। एक दूसरे राज्य का युवराज व्यभिचार के कारण विलायत में ही क्षय रोग से मर गया, और तीसरा शाहज़ादा इतना बदनाम हुआ कि उसने न केवल अपने नाम पर अपितु अपनी जन्मभूमि के नाम पर भी कलंक का टीका लगाया। दुर्भाग्य की बात यह थी कि ऐसी ही शिक्षा में पले हुए युवक होते थे, जिन पर आगे चलकर रियासत की प्रजा के सुख-दुःख का उत्तरदायित्व आता था।

यह स्वाभाविक ही था कि अंग्रेजी सरकार के इस विलासितापूर्ण कारखाने में गढ़े जाकर नरेश लोग प्रायः अय्याशी में गले तक डूबे रहते थे। उनमें अपवाद भी थे, जो सच्चरित्र थे, और प्रजा का भला चाहते थे, परन्तु उनकी गति अंग्रेज़ी रेजिडेंटों के कारण रुक जाती थी। जब वह अपने-आपको प्रजा की भलाई और उन्नति करने में असमर्थ पाते थे, तो लाचार होकर उसी लीक पर पड़ जाते थे, जो सर्वसामान्य नरेशों की थी।

देशी नरेशों का घरेलू जीवन प्रायः गन्दा होता था। बहुविवाह को रईसों का आभूषण माना जाता था। ऐसे दृष्टान्तों की कमी नहीं थी जिनमें एक राजा या नवाब की रानियों और रखैलों की संख्या मिलाकर सौ से ऊपर निकल जाय। एक नरेश जब गंगास्नान के लिए हरिद्वार जाया करते थे, तो उनके अन्तःपुर से भरी हुई एक पूरी स्पेशल ट्रेन भी साथ जाती थी। चार-पांच रानियों और उनकी दासियों से भरा रनवास तो प्रायः ८० फीसदी रियासतों में पाया जाता था। ऐसी दशा में यदि रियासतों के महल षड्यन्त्र, गुप्त हत्या, अत्याचार और दुराचार के अड्डे बने रहते थे तो आश्चर्य ही क्या?

ऐसी अन्धेरनगरियों में प्रजा की जो दुर्दशा होती थी, उसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है। रियासतों के शासन का मुख्य उद्देश्य शासक की आवश्यकताओं और अय्याशियों को पूरा करना था, प्रजा की रक्षा या उन्नति का स्थान सर्वथा गौण था। इस कथन की सत्यता कुछ आंकड़ों से लगाई जा सकती है।

बीकानेर की रियासत उन्नतिशील समझी जाती थी। उसके १९२९-३० के बजट में लगभग २६ लाख रुपया महाराज, उसके परिवार और सरकारी नौकरों के खर्च के लिए रखा गया था, तो प्रजा की शिक्षा, चिकित्सा आदि के लिए केवल साढ़े चार लाख की व्यवस्था की गई थी। जामनगर की रियासत को भी एक सुशिक्षित और रौशन दिमाग नरेश द्वारा शासित होने का सौभाग्य प्राप्त था। १९२६ में उस रियासत की सम्पूर्ण आय का आधा भाग महाराज के निजी खर्चों में और शाही महलों के बनाने में व्यय हुआ था। एक वर्ष अलवर के महाराज

की मोटरों पर १० लाख रुपये और प्रजा की शिक्षा पर केवल २२,००० रुपये व्यय हुआ था।

यों तो अंग्रेजी काल में सारे देश में ही शिक्षा की बहुत कमी थी, परन्तु देशी राज्यों की दशा तो बहुत ही शोचनीय थी। साक्षरों की संख्या आबादी के हिसाब से ४ प्रतिशत से भी कम थी। कई रियासतों में १० ग्रामों में एक स्कूल या पाठशाला का भी औसत नहीं था। चिकित्सालयों की भी यही दशा थी। पहले तो चिकित्सालय थे ही बहुत कम; जो थे वे भी इतने घटिया थे, कि उनमें कठिन रोगों की चिकित्सा असम्भव थी। शहरों में जो चिकित्सालय थे, उनसे धनी लोग ही लाभ उठा सकते थे। शेष ८५ फीसदी के लगभग जनता को उनसे कोई लाभ नहीं मिलता था। यह जानकर भारत की भावी सन्तति को आश्चर्य हुआ करेगा कि बीसवीं सदी के मध्य तक भी देशी राज्यों में दास-प्रथा प्रचलित थी; और बेगार-प्रथा तो रियासतों के आर्थिक जीवन का अन्तरंग हिस्सा ही थी।

ऐसी पीड़ित और निर्धन प्रजा से रियासत की सरकार जो वसूलियां करती थी, उनकी सूचि देखकर मनुष्य स्तब्ध रह जाता है। पहले जाप्ते के करों को लीजिए। उनकी अपूर्ण सूचि इस प्रकार है—आयकर, कारीगरों और मज़दूरों आदि पेशेवरों पर, पशुओं पर और जन्म, विवाह, मृत्यु और वेश्यालयों पर कर, म्युनिसिपैलिटी के कर, किसानों से लगान, विशेषकर राजकुमार के जन्म का कर, विवाह का कर, जन्मदिन का कर, राज्यारोहण का कर, अंग्रेज़ अफसर के रियासत में स्वागत का कर आदि, नरेश की प्रजा की ओर से भेंट, जब प्रजाजन राजा से मिलें, तब भेंट दें, जब राजा उनके शहर या गांव में जाय तब भेंट दें, सरकारी कर्मचारियों द्वारा रिश्वतें और भेंटें।

परिणाम यह था कि सब-कुछ मिलाकर राजा और उसके नौकरों की जेब में नगरवासियों से उनकी आय का ४० फीसदी और ग्रामवासियों से उनकी आय का ६० फीसदी भाग चला जाता था। बेचारी प्रजा को शेष छोटी-सी राशि से निर्वाह करने के लिए ऋण का सहारा लेना पड़ता था। सूद की दर महाजन की इच्छा पर अवलम्बित थी; और कई राजा स्वयं भी बड़े पैमाने पर लेन-देन करते थे। फलतः देशी राज्यों के निवासी नरेश और निर्धनता—इन दो पाटों के बीच में पड़कर घुन की तरह पिस रहे थे।

देशी राज्यों की प्रजा के लिए राजनीतिक स्वाधीनता तो मानो अलभ्य वस्तु थी। नाम को कई रियासतों में प्रतिनिधिमण्डल थे, परन्तु उनका निर्माण ऐसा था कि उन्हें प्रजा के प्रतिनिधिमण्डल न कहकर शासक का ग्रामोफोन ही कहना चाहिए। प्रतिनिधिमण्डल के वार्षिक अधिवेशन सब मामलों में राजाओं की हां-में-हाँ मिलाने का काम करते थे। नरेश ही रियासत का मुख्य न्यायाधीश होता था और वही नियम-कानून का निर्माता था। न उसके फैसले की कहीं अपील हो सकती थी, और न उसके अपने किये पापों की कहीं फरियाद। वह अपने राज्य की सीमाओं में सर्वेसर्वा तानाशाह था। ऐसी दशा में यह कहना कि उन

दिनों देशी राज्यों की प्रजा के कोई राजनीतिक अधिकार थे, सर्वथा असत्य होगा।

नरेश लोग निर्धन प्रजा का भरपूर शोषण करके, और उन पर मनमाने अत्याचार करके भी चैन की बंशी बजा सकते थे। राजा की अन्दर और बाहर के विरोधियों से रक्षा करने की जिम्मेदारी ब्रिटिश सरकार ने ले रखी थी। वह एक प्रकार से अंग्रेजी संगीनों के संरक्षण में रहकर प्रजा के अधिकारों पर डाका डालते थे। १९४७ में भारत में सब मिलाकर ५६३ देशी राज्य थे। उनमें से ११९ बड़ी रियासतें थीं, और शेष ४४४ छोटी। बड़ी रियासतों में निजाम, मैसूर, बड़ौदा, त्रावणकोर काश्मीर आदि कुछ रियासतों को अपने आन्तरिक शासन में पूरी स्वाधीनता प्राप्त थी। माना जाता था कि उनका ब्रिटिश राजमुकुट (इंग्लैण्ड के शासक) से सीधा इकरारनामा है। ब्रिटिश सरकार उनके मामले में तभी हस्तक्षेप करती थी, जब किसी राजा या नवाब को ब्रिटिश नीति के विरुद्ध चलता देखती थी। नाम के शासक पर आपत्ति आने का यही कारण होता था कि उसकी प्रवृत्तियां भारत की राजनीतिक लड़ाई के अनुकूल समझी गई हों। जब तक कोई बहुत बड़ा कांड न हो तब तक इन बड़ी रियासतों के शासकों की मनमानी को भारत सरकार बेरोक-टोक चलने देती थी। इस तरह उसे ब्रिटिश भारत की प्रजा को देशी राज्यों की प्रजा की दुर्दशा दिखाकर भ्रम में डाल रखने का अवसर मिल जाता था।

यह दशा बड़े देशी राज्यों की थी, जहां के शासक प्रायः शिक्षित होते थे और मन्त्री भी पढ़े-लिखे और अनुभवी समझे जाते थे। नाम-मात्र को प्रतिनिधिमण्डल भी थे, और हाईकोर्ट भी। उनमें समाचारपत्र भी प्रकाशित होते थे। छोटे राज्यों की प्रजा की दशा तो भेड़-बकरियों से भी बदतर थी, क्योंकि वहाँ पूरा अन्धकार था। छोटी रियासतों में कुछ तो इतनी छोटी थीं, कि उनकी आबादी सैकड़ों तक परिमित थी। ऐसी रियासतों में न स्कूल थे, और न अस्पताल, अदालतों की तो बात ही दूर रही। वे देशी राज्य 'अन्धेरनगरी' के ज्वलन्त उदाहरण थे।

जब देश के अन्तरिक्ष में राजनीतिक जागृति की उषा का प्रकाश आविर्भूत हुआ, तब उसकी हल्की-सी झलक रियासतों में भी पहुंची, परन्तु वहां की परिस्थितियां ऐसी थीं, कि उसे विकास का अवसर न मिला। नरेशों को स्वाधीनता की चर्चा कैसे पसन्द आ सकती थी, और फिर यहां तो सर्वोच्च सत्ता (अंग्रेजी सरकार) का इशारा भी था। रियासतों में प्रारम्भ से ही राजनीतिक जागृति को कुचलने का प्रयत्न होता रहा था। नरेशों के हाथ में अपरिमित अधिकार होने के कारण आन्दोलनों को कुचलना कुछ कठिन भी नहीं था। रियासतों में स्वतंत्र समाचार-पत्र चलने नहीं दिये जाते थे, और बाहर के पत्रों का प्रवेश रोक दिया जाता था। जरा-सा असन्तोष प्रकट करने पर जीवन-भर के लिए कारागार में डाल देना या निर्वासित कर देना तो साधारण-सा दंड था। फलतः गुलाम भारत में देशी राज्यों की प्रजा की दशा परम गुलामों जैसी थी।

उस युग में, उन ५६३ देशी राज्यों में कानून के नाम पर जो अत्याचार किये

गए, उनका पूरा विवरण लिखा जाय तो एक महाभारत जितनी बड़ी दुःखगाथा बन जायगी। यहां थोड़े-से दृष्टान्त देना ही पर्याप्त होगा। जामनगर की 'उन्नतिशील' कहलानेवाली रियासत में बोदी के मानसिंह झाटा को बिना कोई कारण बतलाये पकड़कर जेल में डाल दिया गया और ५ साल के पश्चात् छोड़ा। इसी रियासत के पोलिटिकल मन्त्री ने निम्नलिखित आज्ञा निकाली थी:

> "सब लोगों को सूचना दी जाती है कि कोई व्यक्ति, सभा या समुदाय, तब तक राजनीतिक विषय पर भाषण नहीं कर सकता, जब तक पहले पोलिटिकल मन्त्री से आज्ञा न ले ले, और कोई राजनीतिक सभा नहीं की जा सकती। जो लोग इस आज्ञा का पालन नहीं करेंगे उन पर कानूनी (?) कार्रवाई की जायगी।"

टिहरी गढ़वाल के राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता श्री सुमनजी का मामला प्रसिद्ध है। उन्हें केवल राजनीतिक आन्दोलन करने के कारण जेल में इतना कष्ट दिया गया कि वहीं उनकी मृत्यु हो गई।

मैसूर को उन दिनों आदर्श देशी राज्य माना जाता था। महात्माजी ने उसे एक बार 'नमूने का राज्य' कहा था। वहां राष्ट्रीय झण्डा फहराने पर प्रतिबन्ध लगाया गया, और राजनीतिक सभाओं को गोलियां चलाकर भंग किया गया।

इसी प्रकार उन्नतिशील कहलानेवाली त्रावणकोर रियासत ने श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय को केवल इसलिए रियासत से निर्वासित कर दिया कि वह राजनीतिक अधिकारों की चर्चा करती थीं। जब सरकार की तानाशाही के विरोध में प्रजा ने सत्याग्रह आरम्भ करने का निश्चय किया तो रियासत की सरकार, कानून, पुलिस और सेना की सारी शक्ति लेकर उन पर टूट पड़ी।

राजकोट में लोगों ने एक भ्रष्टाचार के अपराधी मन्त्री को हटाने की मांग की तो उन्हें लाठी-प्रहार द्वारा चुप कराने का यत्न किया गया। जब इस पर भी आन्दोलन शान्त न हुआ तो प्रजामण्डल के नेता पकड़कर जेल में डाल दिये गए।

हैदराबाद की दशा तो अन्य सभी रियासतों से बरी थी। वहां की सरकार का हाथ इतना कड़ा था, और प्रजा इतनी त्रस्त थी कि राजनीति का नाम लेना भी कठिन था। ऐसे फरमान निकले हुए थे जिनके प्रभाव से सरकार की मर्जी के बिना राजनीतिक तो क्या, धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं तक का संगठन करना कानून-विरुद्ध माना जाता था; और यह तो प्रसिद्ध बात थी कि निजाम को सौ खून माफ थे; वहां के महलों में नवजात बच्चों के मारे जाने की अफवाहें प्रायः उड़ती रहती थीं।

काश्मीर की जनता वर्षों तक राजनीतिक अधिकारों के लिए आन्दोलन करती रही, परन्तु सर्वोच्च सत्ता के द्वारा प्रोत्साहित रियासत के शासक उसे निरन्तर दबाते रहे।

१९२९ में लाहौर में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, उसमें देशी राज्यों के सम्बन्ध में भी एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया था। उस प्रस्ताव में देशी राज्यों

के शासकों से यह मांग की गई थी कि वे अपनी प्रजा को आवागमन, भाषण, सम्मेलन, आदि के तथा व्यक्ति और सम्पत्ति की रक्षा के नागरिक अधिकार प्रदान करने में विलम्ब न करें। यह तो था कांग्रेस के औपचारिक प्रस्ताव का आशय, परन्तु कांग्रेसजनों का लोकमत उससे बहुत आगे बढ़ चुका था। कांग्रेस का प्रस्ताव महात्मा गान्धी और कांग्रेस के अन्य प्रमुख नेताओं की सावधान मनोवृत्ति का परिणाम था। देशी राज्यों के बारे में महात्माजी का दृष्टिकोण उनके निम्नलिखित वाक्यों से प्रकट होता है :

> "मैं चाहता हूं कि देशी राज्य अपनी प्रजा को स्वाधीन शासन का अधिकार दे दें। मेरी यह भी इच्छा है कि नरेश लोग न केवल अपने को अपनी प्रजा के ट्रस्टी समझें, बल्कि ट्रस्टी बन भी जायं, और राज्यकोष से अपने निर्वाह के लिए थोड़ी-सी निश्चित राशि लिया करें. . . .कांग्रेस सदा देशी राज्यों को मित्रभाव से देखती रही है, और उनके आन्तरिक मामलों में दखल नहीं देती रही है, आशा रखनी चाहिए कि देशी राज्य उस विश्वास को ठेस न पहुंचायेंगे।"

महात्माजी की यह आशा कभी पूरी न हुई। अपनी सुख-शय्या को अंग्रेजों की संगीनों द्वारा सुरक्षित जानकर अधिकतर देशी राज्यों के शासक दमन की घाटी में नीचे-ही-नीचे उतरते गए। काश्मीर, हैदराबाद, मैसूर, रतलाम, झाबुआ, इन्दौर, टिहरी आदि की घटनाएं उनकी बिगड़ती हुई मनोवृत्ति के स्पष्ट प्रमाण थे।

देशी राज्यों की आन्तरिक दुर्दशा देश-भर में अपनी प्रतिक्रिया उत्पन्न कर रही थी। लाहौर की कांग्रेस के अवसर पर देशी राज्य-प्रजामण्डल और नौजवान सभा आदि के जो अधिवेशन हुए, उनमें न केवल रियासतों की दमन-नीति पर रोष प्रकट किया गया, रियासतों के प्रति कांग्रेस की ढीली नीति की निन्दा भी की गई। स्वाधीनता के ध्येय की घोषणा के साथ-साथ देशी राज्यों की प्रजा की मुक्ति का प्रश्न भी अटूट भाव से बंधा हुआ था। देश के जागृत नागरिक अनुभव कर रहे थे कि हम देशी राज्यों की ८ करोड़ से अधिक जनता को पीछे छोड़कर स्वाधीनता की ओर नहीं बढ़ सकते।

ब्रिटिश सरकार की इच्छा और अधिकतर नरेशों के विरोधी प्रयत्नों के बावजूद स्वाधीनता की तीव्र अभिलाषा देशी राज्यों की प्रजा के हृदयों में प्रवेश करती गई। उनके ब्रिटिश भारत के लोगों से पारिवारिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध इतने गहरे थे कि उनका चिरकाल तक एक-दूसरे से प्रभावित न होना असम्भव था। १९३० के आरम्भ में यह अनुभव होने लगा था कि रियासती प्रजा भी जाग उठी है, और वह देश के अन्य निवासियों के कन्धे-से-कन्धा मिलाकर स्वाधीनता के रणक्षेत्र में उतरने को तैयार है।

: ५१ :

ऐतिहासिक दांडी-यात्रा

लाहौर की कांग्रेस के पश्चात् घटनाओं का चक्र तूफान की तेजी से चलने लगा।

२ जमवरी १९३० को लाहौर में नई कार्यकारिणी की बैठक हुई। उसने दो महत्वपूर्ण निर्णय किये। पहला निर्णय कौंसिलों के बहिष्कार के सम्बन्ध में था। समिति ने सरकार को अनुदार नीति के प्रति विरोध प्रदर्शन करने के लिए कौंसिल के सब सदस्यों को आदेश दिया कि वे कौंसिलों से बाहर चले आयें, और मतदाताओं से अनुरोध किया कि जो सदस्य कांग्रेस की अपील को मानकर कौंसिल का त्याग न करें, उन्हें मजबूर करें कि वे कौंसिलों से अलग हो जायं, और नये चुनाव में खड़े न हों। इस आदेश के अनुसार कौंसिल के २७ सदस्यों ने त्यागपत्र दे दिये।

कार्यसमिति ने दूसरा महत्वपूर्ण निर्णय यह किया कि २६ जनवरी का दिन देश-भर में 'स्वाधीनता-दिवस' के नाम से मनाया जाय, जिसमें न केवल जनता के सामने स्वाधीनता का घोषणापत्र रखा जाय, स्वाधीनता प्राप्त करने की प्रतिज्ञा पर स्वीकृति भी ली जाय। प्रतिज्ञापत्र का पहला अवतरण भारत की उस समय की मनोवृत्ति का प्रतिबिम्ब था। उस में कहा गया था:

"हम भारत के प्रजाजन अन्य राष्ट्रों की भांति अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं कि हम स्वतन्त्र होकर रहें, अपने परिश्रम का फल स्वयं भोगें, और हमें जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधाएं प्राप्त हों, जिससे हमें भी विकास का पूरा अवसर मिले। हम यह भी मानते हैं कि यदि कोई सरकार हमारे ये अधिकार छीन लेती है तो प्रजा को उसे बदल देने या नष्ट कर देने का पूरा अधिकार है। भारत की अंग्रेजी सरकार ने केवल देश की प्रजा को पराधीन ही नहीं बनाया है, इस सरकार का आधार ही गरीब भारत के शोषण पर है, और इसने आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, और आध्यात्मिक दृष्टि से भारत का नाश कर दिया है, अतः हमारा विश्वास है कि भारतवर्ष को अंग्रेजों से सम्बन्ध-विच्छेद करके पूरी स्वाधीनता प्राप्त कर लेनी चाहिए।"

घोषणा के अन्त में निम्नलिखित प्रतिज्ञा थी:

"अतः हम शपथपूर्वक संकल्प करते हैं कि पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के हेतु, कांग्रेस समय-समय पर जो आज्ञाएं देगी, उनका हम पालन करेंगे।"

२६ जनवरी का स्वाधीनता-दिवस देश में बड़े उत्साह से मनाया गया। जनता ऐसा अनुभव करती थी मानो स्वाधीनता प्राप्त हो गई। ठीक भी था, क्योंकि मानसिक स्वाधीनता ही तो मौलिक स्वाधीनता है। सहस्रों नगरों और ग्रामों में विराट् सभाएं हुईं। प्रारम्भ में चरखे के चिह्नवाला तिरंगा झंडा फहराया

गया। झंडे का 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा, झंडा ऊंचा रहे हमारा' गीत जो उस समय देश-भर में मान्य हो चुका था, गाया गया। उर्दू का एक विशेष गीत, उस समय बहुत लोकप्रिय हुआ और उत्तरी भारत की अनेक सभाओं में गाया गया। उसका पहला पद था :

"आबरू पर हिन्द की हम सब फिदा हो जायंगे।"

इस गीत का अन्तिम पद था—जो भविष्यवाणी के सदृश सिद्ध हुआ :

"इक नये अन्दाज से किश्ती चलेगी हिन्द की।
और जवाहरलाल नेहरू नाखुदा हो जायंगे।"

कौंसिल की बैठक आरम्भ होने पर वायसराय ने उसमें एक जला-कटा भाषण दिया, और सरकार ने एक 'वस्त्रोद्योग-रक्षक कानून' उपस्थित कर दिया, जिसके विरोध में पं० मदनमोहन मालवीय और उनके राष्ट्रीय दल के अन्य सदस्यों ने भी कौंसिल को छोड़ दिया। प्रायः सभी राष्ट्रीय नेता कौंसिल से अलग हो गए।

इस प्रकार वातावरण तपे हुए लाल लोहे की भांति गर्म हो रहा था, जब १४ फरवरी को साबरमती आश्रम में कांग्रेस की कार्यसमिति का अधिवेशन हुआ। उस अधिवेशन में स्पष्ट रूप से पराधीनता के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी गई। जो प्रस्ताव स्वीकृत हुआ उसमें महात्माजी और उनके साथियों को नमक कानून भंग करने के रूप में सविनय अवज्ञा करने की अनुमति देने के अतिरिक्त कार्यसमिति ने यह विश्वास भी प्रकट किया कि नेताओं के गिरफ्तार और कैद हो जाने पर जो लोग पीछे रह जायंगे, और जिनमें त्याग और सेवा की भावना होगी वे अपनी योग्यता के अनुसार कांग्रेस के काम और स्वाधीनता के आन्दोलन को जारी रखेंगे।

इस प्रकार, कांग्रेस से सत्याग्रह आरम्भ करने की अनुमति प्राप्त करके, महात्माजी ने, सत्याग्रह के प्रधान सेनापति के कर्त्तव्यों का पालन करते हुए वायसराय को एक पत्र लिखा, जिसे उस समय अल्टीमेटम (अन्तिम सूचना) के नाम से निर्दिष्ट किया गया। उस अन्तिम सूचना में महात्माजी ने विस्तार से उन कारणों का उल्लेख किया था, जिन्होंने उन्हें ब्रिटिश सरकार के सहायक न रहकर विरोधी बनने के लिए बाध्य कर दिया था। अंग्रेजों ने भारत को दास बनाकर किस तरह चूसा, और निहत्था और दरिद्र बना दिया, इसकी चर्चा करके और अपना सत्याग्रह जारी करने का इरादा प्रकट करके अन्त में महात्माजी ने वायसराय को लिखा था :

"मेरा बस चले तो मैं आपको अनावश्यक तो क्या जरा-सी कठिनाई में भी नहीं डालना चाहता। यदि आपको मेरे पत्र में कुछ सार दिखाई दे और आप मुझसे बातचीत करना चाहें और इस कारण आप इस पत्र को प्रकाशित होने से रोकना चाहें तो इसके पहुंचते ही मुझे तार दे दीजिए। मैं खुशी से रुक जाऊंगा। परन्तु इतनी कृपा अवश्य कीजिए कि यदि आप इस पत्र के अभिप्राय से भी सहमत न हों, तो मुझे अपने इरादे से रोकने का यत्न न करें।"

महात्माजी ने यह चिट्ठी रेजिनाल्ड रेनाल्ड्स नाम के एक अंग्रेज सज्जन के हाथ भेजी थी, ताकि उसके वायसराय के हाथ तक पहुंचने में कोई बाधा न हो। पत्र यथासमय वायसराय तक पहुंच गया और वायसराय ने उसका औपचारिक उत्तर भी दे दिया। उत्तर वही पुराना रटा-रटाया पाठ था। वायसराय ने गान्धीजी के निश्चय पर खेद प्रकट करते हुए उन्हें सलाह दी थी कि कानून-भंग जारी न करें, क्योंकि उससे निश्चित रूप से शान्ति का भंग हो जायगा।

वायसराय का उत्तर मिलने पर महात्माजी ने सत्याग्रह-संग्राम के प्रारम्भ की घोषणा कर दी। सशस्त्र युद्धों में कोई सेनापति अपनी आक्रमण-योजना को प्रकाशित नहीं करता। महात्माजी के सत्याग्रह युद्ध की यही विशेषता थी कि उसका पूरा-पूरा कार्यक्रम विरोधियों के और सारे संसार के सामने रख दिया जाता था। महात्माजी ने मुहिम शुरू करने की जो योजना प्रकाशित की, उसका यह रूप था कि महात्माजी अपने ७९ साथियां के साथ, साबरमती आश्रम से, दांडो नामक स्थान के लिए पैदल रवाना होंगे। आश्रम से दांडी तक २०० मील के रास्ते में प्रत्येक पड़ाव पर प्रचार करते हुए वे लोग दांडी पहुंचेंगे और वहां नमक के सरकारी गोदाम मे नमक उठाने का प्रयत्न करेंगे। सरकार इस कानून-विरोधी कार्य को रोकने के लिए जो प्रहार करेगी उन्हें सच्चे सत्याग्रही बनकर शान्तिपूर्वक सह लेंगे।

जब गान्धीजी ने अपनी उस इतिहास में अनूठी तीर्थयात्रा के प्रारम्भ के दिन की घोषणा की तो एक विशेष सम्प्रदाय के लोगों ने उनसे तार द्वारा मांग की कि आप यात्रा को कुछ काल के लिए स्थगित कर दें, ताकि हम लोग इस बात का निश्चय कर लें कि आपकी यात्रा में हमलोग सम्मिलित हो सकेंगे या नहीं? महात्माजी ने उन्हें उत्तर दिया कि "मैं तुम्हारे निश्चय की २४ घण्टों तक प्रतीक्षा कर सकता हूं, इससे अधिक नहीं।"

गान्धीजी ने अपने ७९ साथियों के साथ १२ मार्च १९३० के दिन आश्रम से प्रस्थान किया। मानो उन ७९ व्यक्तियों ने सारे ब्रिटिश साम्राज्य की पाशविक शक्ति की दीवार को तोड़ने के लिए अपने सिर आगे कर दिये। दृश्य ऐसा अद्भुत था कि सारे संसार की दृष्टि उस ओर खिंच गई। देश-विदेश के अनेक पत्र-प्रतिनिधि उसे देखने के लिए न केवल अहमदाबाद में एकत्र हुए, उनमें से बहुत-से सारी यात्रा में निरन्तर साथ रहे।

जब कमर में घुटनों तक का एक अधोवस्त्र और कन्धों पर डाले हुए एक उपरिवस्त्र मात्र से परिवेष्टित तपःकृश सेनापति के पीछे उनके ७९ सत्याग्रही दो-दो की पंक्ति में कूच के लिए खड़े हो गए, तब आश्रमवासियों की ओर से उनकी आरती उतारी गई। उस समय सहस्रों की संख्या में उपस्थित जनता ने उनका हार्दिक अभिनन्दन किया, और विजय की कामना की। विदाई के पश्चात् सारा जनसमुदाय एक जुलूस के रूप में दांडी के मार्ग पर चल पड़ा। कहा जाता है कि अहमदाबाद में उतना बड़ा जुलूस कभी नहीं निकला। शायद बच्चों और अपंगों के सिवाय नगर

का प्रत्येक निवासी इस जुलूस में शामिल था*। जुलूस की लम्बाई दो मील से अधिक ही होगी। रास्ते-भर गान्धीजी के जय के गगनभेदी नारे लगते रहे। प्रस्थान के समय महात्माजी ने अपनी यह ऐतिहासिक घोषणा की थी :

"यदि स्वराज्य न मिला, तो या तो रास्ते में मर जाऊंगा, या आश्रम के बाहिर रहूंगा। नमक-कर न उठा सका तो आश्रम लौटने का भी इरादा नहीं है।"

पहला पड़ाव दस मील पर था। सारे रास्ते में दोनों ओर खड़ी हुई ग्रामीण जनता की भीड़ ने सत्याग्रही दल का हार्दिक अभिनन्दन किया। पड़ाव प्रायः झोपड़ियों में किया जाता था। महात्माजी ने कड़ा आदेश दे दिया था कि भोजनादि की व्यवस्था बहुत सादगी से की जाय, स्वागत-सत्कार में व्यर्थ धन व्यय न किया जाय। उस आदेश का सावधानी से पालन किया जाता था।

पड़ाव पर पहुंचकर प्रचार का आयोजन किया जाता था। सायंकाल की प्रार्थना के समय हजारों की भीड़ एकत्र होती थी, जिसमें महात्माजी का प्रवचन होता था। प्रवचन क्या था, वह अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध शान्तिमय युद्ध की दैनिक घोषणा थी, जिसकी रिपोर्ट अगले दिन प्रातःकाल भारत-भर के बड़े-बड़े समाचारपत्रों में छप जाती थी।

यात्रा के प्रारम्भ से ही यह क्रम जारी हो गया था कि प्रत्येक पड़ाव पर कुछ-न-कुछ स्थानीय सरकारी नौकर, सभा में, सरकारी नौकरी से त्यागपत्र देने की घोषणा कर देते थे। कई पटवारी और गांव के नम्बरदार उसी समय सत्याग्रह की सेना में भरती हुए थे।

दूसरे दिन प्रातःकाल सहस्रों नर-नारियों के जयकारों के मध्य, बढ़े हुए उत्साह और आशावाद के साथ अगले पड़ाव के लिए जत्था रवाना हो जाता था।

२४ दिन की यात्रा के पश्चात् ५ अप्रैल को, महात्माजी, अपने दल के साथ दांडी पहुंच गए। दांडी में जो कुछ हुआ, उसका विवरण, महात्माजी के अमरीकन चरित्र-लेखक मि० लुई फिशर के शब्दों में, इस प्रकार है :

"५ अप्रैल की रात-भर आश्रमवासियों ने प्रार्थना की और सुबह सब लोग गान्धीजी के साथ समुद्रतट पर गये। गान्धीजी ने समुद्र में गोता लगाया, किनारे पर लौटे और लहरों का छोड़ा हुआ कुछ नमक उठाया। इस प्रकार गान्धीजी ने ब्रिटिश सरकार के उस कानून को तोड़ दिया जिसके अनुसार सरकारी ठेके के अतिरिक्त लिया हुआ नमक रखना गुनाह था. . . .

"नमक उठाने के बाद गान्धीजी वहां से हट गए। इससे भारत-भर को इशारा मिल गया। इसके पश्चात् तो मानो बिना हथियारों का बलवा हो गया। भारत के लम्बे समुद्रतट पर का प्रत्येक ग्रामवासी तसला लेकर नमक लेने के लिए समुद्र में उतर पड़ा। पुलिस ने सामूहिक रूप से गिरफ्तारियां शुरू कर दीं और बल-प्रयोग भी किया। सत्याग्रही लोग गिरफ्तारी का

---

* डा० पट्टाभि का 'कांग्रेस का इतिहास'।

विरोध नहीं करते थे, हां, अपने बनाये हुए नमक की जब्ती का विरोध अवश्य करते थे . . . .

"४ मई को गान्धीजी का शिविर कराडी में था। उसी रात पौन बजे, जब सब लोग सोये हुए थे, सूरत के अंग्रेज जिला मजिस्ट्रेट ने तीस हथियार-बन्द सिपाहियों और दो अफसरों के साथ बाड़े पर धावा बोल दिया। अंग्रेज अफसर ने गान्धीजी के चेहरे पर टार्च की रोशनी डाली। गान्धीजी जाग उठे और मजिस्ट्रेट से बोले—'क्या आप मुझे चाहते हैं?'

"मजिस्ट्रेट ने औपचारिक रूप से पूछा—'क्या आप मोहनदास करम-चन्द गान्धी हैं?'

"'जी हां।'

"'मैं आपको गिरफ्तार करने आया हूं।'

"'कृपया मुझे नित्यकर्म के लिए कुछ समय दीजिए।'

"मजिस्ट्रेट ने मान लिया। मंजन करते-करते गान्धीजी ने कहा—'मजिस्ट्रेट साहब, क्या मैं यह जान सकता हूं कि मुझे किस धारा में गिरफ्तार किया जा रहा है? क्या दफा १२४ में?'

"'जी नहीं; दफा १२४ में नहीं। मेरे पास लिखित हुक्मनामा है।'

"'गान्धीजी ने पूछा—'क्या आप उसे पढ़कर सुनाने की कृपा करेंगे?'

"मजिस्ट्रेट ने पढ़ा, 'चूंकि गवर्नर जनरल-इन-कौंसिल मोहनदास करमचन्द गान्धी की कार्रवाइयों को खतरनाक समझता है, इसलिए उसका आदेश है कि उक्त मोहनदास करमचन्द गान्धी को १८२७ के रेगुलेशन ३५ के मातहत प्रतिबन्ध में रखा जाय—और जब तक सरकार की मर्जी हो तब तक वह कैद में रहे। उसे तुरन्त यरवदा जेल पहुंचाया जाय।'

"गान्धीजी ने पं० खरे से भजन गाने को कहा। भजन के समय महात्माजी ने सिर झुकाकर प्रार्थना की। फिर वह मजिस्ट्रेट के पास गए, और वह उन्हें तैयार खड़ी हुई गाड़ी में ले गया।"

इस प्रकार महात्माजी दांडी पहुंचकर यरवदा जेल में प्रविष्ट हो गए। महात्माजी ने जेल जाने की दशा में दांडी के सत्याग्रही जत्थे का नेतृत्व श्रीमती सरोजिनी देवी को सौंपने का आदेश दे दिया था। तदनुसार ६ अप्रैल के प्रातःकाल जत्थे की कमान श्रीमती नायडू ने संभाल ली, और देश के सत्याग्रह-संग्राम का सेनापतित्व वयोवृद्ध श्री अब्बास तय्यबजी को सौंपा गया।

: ५२ :

दमन का नया दौर

रावी के तट पर स्वाधीनता के लक्ष्य की घोषणा होने के साथ ही, सरकार अपने दमन के हरबों को संभालने लगी थी। जनवरी का महीना समाप्त होते-न-होते राष्ट्रभक्तों पर सरकार के वार होने लगे। प्रारम्भ नौजवान भारत-सभा के कार्यकर्त्ताओं से हुआ। देश में कई स्थानों पर सभा के अधिकारी तथा वक्ता गिरफ्तार कर लिये गए। नौजवान आन्दोलन का एक प्रमुख केन्द्र दिल्ली में था। सरकार ने मार्च के आरम्भ में, वहां के कई नौजवान कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं पर ग्रामों में अशान्ति फैलाने का अभियोग चला दिया। सरकार ने दमन तो शायद इसलिए किया था कि उससे अहमदाबाद से उठते हुए तूफान को दबाने में सहायता मिलेगी, परन्तु असर उलटा ही हुआ। वातावरण ठण्डा होने की जगह इतना गर्म हो गया कि नमक-सत्याग्रह का बिगुल बजने पर जो गिरफ्तारियां आरम्भ हुईं उन्होंने जलती आग में घी का काम किया।

६ अप्रैल को देशव्यापी नमक सत्याग्रह जारी हो गया। नगर-नगर और ग्राम-ग्राम में पुरुष-स्त्री और बच्चे जिस स्थान पर नमकवाली भूमि पाते, नमक बनाने के लिए पहुंच जाते थे। छोटे-छोटे चूल्हे बनाकर उनपर कड़ाहियों में नमकीन मिट्टी-वाला पानी चढ़ा दिया जाता था। पानी सूख जाता और कड़ाही में नमक का अंश बच जाता था। वह नमक वहीं बेच दिया जाता था, और उससे जो प्राप्ति होती वह कांग्रेस के कोष में जमा कर दी जाती थी। लाइसेंस के बिना नमक बनाना और बेचना दोनों ही काम कानून के विरुद्ध थे। यही सत्याग्रह का रूप था। डंडों, बन्दूकों और हथकड़ियों से लैस पुलिस नमक के उन अस्थायी कारखानों को घेरती थी, और न केवल सत्याग्रहियों पर हर प्रकार के प्रहार करती थी, अपितु सत्याग्रह देखने के लिए एकत्र जनसमूह पर भी डंडे बरसाती थी। गिरफ्तारियों का तो कोई हिसाब ही नहीं था। कागजी वारंट अनावश्यक हो गया था, क्योंकि प्रत्येक पुलिसमैन का हाथ वारंट बना दिया गया था। जिसके हाथ पर पुलिस ने अपना हाथ रख दिया, वही कैदी बन गया। पुलिस कड़ाहियां छीनती थी, नमक पर झपट्टे मारती थी, और दर्शकों के सिर लाठियों से फोड़ती थी। ज्यों-ज्यों पुलिस के अत्याचार बढ़ते गए, सत्याग्रह की तीव्रता भी बढ़ती गई।

गान्धीजी की गिरफ्तारी के पश्चात् प्रयाग में कांग्रेस की कार्यसमिति का जो अधिवेशन हुआ, उसमें गान्धीजी और उनके साथियों को सफल सत्याग्रह पर बधाई देते हुए, देशवासियों को शान्तिमय युद्ध की भूमि में उतरने के लिए आह्वान किया गया। कार्यसमिति ने सत्याग्रह को व्यापक बनाने के निमित्त देशवासियों के सामने कई नये कार्यक्रम रखे। समिति ने विद्यार्थियों, वकीलों, व्यवसायियों, मज़दूरों, किसानों तथा सरकारी नौकरों को प्रेरणा दी कि वे अपने सदा के रिवाजी कार्यक्रम

को स्थगित करके स्वातन्त्र्य-संग्राम में भाग लें। देशवासियों से अनुरोध किया कि वे विदेशी वस्त्रों का पूरा बहिष्कार कर दें; और प्रान्तों को यह अनुमति दे दी कि वे जहां उचित समझें लगान देना बन्द कर दें और जिन प्रान्तों में जमींदारी प्रथा प्रचलित नहीं है, उनमें चौकीदारी कर देने से इनकार कर दें। कार्यसमिति ने मध्यप्रान्त में जंगलात के कानून तोड़ने की भी अनुमति दे दी। इस प्रकार जो आन्दोलन केवल नमक कानून को भंग करने के रूप में प्रारम्भ हुआ था, वह महात्माजी की गिरफ्तारी के पश्चात प्रायः सभी कानूनों के भंग के रूप में परिणत हो गया।

इस अवसर पर पं० मोतीलाल नेहरू ने अपना आनन्दभवन कांग्रेस को दान देकर उस सर्वमेधयज्ञ की पूर्ति कर दी, जो उन्होंने लगभग १० वर्ष पहले प्रारम्भ किया था। इसकी कहानी यों कही जाती है कि १९२८ में लखनऊ के सर्वदल सम्मेलन में पं० जवाहरलालजी साम्यवाद पर भाषण दे रहे थे। वह पूंजी की बुराइयों पर रोशनी डाल रहे थे कि एक ताल्लुकेदार साहब खड़े हो गए और बोले—"साहब, आनन्दभवन को भी तो कहिए। अभी तो वह भी मिस्मार नहीं किया गया।" उस ताने का क्रियात्मक उत्तर यह था कि पं० मोतीलालजी ने आनन्दभवन को स्वराज्यभवन के रूप में परिवर्तित कर दिया।

अब तो सरकार का दमन-चक्र और भी अधिक ज़ोर से चलने लगा। २३ अप्रैल को लगभग एक सदी पुराना बंगाल आर्डिनेंस रद्दी की टोकरी में से निकालकर लागू कर दिया गया। २७ अप्रैल को वायसराय ने कुछ परिवर्तन करके १९१० का प्रेस ऐक्ट आर्डिनेंस के रूप में प्रचारित कर दिया।

१९ अप्रैल को श्रीमती सरोजिनी नायडू के नेतृत्व में सत्याग्रहियों ने बडाला के नमक कारखाने पर शान्तिमय धावा बोल दिया। उस दिन श्रीमती सरोजिनी नायडू सहित ४०० सत्याग्रही गिरफ्तार हुए। श्री तय्यबजी पहले ही पकड़े जा चुके थे, पं० जवाहरलालजी १४ अप्रैल को ही पकड़े जाकर सज़ा पा चुके थे।

गिरफ्तारी दमन-श्रृंखला की पहली और सब से नर्म कड़ी थी। जब चार-चार सौ सत्याग्रहियों को इकट्ठा पकड़ने का अवसर आ गया, और नमक सत्याग्रह के स्थानों पर हजारों की भीड़ इकट्ठी होने लगी तो पुलिस निरीह और निःशस्त्र पुरुषों और स्त्रियों पर लाठी बरसाने लगी। कुछ समय पीछे लाठी का कार्य-क्षेत्र और विस्तृत हो गया।

> "बाजार में सौदा खरीदते हुए खद्दर या गान्धी टोपीधारी मनुष्य पीट दिये जाते थे। मलाबार को फौजी पुलिस को आन्ध्र के ब्रह्मापुर से एलोर तक कोकोनाडा और राजमहेन्द्री होकर सिर्फ इसलिए घुमाया गया कि रास्ते चलते खद्दरधारियों की मरम्मत करने का आनन्द लूटा जाय।" (कांग्रेस का इतिहास)

२७ जून को प्रयाग में फिर कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति का अधिवेशन हुआ। सरकार तब तक कई स्थानीय कांग्रेस कमेटियों को ग़ैरकानूनी घोषित कर चुकी थी। कार्यसमिति ने इस पर यह निश्चय घोषित किया कि "चूंकि सर-

कार ने अपनी दमन-नीति के अनुसार अनेक प्रान्तीय और जिला समितियों तथा सम्बद्ध संस्थाओं को ग़ैर-कानूनी करार दे दिया है, और सम्भव है शेष समितियों और संस्थाओं के सम्बन्ध में भी भविष्य में ऐसी कार्रवाई करे, यह समिति इन समस्त समितियों और संस्थाओं को आदेश देती है कि सरकार की घोषणा की पर्वाह न करके वे पहले की भांति काम करती रहें और कांग्रेस के कार्यक्रम को जारी रखें।''

इस पर सरकार ने समिति को ही गैर-कानूनी ठहरा दिया। इसके पश्चात् तो सरकार ने अपनी पाशविक शक्ति का खुलकर प्रयोग जारी कर दिया। डंडा, अश्रुगैस और गोली एक दूसरे के पीछे जनता पर ताबड़तोड़ बरसने लगीं। अप्रैल और मई में हताहतों की संख्या के सम्बन्ध में प्रश्न किये जाने पर सरकारी प्रवक्ता ने असेम्बली में स्वीकार किया था कि हतों की संख्या १०० से ऊपर और आहतों की संख्या ५०० के लगभग थी। अंग्रेजी सरकार के उस समय प्रचलित व्यवहार के अनुसार हम कह सकते हैं कि असली संख्या सरकार की स्वीकार की हुई संख्या की दसगुना अवश्य होगी। यदि सरकार की अपनी बताई हुई संख्या ठीक मान ली जाय तो भी अहिंसक और शस्त्रहीन प्रजाजनों की निर्दय हत्या के दोष से सरकार को मुक्त नहीं किया जा सकता।

पेशावर में कांग्रेस कमेटी की ओर से घोषणा की गई कि २३ अप्रैल से शराब की दूकानों पर धरना दिया जायगा। २२ अप्रैल को कांग्रेस की महासमिति का प्रतिनिधिमण्डल सीमाप्रान्त की परिस्थिति की तहकीकात करने पेशावर पहुंचने-वाला था—उसे सरकार ने रास्ते में रोक दिया। इस पर शहर में हड़ताल की गई, जलूस निकाला गया और सभा हुई। सरकार ने उत्तर में दूसरे दिन एक दर्जन के लगभग प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। उन्हें जिस लारी में बिठाकर थाने ले जाया जा रहा था, वह रास्ते में बिगड़ गई। तुरन्त ही लारी के चारों ओर भीड़ एकत्र हो गई। इस पर नेताओं से यह वचन लेकर कि वे स्वयं कोतवाली पहुंच जायंगे, पुलिस ने उन्हें छोड़ दिया। यहीं से झमेला आरम्भ हुआ। जनता का जोश उमड़ रहा था, और अधिकारियों के दिमाग गर्म हो रहे थे। पुलिस के कुछ आदमियों पर कंकर पड़े, जिनके जवाब में सशस्त्र मोटरों से दनादन गोलियां चलने लगीं। कहा जाता है कि तीन घण्टों तक बीच-बीच में थोड़ा व्यवधान देकर गोलियों का चलना जारी रहा। सरकारी तौर पर माना गया था कि मृतकों की संख्या ३० थी; परन्तु उस समय के उन साक्षियों का, जो स्वयं घटनास्थल पर विद्यमान थे, कथन है कि मृतकों की संख्या ३०० से कम नहीं थी। सरकार ने घायलों की संख्या केवल ३५ स्वीकार की लेकिन यह ठीक नहीं है। उस समय के समाचारपत्रों का विचार था कि मृतकों की संख्या ३०० और घायलों की १५०० से कम नहीं थी।

२८ और २९ तारीखों को भी पुलिस ने धरपकड़ जारी रखी। २९ को फिर गोली चली। उसमें भी २० आदमी मारे गए और बहुत-से घायल हुए।

पेशावर में एक घटना बहुत ही करुणाजनक हुई। ३१ मई १९३० को गंगासिंह नाम का एक सरकारी नौकर परिवार के साथ काबुली दरवाजे से गुजर रहा था। उसपर एक अंग्रेजी जमादार ने गोली चला दी। गोलियां गंगासिंह के दो बच्चों को लगीं। लड़की की आयु साढ़े नौ साल की और लड़के की १६ साल की थी। दोनों गोली खाकर तांगे से नीचे गिर गए, और तत्काल मर गए। बच्चों की मा बीबी तेजकौर की भुजा और छाती में गोलियां लगीं। उसका एक स्तन गोली की चोट से सर्वथा बेकार हो गया। जनता ने मृतक बच्चों की अर्थियों का जुलूस निकालना चाहा तो पुलिस ने उनपर केवल २ गज की दूरी से तान-तानकर गोलियां चलाईं। उस दिन सब मिलाकर १७ बार गोलियां दाग़ी गईं।

दमन के समाचार बाहर की दुनिया को मालूम न हों इस निमित्त सरकार समाचारपत्रों पर कठोर प्रतिबन्ध लगाने लगी। १९३० के जुलाई मास में सरकारी प्रवक्ता ने असेम्बली में बतलाया था कि उन दिनों १३१ पत्रों से २ लाख ४० हजार रुपयों की जमानतें मांगी गईं। इनमें से ९ पत्र जमानत न दे सकने के कारण बन्द हो गए।

जो कुछ पेशावर में हुआ, न्यूनाधिक रूप में उसी की पुनरावृत्ति देश के अन्य भागों में हुई। बम्बई में १ अगस्त के दिन लोकमान्य तिलक की बरसी के उपलक्ष्य में एक जुलूस निकला। कांग्रेस की कार्यसमिति के पं० मदनमोहन मालवीय, सरदार वल्लभभाई पटेल, श्री जयरामदास दौलतराम, श्रीमती कमला नेहरू आदि सदस्य जुलूस का नेतृत्व कर रहे थे। वे सब गिरफ्तार कर लिये गए। उनके अतिरिक्त श्रीमती मणिबहिन, श्रीमती अमृतकौर और श्रीमती हंसा मेहता आदि प्रतिष्ठित महिलाएं भी पकड़ ली गई।

जुलूस के नेताओं को पकड़ लेने के पश्चात् भीड़ को तितर-बितर करने के लिए पुलिस लाठी, अश्रुगैस और गोली आदि साधनों का खुला प्रयोग करती थी। कलकत्ते में देशबन्धु दास की बरसी पर जुलूस निकाला गया। पुलिस ने उसपर घोड़े दौड़ा दिये; और लाठी प्रहार किया। कुछ महिलाएं सामने आ गई तो पुलिस ने उन्हें भी नहीं छोड़ा। उनपर खुले प्रहार किये। गुजरात के किसान तो पुलिस के अत्याचारों से इतने तंग आ गए थे, कि उनके लिए घरों में रहना कठिन हो गया था। उनमें से लगभग एक लाख व्यक्ति अपने घरों और खेतों को तिलांजलि देकर बड़ौदा रियासत में चले गए थे। सभी जानते हैं कि भारतीय किसान का घर और खेत छोड़ना मृत्यु को निमन्त्रण देने के समान है। अनुमान लगाया जा सकता है कि वे लोग कितने लाचार हो गए होंगे।

दमन की इस निर्दयतापूर्ण कथा को हम 'कांग्रेस के इतिहास' में दी हुई निम्नलिखित घटना के साथ समाप्त करते हैं। २१ जनवरी १९३१ को बोरसद में एक उत्सव मनाने के लिए महिलाओं ने एक जुलूस निकाला। पुलिस उसे एक प्रदर्शन मानकर रोकने का निश्चय कर चुकी थी। स्त्रियों ने पानी पिलाने के लिए स्थान-स्थान पर प्याऊ की व्यवस्था की थी, जहां पानी के भरे मटके रखे हुए

थे। पुलिस के सिपाहियों ने पहले मटकों को तोड़कर अपनी वीरता का प्रदर्शन किया, फिर जुलूस को तितर-बितर करने की चेष्टा की। जब उसमें तत्काल सफलता न हुई तो कई स्त्रियों को मारपीट कर गिरा दिया और उनकी छाती पर अपने बूट रखकर शूरता का पदक प्राप्त किया।

इस प्रकार भारतीय जनता के सत्याग्रह और अंग्रेजी सरकार के दमन के संघर्ष में १९३० का वर्ष समाप्त और १९३१ का वर्ष शुरू हुआ।

: ५३ :

गोलमेज कान्फ्रेंस का नाटक—१

कम्पनी के राज्यकाल में सुलह और संग्राम बारी-बारी से आते थे। एक गवर्नर जनरल भारत में तोप और तुफंग का सन्देश लेकर आता था, तो दूसरा सुधार और सुलह का। एक घाव करता था, तो दूसरा उस पर मरहम पोतता था। भारत के राजमुकुट के अधीन हो जाने के पश्चात् इतना परिवर्तन हुआ कि कभी-कभी एक ही गवर्नर जनरल सुलह और संग्राम दोनों के परवाने एक ही जेब में डालकर लाता था।

लार्ड इर्विन उन गवर्नर जनरलों में से था जिसकी एक ही जेब में दोनों परवाने थे। वह जितने दिनों तक भारत का शासक रहा, दुरंगी नीति पर चलता रहा। जब भारत के राष्ट्रीय नेता लाहौर की कांग्रेस में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव स्वीकार करने जा रहे थे, तब लार्ड इर्विन ने उन्हें नई दिल्ली बुलाकर लन्दन में गोलमेज कान्फ्रेंस का सन्देशा देते हुए समझाया कि वह भारतवासियों के सामने मोतियों से भरा थाल रख रहे हैं, जिसे धन्यवाद सहित स्वीकार कर लेना चाहिए। कांग्रेस ने उसे मायाजाल समझ कर अस्वीकार कर दिया, तो लार्ड इर्विन ने जेब में से दमन का परवाना निकाल लिया। भारत सरकार ने सन् १९३० के प्रारम्भिक तीन-चार महीनों में देश की जनता पर जो भयंकर प्रहार किये, उनकी थोड़ी-सी झांकी हम दिखा चुके हैं। अभी दमन का चक्र घूम ही रहा था कि अंग्रेजों की ओर से सुलह के इशारे किये जाने लगे। जून के महीने में इंग्लैण्ड के मजदूरदलीय अखबार 'डेली हैरल्ड' के प्रतिनिधि ने पं० मोतीलाल नेहरू से मिलकर इस प्रश्न पर बातचीत की कि कांग्रेस किन शर्तों पर गोलमेज कान्फ्रेंस में शामिल हो सकती है। उसी प्रतिनिधि ने उस युग के सन्धि के दूत-युगल—श्री जयकर और डा० सप्रू से भी बातचीत की। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों सन्धि-दूत सरकार की अनुमति से यरवदा जेल में महात्माजी से मिले। महात्माजी ने अपनी ओर से सहयोग की ११ शर्तें पेश कीं, जिनमें से मुख्य यह थीं कि जो भी समझौता हो, उसमें भारतवासियों का यह अधिकार स्वीकार कर लिया जाना चाहिए कि यदि वे चाहें

तो ब्रिटिश साम्राज्य से अलग हो सकेंगे। श्री जयकर और डा० सप्रू नैनी जेल में पं० मोतीलाल तथा पं० जवाहरलाल से भी मिले। अन्त में निर्णय हुआ कि कुछ अन्य नेताओं को महात्माजी से परामर्श करने के लिए यरवदा जेल में एकत्र किया जाय। कई नेता यरवदा ले जाये गए। बहुत विचार-विमर्श के पश्चात् जो पत्र वायसराय के नाम लिखा गया उसमें एक आवश्यक मांग यह थी कि भारत के सब राजनीतिक बन्दियों को मुक्त कर दिया जाय। गवर्नर जनरल ने इस मांग को अस्वीकार करते हुए उत्तर दिया कि "यह मामला प्रान्तों का है, इस कारण मैं कोई आश्वासन नहीं दे सकता।" परिणाम यह हुआ कि सुलह की बातचीत समाप्त हो गई। अन्य नेता अपनी-अपनी जेलों में वापिस भेज दिये गए और गोलमेज कान्फ्रेंस का नाटक कांग्रेस के बिना ही आरम्भ हो गया।

कान्फ्रेंस की बैठक का उद्घाटन बड़ी धूमधाम से हुआ। उसमें सब मिलाकर ८४ सदस्य सम्मिलित हुए। उनमें से १६ रियासतों के, ५७ ब्रिटिश भारत के और १३ इंग्लैण्ड के भिन्न-भिन्न राजनैतिक दलों के नेता थे। इनमें से किसी को प्रतिनिधि का नाम नहीं दिया जा सकता था, क्योंकि सभी सरकार द्वारा मनोनीत थे। कान्फ्रेंस १२ नवम्बर को आरम्भ हुई और १९ नवम्बर को समाप्त हो गई। उस अधिवेशन में औपनिवेशिक स्वराज्य की चर्चा उठाकर रावी के तट पर दफनाये जा चुके शव को जीवित करने का यत्न किया गया, परन्तु जब कांग्रेस की अनुपस्थिति में वह भी लाभदायक प्रतीत न हुआ तो प्रधानमन्त्री ने इस घोषणा के साथ अधिवेशन को स्थगित कर दिया कि "यदि इसी बीच में वायसराय की अपील का अनुकूल उत्तर उन लोगों की ओर से मिल जायगा, जो इस समय सविनय अवज्ञा आन्दोलन में लगे हुए हैं, तो उनकी सेवाएं स्वीकार करने की कार्रवाई भी की जायगी।" प्रधान मन्त्री के पास अपनी असफलता को छुपाने का एक यही उपाय था।

पहली गोलमेज कान्फ्रेंस के स्थगित होने के पश्चात्, सात ही दिन के अन्दर भारत में सरकारी चक्र सीधी दिशा में घूमने लगा। गान्धीजी और उनके २६ साथियों को बिना किसी शर्त के जेलों से मुक्त कर दिया गया। जेलों से मुक्त होने-वाले राष्ट्र के नेताओं में और सब थे, परन्तु देश इसी बीच एक अनमोल मोती खो चुका था। पं० मोतीलाल नेहरू जेल में बहुत सख्त बीमार हो गए तो उन्हें सरकार ने अवधि से पहले ही रिहा कर दिया था। बाहर आकर वे स्वास्थ्य-सुधार के लिए कुछ समय तक मसूरी में रहे परन्तु कोई लाभ न हुआ। रोग बढ़ता गया, और अन्त में जेल में पड़े साथियों से मिले बिना ही, पं० मोतीलालजी ने ऐहिक लीला समाप्त कर दी।

भारत के अपने समय के राजनीतिज्ञों में पं० मोतीलाल का स्थान शायद सबसे ऊंचा था। महात्माजी राजनीतिज्ञों से अलग कोटि के महापुरुष थे। भारत की परिपाटी के अनुसार उन्हें ऋषि कहना उचित होगा। राजनीति के लौकिक क्षेत्र में पं० मोतीलाल का स्थान अद्वितीय था। प्रतिभा, योग्यता और त्याग के

साथ मिली हुई निष्कलंक जाज्वल्यमान देशभक्ति ने उन्हें साधारण कार्यकर्ताओं से बहुत ऊंचा उठा दिया था। वह कार्यक्षेत्र में गान्धीजी के साथी और संकट में उनके कानूनी सलाहकार थे।

१८ फरवरी १९३१ से महात्माजी की वायसराय से बातचीत शुरू हुई। पहले दिन लगभग ४ घण्टे तक और दूसरे दिन ३ घण्टे तक परिस्थिति पर परामर्श होता रहा। लार्ड इर्विन प्रतिदिन बातचीत के सम्बन्ध में विलायत से सलाह कर लेते थे, और महात्माजी कांग्रेस की कार्यकारिणी के उन सब सदस्यों का मत ले लेते थे, जो डा० अन्सारी की कोठी पर ठहरे हुए थे।

वायसराय की और गान्धीजी की बातचीत ५ मार्च तक चलती रही। दोनों ओर से खूब जमकर सौदा किया गया। गान्धीजी महात्मा तो अवश्य थे, परन्तु जब सौदा करने का समय आता था, तब पूरे बनिया होने का दावा करते थे। उन पन्द्रह दिनों में कई बार यह भान होने लगता था कि फैसला असम्भव है। डोर सर्वथा टूटती प्रतीत होती थी, परन्तु रात-भर के मनन से प्रातःकाल तक बातचीत का सिलसिला फिर जारी हो जाता था। अन्त में ५ मार्च के प्रातःकाल गान्धी-इर्विन समझौते पर दोनों ओर के हस्ताक्षर हो गए। यह समझ लिया गया कि समझौते पर वायसराय ने लन्दन की और महात्माजी ने कांग्रेस कार्यकारिणी की अनुमति प्राप्त कर ली है।

संसार को समझौते की सूचना वायसराय की एक घोषणा से प्राप्त हुई। उस घोषणा द्वारा वायसराय ने कांग्रेस समितियों पर लगाये गए सब प्रतिबन्ध उठा लिये। दूसरी ओर महात्माजी ने यह आश्वासन दिया कि कांग्रेस सविनय आज्ञा-भंग को स्थगित कर देगी, और गोलमेज़ कान्फ्रेंस में भाग लेने पर अनुकूलता से विचार करेगी।

इस सन्धि-वार्ता के अवसर पर अंग्रेजी सरकार की दुरंगी नीति का एक और ज्वलन्त उदाहरण सामने आया। जब देश की जनता सुलह के वातावरण और आपसी मेल-जोल के सुनहरे स्वप्न देख रही थी, तभी यह समाचार सुनकर उसके हृदय को एक गहरी चोट लगी कि भारतीय जनता की प्रबल इच्छा और साग्रह अपील की अवहेलना करके २३ मार्च १९३१ के सायंकाल साढ़े सात बजे सरकार ने भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को जेल में फांसी के तख्ते पर चढ़ा दिया, और उनके शवों को चुपचाप ले जाकर सतलज के किनारे जला दिया। सरकार ने इतनी भी शिष्टता न दिखाई कि उन वीर देशभक्तों का अन्त्येष्टि संस्कार विधि के अनुसार करने देती।

इस समाचार की देश-भर में बहुत गहरी प्रतिक्रिया हुई। लाहौर, बम्बई, मद्रास आदि नगरों में पूरी हड़ताल हुई। कलकत्ते के भावुक नवयुवकों में तो कुछ विशेष बेचैनी के चिन्ह भी प्रादुर्भूत हुए, जिन्हें दबाने के लिए सरकार को शहर में सेनाएं घुमानी पड़ीं।

कानपुर में भी २४ मार्च को हड़ताल हुई। प्रायः सभी हिन्दू दूकानें बन्द हो

गईं। परन्तु कुछ मुसलमानों की दूकानें खुल गईं। इस पर स्वयंसेवकों से दूकानदारों की कहासुनी हो गई, जिसने साम्प्रदायिक दंगे का रूप धारण कर लिया और हिन्दू और मुसलमान नगर के कई केन्द्रों में टकरा गए। 'हिन्दी प्रताप' के यशस्वी और लोकप्रिय सम्पादक पं० गणेशशंकर विद्यार्थी गृहयुद्ध के उस दृश्य को न सह सके, और उसे शान्त करने के लिए दंगे के केन्द्रों में घुस गए। दंगे ने भयंकर रूप धारण कर लिया था। लगभग २५० व्यक्ति मारे गए, ५०० घायल हुए, ५०० मकान जल गए, और कई मन्दिरों और मस्जिदों को भी हानि पहुंची। विद्यार्थीजी घण्टों तक उस विद्वेषाग्नि को शान्त करने के लिए गली-कूचों में घूमते और समझाते-बुझाते रहे। इसी बीच किसी दंगाई की लाठी आई और उन्हें मर्मभेदी चोट पहुंचा गई और वीर गणेशशंकरजी देश की एकता पर कुर्बान हो गए।

मार्च के अन्त में कराची में कांग्रेस का बड़ा अधिवेशन हुआ। उसके अध्यक्ष सरदार पटेल थे। उस अधिवेशन की यह विशेषता थी कि उसमें सन्तोष और विषाद की लहरें साथ-साथ उठ रही थीं। जहां भारत की जनता अपने नेताओं को जेलों से बाहर देखकर प्रसन्न थी वहां भगतसिंह और उनके साथियों के फांसी चढ़ाये जाने से अत्यन्त दुःखित और विक्षुब्ध भी थी। दुःख को प्रकाशित करने के लिए लोगों ने अपने सीनों पर मातम के चिन्ह काले फूल लगा रखे थे, जिनके कारण समस्त अधिवेशन पर उदासी का बादल छा गया था।

कांग्रेस के उस अधिवेशन में दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकार किये गए। एक प्रस्ताव था मौलिक अधिकार-सम्बन्धी। इसमें भारतवासियों के राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्वाधीनता के अधिकारों की घोषणा की गई थी। प्रस्ताव की विशेषता यह थी कि उसमें समाजवाद के सिद्धान्तों की झलक पायी जाती थी। यह पहला अवसर था जब कांग्रेस ने समाजवाद की ओर अपना झुकाव प्रकट किया। यह सर्वविदित बात थी कि पं० जवाहरलाल नेहरू योरप की यात्रा से समाजवाद का सन्देश लेकर आये थे। महात्माजी के गान्धीवाद का नेहरूजी के समाजवाद से समझौता उसी अधिवेशन से प्रारम्भ हुआ।

दूसरे प्रस्ताव में कांग्रेस ने अपनी कार्यसमिति द्वारा सरकार से किये गए समझौते की पुष्टि करते हुए यह निर्णय किया कि गोलमेज कान्फ्रेंस में भारत का केवल एक प्रतिनिधि उपस्थित हो, और वह महात्मा गान्धी हों। इस विषय पर पहले कुछ मतभेद दिखाई देता था। कार्यसमिति के कुछ सदस्य चाहते थे कि कांग्रेस का प्रतिनिधित्व करने के लिए न्यून-से-न्यून दो व्यक्ति कान्फ्रेंस में भेजे जायं। जब कार्यसमिति में बातचीत चली तब यह बात स्पष्ट की गई कि गोलमेज कान्फ्रेंस में स्वाधीन भारत के पूरे संविधान के सम्बन्ध में चर्चा न होगी, अभी तो केवल मूल सिद्धान्तों पर ही विचार होगा। इस पर सब एक ही प्रतिनिधि भेजने के विचार से सहमत हो गए।

: ५४ :

गोलमेज कान्फ्रेंस का नाटक––२

गान्धी-इर्विन-समझौते में सरकार का लक्ष्य समझौता करना नहीं, कांग्रेस को, सविनय कानून-भंग का आन्दोलन बन्द करके, गोलमेज परिषद् में घसीटना था। जब कराची कांग्रेस के प्रस्तावों से सरकार के वे दोनों उद्देश्य पूरे हो गए, तो उसने समझौते के काग़ज को रद्दी की टोकरी में डाल दिया और दमन का दौर फिर से जारी कर दिया। चारों ओर से धर-पकड़ के समाचार आने लगे।

१९ अप्रैल को समझौते के एक हिस्सेदार लार्ड इर्विन ने भारत से विदाई ले ली और उनके स्थान पर लार्ड विलिंगडन ने वायसराय और गवर्नर जनरल का पद ग्रहण किया। इतना परिवर्तन सरकार की नीति को बदलने का काफी बहाना बन गया। भारत में अंग्रेजी राज्य को नौकरशाही का नाम दिया गया था। वह ठीक ही था। होता सब-कुछ इंग्लैण्ड के बादशाह के नाम पर था, परन्तु होता वही कुछ था, जो भारत की हुकूमत के सरकारी कल-पुर्जे चाहते थे। गवर्नर जनरल और प्रान्तों के गवर्नरों को भी नौकरशाही के सामने सिर झुकाना पड़ता था। लार्ड इर्विन ने महात्माजी और कांग्रेस के साथ जो समझौता किया, उससे अंग्रेज नौकरशाही प्रसन्न नहीं थी। चक्रवर्ती ब्रिटिश समाट् का महान प्रतिनिधि अधीन भारत के एक विद्रोही के साथ सुलह की बातचीत करे, यह बात शासन के गोरे पुर्जों को बहुत ही बेढंगी और अपनी जाति के लिए अपमानजनक प्रतीत होती थी। उन लोगों का विश्वास था कि भारत पर शासन करने का उपाय केवल यह है कि राष्ट्रीयता तथा स्वाधीनता के विचारों के साथ समझौता न किया जाय। वे लोग सरकार और कांग्रेस के परस्पर समझौतों को ब्रिटिश राज्य के लिए हानिकारक समझते थे। इस कारण जब कभी समझौता हो भी जाता था, तो उसके पालन करने में आनाकानी करते थे। मुंह से सुलह की बात करते हुए भी व्यवहार में द्वेषबुद्धि से काम लिया जाता था।

लार्ड इर्विन के चले जाने से नौकरशाही को खुल खेलने का पूरा अवसर मिल गया। समझौते के अनुसार यह आवश्यक था कि राजनीतिक कैदी अविलम्ब छोड़ दिये जाते, सब कांग्रेस कमेटियों पर से न केवल प्रतिबन्ध उठा लिये जाते, उनका जब्त किया हुआ सामान भी वापिस कर दिया जाता, और जो स्वयंसेवक विदेशी कपड़े और शराब पर शान्त धरना दें, उनसे छेड़छाड़ न की जाती। नौकरशाही इन सभी शर्तों की उपेक्षा करने लगी। देश के कोने-कोने से यह शिकायत आने लगी कि जिलों के अधिकारी समझौते की शर्तों को खुलेआम तोड़ रहे हैं। गान्धीजी को इस परिस्थिति से इतना दुःख हुआ कि उन्हें भारत को ऐसी चिन्ताजनक दशा में छोड़कर गोलमेज कान्फ्रेंस में जाना व्यर्थ प्रतीत होने लगा। जून में कांग्रेस की कार्यसमिति की जो बैठक हुई, उसमें महात्माजी ने अपना ऐसा विचार

प्रकट भी किया था; परन्तु कुछ मुसलमान मित्रों के आग्रह पर कार्यसमिति ने निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया :

> "समिति की यह सम्मति है कि दुर्भाग्य से यदि इन प्रयत्नों में (सुलह की शर्तों को पूरा कराने के प्रयत्नों में) सफलता न मिले तो भी कांग्रेस के रुख के सम्बन्ध में किसी तरह का भ्रम न फैले, इसलिए महात्मा गान्धी, प्रतिनिधित्व करने की आवश्यकता होने की दशा में गोलमेज परिषद् में कांग्रेस की ओर से प्रतिनिधि के तौर पर सम्मिलित हों।"

२० जुलाई को फिर कार्यसमिति की बैठक हुई, तब तक देश के प्रत्येक प्रान्त से सरकार द्वारा समझौते की शर्तों को तोड़ने और घोर दमन करने की शिकायतों का ढेर लग चुका था। फलतः समिति महात्माजी के विलायत जाने के पक्ष में न रही। देश का वातावरण विक्षुब्ध होकर फिर उत्तेजना की उसी पराकाष्ठा तक पहुंच रहा था, जहां वह १९३० के आरम्भ में पहुंच गया था। ठीक उसी समय लार्ड विलिंगडन की नींद खुली। उनकी ओर से महात्माजी को यह सन्देश पहुंचा कि आप मामले को तोड़ें नहीं, क्योंकि मतभेद तो सुलझ ही जायंगे, परन्तु यदि गोलमेज परिषद् का यह अवसर हाथ से निकल गया तो फिर शान्ति का रास्ता निकलना कठिन हो जायगा। महात्माजी तो सुलह के पुजारी थे ही, वायसराय की अपील के उत्तर में वह शिमला गये और सरदार पटेल, पं० जवाहरलाल नेहरू, और सर प्रभाशंकर पट्टनी को साथ लेकर वायसराय से मिले।

> "वायसराय ने अपनी कार्यकारिणी की बैठक बुलाई। आखिर बहुत-सी चर्चाओं के पश्चात् मामले किसी प्रकार सुलझाये गए और गान्धीजी शिमला से स्पेशल ट्रेन द्वारा उस गाड़ी को पकड़ने के लिए रवाना हुए जो उन्हें २९ अगस्त को बम्बई से विलायत जानेवाले जहाज पर पहुंचा सके।" (कांग्रेस का इतिहास)

गोलमेज परिषद् के दूसरे अधिवेशन को हम कई शक्तियों की दिमागी कुश्ती का नाम दे सकते हैं। पहली शक्ति अंग्रेजी सरकार थी। अंग्रेज़ी सरकार का उद्देश्य था, उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के प्रश्न को भारतवासियों के साम्प्रदायिक तथा सामाजिक भेदों की भूलभूलय्या में डालकर ऐसे ढंग से हल करना कि अधिकार कम-से-कम देने पड़ें, और दिखावा अधिक-से-अधिक हो सके।

दूसरी शक्ति कांग्रेस की थी, जिसके प्रतिनिधि एकमात्र महात्मा गान्धी थे। उनका लक्ष्य अंग्रेज बाघ की दाढ़ों में से देश के लिए अधिक-से-अधिक स्वाधीनता का उपहार निकालना था। वह इस निश्चय पर दृढ़ थे कि या तो पूरे अधिकार प्राप्त करेंगे अन्यथा सुलह का रास्ता ही छोड़ देंगे।

तीसरी शक्ति में वे माडरेट नेता थे, जो चाहते थे कि किसी-न-किसी तरह सरकार और कांग्रेस को एक-दूसरे से सहमत कराकर वर्तमान उलझन को सुलझाया जा सके। फैसला क्या हो, इसकी उन्हें अधिक चिन्ता नहीं थी, क्योंकि वह औपनिवेशिक स्वराज्य से भी सन्तुष्ट थे। उन्हें चिन्ता थी तो गतिरोध को दूर करने

की। वे भारत मन्त्री और गान्धीजी के मध्य में शान्ति के दूत बने हुए थे।

चौथी शक्ति में वे लोग थे, जिनके लिए भारत की स्वाधीनता गौण थी, और अपने सम्प्रदाय या वर्ग के हित मुख्य थे। उनका लक्ष्य था सरकार से या कांग्रेस से अपना उल्लू सीधा करना। सरकार ने अल्पसंख्यकों के अधिकारों पर विचार करने के लिए एक उपसमिति बनाई थी। उसमें ईसाई, मुसलमान, सिख आदि सम्प्रदायों के अतिरिक्त मजदूर वर्ग और महिलाओं के प्रतिनिधि भी थे। कहा जाता है कि उस समिति में महिलाओं के अतिरिक्त अन्य सभी लोगों ने अपने लिए विशेष अधिकारों का दावा उपस्थित किया था।

सरकार की चाल स्पष्ट थी। वह अल्पसंख्यकों की मांगों को दीवार खड़ी करके कांग्रेस के वार को रोकना चाहती थी। महात्माजी ने प्रारम्भ से ही अपने भाषणों में स्पष्ट कर दिया था कि वह पूरे उत्तरदायित्वपूर्ण शासन से कम किसी वस्तु को स्वीकार नहीं करेंगे। सम्प्रदायों के अलग राजनीतिक अधिकारों को महात्माजी ने सर्वथा अस्वीकार कर दिया था। उन्होंने यह भी घोषणा कर दी थी कि यदि अंग्रेजी सरकार अछूत जातियों को हिन्दुओं से अलग करने की चेष्टा करेगी, तो वह उसका प्राणपण से विरोध करेंगे।

एक ओर साम्प्रदायिक लोगों की अपने अलग अधिकारों के लिए चीख-पुकार, और दूसरी ओर महात्माजी की मूल सिद्धान्तों पर दृढ़ता—दोनों के कारण अंग्रेजी सरकार को अपना अभिप्राय सिद्ध होता दिखाई न दिया तो उसने परिषद् को दूसरी बार स्थगित करने का निश्चय कर लिया। फलतः १ दिसम्बर को परिषद् के खुले अधिवेशन में सरकार की ओर से यह सूचना दे दी गई कि इस समय परिषद् स्थगित की जाती है; जब आवश्यकता होगी, तब उसका तीसरा अधिवेशन बुला लिया जायगा।

परिषद् के स्थगित होने के समय महात्माजी ने जो भाषण दिया उसमें उन्होंने अपना हृदय खोलकर रख दिया था। उन्होंने कहा :

> "मैं नहीं जानता कि मेरा रास्ता किस दिशा में होगा, लेकिन इसकी मुझे चिन्ता नहीं है। यदि मुझे आपसे (सरकार से तथा अन्य सदस्यों से) सर्वथा भिन्न दिशा में भी जाना पड़े तो भी आप मेरे धन्यवाद के अधिकारी तो हैं ही।"

इसी बीच महात्माजी को भारत से बहुत चिन्ताजनक समाचार मिल चुके थे। महात्माजी के लन्दन जाने से पूर्व सरकार की ओर से उन्हें आश्वासन दिया गया था कि बारडोली के मामले की सहानुभूतिपूर्ण जांच होगी, जिसमें न केवल यह निश्चय किया जायगा कि किसानों में कितना लगान देने की शक्ति है, बल्कि जिन्हें गत आन्दोलनों में हानि उठानी पड़ी है, उन्हें मुआवज़ा भी दिलाया जायगा। जांच कमेटी में श्री भूलाभाई देसाई और सरदार पटेल-जैसे प्रभावशाली नेता भाग ले रहे थे; परन्तु सरकारी सदस्यों का रुख सहानुभूति से इतना शून्य था और जांच के दिनों में भी जिला अधिकारियों की ओर से किसानों के साथ इतनी कठोरता बरती जा रही थी, कि अन्त में सरदार

पटेल ने जांच से हाथ खींच लिया। सरकारी आश्वासन केवल मृगमरीचिका सिद्ध हुए।

संयुक्त प्रान्त में भी किसान-समस्या विकट रूप धारण कर रही थी। पं० जवाहरलाल नेहरू, श्री पुरुषोत्तमदास टंडन और श्री शेरवानी के नेतृत्व में किसानों को लगान के अनुचित बोझ से राहत दिलाने का वर्ग-आन्दोलन चल रहा था। सरकार उसे रोकने का यत्न कर रही थी। परिस्थिति बिगड़ते-बिगड़ते इतनी विकट हो गई कि महात्माजी के विलायत से लौटकर भारत पहुंचने के कुछ दिन पूर्व ही नेहरूजी, टंडनजी और श्री शेरवानी को जेल में बन्द कर दिया गया। बंगाल में भी पुलिस दमन के हथियार संभालकर मैदान में उतर आई थी। सीमाप्रान्त की दशा बहुत नाज़ुक हो रही थी। सरकार खान अब्दुल ग़फ्फार खां के ख़ुदाई ख़िदमतगारों को बहुत परेशान कर रही थी। गत वर्षों में लाल वर्दीवाले ख़ुदाई ख़िदमतगारों की संख्या १ लाख तक पहुंच गई थी। पहले यह संस्था स्वतंत्र थी, परन्तु पीछे से उसने कांग्रेस के सिद्धान्तों को मानकर सत्याग्रही सेना का अंग बनना स्वीकार कर लिया था। महात्माजी के भारत लौटने से पहले ही सरकार ने खान अब्दुल ग़फ़्फ़ार खां और उनके भाई डा० ख़ान को पकड़ कर जेल में डाल दिया था।



खान अब्दुल ग़फ्फ़ार खां

सरकार की इन आतंक पैदा करनेवाली कार्रवाइयों का मुख्य उद्देश्य यह था कि गान्धीजी के भारत पहुंचने से पूर्व ही देश की जनता की हिम्मत तोड़ दी जाय, और महात्माजी के मुख्य सहायकों को जेलों की दीवारों में बन्द कर दिया जाय ताकि वह यहां आकर किसी प्रकार का आन्दोलन न खड़ा कर सकें।

: ५५ :

क्रान्ति का नया दौर

महात्मा गान्धी २८ दिसम्बर के दिन लन्दन से लौटकर बम्बई पहुंचे। उस अवसर पर महात्माजी का स्वागत और उनसे भेंट करने के लिए देश-भर के प्रतिनिधि बम्बई पहुंचे हुए थे। बन्दरगाह पर और नगर में महात्माजी का जो शानदार स्वागत हुआ, वह अभूतपूर्व था। श्री सुभाषचन्द्र बोस ने उस स्वागत के सम्बन्ध में कहा था, "स्वागत में जिस उत्साह, सौहार्द्र और स्नेह का प्रदर्शन हुआ उससे यह धारणा होती थी कि महात्माजी स्वराज्य अपनी हथेली पर लेकर आये

हैं।" स्वागत के गौरव के सम्बन्ध में सुभाष बाबू का कथन ठीक था, परन्तु उसके कारण के बारे में महात्माजी का अपना विश्लेषण यथार्थ था। जनता के अभिनन्दन का उत्तर देते हुए महात्माजी ने कहा था—"मैं खाली हाथ लौटा हूं, परन्तु मैंने अपने देश की इज्जत को बट्टा नहीं लगने दिया।"

महात्माजी यदि गोलमेज परिषद् के कूटनीतिज्ञों के मायाजाल में फंसकर कोई घटिया समझौता कर लेते तो देशवासियों के दिल मुरझा जाते। महात्माजी मायाजाल में नहीं फंसे, और भारत की इज्जत को बट्टा नहीं लगने दिया, इससे भारतवासियों के हृदय उछल पड़े, और उनका सिर ऊंचा हो गया। विलायत से खाली हाथ लौटने पर भी महात्माजी का जो शानदार स्वागत हुआ, उसका यही कारण था। उस समय भारत की जनता अनुभव कर रही थी कि गोलमेज कान्फ्रेंस-जैसी प्रतिक्रियावादी सभा की निष्फलता में भारत की पूर्ण स्वाधीनता की आशा सन्निहित है। बम्बई पहुंचकर महात्माजी ने देश की दशा का जो चित्र देखा वह सरकार की असली भावनाओं का सूचक था। सरकार की जिह्वा पर सद्भावनाएं थीं, परन्तु क्रिया में राष्ट्रीयता को कुचलने की अभिलाषा थी, और भयंकर दमन था। सब समाचारों को सुनकर महात्माजी के हृदय को जो वेदना हुई, वह उनके निम्न तार से सूचित होती है, जो उन्होंने वायसराय को २९ दिसम्बर को भेजा था :

"कल जहाज से उतरने पर मुझे मालूम हुआ कि सीमाप्रान्त और युक्तप्रान्त में आर्डिनेंस जारी कर दिये गए हैं। सीमाप्रान्त में गोलियां चला दी गई है। मेरे अनमोल साथी गिरफ्तार कर लिये गए हैं, और सबसे बढ़कर बंगाल का आर्डिनेंस मेरी राह देख रहा है। मैं इसके लिए तैयार न था। मेरी समझ में नहीं आता कि क्या हमारी पारस्परिक मित्रता समाप्त हो गई, अथवा आप अब भी मुझसे आशा रखते हैं कि मैं आपसे मिलूं, और इस परिस्थिति में मैं कांग्रेस को क्या सलाह दूं, इस पर आपसे परामर्श करूं? उत्तर तार से देने की कृपा करें।"

३१ दिसम्बर को वायसराय के सेक्रेटरी का जो तार महात्माजी को मिला, उसमें सरकार द्वारा किये गए दमनात्मक कार्यों की पुष्टि करते हुए लिखा था :

"सम्राट् की सरकार की पूरी अनुमति से जो आर्डिनेंस जारी किये गए हैं, वायसराय उनके बारे में किसी प्रकार की बहस करने को तैयार नहीं हैं। जिस उद्देश्य से, अर्थात् सुशासन के लिए आवश्यक कानून और व्यवस्था की सुरक्षा के निमित्त से वे आर्डिनेंस प्रचारित हुए हैं, उस उद्देश्य की पूर्ति हो जाने तक वे जारी रहेंगे। आपका उत्तर मिल जाने पर वायसराय महोदय इन तारों को प्रकाशित कर देना चाहते हैं।"

इस तोप के गोले के उत्तर में गान्धीजी ने फिर एक लम्बा तार वायसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी को दिया। उसके प्रारम्भिक वाक्यों में ही तार का सार आ जाता है :

"मेरे २९ दिसम्बर के तार के उत्तर में, वायसराय महोदय का जो तार आया, उसके लिए धन्यवाद! उसे पढ़कर मुझे दुःख हुआ। मैंने अत्यन्त मित्रभाव से जो प्रस्ताव रखा था, उसे जिस तरह वायसराय ने अस्वीकार कर दिया, वह उन-जैसे उच्च पदाधिकारी को शोभा नहीं देता। मैंने एक ऐसे आदमी की हैसियत से उनका दरवाजा खटखटाया था, जिसे कुछ मामलों पर प्रकाश की चाह थी। मैं उस तार में निर्दिष्ट कुछ गम्भीर और असाधारण मामलों में, सरकार का पक्ष समझना चाहता था। मेरे सद्भाव का स्वागत करने के बजाय वायसराय ने उसे अस्वीकार कर दिया, और मुझसे चाहा है कि मैं अपने अनमोल साथियों के कार्यों से असहमति प्रकट करूं। फिर ऐसे अपमानजनक आचरण का अपराधी बनकर भी वायसराय से मिलना चाहूं तो उस समय भी मुझसे कहा जाता है कि राष्ट्र के लिए इतना भारी महत्त्व रखनेवाले इन विषयों पर उनसे बातचीत तक नहीं कर सकता।"

तार के अन्त में महात्माजी ने वायसराय को यह सूचना देते हुए कि कांग्रेस की कार्यकारिणी ने सरकार से असहयोग रखने का जो प्रस्ताव स्वीकार किया है, "उसकी सलाह मैंने ही दी थी" कार्यसमिति का पूरा प्रस्ताव दे दिया। उस प्रस्ताव में कहा गया था कि:

"कार्यसमिति का यह मत है कि ये तमाम घटनाएं और दूसरे प्रान्तों में घटी हुई अन्य छोटी-मोटी घटनाएं तथा वायसराय साहब का तार, ये सब बातें सरकार के साथ कांग्रेस के सहयोग को तब तक के लिए सर्वथा असम्भव बना रही हैं, जब तक सरकार की नीति में आमूल परिवर्तन नहीं हो जाता। ये कार्य और वायसराय का तार स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं, कि नौकरशाही हिन्दुस्तान की जनता के हाथों में यहां का शासनाधिकार नहीं देना चाहती, प्रत्युत वह राष्ट्र की तेजस्विता को बिलकुल मिटा देना चाहती है।"

प्रस्ताव के अन्त में कानून-भंग का विस्तृत कार्यक्रम देश के सामने प्रस्तुत कर दिया गया था।

महात्माजी की इस स्पष्ट युद्ध-घोषणा के उत्तर में वायसराय की ओर से फिर एक धमकी-भरा तार भेजा गया, जिसके उत्तर में गान्धीजी ने वायसराय को तार द्वारा विश्वास दिलाया कि कांग्रेस की ओर से सत्याग्रह-संग्राम को सदा द्वेषरहित और अहिंसापूर्ण तरीके से चलाया जायगा।

यह सारा तार-व्यवहार दोनों पक्षों की अनुमति से समाचारपत्रों में प्रकाशित कर दिया गया।

इस प्रकार महात्माजी और कांग्रेस की कार्यसमिति ने, किनारे से लंगर उठाकर, राष्ट्र के जहाज को, लम्बी यात्रा के लिए तूफ़ानी समुद्र में छोड़ दिया। अंग्रेजों की उस समय ऐसी मानसिक दशा हो गई थी, कि उनमें से बहुत-से लोग इस दो टूक फैसले से प्रसन्न हो रहे थे। वे इस बात से सन्तुष्ट हो रहे थे कि मुसल-

मान नेता हिन्दुओं से तथा कांग्रेस से विमुख होकर सरकार से मिलने को उद्यत हो गए हैं, और सुलह को बात तोड़कर सरकार अब आन्दोलन को कुचल देना चाहती है। प्रसिद्ध था कि उस समय के गवर्नर जनरल लार्ड विलिंगडन ने कांग्रेस के उत्पात को १५ दिनों में पीस डालने का संकल्प प्रकट किया था।

सरकार बहुत पहले से दमन के औजारों को सान पर चढ़ाकर आक्रमण की तैयारी कर चुकी थी। जनता का स्वाधीनता के लिए उतावलापन भी १९३० की अपेक्षा बहुत बढ़ चुका था। सरकार द्वारा बारबार किये गए प्रतिज्ञा-भंगों ने उसे बेचैन कर दिया था। परिणाम यह हुआ कि द्वन्द्व-युद्ध एक दम आरम्भ हो गया, और हुआ भी पूरे जोर के साथ। महात्माजी ४ जनवरी के प्रातःकाल ही गिरफ्तार करके शाही मेहमान बना दिये गए। शेष प्रमुख व्यक्ति भी एक सप्ताह के अन्दर धर लिये गए। जवाहरलालजी, मि० शेरवानी, खान अब्दुल गफ्फार खां आदि अनेक नेता पहले ही जेलों में बन्द हो चुके थे। डा० अन्सारी तथा अन्य प्रान्तों के मुख्य नेता और कार्यकर्ता दो-चार दिनों में ही काबू कर लिये गए। सरकार को आशा थी कि आक्रमण में पहल करने से देश पर आंतक छा जायगा, और सत्याग्रह छिन्न-भिन्न हो जायगा, परन्तु परिणाम उलटा ही निकला। सत्याग्रह की आग बड़ी-बड़ी आहुतियां पाकर बेतरह भड़क उठी। कुछ ही महीनों में एक लाख के लगभग देशभक्त अन्यायपूर्ण कानूनों को तोड़कर अपनी इच्छा से जेलों में चले गए। उस युग की एक विशेषता, जिसने संसार को चकित कर दिया, यह थी कि आन्दोलन के इतने तीव्र होते हुए भी जनता की ओर से हिंसात्मक साधनों के प्रयोग का लगभग अभाव रहा।

सरकार ने जब देखा कि आन्दोलन देशव्यापी हो गया तो अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठी। नये-नये दमनकारी कानून जारी किये जाने लगे। युक्त प्रान्तीय एमर्जेन्सी आर्डिनेंस १४ दिसम्बर १९३१ को जारी किया गया। उसके ७ दिन बाद पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में तीन नये आर्डिनेंस जारी हुए। पहला आर्डिनेंस लगान की वसूलियों के बारे में था। शेष दोनों का उद्देश्य स्थानीय अधिकारियों को प्रजा के जान-माल पर पूरा अधिकार देना था। ४ जनवरी को ४ नये आर्डिनेंस प्रचारित हुए। पहले एमर्जेन्सी पावर्स आर्डिनेंस द्वारा स्थानीय छोटे अधिकारियों को लोगों को गिरफ्तार करने, इमारतों पर यथेच्छ कब्जा करने, स्पेशल पुलिस नियुक्त करने आदि के व्यापक अधिकार दिये गए। दूसरा अनलॉफुल असोसियेशन आर्डिनेंस था, जिसका उद्देश्य कांग्रेस तथा वैसी ही अन्य देशभक्त संस्थाओं के दफ्तरों को बन्द करना और उनके कागज़-पत्र और नकदी पर अधिकार कर लेना था। तीसरे आर्डिनेंस का नाम प्रिवेन्शन आव मौलस्टेशन एण्ड बायकाट आर्डिनेंस था। यह आर्डिनेंस विदेशी कपड़े तथा शराब के बहिष्कार को रोकने के लिए बनाया गया था। जो व्यक्ति बोलकर या धरने द्वारा बहिष्कार की प्रेरणा करे, उसे ६ मास तक के जेल की सजा दी जा सकती थी। चौथा अनलॉफुल इन्स्टिगेशन आर्डिनेंस था, जिसका लक्ष्य सरकार के विरुद्ध

लेखों तथा वाणी द्वारा हर प्रकार के विचार को रोकना था। ये ही ब्रह्मास्त्र थे, जिनकी सहायता से लार्ड विलिंगडन को १५ दिन में आन्दोलन का सिर कुचल देने की आशा थी। परन्तु अनुभव ने बतलाया कि जब कोई जाति स्वाधीन होने पर तुल जाती है तो दमन के सब हथियार धरे रह जाते हैं।

जब आर्डिनेंसों के लिए निश्चित ६ मास की अवधि पूरी हो गई, तो सब आर्डिनेंसों को मिलाकर एक बड़े आर्डिनेंस के रूप में प्रचारित कर दिया गया, और अन्त में कांग्रेसी सदस्यों से शून्य सरकारी बहुमतवाली असेम्बली से उसे स्वीकार करा लिया गया। इस प्रकार जो हथियार १५ दिनों में आन्दोलन का सिर कुचलने के लिए तैयार किये गए थे, सरकार ने उन्हें अमर बनाना आवश्यक समझा।

१९३२ में सरकार ने जो बड़े-बड़े कारनामे किये, उनमें से समाचारपत्रों पर प्रहार मुख्य था। प्रेस आर्डिनेंस के द्वारा सरकार ने अपरिमित शक्ति हाथ में ले ली थी। सम्पादक, और मुद्रकों की गिरफ्तारी और जेल की सजा को पर्याप्त न समझकर सरकार ने बड़ी-बड़ी जमानतों द्वारा अखबारों का मुंह बन्द करने का यत्न किया। जमानतों की मात्रा एक हज़ार से बढ़ती-बढ़ती १० हजार तक पहुंच गई। जब उतने से भी काम न चला, तो प्रेसों की जब्तियां की जाने लगीं।

जेलों की दशा अजीब थी। कहने को तो सरकार ने राजनीतिक बन्दियों को ए, बी और सी इन तीन श्रेणियों में बांटकर शिकायतों को दूर करने का दावा किया था, परन्तु वस्तुतः यह श्रेणी-विभाजन केवल एक पर्दा था। सज़ा देनेवाले मजिस्ट्रेट को अधिकार था कि वह किसी बन्दी को, चाहे उसकी सामाजिक स्थिति कितनी ही ऊंची हो, इच्छानुसार श्रेणी प्रदान करे। सेठ जमनालाल बजाज-जैसे ऐश्वर्यशाली और प्रतिष्ठित नागरिक को बी श्रेणी में रखा गया, और कई प्रान्तों की कांग्रेस कमेटियों के प्रधानों को सी श्रेणी दी गई। जेल के अधिकारी रुष्ट हो गए, तो श्रेणी का छिन जाना एक साधारण बात थी। जरा-सी बात हुई कि टाटवर्दी और चक्की की सज़ा दे दी जाती थी। छोटे-से-छोटे कानून-भंग पर भारी जुर्माना लगाकर जायदादों को जब्त कर लेना मजिस्ट्रेटों का दैनिक काम हो गया था। जेलों के अन्दर का जीवन जेल के अधिकारियों की कृपा-रूपी कच्ची डोर से टंगा हुआ था। सब शिकायतों के घड़े-घड़ाये उत्तर विद्यमान थे। यदि कहे कि रोटी में आटा अच्छा नहीं लगाया जाता, या उसमें मिट्टी तथा सीमेण्ट मिला होता है, तो उत्तर मिलता था—"देखो जेल मैनुअल को। उसमें लिखा है कि कैदियों को मनुष्य के खाने योग्य भोजन दिया जाय। बस इतना काफी है।" घी की जगह बदबूदार तेल, और सब्जी की जगह सब्जियों के डंठल खाते-खाते जब सत्याग्रही बीमार हो जाते तो उन्हें नम्बर एक (कुनीन) की खुराक देकर सन्तुष्ट करने का यत्न किया जाता था।

सरकार दमन करती गई, और आन्दोलन गर्म होता गया। ज्यों-ज्यों सरकार का क्रोध बढ़ता गया, जनता में उसका मुकाबिला करने की भावना उग्र होती गई। दिल्ली का ऐतिहासिक कांग्रेस अधिवेशन उस भावना का जाज्वल्यमान नमूना

था। कांग्रेस की कार्यसमिति ने घोषणा की कि १९३२ में राष्ट्रीय महासभा का वृहद् अधिवेशन दिल्ली में किया जाय। कांग्रेस ग़ैर-कानूनी करार दी जा चुकी थी, और दिल्ली में १४४ धारा प्रचारित हो चुकी थी। सरकार सब तरह से सतर्क थी कि दिल्ली में अधिवेशन न होने पाये। नगर में खुले अधिवेशन का होना तो असम्भव ही था क्योंकि सरकार ने चारों ओर ऐसी कड़ी नाकाबन्दी कर दी थी कि किसी प्रतिनिधि का नगर में प्रवेश ही न हो सके।

तो हुआ यह कि दूर-दूर के प्रान्तों से चले हुए प्रतिनिधि नगर की सीमा से बाहर रेल से उतर गए, और पैदल शहर में प्रविष्ट हुए। कोई सब्जी की टोकरी सिर पर लेकर आ गया तो कोई दूध का डिब्बा हाथ में लटकाये नगर में पहुंच गया। अधिवेशन का स्थान चांदनी चौक के मध्य में घण्टाघर के नीचे नियत किया गया था। अहमदाबाद के सेठ रणछोड़दास अमृतलाल अध्यक्ष मनोनीत हुए थे। ठीक समय पर गली-कूचों और बाग की झाड़ियों में से निकलकर खद्दरधारी प्रतिनिधि घण्टाघर के नीचे इकट्ठे हो गए। इतने में अध्यक्ष महोदय भी कहीं से आविर्भूत हो गए। इस प्रकार विधिपूर्वक अधिवेशन प्रारम्भ हो गया। पहले गत वर्ष की रिपोर्ट पेश की गई, और फिर चार प्रस्ताव स्वीकृत हुए। पहले प्रस्ताव में पूर्ण स्वाधीनता-रूपी लक्ष्य को दुहराया गया, दूसरे में लक्ष्य-प्राप्ति तक सविनय आज्ञा-भंग को जारी रखने का दृढ़ निश्चय प्रकट किया गया। तीसरे में महात्माजी के नेतृत्व में पूर्ण विश्वास की घोषणा की गई, और चौथे में अहिंसा में अपने विश्वास की पुष्टि करते हुए, कांग्रेस को, विशेष रूप से सीमाप्रान्त के वीर पठानों को, अधिकारियों की ओर से अत्यधिक उत्तेजना दिये जाने पर भी अहिंसात्मक रहने पर बधाई दी गई।

आरम्भ में अध्यक्षपद के लिए पं० मदनमोहन मालवीय मनोनीत हुए थे, परन्तु वह दिल्ली के मार्ग में ही गिरफ्तार कर लिये गए। उनके स्थान पर पहले से ही सेठ रणछोड़दास को मनोनीत किया जा चुका था। सभा की कार्रवाई कुछ मिनटों तक ही हो सकी। इतने में पुलिस आ गई, और अध्यक्ष के अतिरिक्त जिन-जिन पर हाथ डाल सकी, पुलिस की लारियों में बिठाकर जेल ले गई। उनमें प्रतिनिधि भी थे, और दर्शक भी, बूढ़े भी थे और जवान भी।

: ५६ :

यरवदा में उपवास और पूना पैक्ट

१९३२ के सितम्बर मास में एक ऐसी महत्वपूर्ण घटना घटी, जिसने संसार के सम्मुख आत्मबलिदान का अद्भुत दृश्य उपस्थित कर दिया। किसी श्रेष्ठ कार्य की सिद्धि के लिए आत्मबलिदान करना भारत की पुरानी परम्परा का एक आवश्यक

अंग है। देवताओं की रक्षा के लिए दधीचि ऋषि ने अपने शरीर की हड्डियां सौंप दी थी। अविश्वासी लोग ऐसे आत्मसमर्पण को केवल कवि-कल्पना मानते थे, परन्तु २० सितम्बर १९३२ को गान्धीजी ने यरवदा जेल में जो आमरण उपवास आरम्भ किया, उसने मनुष्य-जाति को विश्वास दिला दिया कि लोकहित के लिए, इच्छापूर्वक, अपने शरीर का बलिदान भी सम्भव है। आत्मबलिदान की वह घटना न केवल महात्माजी के जीवन का, अपितु भारत के इतिहास का एक अविस्मरणीय अध्याय है।

समाचारपत्रों से महात्माजी को जेल में पता लगा कि भारत के नये प्रस्तावित ब्रिटिश संविधान में न केवल पहले की भांति हिन्दुओं तथा मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिया जायगा बल्कि दलित और अछूत जातियों पर भी पृथक् निर्वाचन के सिद्धान्त को लागू किया जायगा अतएव उन्होंने भारत सचिव सर सेमुअल होर को ११ मार्च १९३२ के एक पत्र में लिखा कि "दलित जातियों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार देना उनके तथा हिन्दू जाति के लिए हानिकारक है।...जहां तक हिन्दू जाति का सम्बन्ध है, पृथक् निर्वाचन उसका अंग-भंग और विच्छेद ही करेगा।...नैतिक तथा धार्मिक उद्देश्य की तुलना में राजनीतिक पहलू महत्वपूर्ण होते हुए भी, नगण्य बनकर रह जाता है। इसलिए यदि सरकार अछूतों के लिए पृथक् निर्वाचन की प्रथा जारी करने का निश्चय करती है तो मुझे आमरण उपवास करना पड़ेगा। । मैं जो कदम उठाने का विचार कर रहा हूं, वह मेरे लिए एक उपाय नहीं मेरे अस्तित्व का अंग ही है।"

भारत सचिव ने १३ अप्रैल को उत्तर दिया कि "अभी तक कोई निर्णय नहीं किया गया, और अन्तिम निर्णय से पूर्व आपके पत्र में प्रकाशित भावों पर विचार किया जायगा।"

इसके पश्चात् गान्धीजी में और इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री मि० रैम्से मैक्डा-नल्ड में पत्रों का आदान-प्रदान हुआ, परन्तु उसका कुछ परिणाम न निकला। अन्त में रैम्से मैकडानल्ड ने १७ अगस्त को अछूतों के पृथक् निर्वाचन के पक्ष में अपनी व्यवस्था प्रकाशित कर दी। १३ अगस्त को महात्माजो ने अन्तिम घोषणा कर दी कि २० सितम्बर से वह आमरण अनशन करेंगे। वह अनशन उसी दशा में टूट सकेगा, यदि ब्रिटिश सरकार अछूतों के पृथक् निर्वाचन-सम्बन्धी निर्णय को वापिस ले लेगी।

प्रारम्भ में महात्माजी की इस भीष्म प्रतिज्ञा का पूरा अभिप्राय अंग्रेजों को तो क्या, भारतवासियों को समझ में भी नहीं आया। पं० जवाहरलालजी ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है:

> "मुझे एक राजनीतिक ध्येय के सम्बन्ध में उनकी धार्मिक और भावना-भरी मनोवृत्ति पर और बारबार ईश्वर का नाम लेने पर क्रोध आया। दो दिन तक मैं अन्धेरे में भटकता रहा, परन्तु फिर मुझे एक अजीब अनुभव हुआ। मैं

एक अच्छे-खासे भावोद्रेक में से गुजरा और उसके पश्चात् मैंने कुछ शान्ति अनुभव की। तब भविष्य मेरे सामने वैसा अन्धकारमय प्रतीत नहीं हुआ। ठीक समय पर सही बात कहने का बापू का ढंग निराला ही है। हो सकता है, कि उनका यह कार्य, जो मेरी दृष्टि में असम्भव है, महान् परिणामों को उत्पन्न कर दे। इसके प्रश्चात् देश-भर में प्रबल हलचल के समाचार मिले। . . . सोचा कि यरवदा जेल में बैठा हुआ यह नन्हा-सा आदमी कितना बड़ा जादूगर है, और लोगों के दिलों को प्रभावित करनेवाली डोरियां खींचना वह कितनी अच्छी तरह जानता है।"

महात्माजी ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार २० सितम्बर को दिन के साढ़े बारह बजे जो भोजन किया, उसमें केवल नीबू का रस, शहद और गर्म पानी था। वह उस कर्मयोगी के आमरण अनशन का प्रारम्भ था।

उस दिन देश में करोड़ों भारतवासियों ने उपवास किया। स्थान-स्थान पर सभाएं हुईं, जिनमें सरकार के निर्णय की निन्दा करने के अतिरिक्त देशवासियों से जोरदार अनुरोध किया गया कि वह अपने दलित भाइयों के प्रति विद्यमान भेद-भाव को मिटाकर उन्हें गले लगायें, और स्वयं उनकी शिकायतों को दूर कर दें। जो देशभक्त जेलों में बन्द थे, उन्होंने भी उस दिन उपवास रखा, और महात्माजी के जीवन के लिए देशवासियों को मंगल-कामनाओं को अपनी मूक प्रार्थनाओं से पुष्ट किया।

महात्मा गान्धी की कविवर डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर में बहुत श्रद्धा थी। महात्माजी ने उपवास से पूर्व उन्हें जो पत्र लिखा और कविवर ने उसका जो उत्तर दिया, दोनों भारत के इतिहास में सुरक्षित रखने योग्य हैं।



रवीन्द्रनाथ टैगोर

महात्माजी ने लिखा था :

"अभी मंगलवार को सुबह के ३ बजे हैं। दोपहर के समय मैं अग्निमय द्वार में प्रवेश करूंगा। मैं चाहूंगा कि आप मेरे इस कार्य को आशीर्वाद दें। आप सच्चे मित्र हैं, क्योंकि आप स्पष्टवादी मित्र हैं। आप अपने विचारों को प्रायः स्पष्टता से प्रकट कर देते हैं। यदि आपकी अन्तरात्मा मेरे कार्य की निन्दा करे तो भी आपकी आलोचना को बहुमूल्य समझूंगा, यद्यपि अब यह मेरे उपवास के दिनों में ही हो सकेगा. . . . आपका हृदय यदि मेरे कार्य को पसन्द करे तो मैं आपका आशीर्वाद चाहता हूं। इससे मुझे सहारा मिलेगा।"

अभी पत्र डाक में पड़ा ही था कि महात्माजी को कविवर का तार मिला :

"भारत की एकता और सामाजिक अविच्छिन्नता के लिए बहुमूल्य जीवन का दान श्रेयस्कर है। हम लोग ऐसे हृदयहीन नहीं है कि इस राष्ट्रीय वज्रपात को चरमसीमा तक पहुंचने दें। हमारे व्यथित हृदय आपकी लोकोत्तर तपस्या को श्रद्धा और प्रेम से निहारते रहेंगे।"

महात्माजी ने इस तार के उत्तर में लिखा:

"जिस तूफान में मैं प्रवेश कर रहा हूं उसमें आपका आशीर्वाद मुझे महारा देगा।"

महात्माजी के उपवास का आरम्भ होने के साथ ही देश के सार्वजनिक जीवन के कल-पुर्जे घूमने लगे। २० सितम्बर को बहुत-से हिन्दू नेता बम्बई में एकत्र हुए। उनमें सर तेजबहादुर सप्रू, सर चुन्नीलाल मेहता, श्री राजगोपालाचार्य, श्री घनश्यामदास बिड़ला, राजेन्द्रप्रसाद, डा० जयकर, सर पुरुषोत्तमदास आदि सवर्ण नेताओं के अतिरिक्त डा० सोलंकी तथा डा० अम्बेडकर दलित जातियों के नेताओं के रूप में उपस्थित थे।

मबके सामने एक ही प्रश्न था कि समस्या का कोई ऐसा हल निकाला जाय जो महात्माजी के मन के अनुरूप हो, और जिसे ब्रिटिश सरकार भी स्वीकार कर ले। ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री ने साम्प्रदायिक समस्या पर निर्णय देते हुए यह घोषणा कर दी थी कि यदि अछूत समस्या का दोनों पक्षों में कोई सर्वसम्मत फैसला हो जायगा तो उसे सरकार स्वीकार कर लेगी।

बातचीत का सिलसिला कई दिनों तक चलता रहा। सरकार से विशेष आज्ञा लेकर नेता लोग यरवदा जेल में महात्माजी से मिले, और आपस में निरन्तर परामर्श करते रहे। अछूत समझी जानेवाली जातियों के नेता डा० अम्बेडकर कभी नर्म हो जाते थे, तो कभी गर्म। उसके साथ ही देश में किसी दिन आशा की लहर उठती थी तो किसी दिन निराशा की। ४ दिन तक खूब ऊहापोह हुई। अन्त में २४ सितम्बर को दोनों पक्ष एक ऐसे परिणाम पर पहुंच गए, जिसे महात्माजी ने भी स्वीकार कर लिया। डा० अम्बेडकर को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जिन गान्धीजी को वह अपना सब से बड़ा विरोधी समझे हुए थे, वही अन्तिम निश्चय के समय उनके सब से बड़े सहायक सिद्ध हुए। यह समझौता पूना पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

यह समझौता, दो मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर बनाया गया था। पहला सिद्धान्त, जिसकी रक्षा के लिए गान्धीजी ने जान की बाजी लगाई थी, संयुक्त निर्वाचन का था। निश्चय हुआ कि अछूत उम्मीदवार समस्त हिन्दू मतदाताओं के वोटों से चुने जायंगे। दूसरा सिद्धान्त पृथक् प्रतिनिधित्व का था। वह डा० अम्बेडकर के आग्रह और ब्रिटिश सरकार के रुख का परिणाम था। स्वीकार किया गया कि प्रान्तीय धारासभाओं में दलितों के लिए १४८ स्थान सुरक्षित होंगे। केन्द्रीय सभा में ब्रिटिश भारत के लिए निर्धारित स्थानों में से १८ प्रतिशत स्थान दलित वर्ग के लिए सुरक्षित रहेंगे। समझौते की सूचना तार द्वारा ब्रिटेन

के प्रधानमन्त्री को भेजी गई। वहां से स्वीकृति आ जाने पर २६ सितम्बर १९३२ के सायंकाल ठीक सवा पांच बजे डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सरदार पटेल, महादेव देसाई, तथा श्रीमती नायडू की उपस्थिति में गान्धीजी ने अपनी जीवनसंगिनी कस्तूरबा गान्धी के हाथ से नारंगी का रस पीकर उपवास तोड़ दिया। उस अवसर पर कविवर ने अपने बंगला के गीतों का गान किया। उपस्थित लोगों की आंखों से आनन्द के आंसू बह रहे थे। इस प्रकार महात्माजी का यह क्रान्तिकारी उपवास पूरी सफलता के साथ समाप्त हुआ।

इस उपवास से दो बड़े लाभ हुए। पहला लाभ तो यह हुआ कि हिन्दुओं की ओर से अछूतों के साथ जो घोर अन्याय हो रहा था उसे बड़े जोर की ठोकर लगी। उस पखवाड़े में, सैकड़ों मन्दिर हरिजनों के लिए खुल गए, और उन्हें कुओं पर पानी भरने का अधिकार मिल गया।

उपवास का दूसरा परिणाम राजनीतिक था। पूना पैक्ट तो हम एक **गौण** और अवान्तर फल समझते हैं, वस्तुतः उपवास की सफलता पश्चिम के भौतिकवाद पर भारत के अध्यात्मवाद की जीत थी।

: ५७ :

आगे कदम

उपवास की समाप्ति पर महात्माजी का मन अछूतों की समस्या पर केन्द्रित हो गया। उस समस्या का गान्धीजी ने नया नामकरण-संस्कार करके हरिजन-समस्या के रूप में परिणत कर दिया। गान्धी विचार-धारा और साहित्य में अछूत या दलित लोग हरिजन नाम से निर्दिष्ट होने लगे। १९३३ के फरवरी मास में, जेल में ही, महात्माजी ने हरिजन-सेवक-संघ की स्थापना की थी, और 'यंग इण्डिया' के स्थान पर 'हरिजन' नाम का पत्र निकाला था। उस वर्ष मई में महात्माजी जेल से मुक्त कर दिये गए। वह कथा भी मनोरंजक है। ८ मई को उन्होंने आत्मशुद्धि के लिए तथा आश्रमवासियों को उपभोग के बजाय सेवा का महत्व समझाने के लिए तीन सप्ताह का उपवास आरम्भ कर दिया। सरकार को भय हुआ कि शरीर की निर्बल दशा में भूखे रहने पर कहीं गान्धीजी का जीवन संकट में न पड़ जाय। उसके राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिणामों से सरकार डरती थी,। सरकार ने उपवास के पहले ही दिन महात्माजी को जेल से मुक्त कर दिया। महात्माजी ने सरकार के इस कार्य को मैत्री का संकेत समझकर छः सप्ताह के लिए सविनय अवज्ञा-आन्दोलन को स्थगित कर दिया।

१५ जुलाई को गान्धीजी ने वायसराय से मुलाकात मांगी। लार्ड विलिंग्डन

ने इन्कार कर दिया। तब महात्माजी ने बहुत समय पहले सोची हुई अपनी रास-यात्रा की तैयारी कर ली। रास के किसानों की कष्ट-कहानी पुरानी थी। महात्माजी कुछ आश्रमवासियों के साथ १ अगस्त को रास के लिए चलनेवाले थे। उसी रात उन्हें तथा उनके ३४ साथियों को गिरफ्तार कर लिया गया; परन्तु तीन दिन बाद छोड़ दिया गया और पूना की सीमाओं में ही रहने की आज्ञा दी गई। आज्ञा मिलने के आध घण्टे पश्चात् ही उन लोगों ने सरकारी आदेश को भंग कर दिया, जिस पर वे फिर पकड़ लिये गए। सब को एक-एक वर्ष का दण्ड दे दिया गया। जेल में पहुंचने पर १६ अगस्त को महात्माजी ने दीर्घ उपवास आरम्भ कर दिया। यह उनका इसी प्रसंग में तीसरा उपवास था। उपवास के चौथे दिन उनकी तबीयत इतनी निर्बल हो गई, कि सरकार ने ३ अगस्त को उन्हें बिना किसी शर्त के रिहा कर दिया। इस रिहाई को महात्माजी ने रिहाई स्वीकार नहीं किया, और यह मानकर कि वह एक वर्ष का जेल ही भोग रहे हैं, घोषणा की कि ३ अगस्त १९३४ से पहले वह स्वयं सविनय आज्ञा-भंग जारी नहीं करेंगे। इस प्रकार एक वर्ष के लिए महात्माजी ने सक्रिय राजनीति से संन्यास ग्रहण कर लिया।

सक्रिय राजनीति से महात्माजी का यह संन्यास राजनीति की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण था। महात्माजी ने प्रचलित राजनीति से अवकाश पाकर तीन रचनात्मक कार्यों पर बल दिया। आपने हरिजनों की समस्या को हल करने के लिए हरिजन-सेवक-संघ की स्थापना की, खद्दर को व्यापक बनाने के लिए अखिल भारतीय चरखा-संघ का आयोजन किया, और ग्रामों की दशा को सुधारने के लिए ग्रामोद्योग संघ की बुनियाद रखी। इन तीनों संगठनों की नैतिक उपयोगिता सीधे राजनीतिक कार्यों से बहुत अधिक थी। इन तीनों संस्थाओं ने अगले वर्षों में सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति के केन्द्रों का काम किया। एक प्रकार से ये तीनों संस्थाएं महात्माजी के राजनीतिक दल की स्थल, जल और वायुसेना का काम देने लगी थीं। इनके सज्जित हो जाने पर राजनीति के मंच पर या कार्य-क्षेत्र में महात्माजी को परास्त करना असम्भव हो गया।

महात्माजी ने प्रत्यक्ष में कांग्रेस की बागडोर कुछ समय के लिए छोड़ दी, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं था कि उनकी दृष्टि कांग्रेस की गतिविधि पर नहीं थी। महात्माजी की यह विशेषता थी कि उनके कान हमेशा पृथ्वी से लगे रहते थे। वह समय की हल्की-सी प्रगति को भी अनुभव कर लेते थे। वह उस वैद्य के समान थे जो रोगी से अलग बैठे हुए भी उसके श्वास-प्रश्वास से रोग का अनुमान लगाते रहते हैं, और उपयुक्त समय देखकर दवा दे देते हैं। महात्माजी कांग्रेस से अलग बैठकर राष्ट्र के श्वास-प्रश्वास का अनुशीलन करने लगे।

इधर राष्ट्र प्रत्यक्ष रूप में शान्त होकर भी सोया नहीं था। उसका कदम क्रान्ति की यात्रा में आगे-ही-आगे बढ़ता जा रहा था, यद्यपि देखने में यही प्रतीत होता था कि राजनीतिक तूफान थम गया है। राष्ट्र में जो मानसिक क्रान्ति हो रही थी, उसकी झलक हम कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में देख सकते हैं।

महात्माजी ने अपनी ओर से एक वर्ष के लिए सत्याग्रह स्थगित कर दिया था। कांग्रेस महासमिति की एक आवश्यक बैठक १९३४ के मई मास में पटना में हुई। उसमें एक प्रस्ताव द्वारा समिति ने भी गान्धीजी की सिफारिश को स्वीकार करके सत्याग्रह स्थगित कर दिया, और दूसरे प्रस्ताव द्वारा स्वराज्य पार्टी की कौंसिल-प्रवेश-सम्बन्धी नीति को स्वीकार करके पं० मदनमोहन मालवीय और डा० अन्सारी को ऐसा एक पार्लियामेण्टरी बोर्ड बनाने का अधिकार दे दिया जो चुनाव-सम्बन्धी नियम तथा उपनियम बनाने के अतिरिक्त चुनाव लड़ने की व्यवस्था भी करे।

इस प्रकार कांग्रेस ने सत्याग्रह की दिशा से अपना पग पीछे हटाकर कौंसिल के मोर्चे की ओर आगे बढ़ा दिया। इसे हम मूल नीति का परिवर्तन न कहकर युद्ध नीति का परिवर्तन ही कहेंगे। लक्ष्य वही रहा—पूर्ण स्वाधीनता और साधन वही रहा—अंग्रेजी सरकार के हाथों से अपनी गई हुई स्वाधीनता को छीनना। भेद केवल तरीके में हुआ—पहले लड़ाई जेलों के मोर्चे पर थी, अब वह कौंसिलों के भीतर जा पहुंची।

यह परिवर्तन उतना महत्वपूर्ण नहीं था, जितना महत्वपूर्ण राष्ट्र की मनोवृत्ति का परिवर्तन था। जब तक सत्याग्रह का बिगुल बजता रहा, भारत के देशभक्त और सब-कुछ भूले रहे। वह साम्यवाद और आतंकवाद-जैसे उग्र आन्दोलनों की भी उपेक्षा करते रहे, क्योंकि उनके बढ़ते हुए आवेश को प्रकाशित होने का रास्ता मिलता रहा, परन्तु ज्योंही सत्याग्रह स्थगित हुआ कि देश के नवयुवकों, श्रमजीवियों और किसानों के हृदयों में एक नई बेचैनी की ज्वाला धधकने लगी। कौंसिलों का कार्यक्रम साधारण जनता के लिए सन्तोषजनक नहीं था। साधारण जनता में जब एक बार जागृति उत्पन्न हो जाती है तो वह क्रिया चाहती है। क्रिया के बिना उसकी उत्तेजना शान्त नहीं होती। यदि शरीर नहीं तो मन का व्यापार जारी रहता है। यही कारण है कि जब भौतिक हलचलें या संघर्ष बन्द हो जाते हैं तब मानसिक संघर्ष का युग आरम्भ हो जाता है।

अगले ५ वर्षों तक सत्याग्रह स्थगित रहा। यदि राष्ट्र की मानसिक प्रगति की दृष्टि से देखें तो वे वर्ष बहुत महत्वपूर्ण दिखाई देंगे। इन वर्षों में कांग्रेस के चार अधिवेशन हुए।

१९३४ में, बम्बई में, अध्यक्ष बा० राजेन्द्रप्रसाद।

१९३६ में, लखनऊ में, अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू।

१९३७ में, फैजपुर में, अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू।

१९३८ में, हरिपुरा में, अध्यक्ष श्री सुभाषचन्द्र बोस।

१९३५ में कांग्रेस का अधिवेशन न होने का यह कारण हुआ कि दिसम्बर के महीने को अधिवेशन के लिए समुचित नहीं समझा गया। शीत अधिक होने के कारण उस मास में दक्षिण और पश्चिम के निवासियों को यात्रा में बहुत कष्ट होता था, और यदि अधिवेशन उत्तर में हुआ तो कष्ट और भी अधिक बढ़ जाता

था। अधिवेशन लखनऊ में होनेवाला था, इस कारण अप्रैल के महीने को चुना गया। वह वर्ष कांग्रेस की स्वर्ण-जयन्ती का भी था। उसे स्थापित हुए ५० वर्ष पूरे हो रहे थे। देश के प्रतिनिधियों की सुविधा की दृष्टि से अधिवेशन की तिथियां चार मास पीछे सरका दी गईं।

सत्याग्रह के स्थगित होने, और महात्माजी के कांग्रेस से अलग होने पर भी देश क्रान्ति के मार्ग पर आगे बढ़ रहा था। इसका पहला प्रमाण अधिवेशन के अध्यक्ष का चुनाव था। पं० जवाहरलाल नेहरू उस समय नवीन भारत की उत्कट अभिलाषाओं के प्रतीक बन चुके थे। देश के विद्यार्थी, नवयुवक, मजदूर और किसान उन्हें अपना 'हृदय-सम्राट' मान रहे थे, और अग्रगामी दल उन पर आंख लगाये हुए थे। अभी-अभी वह योरप से वापस आये थे, जहां उन्हें अपनी निजी और सार्वजनिक जीवन की संगिनी कमलाजी का वियोग सहना पड़ा था। कमलाजी का स्वास्थ्य प्रारम्भ से ही बहुत नाजुक था। कांग्रेस के थका देनेवाले कार्य, तथा जेल के कष्टों ने उसे बिलकुल जर्जरित कर दिया था। रोग ने उन्हें चारपाई पर डाल दिया। चिकित्सकों ने सम्मति दी कि उन्हें क्षयरोग है, जिसके इलाज के लिए विदेश भेजना आवश्यक है। जवाहरलालजी उस समय जेल में थे। सरकार ने सजा की अवधि पूरी होने से ५॥ महीने पहले उन्हें मुक्त कर दिया। जर्मनी जाकर जवाहरलालजी ने कमलाजी को बचाने का भरसक यत्न किया, परन्तु सफलता न हुई। वह तपस्विनी अपने वीर पति को और देशवासियों को शोकमग्न छोड़कर इस संसार से विदा हो गई। जवाहरलालजी जब भारत लौटे तो देशवासियों का हृदय उनके सामने मानो सहानुभूति से बिछ गया।

भूमण्डल के रंगमंच पर उन दिनों परिवर्तन का विशाल नाटक खेला जा रहा था। रूस उस नाटक का सब से बड़ा अभिनेता था। जिस रूस को कभी योरप और एशिया का नींद लेनेवाला कुम्भकर्ण समझा जाता था, वह न केवल पूरी तरह जाग उठा था, उसने मार्क्स के साम्यवादी स्वप्न को जीते-जागते रूप में लाकर संसार के श्रमिक-वर्गों के हृदयों में एक अद्भुत वलवला पैदा कर दिया था। दूसरी ओर साम्राज्यवाद के एक प्रतिनिधि, इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण और उसके शासक को पदच्युत करके अपने नग्न आततायीपन से संसार को उद्विग्न कर दिया था। इन दो विरोधी आदर्शों के खुले प्रदर्शनों का यह परिणाम हो रहा था कि भारत की जनता के हृदय में जहां साम्राज्यवाद के प्रति भयंकर घृणा उत्पन्न हो रही थी, वहीं साम्यवाद के प्रति सहानुभूति और आशा की भावना भी उत्पन्न हो रही थी।

पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपने देश में लौटने से पूर्व योरप के अनेक देशों में भ्रमण करके उन नई भावनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव किया था जो संसार की जातियों में नैतिक, सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति उत्पन्न कर रही थीं। यह भी सब को मालूम था कि जब जवाहरलाल अपने देश लौटे तो उनका दिमाग साम्यवादी और मार्क्सवादी विचारों से भरा हुआ था। स्वभावतः देश की समस्याओं को हल करने के लिए भारतवासियों की आंखें उन्हीं की ओर उठीं। महात्मा गान्धी ने भी,

जिनका एक बड़ा गुण यह था कि वह अपना हाथ सदा जनता की नब्ज पर रखते थे, कांग्रेस के सभापति-पद के लिए पं० नेहरू के नाम का ही समर्थन किया।

लखनऊ का अधिवेशन धूमधाम और प्रदर्शन की दृष्टि से खूब बढ़िया था। उसके परिणाम के विषय में तीन मत थे। अधिवेशन के अध्यक्ष नेहरूजी उससे बहुत-कुछ निराश हुए, क्योंकि वह कांग्रेस के कार्यक्रम में साम्यवादी दृष्टिकोण का जितना समावेश करना चाहते थे, उतना न हो सका। पुराने महारथी, जो महात्माजी की विचार-शैली के पूरे अनुयायी थे, असन्तुष्ट रहे, क्योंकि पं० जवाहरलालजी के प्रभाव से कांग्रेस के प्रस्तावों पर न केवल थोड़ा-बहुत साम्यवादी रंग चढ़ गया, अपितु साम्यवाद के तीन नौजवान प्रतिनिधि भी कार्यसमिति में ले लिये गए थे। साम्यवादी दल बहुत प्रसन्न था, क्योंकि उन्हें सरदार वल्लभभाई पटेल और बा० राजेन्द्रप्रसाद-जैसे प्रभावशाली महारथियों द्वारा सुरक्षित किले की दीवार में रास्ता बना करके अन्दर घुसने का अवसर मिल गया था। देश के लिए, लखनऊ के अधिवेशन ने दो नई योजनाएं प्रदान कीं:

(१) धारासभाओं में प्रवेश की नीति को अपनाकर उनके संचालन के लिए कांग्रेस पार्लियामेण्टरी बोर्ड स्थापित किया, और उसे चुनाव-सम्बन्धी घोषणा-पत्र तैयार करने का काम सौंपा।

(२) कार्यसमिति के सुपुर्द यह काम किया गया कि वह देश के किसानों की दशा को उन्नत करने की योजना तैयार करे।

अधिवेशन के पश्चात् जब कार्य प्रारम्भ हुआ तब एक कठिनाई उपस्थित हो गई। कार्यसमिति का बहुमत नेहरूजी की साम्यवादी मनोवृत्ति से सहमत नहीं था। इस प्रकार कांग्रेस के अध्यक्ष को अल्पमत की सहायता से काम करना पड़ा। यदि कोई साधारण अध्यक्ष होता तो वह इस बड़े गढ़े को पार न कर पाता, परन्तु जवाहरलाल की इच्छाशक्ति और कार्यशक्ति ने सारी बाधाएं पार कर लीं। साथ ही उन्हें महात्माजी का मानसिक सहयोग और आशीर्वाद प्राप्त रहा। इन कारणों से आन्तरिक बाधाओं के होते हुए भी नेहरूजी ने उस वर्ष देश के नैतिक जीवन में एक नई स्फूर्ति उत्पन्न कर दी। छात्रों, मजदूरों और किसानों में विशेष जागृति के लक्षण दिखाई देने लगे। देशवासियों का ध्यान अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की ओर भी विशेष रूप से खिंच रहा था। ९ मई को कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति के आदेश के अनुसार देश में अबीसीनिया-दिवस मनाया गया, जिसमें इटली द्वारा अबीसीनिया पर आक्रमण और स्वाधीनता के अपहरण की निन्दा की गई।

यहां देश की उस समय की मानसिक दशा पर प्रभाव डालनेवाली कुछ अन्य घटनाओं की चर्चा भी आवश्यक प्रतीत होती है। महात्मा गान्धी के उपवास, और पूना पैक्ट के प्रसंग में देश-भर में हरिजनों को अपनाने का जो आन्दोलन हुआ उसने राष्ट्र की सामाजिक क्रान्ति को बहुत प्रोत्साहन दिया। देश का मन उन कुछ महीनों में कई वर्षों की यात्रा तय कर गया। जहां अस्पृश्य कहलानेवाले वर्गों

के हृदय आश्वासन पाकर राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर झुक गए वहां कट्टर सवर्ण हिन्दुओं के हृदयों से भी अस्पृश्यता की भावना विदा होने लगी।

बिहार और क्वेटा में इन्हीं दिनों भयंकर भूकम्प हुए। उन दोनों दैवी आपत्तियों ने जहां एक ओर देश के दो भू-भागों को तहस-नहस करके लाखों देशवासियों पर आफतें ढा दीं, वहां एक अच्छा काम भी किया। देश के एक भाग पर आपत्ति आने पर सारा देश ऐसे विचलित हो उठा जैसे पांव में कांटा चुभने पर सिर से पांव तक सारा शरीर विचलित हो उठता है। सारे राष्ट्र में सहानुभूति की एक लहर दौड़ गई। कांग्रेस तथा अन्य जिन अनेक सार्वजनिक संस्थाओं ने बिहार और क्वेटा में पहुंचकर सेवा और सहायता का काम किया उनमें देश के प्रत्येक प्रान्त, प्रत्येक सम्प्रदाय और प्रत्येक वर्ग के कार्यकर्ता थे। उन संकटों ने यह प्रमाणित कर दिया कि देश अब चेतन हो गया है, उसके शरीर से पक्षाघात का रोग जाता रहा है।

इसी बीच अंग्रेजी सरकार ने किंग जार्ज की रजत-जयन्ती भी मना डाली। मई १९३४ में किंग जार्ज को राज्यारूढ़ हुए २५ वर्ष पूरे हो गए थे। अंग्रेजी सरकार ने सोचा था कि शायद इसी निमित्त को लेकर वह देश-भर में राजभक्ति की लहर दौड़ा सकेगी। नाटक पूरा किया गया। खेल-कूद, नाच-तमाशे सभी कुछ हुआ, परन्तु सब-कुछ हुआ रंगमंच पर ही, देश का हृदय उनसे सर्वथा अस्पृष्ट रहा। सरकार को नरेशों के राजभक्ति-प्रदर्शन से ही सन्तुष्ट हो जाना पड़ा।

१९३६ में देश को दो देशभक्तों का वियोग सहना पड़ा—एक श्री अब्बास तय्यबजी और दूसरे डा० अन्सारी। दोनों ही देश के सच्चे नायक होने के अतिरिक्त महान् व्यक्ति भी थे।

१० मई को देश-भर में सुभाष-दिवस मनाया गया। सरकार ने बिना कोई अभियोग लगाये उन्हें अपने भाई के बंगले में नजरबन्द कर दिया था। उस समय सरकार सुभाष बाबू को भारत का सब से अधिक खतरनाक क्रान्तिकारी समझने लगी थी। उनकी निर्भीकता और तत्परता से नौकरशाही का हृदय कांप गया था। नौकरशाही उन्हें निरन्तर कारावद्ध रखने में ही अपना कल्याण समझती थी। १० मई के दिन देश-भर में जो सभाएं हुईं, उनमें यह मांग की गई कि सरकार या तो सुभाष बाबू पर राजद्रोह का अभियोग चलाकर उन्हें अपराधी प्रमाणित करे, अन्यथा बिना विलम्ब मुक्त कर दे।

सरकार का दमनचक्र यथापूर्व चलता ही रहा। दमन की मात्रा का कुछ अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि १९३६ में केवल बंगाल में राजनीतिक बन्दियों की संख्या ३००० थी। उनमें से सितम्बर, अक्तूबर और नवम्बर में एक-एक करके ३ की मृत्यु हो गई। सरकार की ओर से कहा गया कि वह मृत्यु आत्महत्या से हुई। देश में उन समाचारों से रोष का उफान-सा आ गया। वह उफान इतना वेगवान् था कि उसने शान्तिनिकेतन में शान्त भाव से बैठे हुए कविवर रवीन्द्रनाथ को भी विचलित कर दिया। उन्होंने इन मृत्युओं के कारणों की सार्वजनिक जांच की मांग की।

बम्बई शहर से जो व्यक्ति १९३३ से १९३६ तक पुलिस ऐक्ट द्वारा निर्वासित किये गए, उनकी संख्या क्रमशः ३४६, ५७८, और ६६३ थी। समाचारपत्रों पर प्रहार बराबर जारी रहे। किसी से जमानत मांगी गई तो किसी की जमानत जब्त की गई।

यह थी देश की दशा, जब फैजपुर में कांग्रेस के अधिवेशन का समारोह प्रारम्भ हुआ। महात्मा गान्धी इस पक्ष में थे कि कांग्रेस के अधिवेशन अब ग्रामों में हुआ करें। फैजपुर महाराष्ट्र प्रान्त में एक छोटा-सा ग्राम है। उसमें कांग्रेस के विशाल समारोह की व्यवस्था करना सुलभ काम नहीं था। वह कार्य जिस सुन्दरता और पूर्णता से सम्पन्न हुआ वह स्वागत समिति को कुशलता और राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं की बढ़ती हुई कार्यक्षमता का उज्ज्वल प्रमाण था। अधिवेशन के अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू चुने गए। स्वागताध्यक्ष श्री शंकरराव देव थे। विशालता और सुप्रबन्ध की दृष्टि से यह अधिवेशन बहुत बढ़िया था। अधिवेशन के साथ एक खद्दर—स्वदेशी—प्रदर्शनी भी की गई, जो अपने ढंग की अनूठी चीज थी। उससे पूर्व जितनी ऐसी प्रदर्शनियां हुईं यह उन सब से बड़ी और सुव्यवस्थित थी। देश का कोई भाग ऐसा नहीं था जहां के खद्दर के उत्तमोत्तम नमूने वहां न आये हों।

उस अधिवेशन को यदि चुनाव अधिवेशन कहें, तो अनुचित न होगा। नये संविधान के अनुसार बननेवाली धारासभाओं के चुनाव में सफलता प्राप्त करने के उपायों पर विचार करना ही उस कांग्रेस का मुख्य विषय बन गया था। पं० जवाहरलालजी का सर्वसम्मति से अध्यक्ष-पद के लिए निर्वाचन भी उसी लक्ष्यपूर्ति का साधन था। उस समय महात्माजी और उनके सहयोगी यह अनुभव करने लगे थे कि कांग्रेस के पास जनसम्पर्क द्वारा आन्दोलन की बाजी को जीतने के लिए नेहरूजी से अच्छा कोई मोहरा नहीं है, क्योंकि वह अपनी कार्यक्षमता के कारण जहां नेताओं में सम्मानित पद पाने के योग्य थे, वहां अपने विचारों की अग्रगामिता के कारण जनता के लाडले भी थे। भारत-जैसे पिछड़े हुए देश के जननेता में, समय को पहिचानने और तदनुसार नीति-निर्धारण करने के लिए प्रतिभा का जो लचकीला-पन चाहिए वह नेहरूजी में प्रभूत मात्रा में विद्यमान थी: उनमें आग भी थी और पानी भी। इन दोनों के योग से जो शक्ति उत्पन्न होती है वह इस देश की भारी गाड़ी को खींचने की सामर्थ्य रखती है। यही कारण है कि नेहरूजी उस दिन से आज तक देश की गाड़ी के इंजिन बने हुए हैं।

चुनाव का घोषणापत्र तैयार किया गया, और पार्लियामेण्टरी बोर्ड का निर्माण किया गया। घोषणा-पत्र में उन्हीं सिद्धान्तों और आश्वासनों को दुहराया गया था, जिनकी कांग्रेस के प्रस्तावों द्वारा घोषणा हो चुकी थी। उस घोषणा-पत्र को महात्मा गान्धी के आदर्शवाद और पं० जवाहरलालजी के समाजवाद का मिश्रण कह सकते हैं।

चुनाव के आन्दोलन का काम जवाहरलालजी को और चुनाव की व्यवस्था का काम सरदार पटेल को सौंपा गया। वस्तुतः कार्यों का यह बंटवारा उस समय

आदर्श सिद्ध हुआ। न केवल कांग्रेस के पास अपितु, सारे देश के पास उस समय पं० जवाहरलालजी से उत्तम आन्दोलनकारी और सरदार पटेल से उत्तम संगठन-कर्त्ता नहीं था।

फैजपुर कांग्रेस के दो अन्य महत्वपूर्ण प्रस्ताव सम्भावित भावी महायुद्ध और इंग्लैण्ड के बादशाह एडवर्ड अष्टम के राज्याभिषेक के सम्बन्ध में थे। सम्भावित महायुद्ध के विषय में कांग्रेस ने निश्चय किया था कि यदि वह युद्ध भारतवासियों की सम्मति के बिना प्रारम्भ किया गया तो भारतवासी उसमें सहयोग नहीं देंगे। राज्याभिषेक के क्रिया-कलाप तथा समारोह से पूरा असहयोग करने की घोषणा की गई। इस राज्याभिषेक प्रस्ताव की यह विशेषता थी कि इसमें भारतवासियों को असहयोग करने का आदेश तो दिया गया था, परन्तु सत्याग्रह-जैसी कोई लड़ाई जारी करने की चर्चा नहीं थी। इसका कारण यह था कि उसी अधिवेशन में कांग्रेस कौंसिलों के चुनाव लड़ने और बहुमत होने पर मन्त्रिमण्डल बनाने की योजना को स्वीकार कर रही थी। पद-ग्रहण और कानून-भंग साथ-साथ नहीं चल सकते। इस कारण इतना ही पर्याप्त समझा गया कि राज्याभिषेक का बहिष्कार किया जाय।

इस अधिवेशन में कांग्रेस के संगठन को दृढ़ बनाने के लिए बहुत-से अनुशासन-सम्बन्धी नियम स्वीकार किये गए। कांग्रेस चुनाव में सफल होकर शासन के उत्तरदायित्व में हिस्सेदार बनना चाहती थी, इस कारण यह आशंका बढ़ गई थी कि शायद उसके सदस्यों में ओहदों के लिए संघर्ष उत्पन्न हो जाय। चुनाव की उम्मीदवारियों के बारे में भी संघर्ष का भय था। उस संघर्ष में असफल होनेवालों से अनुशासन-भंग होने की सम्भावना हो सकती थी। यही सब-कुछ सोचकर कांग्रेस की कार्यकारिणी को अधिकार दिया गया कि वह कांग्रेस कमेटी के विरुद्ध कार्य करनेवालों को अनुशासनात्मक दण्ड दे सके। यदि उस समय कार्यकारिणी किसी कारण से कार्य न कर रही हो तो अनुशासन के अधिकार बरतने का अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया था।

फैजपुर कांग्रेस में जिन विषयों पर विशेष चर्चा हुई, उनमें से एक देशी राज्यों का प्रश्न भी था। अभी तक कांग्रेस रियासतों के सम्बन्ध में लगभग उदासीनता की नीति बरतती रही थी। फैजपुर में देशी राज्यों के प्रतिनिधियों ने उस उदासीनता के मौन को भंग कर दिया। उस समय से देशी राज्यों की समस्या को राष्ट्रीय रूप मिलने की जो प्रक्रिया आरम्भ हुई, हम देखेंगे कि अगले वर्षों में वह निरन्तर तीव्र होती गई।

: ५८ :

पद-ग्रहण का परीक्षण

१९३७-१९३८ और १९३९ इन तीन वर्षों को हम कांग्रेस द्वारा पद-ग्रहण के परीक्षण के वर्ष कह सकते हैं। फैजपुर में चुनाव लड़ने और सफलता प्राप्त होने की दशा में मन्त्रिमण्डल बनाने का निश्चय किया गया था। १९३७ के आरम्भ में देश-भर में धारासभाओं के चुनाव हुए। कांग्रेस को काफी सफलता प्राप्त हुई। जिन पांच प्रान्तों की धारासभाओं में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ, वे मद्रास, युक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त, बिहार और उड़ीसा थे। बंगाल, बम्बई, आसाम और सीमाप्रान्त में यद्यपि कांग्रेसी सदस्यों की संख्या अन्य दलों की संयुक्त संख्या से अधिक नहीं थी, तो भी अलग-अलग दलों में सब से अधिक संख्या कांग्रेसियों की ही थी; केवल सिन्ध और पंजाब में कांग्रेस का अल्पमत था।

चुनावों के इस परिणाम में दो बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य थीं। देश-भर में धारासभाओं की १५८५ सीटों के लिए चुनाव लड़ा गया था। उनमें से कांग्रेस ने ७१२ सीटें प्राप्त कीं। इस प्रकार कांग्रेस आधे से कुछ ही कम सीटों पर कब्जा कर सकी। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह थी कि कांग्रेस ने विविध सीटों पर ४८२ मुसलमान खड़े किये थे, उनमें से केवल २६ सफल हो सके। शेष ४२४ सीटें गैर-कांग्रेसियों को मिलीं।

इन दो त्रुटियों के होते हुए भी सभी ने यह अनुभव किया कि कांग्रेस को शानदार सफलता प्राप्त हुई है; सरकार का छिपा विरोध, मुसलमान संस्थाओं का खुला विरोध और मतदाताओं की उदासीनता के रहते भी ५ बड़े प्रान्तों में पूरा बहुमत और ४ प्रान्तों में सापेक्षिक बहुमत प्राप्त करना कुछ कम सन्तोषप्रद नहीं था। जो सफलता प्राप्त हुई उसके मुख्य रूप से तीन कारण थे।

पहला कारण यह था कि सत्याग्रह के स्थगित हो जाने से जागृत देशवासियों की प्रवृत्ति कौंसिल-प्रवेश की ओर झुक गई थी। देशबन्धु दास और पं० मोतीलाल-जी—जैसे सर्वमान्य नेताओं के समर्थन ने सर्वसाधारण कांग्रेसियों को यह आशा दिला दी थी कि यदि कौंसिलों के किलों में घुसकर नौकरशाही से युद्ध किया जाय तो स्वराज्य प्राप्त हो सकता है। जब तक सत्याग्रह मैदान में रहा, तब तक असहयोग की भावना प्रबल रही और कौंसिलों का कार्यक्रम दबा रहा, परन्तु ज्योंही महात्माजी ने सत्याग्रह को स्थगित किया, कांग्रेसजन और राष्ट्रीयता की भावना रखनेवाले अन्य भारतवासी धारासभाओं के कार्यक्रम की ओर झुक गए। मजदूरों और किसानों में जो जागृति उत्पन्न हुई थी, उसने भी कौंसिल-प्रवेश के कार्य को प्रोत्साहन दिया। उन वर्गों को यह आशा दिलाई गई थी कि यदि धारासभाओं में कांग्रेस का बहुमत हो जायगा, तो उनकी भलाई के कानून पास करना सुगम हो जायगा।

यह तो था सामान्य कारण। विशेष कारण था पं० जवाहरलाल नेहरू का तूफानी दौरा। इस ग्रन्थ के लेखक को भी उस तूफानी दौरे के साथ कुछ समय व्यतीत करने का अवसर मिला था। दौरे का अद्भुत प्रभाव हुआ। देशवासियों को, विशेषरूप से किसानों, मजदूरों और नौजवानों की जवाहरलाल में जबर्दस्त आस्था थी। महात्माजी के बाद वही उनकी आशाओं के केन्द्र बन गए थे। फिर पंडितजी की कार्य करने की शक्ति अत्यन्त असाधारण होती जा रही थी। एक दिन की यात्रा में दस-बारह सभाओं में भाषण देकर फिर रात के समय किसी बड़े नगर की विराट् सभा में डेढ़ घण्टे तक बोलना तो एक साधारण बात हो गई थी। इन निर्धारित भाषणों के अतिरिक्त सड़कों पर दर्शनाभिलाषी ग्रामवासियों के आग्रह पर जो शब्द कहने पड़ते थे, वे अलग थे। इतना थकानेवाला कार्यक्रम सप्ताहों तक पूरा करते रहकर स्वस्थ बने रहना नेहरूजी की प्रबल इच्छाशक्ति और नियमित दिनचर्या का ही परिणाम था।

इस प्रकार, देश की तत्कालीन मनोवृत्ति, और नेहरू-पटेल के भगीरथ प्रयत्न का यह परिणाम हुआ कि देश की राष्ट्रीय विचारोंवाली जनता कमर कसकर चुनाव के लिए उद्यत हो गई। सरकार की ओर से बहुत-से हथकण्डे बरते गए, मुसलमानों और हरिजनों को बरगलाने के भी अनेक यत्न हुए। इन सब बाधाओं के होते हुए भी जो सफलता मिली, वह अवश्य ही सन्तोषजनक थी। इस सफलता में चुनाव-युद्ध के प्रधान सेनापति सरदार वल्लभभाई पटेल का भी प्रमुख भाग था। रणक्षेत्र में जोश दिलाने का श्रेय नेहरूजी को था, तो सेना-संचालन का श्रेय सरदार पटेल को था। यदि दोनों का यह श्रेयस्कर-गठजोड़ा न होता, तो चुनाव-युद्ध में इतनी सफलता सम्भव नहीं थी।

चुनाव की सफलता को दृढ़ीभूत बनाने के लिए अप्रैल के महीने में दिल्ली में राष्ट्रीय सम्मेलन (National Con ention) किया गया। वह सम्मेलन बहुत ही थोड़े समय की सूचना से करना पड़ा, इस कारण प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी को ही स्वागत का सारा बोझ उठाना पड़ा। सम्मेलन के सभापति कांग्रेस के अध्यक्ष पं० जवाहरलालजी थे और स्वागताध्यक्ष श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति। सम्मेलन में धारासभाओं के लिए चुने गए सब कांग्रेसी सदस्यों के अतिरिक्त देश-भर के प्रमुख राष्ट्रीय कार्यकर्ता निमंत्रित थे। सरकार ने नीति के तौर पर ठीक उसी अवसर पर श्रीयुत सुभाषचन्द्र बोस को भी नजरबन्दी से मुक्त कर दिया था। सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष की ओर से उसी समय उन्हें रिहाई पर बधाई देते हुए सम्मेलन में निमंत्रित किया गया, परन्तु स्वास्थ्य ठीक न होने से वह आ न सके।

सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य कांग्रेसजनों के धारासभा-सम्बन्धी कार्यक्रम का निश्चय करना था। कार्यक्रम की रूपरेखा तो फैजपुर के अधिवेशन में बन ही चुकी थी। राष्ट्रीय सम्मेलन के सामने केवल इतना ही काम था कि उस रूप-रेखा में रंग भर दे। सम्मेलन के सभापति पं० जवाहरलाल ने कांग्रेस के अध्यक्ष

होने की हैसीयत से सब उपस्थित निर्वाचित सदस्यों से निम्नलिखित प्रतिज्ञा करवाई :

"मैं, जो कि अखिल भारतीय सम्मेलन का सदस्य हूं इस बात की शपथ लेता हूं कि मैं हिन्दुस्तान की सेवा करूंगा। धारासभा के बाहर और भीतर, हिन्दुस्तान की आजादी के लिए काम करूंगा, और हिन्दुस्तानी जनता की ग़रीबी और उसके शोषण को समाप्त करने का यत्न करूंगा। मैं इस बात की शपथ लेता हूं कि मैं कांग्रेस के आदर्श और उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए कांग्रेस के अनुशासन में काम करूंगा, ताकि भारत स्वतन्त्र हो, और उसके करोड़ों निवासी जिस बोझ के नीचे पिस रहे हैं, उससे छुटकारा पा सकें।"

इस प्रकार नियंत्रण में बंधकर चुने हुए कांग्रेसी सदस्यों ने धारासभाओं के सरकारी दुर्ग में प्रवेश किया। केन्द्रीय धारासभा में उनकी संख्या आधे से कम थी, इस कारण वह विरोधी दल के रूप में संगठित हो गए। केन्द्रीय कांग्रेस-दल के नेता श्रीयुत सुभाषचन्द्र बोस के बड़े भाई श्री शरच्चन्द्र बोस चुने गए।

जिन प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत था, उनमें कांग्रेस-दल के नेताओं ने मन्त्रिमण्डल बनाकर शासन-सूत्र को अपने हाथ में लेना स्वीकार कर लिया। अन्य प्रान्तों में शेष दलों के प्रति समयोचित वर्ताव की नीति स्वीकार की गई। जब गया की कांग्रेस में पहले-पहल कौंसिल-प्रवेश का प्रश्न उठाया गया था, तब उसके समर्थकों ने यह कहकर उसका समर्थन किया था कि सरकार के मायाजालको तोड़ने का एक उपाय कौंसिलों के दुर्ग में घुसना भी है। यह स्पष्ट है कि १९३७ में कांग्रेस की विचारधारा में काफी परिवर्तन आ गया था। यद्यपि महात्माजी अपने लेखों में अब भी कौंसिल-प्रवेश को नौकरशाही के गढ़ को तोड़ने का साधन प्रकट करते थे, परन्तु उनके अन्य अनुयायियों का दृष्टिकोण बहुत-कुछ बदल चुका था। वे कौंसिलों के मन्थन से यदि एक बूंद अमृत निकल सके तो उसके लिए यत्न करना उचित मानते थे।

उन तीन वर्षों में कांग्रेसी सदस्यों ने कौंसिलों में क्या किया, और वह कौंसिलों द्वारा जनता का कोई भला कर सके या नहीं, इन प्रश्नों के विस्तृत उत्तर देने की आवश्यकता नहीं। इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि वे लोग जनता की भलाई करने के प्रयत्न अवश्य करते रहे, परन्तु क्योंकि शक्ति का अन्तिम सूत्र गवर्नरों के हाथ में था, इस कारण उनके पहाड़ खोदने का परिणाम चूहे से बड़ा नहीं निकल पाता था। शीघ्र ही वे अनुभव करने लगे कि जब तक शासन-यन्त्र पर उनका पूरा अधिकार नहीं है, तब तक धारासभाओं के सदस्य कुछ नहीं कर सकते।

मामला राजनीतिक बन्दियों की रिहाई पर बिगड़ा। कांग्रेस की महासमिति यह घोषणा कई बार कर चुकी थी कि राजनीतिक बन्दियों को रिहा कराना तथा ऐसे प्रवासी भारतवासियों पर से प्रतिबन्ध उठवाना, जिनके भारत-प्रवेश पर रोक लगी हुई है, कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का प्रथम कर्त्तव्य है। इस आदेश के अनुसार बिहार और संयुक्त प्रान्त के कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने प्रयत्न किया कि सरकार राजनीतिक

प्रतिबन्धों को उठा ले। परन्तु गवर्नरों के विरोध के कारण उनके प्रयत्न पूर्णरूप से सफल नहीं हुए। सरकार हिंसात्मक कार्यों के लिए दण्डित देशभक्तों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुई। इस पर प्रान्तों के मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये।

प्रत्यक्ष में राजनैतिक बन्दियों के छुटकारे का प्रश्न त्यागपत्र का कारण बन गया, परन्तु वस्तुतः अन्य अनेक ऐसी मानसिक प्रतिक्रियाएं थीं, जो प्रारम्भ से ही कौंसिलों के कार्यक्रम को ठोकर लगा रही थीं। अपने मन्त्रिमण्डलों से कांग्रेसजन दो कारणों से असन्तुष्ट थे। कौंसिल-प्रवेश के प्रबल समर्थकों ने यह आशा दिलाई थी कि कौंसिलों में घुसते ही हमारे प्रतिनिधि नौकरशाही की दीवारों को तोड़ने लगेंगे। वैसा कुछ नहीं हुआ। जो कांग्रेसजन कौंसिल-प्रवेश के विरोधी थे, वे तो पहले से ही असन्तुष्ट होने को उद्यत बैठे थे। उधर कांग्रेसी मन्त्री स्वयं अपनी स्थिति से पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं थे। उन्हें दो प्रकार की आलोचना का सामना करना पड़ रहा था। महात्माजी यह विचार कई बार प्रकट कर चुके थे, कि जो कांग्रेसी सदस्य राज्यमन्त्री का कार्य संभालेंगे वे ५००) मासिक में निर्वाह करेंगे। जनता को आशा थी कि उनके भेजे हुए मन्त्री वशिष्ठ और चाणक्य की भांति सादगी का जीवन व्यतीत करेंगे। वह आशा पूरी नहीं हो रही थी। मन्त्री लोग जो वेतन भत्ता आदि लेते थे, वह ऊंचा मध्यम श्रेणी के लोगों का-सा था। फलतः रहन-सहन साधारण से ऊंचा ही था। कांग्रेसी मन्त्री यह भी जानते थे कि यदि वे गरीब और श्रमिक जनता के लिए कोई चमत्कारिक लाभदायक कार्य न कर सके, तो लोगों की दृष्टि से गिर जायंगे। उस समय की वैधानिक परिस्थिति में लाभदायक चमत्कार की कोई आशा नहीं थी। इन कारणों से वे भी दिल से चाहने लगे थे कि उलझन से निकलने और बदनामी से बचने का कोई उपाय निकल आये।

यह थी परिस्थिति जब हरिपुरा में कांग्रेस का वृहद् अधिवेशन हुआ। हरिपुरा के अधिवेशन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसकी अध्यक्षता के लिए श्री सुभाषचन्द्र बोस का निर्विरोध चुनाव हुआ था। सुभाष बाबू प्रारम्भ से ही अग्रगामी विचारों के प्रतिनिधि माने जाते थे। कलकत्ते के उस अधिवेशन में, जिसमें पं० मोतीलालजी की अध्यक्षता में कांग्रेस ने औपनिवेशिक स्वराज्य को अपना लक्ष्य स्वीकार किया था, पूर्ण स्वाधीनता-सम्बन्धी संशोधन पं० जवाहरलाल नेहरू और श्री सुभाषचन्द्र बोस दोनों के नाम से भेजा गया था। परन्तु जब समय पर महात्माजी ने संशोधन का विरोध किया और पं० जवाहरलालजी संशोधन पेश करने के लिए उपस्थित नहीं हुए, तब सुभाष बाबू ने उसे पेश करने का साहस किया था। उसी



सुभाषचन्द्र बोस

समय से, सुभाष बाबू कांग्रेस के हाई कमाण्ड की बांधी हुई सीमाओं से आगे चलनेवाले माने जाते थे। देश के अधिक जोशीले मजदूर, किसान और विद्यार्थी उन्हें अपना नेता और हृदय-सम्राट कहने लगे थे। अंग्रेजी सरकार की तो यह नीति ही थी कि जिसे वह प्रचलित राजनीतिक संस्था से आगे या अलग पाती थी उसे पूरी तरह कुचल देने का यत्न करती थी। सुभाष बाबू के साथ भी सरकार ने वही व्यवहार किया, जो उसने सूरत के अधिवेशन के पश्चात् लोकमान्य तिलक के साथ किया था। दमन द्वारा उनकी गर्दन को झुका देना चाहा, परन्तु परिणाम उलटा ही हुआ। श्री सुभाषचन्द्र बोस की लोकप्रियता निरन्तर बढ़ती गई, जब पं० जवाहरलाल की अध्यक्षता का दूसरा वर्ष समाप्त हुआ, तब समय की मांग को पूरा करने के लिए देशवासियों ने सर्वसम्मति से सुभाष बाबू को अपना प्रधान निर्वाचित किया।

हरिपुरा का कांग्रेस अधिवेशन सामान्यरूप से फैजपुर अधिवेशन का ही उत्तरार्द्ध समझा जा सकता है। फैजपुर के निश्चयों को हरिपुरा में अधिक दृढ़ता के साथ दोहराया गया। यह घोषणा की गई कि ब्रिटिश साम्राज्य ने यदि किसी युद्ध में भारत को उसकी सम्मति के बिना सम्मिलित कर लिया तो भारतवासी सरकार का साथ नहीं देंगे। यह भी कहा गया कि राष्ट्र की इच्छा के बिना सरकार जो ऋण लेगी स्वराज्य की सरकार उसे चुकाने की जिम्मेदार न होगी।

हरिपुरा के विशेष प्रस्तावों में रियासत-सम्बन्धी प्रस्ताव का मुख्य स्थान है। उसका अन्तिम भाग यह है :

> "....कांग्रेस आदेश देती है कि रियासतों को कांग्रेस समितियां कार्य-समिति के निर्देशन तथा नियन्त्रण में रहकर कार्य करें, और अभी कांग्रेस के नाम पर या उसकी ओर से पार्लियामेण्टरी या सीधी कार्रवाई में भाग न लें। कांग्रेस की कोई भीतरी लड़ाई कांग्रेस के नाम पर न लड़ी जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त कांग्रेस कमेटियों के संगठन का कार्य आरम्भ किया जा सकता है, और जहां समितियां पहले से ही चल रही हैं, वहां उनके काम को जारी रखा जा सकता है।"

इस प्रस्ताव के महत्व को समझने के लिए आवश्यक है कि निषेधात्मक आदेशों से आगे जाकर उनके अन्तर्गत विधायक आदेशों पर ध्यान दिया जाय। विशेष महत्वपूर्ण शब्द दो हैं। पहला—'अभी' और दूसरा 'इसके अतिरिक्त'। १९२८ तक कांग्रेस की ओर से रियासतों में कांग्रेस कमेटियां बनाना सर्वथा निषिद्ध था। महात्माजी कांग्रेस को रियासतों से उलझाना नहीं चाहते थे, परन्तु रियासतों की प्रजा की बेचैनी बढ़ती जाती थी। कलकत्ते में भी कांग्रेस ने रियासतों में कांग्रेस समितियां बनाने की अनुमति नहीं दी थी, परन्तु पृथक् संस्थाएं बनाकर अपने अधिकारों के लिए रियासती प्रजा को प्रोत्साहित किया था। समय उससे भी आगे बढ़ता गया। फैज़पुर के अधिवेशन में रियासती प्रजा की पुकार जितनी ऊंची थी, हरिपुरा में उससे भी ऊंची सुनाई दी। स्थान-स्थान पर देशी राज्यों की

प्रजा अपने शासकों से संघर्ष करने में लगी हुई थी। उन दिनों विशेषरूप से मैसूर में प्रजा का सत्याग्रह-आन्दोलन जोरों से चल रहा था। छोटे-छोटे कई आन्दोलन चलते ही रहते थे। कांग्रेस के नेताओं और सदस्यों में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो रियासती प्रजा के प्रति कांग्रेस के रुख को पसन्द नहीं करते थे। पं० जवाहरलाल स्वयं देशी राज्यों के बारे में महात्मा गान्धी की नीति से पूरी तरह सहमत नहीं थे। हरिपुरा में परिस्थिति इतनी गर्म हो गई कि महात्माजी को भी अपनी सम्मति में थोड़ा-सा परिवर्तन करना पड़ा। वहां कांग्रेस में जो प्रस्ताव स्वीकार किया गया, वह गान्धीजी के और जवाहरलालजी के मतों का परस्पर समझौता था।

जिन प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल काम कर रहे थे, उनकी परिस्थिति पर भी विचार किया गया। संयुक्त प्रान्त और बिहार में मन्त्रिमण्डलों के कार्यों में गवर्नरों के हस्तक्षेप की निन्दा करते हुए कांग्रेस ने सम्मति दी थी कि "इन प्रान्तों के प्रधानमन्त्रियों के निर्णयों में गवर्नर जनरल ने जो हस्तक्षेप किया है, वह केवल पहले दिये हुए आश्वासनों के विरुद्ध ही नहीं है, अपितु गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया ऐक्ट की धारा १२६/५ के विरुद्ध भी है।"

हरिपुरा के कांग्रेस अधिवेशन की दूसरी विशेष बात यह थी कि पं० जवाहरलाल नेहरू के प्रस्ताव पर एक योजना-निर्माण-समिति की स्थापना की गई। इस समिति का उद्देश्य देश की चौमुखी उन्नति की विशाल और दृढ़ योजना तैयार करना था।

: ५९ :

संघर्ष तीव्र हुआ

१९३८ और १९३९ के दो वर्षों को हम अन्तःसंघर्ष की वृद्धि के वर्ष कहें तो अनुचित न होगा। इन दो वर्षों में ऐसी समस्याएं, जो पहले केवल बीज रूप में विद्यमान थीं, आकाश को छूनेवाले वृक्षों के रूप में परिणत होती दिखाई देने लगीं। उनका आकार इतना विशाल होने लगा था कि यदि योरप के दूसरे महायुद्ध के रूप में एक बहुत बड़ा संसार-संकट उपस्थित न हो जाता, तो वे समस्याएं ही बड़े संकट का रूप धारण कर सकती थीं। वे समस्याएं मुख्य-रूप से दो थीं: (१) हिन्दू-मुस्लिम समस्या (२) और देशी राज्यों की प्रजा में जागृति।

हिन्दू-मुस्लिम समस्या

इस ग्रन्थ में हम यह दिखा आये हैं कि राजनीति में हिन्दू-मुस्लिम प्रतिद्वन्द्विता का जन्म अलीगढ़ कालिज के अंग्रेज प्रिंसिपलों के प्रयत्न से हुआ था। उनका ऐसा जादू चला कि सर सय्यद अहमद-जैसे राष्ट्रीय विचार रखनेवाले मुसलमान

तक को सम्प्रदायवादी बना दिया। स्पष्ट है कि इसमें अंग्रेजी सरकार की प्रेरणा थी। उस समय विष का जो बीज बोया गया, सरकार उसे कभी प्रत्यक्ष और कभी परोक्ष उपायों से निरन्तर सींचती रही। धीरे-धीरे वह प्रतिद्वन्द्विता स्थिर विरोध के रूप में परिणत हो गई। देश के राष्ट्रीय नेताओं ने उसे सुलझाने के अनेक यत्न किये, किन्तु सरकार के इशारे और कट्टरधर्मी सम्प्रदायवादियों के हठ के कारण दशा बिगड़ती ही गई। यहां तक कि वह देशव्यापी साम्प्रदायिक उपद्रवों के रूप में परिणत हो गई।

तब भी कांग्रेस की ओर से खाई को पाटने के यत्न बराबर जारी रहे। महात्मा गान्धी के नीति-रूपी भवन के तीन मुख्य स्तम्भ थे—सत्य, अहिंसा और हिन्दू-मुस्लिम एकता। वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए बहुत-सी कुर्बानियां करने को उद्यत रहते थे। जब राष्ट्रीयता के आधार पर बनती हुई एकता साम्प्रदायिकता की आंधी से गिरती दिखाई दी, तब भी महात्माजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने मि० जिन्ना और मुस्लिम लीग से समझौते की बातचीत जारी रखी। कांग्रेस के एकता प्रयत्नों, और सरकार के भेद बढ़ानेवाले प्रयत्नों के मन्थन से जो वस्तु पैदा हुई, वह 'मुस्लिम लीग की चौदह मांगों' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

इस बीच में कांग्रेस और हिन्दू नेता मिलकर हिन्दू-मुस्लिम समस्या के राजनीतिक हिस्से का हल ढूंढ़ने में लगे रहे। पं० मालवीयजी के प्रस्ताव पर इलाहाबाद में एकता सम्मेलन (यूनिटी कान्फ्रेंस) का एक महत्वपूर्ण अधिवेशन हुआ, जिसमें सर्वदलीय मुस्लिम कान्फ्रेंस ने भी भाग लिया। एकता सम्मेलन की बैठकें सप्ताह-भर होती रहीं। नेताओं की बातचीत तो कई सप्ताहों तक जारी रही। अन्त में सम्मेलन लगभग एक सर्वसम्मत समझौते पर पहुंच गया। निश्चय हुआ कि केन्द्रीय धारासभा में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व ३२ फीसदी हो। एक बात शेष रह गई। ईसाई भी अपने विशेष प्रतिनिधित्व की मांग कर रहे थे। उनसे बातचीत करने के लिए उस समय एकता सम्मेलन स्थगित कर दिया गया।

इस प्रकार साम्प्रदायिक समस्या का उभय-सम्मत समझौता पास ही दिखाई दे रहा था कि ब्रिटिश सरकार ने एक नया बम का गोला फेंक दिया। अभी एकता सम्मेलन में एकत्र हुए प्रतिनिधि घरों तक पहुंचे भी नहीं थे, कि भारत सचिव सर सेम्युअल होर ने घोषणा कर दी कि सरकार ने मुसलमानों को केन्द्रीय धारा सभा में ३३⅓ प्रतिशत प्रतिनिधित्व देने का निश्चय कर लिया है। यह सरकार की गहरी चाल थी, जो चल गई। १⅓ प्रतिशत के टुकड़े ने सप्ताहों के परिश्रम पर पानी फेर दिया। मुस्लिम कान्फ्रेंस इलाहाबाद के समझौते से पीछे हट गई।

१९३५ में जो संविधान स्वीकृत हुआ, उसने एक नई परिस्थिति उत्पन्न कर दी। उससे पहले मुस्लिम लीग भारत में संघ-शासन के प्रचलित होने के पक्ष में थी। नये संविधान में मुसलमान सदस्यों की संख्या लगभग एक तिहाई थी। लीगी नेताओं के दिमाग़ में यह बात आ चुकी थी कि उन्हें न्यून-से-न्यून बराबर का प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। १९३५ के बाद लीग ने संघ-योजना के लागू होने का

विरोध आरम्भ कर दिया था। चुनाव हुए तो उनमें मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि बहुत ही कम आये। जो मुसलमान निर्वाचित हुए उनमें स्वतंत्र उम्मीदवारों की संख्या अधिक थी। जब प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बनाने का समय आया तो लीग मुंह ताकती रह गई। कांग्रेस ने सब मिलाकर ८ प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बना लिये। यह देखकर लीग के नेताओं ने नई करवट बदली। वे यह दावा करने लगे कि कांग्रेस जहां कहीं मन्त्रिमण्डल बनाये, वहां लीग को हिस्सेदार बनाये। यदि किसी अन्य मुसलमान को लेना भी हो तो लीग से उसकी स्वीकृति ले लेना आवश्यक हो। प्रत्यक्ष में तो वायसराय ने लीग को इस मांग की पुष्टि नहीं की परन्तु संकेत द्वारा मुसलमानों को ऐसी अवैधानिक और अहेतुक मांग पर अड़े रहने की प्रेरणा करता रहा। फलतः १९३५ के संविधान के अनुसार कार्रवाई आरम्भ होने पर मुस्लिम लीग और उसके अनुयायियों ने असन्तोष और कलह का वातावरण उत्पन्न कर दिया।

१९३८ में लीग के नेता मि० जिन्ना ने कलह के दो नये सहारों का आविष्कार कर लिया। जब कांग्रेस अपने मन्त्रिमण्डल में लीग के आदमियों को लेने को उद्यत न हुई तो मि० जिन्ना और लीग के अन्य अधिकारियों ने यह बावेला मचाया कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के प्रान्तों में मुसलमानों पर घोर अत्याचार हो रहे हैं। ऐसे आरोप केवल समाचारपत्रों में ही नहीं किये गए, वायसराय के पास प्रामाणिक रूप से भेजे भी गए। इसके प्रत्युत्तर में कांग्रेस ने उन निराधार आरोपों की निष्पक्ष जांच का सुझाव उपस्थित किया। डा० राजेन्द्रप्रसाद उस समय कांग्रेस के अध्यक्ष थे। उन्होंने मि० जिन्ना को लिखा कि तहकीकात के लिए फेडरल कोर्ट के चीफ जस्टिस सर मौरिस ग्वायर को सरपंच बनाया जाय। मि० जिन्ना ने इस सुझाव को अस्वीकार करते हुए यह प्रकट किया कि मामला वायसराय के हाथों में पहुंच गया है, इस कारण अन्य किसी छान-बीन की जरूरत नहीं। कुछ दिन बाद मि० जिन्ना ने फिर रंग बदला और मुसलमानों की शिकायतों पर विचार करने के लिए एक रायल कमीशन की मांग की। सरकार ने उस मांग को स्वीकार नहीं किया।

संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर हैरी हेग ने अपनी गवर्नरी का समय पूरा होने के पश्चात् यह सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया था कि कांग्रेसी मन्त्री मुसलमानों के साथ न्याय और सद्भावना के व्यवहार पर विशेष ध्यान देते रहे हैं।

जब यह वार भी खाली गया तो मि० जिन्ना और लीग ने नया रुख अपनाया। वे इस बात से ही इनकार करने लगे कि कांग्रेस एक राष्ट्रीय संस्था है। तिरंगा झण्डा, वन्देमातरम् गीत, मौलिक शिक्षा, हिन्दी प्रचार आदि राष्ट्रीय संस्थाओं पर हिन्दुत्व का लेबल लगाकर मि० जिन्ना ने पत्र-व्यवहार में और लीग के प्रस्तावों में यह दावा करना आरम्भ कर दिया कि जैसे मुस्लिम लीग मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था है, वैसे ही कांग्रेस हिन्दुओं की प्रतिनिधि संस्था है। महात्मा गान्धी, पं० जवाहरलाल नेहरू और श्री सुभाषचन्द्र बोस आदि जिन राष्ट्रीय नेताओं ने १९३८ और १९३९ में हिन्दू-मुस्लिम एकता के सम्बन्ध में मि० जिन्ना से पत्र-

व्यवहार किया, उन्हें एक-सा ही उत्तर मिला। ७ मार्च १९३८ को मि० जिन्ना ने महात्मा गान्धी को लिखा था :

"हम अब ऐसे स्थान पर पहुंच गए हैं, जहां हमें सन्देह की भाषा छोड़ देनी चाहिए। आप लोग यह स्वीकार करें कि मुस्लिम लीग भारत के सब मुसलमानों की प्रामाणिक और प्रतिनिधि संस्था है, और साथ ही आप यह भी मान लें कि आप और कांग्रेस हिन्दुओं के प्रतिनिधि हैं।"

जब श्री सुभाषचन्द्र बोस ने मि० जिन्ना से सुलह की बात चीत की तब भी मि० जिन्ना ने यही शर्त पेश की थी कि लीग को सब मुसलमानों का और कांग्रेस को सब हिन्दुओं का प्रतिनिधि माना जाय। स्पष्ट था कि कांग्रेस मि० जिन्ना के इस दावे को नहीं मान सकती थी। इस दावे के अनुसार कांग्रेस अपने राष्ट्रीय रूप को खो देती और राष्ट्रीय विचारों के मुसलमानों का कांग्रेस में प्रवेश और कांग्रेस से सहयोग समाप्त हो जाता।

मि० जिन्ना ने इस दावे से एक कदम और आगे बढ़ाकर दूसरा यह दावा करना भी आरम्भ कर दिया, कि भारत में केवल एक ही राष्ट्र नहीं है। हिन्दू और मुसलमान दोनों अलग-अलग राष्ट्र हैं, जिनका स्थान और हिस्सा बराबर का है। मि० जिन्ना का मन अंग्रेजी सरकार की भेद-नीति से इशारा पाकर और उत्साहित होकर सुलह को असम्भव बनाने और देश को विभाजित करने-कराने की दिशा में बड़े वेग से बढ़ता जा रहा था।

देशी राज्यों की प्रजा में जागृति : मैसूर

देशी राज्यों की प्रजा में जागृति का प्रारम्भ तो १९१९ के सत्याग्रह से ही हो गया था, परन्तु कई कारणों से, वह जागृति चिरकाल तक सारे देश की जागृति का पूरा अंग न बन सकी। महात्मा गान्धी और उनकी सम्मति को स्वीकार करके कांग्रेस देशी राज्यों की समस्याओं में सीधे तौर पर उलझने से बचती रही। कांग्रेस का वह रुख राजनीति की दृष्टि से कितना ही दूरदर्शितापूर्ण समझा गया हो, इसमें सन्देह नहीं कि वह असंगत था और इसी कारण देर तक कांग्रेस के कर्णधारों के लिए उस पर टिके रहना असम्भव था। एक ओर देशी राज्यों की प्रजा में अपनी दशा से असन्तोष की मात्रा बढ़ती जा रही थी, और दूसरी ओर रियासतों के शासक अपना आसन डोलता देखकर दमन-नीति के प्रयोग में अंग्रेजी सरकार को मात देने का यत्न कर रहे थे। अंग्रेजी इलाकों में जो आन्दोलन उठता था, उसकी प्रतिक्रिया का देशी राज्यों में होना स्वाभाविक था, वैसे ही देशी राज्यों में प्रजा का जो हाहाकार उठता था, उसकी प्रतिध्वनि ब्रिटिश भारत में आवश्यक रूप से सुनाई देती थी। फलतः धीरे-धीरे कांग्रेस के नेताओं को यह विश्वास होने लगा कि अब बहुत देर तक देशी राज्यों की समस्या की ओर आंखें बन्द

रखना असम्भव है। १९३५ में वे अनुभव करने लगे थे कि देशी राज्यों के निवासी भी भारत के निवासी हैं, और उन्हें पीछे छोड़कर शेष भारतवासी अपने अन्तिम लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकते।

देशी राज्यों की प्रजा के जिन बड़े-बड़े आन्दोलनों ने कांग्रेस के नेताओं का ध्यान अपनी ओर हठात् आकृष्ट किया, उनमें से मैसूर का सत्याग्रह विशेष महत्व-पूर्ण था। मैसूर की भारत के प्रगतिशील देशी राज्यों में गिनती की जाती थी। वहां राज्य के प्रतिनिधियों की 'Representative Assembly' की स्थापना १८८१ में ही हो गई थी। उसी समय म्युनिसिपैलिटियां और ग्राम पंचायतें भी कायम की गई थीं। जब तक रियासत के आसपास के प्रदेशों में राज-नीतिक जागृति तीव्र नहीं हुई मैसूर में अमन-चैन रहा। परन्तु जैसे ही बम्बई और मद्रास के प्रान्तों में हलचल उत्पन्न हुई, तो मैसूर के निवासियों पर भी उसका प्रभाव होना स्वाभाविक था। वहां विधान सभा तो बनी थी, परन्तु वह शासन को अपनी इच्छानुसार चलाने की शक्ति नहीं रखती थी। उसका काम मुख्य रूप से परामर्श देना था। म्युनिसिपैलिटियों के अध्यक्ष चुने हुए न होने से वे भी प्रजा का पूरा प्रतिनिधित्व नहीं करती थीं। १९१९ से १९३४ तक सारे देश के साथ-साथ मैसूर का राजनीतिक तापमान भी ऊंचा होता गया। वहां के लोग पूरे उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की मांग करने लगे। इसपर राज्य की सरकार घबरा गई। १९३४ के जून मास में वहां के दीवान ने प्रतिनिधियों की विधान सभा में घोषणा की कि "मैं सभा को बतला देना चाहता हूं कि राज्य के संविधान में परिवर्तन करने या सरकार का ढांचा बदलने का कोई विचार नहीं है। मुझे आश्चर्य है कि परिवर्तन की नीति की मांग उस समय की जा रही है जब अन्यत्र सब जगह प्रतिनिधि सत्तात्मक शासन क्षीणता की ओर जा रहा है।"

प्रधानमन्त्री की घोषणा से राज्य की प्रजा में गहरी बेचैनी उत्पन्न होना स्वाभाविक था। उससे पूर्व रियासत में 'प्रजामित्र-मण्डली' और 'पीपल्स पार्टी' ये दो सभाएं थीं, जो अलग-अलग राजनीतिक कार्य करती थीं। प्रधानमन्त्री की तानाशाही घोषणा का प्रभाव यह हुआ कि दोनों ने मिलकर आन्दोलन करने का निश्चय करके आगे कदम बढ़ाया और १९३७ के अक्तूबर में अपने-आपको मैसूर राज्य की कांग्रेस में सम्मिलित और विलीन कर दिया।

१९३७ में मैसूर की धारासभा के चुनाव होनेवाले थे। राज्य की कांग्रेस पार्टी ने चुनाव लड़ने का निश्चय किया। पं० जवाहरलाल ने न केवल उस निश्चय का समर्थन किया, कांग्रेस पार्टी की सहायता के लिए श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय को मैसूर जाने की प्रेरणा भी की। जब श्रीमती कमलादेवी और कुछ अन्य कार्य-कर्ता रियासत में पहुंचे तो उनपर पुलिस रेगूलेशन की ३९वीं धारा लगा दी गई। सरकार की इस नीति का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राज्य और प्रजा में संघर्ष आरम्भ हो गया। मैसूर सरकार दमन पर उतारू हो गई। पहले स्वाधीनता-दिवस की सभाओं और राष्ट्रीय झण्डा फहराने पर रोक लगाई गई, फिर बंगलौर

में ६ मास के लिए बिना आज्ञा प्राप्त किये सभाएं करने पर रोक लगा दी गई, और जब इन आज्ञाओं के विरुद्ध आन्दोलन उठा तो उसे गिरफ्तारियों और सजाओं से दबाने का यत्न किया गया। जब धारासभा में पुलिस की ज्यादतियों पर असन्तोष प्रकट करने के लिए सभा स्थगित करने का प्रस्ताव उपस्थित किया गया, तो उसे नियम-विरुद्ध कहकर अस्वीकार कर दिया गया। राज्य की आन्तरिक दशा पर पर्दा डालने के लिए प्रेस ऐक्ट का शिकंजा भी जोर से कस दिया गया। इस प्रकार जो मैसूर राज्य, किसी दिन आदर्श वैधानिक राज्य माना जाता था, परीक्षा का समय आने पर नौकरशाही का प्रतिक्रियावादी गढ़ ही साबित हुआ।

मैसूर के समाचारों का कांग्रेस की महासमिति पर गहरा प्रभाव पड़ा। महात्माजी और उनके अन्य सहयोगी रियासती प्रजा की अद्भुत जागृति और राज्य की अनुदार नीति को देखकर अपनी उपेक्षा या तटस्थता की नीति पर स्थिर न रह सके। कांग्रेस की महासमिति ने मैसूर की स्थिति के सम्बन्ध में यह प्रस्ताव स्वीकार किया :

> "मैसूर रियासत में राजनैतिक मुकदमों, पाबन्दियों और रुकावटों के साथ दमन की जो निर्दय नीति जारी हुई है, महासमिति उसका घोर विरोध करती है। भाषण, सम्मेलन और सहयोग के प्रारम्भिक अधिकारों के दबाये जाने का भी विरोध करती है। यह समिति मैसूर की प्रजा को अपनी भ्रातृत्वपूर्ण भावनाएं भेजती है और उनके उचित अहिंसात्मक संघर्ष में पूर्ण सफलता की कामना करती है। यह समिति ब्रिटिश भारत और रियासती जनता से अपील करती है कि वह मैसूर की जनता की ओर से रियासत की अन्यायपूर्ण नीति के विरोध में आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए जो शान्तिमय युद्ध किया जा रहा है, उसमें हर प्रकार का अवलम्बन और सहायता दे।"

राजकोट

राजकोट काठियावाड़ की छोटी-सी रियासत थी। अन्य रियासतों की भांति उसकी प्रजा में भी राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने की भावना उत्पन्न हुई और वहां प्रजामण्डल स्थापित हो गया। प्रजा की समुचित मांगों का प्रायः जो उत्तर सत्ताधारी शासक दिया करते हैं, राजकोट के ठाकुर ने भी वही दिया। आन्दोलन को दबाने की चेष्टा की, और जब आन्दोलन ने सत्याग्रह का रूप ग्रहण किया तो रियासत दमन के उन सब शस्त्रास्त्रों पर उतर आई, जो अंग्रेजी सरकार के कारखाने में गढ़े गए थे। आधा दर्जन ब्रिटिश भारतीय तथा गुजराती पत्रों के रियासत में आने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। बम्बई से भेजे गए स्वयंसेवकों को रियासत में घुसते ही गिरफ्तार कर लिया जाता था। अन्त में राजकोट प्रजा-परिषद् को ही ग़ैरकानूनी करार दे दिया गया। राजकोट के आन्दोलन में भाग लेने के कारण जिन लोगों की गिरफ्तारी हुई, उनमें अखिल भारतीय देशी राज्य प्रजा-परिषद् के प्रधानमन्त्री श्री बलवन्तराय मेहता, सरदार पटेल की पुत्री कुमारी मणिबहिन

पटेल और श्रीमती मृदुला साराभाई भी थीं। इन गिरफ्तारियों के कारण राजकोट का मामला सार्वदेशिक रूप धारण कर रहा था। बेचैनी और बदनामी को बढ़ता देखकर ठाकुर साहब ने सरदार वल्लभभाई पटेल से मिलकर समझौता करने का निश्चय किया।

२६ दिसम्बर १९३८ को बम्बई में राजकोट के ठाकुर ने सरदार पटेल से भेंट की। लगभग ८ घण्टों तक बातचीत होने के पश्चात् जो समझौता हुआ, उसका सारांश यह था कि रियासत में शासन-सुधार की योजना तैयार करने के लिए एक समिति बनाई जायगी, जिसके १० सदस्य होंगे। उनमें से सात प्रजाजनों के और तीन राज्य के प्रतिनिधि होंगे। ठाकुर साहब की ओर से यह आश्वासन दिया गया कि वह अपने निजी खर्च उस सीमा के अन्दर करेंगे, जो नरेन्द्र-मण्डल की गश्ती चिट्ठी में बांधी गई है। इस समझौते के फलस्वरूप यह भी निश्चय हुआ कि प्रजा की ओर से सत्याग्रह आन्दोलन बन्द कर दिया जाय, और राज्य की ओर से सब राजनीतिक बन्दी रिहा कर दिये जायं, उनके जुर्माने वापिस कर दिये जायं तथा दमनकारी कानून उठा दिये जायं।

शाब्दिक समझौता तो हो गया, परन्तु जब उसके कार्यान्वित करने का समय आया तब ठाकुर साहब इधर-उधर करने लगे। उनका दीवान एक अंग्रेज था। उसने तथा अन्य सहलाकारों ने ठाकुर साहब को समझा दिया कि समझौता ठीक नहीं हुआ। जब प्रजा के सात प्रतिनिधियों के नाम भेजे गए तो राज्य की ओर से उनमें से केवल चार स्वीकार किये गए, शेष तीन पर आपत्ति कर दी गई। राजकोट से महात्माजी का विशेष सम्बन्ध था। उस समय के ठाकुर ने अपने राजतिलक के समय श्रीमती कस्तूरबा गान्धी से माथे पर तिलक लगवाना आवश्यक समझा था। जब ठाकुर ने अपनी प्रतिज्ञा का भंग किया तो महात्माजी को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने अनिश्चित काल के लिए अनशन प्रारम्भ कर दिया। इस पर न केवल राजकोट के ठाकुर का अपितु दिल्ली में वायसराय का आसन भी डोल गया, और वायसराय ने सुप्रीम कोर्ट के चीफ जज सर मौरिस ग्वायर को राजकोट के मामले का निर्णायक नियुक्त कर दिया। निर्णायक का निर्णय गान्धीजी के पक्ष में हुआ। यह घटना उन दिनों हुई, जिन दिनों त्रिपुरी में कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था। सारी घटना का और विशेषरूप से महात्माजी के सीधे हस्तक्षेप का कांग्रेस पर गहरा प्रभाव पड़ा। देशी राज्यों के सम्बन्ध में कांग्रेस की उदासीनता को तोड़ने के अनेक कारणों में से एक मुख्य कारण राजकोट का प्रकरण भी था।

हैदराबाद

हैदराबाद (दक्षिण) की रियासत उस समय भारत की सब से बड़ी रियासत थी। वहां का शासक निजाम सारे एशियाखण्ड में सबसे अधिक धनी व्यक्ति समझा जाता था। देश के अन्य देशी राज्यों की तरह उसमें भी, ब्रिटिश भारत के प्रभाव से १९१९ से ही राजनीतिक जागृति के बीज पड़ गए थे, जो समय के साथ-

साथ अंकुरित होते गए। वहां के देशभक्तों ने १९२१ में ही हैदराबाद स्टेट रिफार्म एसोसियेशन नाम की संस्था स्थापित करके आन्दोलन जारी कर दिया था। रियासती सरकार ने भी प्रारम्भ से ही उस पर प्रतिबन्ध लगाने और रोकने की नीति अपना ली थी। प्रजा में एक बार जागृति उत्पन्न हो जाय तो उसे सर्वथा दबा देना प्रायः असम्भव ही होता है। हैदराबाद की प्रजा का असन्तोष भी बढ़ता गया। वह यहां तक उग्र हुआ कि निजाम ने १९२० में अपने दीवान सर अकबर हैदरी को यह आदेश देना आवश्यक समझा कि वह रियासत की शासन-प्रणाली में सुधार करने की योजना के सम्बन्ध में आवश्यक सामग्री संकलित करे। आदेश तो दे दिया गया, किन्तु उसका मन्शा सुधार करना नहीं, प्रजा के जोश पर ठण्डा पानी डालना था। इस कारण परिणाम कुछ भी न निकला।

१९२९ के पश्चात् ब्रिटिश भारत का राजनीतिक तापमान निरन्तर चढ़ता गया। उसका असर रियासत पर भी हुआ। प्रजा की ओर से उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की मांग बार-बार अधिक व्यग्रता के साथ पेश की जाने लगी। अन्त में पर्वत भी हिला, और निजाम की अनुमति से सर अकबर हैदरी ने २२ सितम्बर १९३७ को रियासत की धारासभा को सूचना दी कि शासन-सुधारों की योजना तैयार करने के लिए दीवान बहादुर अय्यंगर की अध्यक्षता में एक कमेटी संगठित की जायगी। उस घोषणा के साथ यह आश्वासन दिया गया था कि समिति अपना कार्य ऐसी प्रगति से पूरा करेगी कि सुधरा हुआ संविधान निजाम की १९३८ के मार्च में होनेवाली जयन्ती की समाप्ति से पहले लागू किया जा सकेगा।

अय्यंगर समिति बन गई, परन्तु उसके रंग-ढंग से यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा था कि पहाड़ के खुद चुकने पर चुहिया निकलने की भी आशा नहीं है। इस कारण रियासत के राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं ने केवल आशा के सहारे हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ रहने की अपेक्षा अपने संगठन को दृढ़ करने का निश्चय किया। रियासती प्रजा का एक विराट् कन्वेन्शन किया गया, जिसमें हैदराबाद राज्य कांग्रेस के संगठन की योजना तैयार हो गई, और १९३८ के जुलाई महीने में अस्थायी कांग्रेस कमेटी बना दी गई। उस समय तक हरिपुरा की कांग्रेस ने रियासतों में कांग्रेस कमेटियों के संगठन की स्वीकृति दे दी थी।

स्टेट कांग्रेस कमेटी की स्थापना से रियासत के अधिकारी विचलित हो गए। सर अकबर हैदरी ने पहले तो यह कहकर उड़ाना चाहा कि स्टेट कांग्रेस साम्प्रदायिक संस्था है, परन्तु जब स्टेट कांग्रेस की नियमावली में यह शर्त रख दी गई कि कोई भी ऐसा व्यक्ति जो किसी साम्प्रदायिक संस्था का सदस्य हो, स्टेट कांग्रेस का सदस्य नहीं बन सकता तो कोई अन्य चारा न देखकर सर हैदरी ने ७ सितम्बर १९३८ को कांग्रेस कमेटी को ग़ैरकानूनी करार दे दिया। इसपर सरकार और राष्ट्रीय नेताओं में समझौते की बातचीत का क्रम जारी हुआ, परन्तु कुछ परिणाम न निकला, क्योंकि सरकार की पहली शर्त यह थी कि सभा के नाम में से कांग्रेस शब्द निकाल दिया जाय। राष्ट्रीय दल के नेताओं और सरकार में कई

बार बातचीत हुई, परन्तु कोई फल न निकला, क्योंकि रियासत की सरकार का उद्देश्य कांग्रेस को मारना था। उधर राष्ट्रीय कार्यकर्ता किसी उचित समझौते के लिए तो तैयार थे, परन्तु कांग्रेस के आन्दोलन को स्थगित करने को उद्यत नहीं थे।

अन्त में समझौते की बातचीत का मायाजाल कट गया, और रियासत की सरकार और कांग्रेस में सत्याग्रह युद्ध ठन गया। २४ अक्तूबर को कांग्रेस कमेटी की स्थापना धूमधाम से घोषित कर दी गई। उसी दिन कमेटी के सदस्य गिरफ्तार कर लिये गए, और तुरन्त दण्डित भी कर दिये गए।

कुछ समय पीछे सत्याग्रह का युद्धक्षेत्र और अधिक विस्तीर्ण हो गया। रियासत में हिन्दुओं की जनसंख्या ८४ फीसदी थी। उन्हें शिकायत थी कि इतनी अधिक संख्या होते हुए भी निजाम की सरकार उनसे अल्पसंख्यकों का-सा सलूक करती है। रियासत के अधिकार अधिकतर मुसलमानों को प्राप्त हैं। हिन्दुओं को अपने धार्मिक कर्त्तव्यों के पालन में भी परवश होकर रहना पडता है। फलतः हिन्दुओं ने भी सत्याग्रह की घोषणा कर दी।

इसी बीच में आर्य-समाज के साथ हैदराबाद रियासत का बहुत तीव्र संघर्ष छिड़ गया। वह संघर्ष रियासत की कट्टर साम्प्रदायिक नीति का परिणाम था। उसने शीघ्र ही अखिल भारतीय रूप ग्रहण कर लिया और वह इतना व्यापक हुआ कि पहले से आरम्भ किये दोनों सत्याग्रहों को स्थगित करके सब लोग आर्य-सत्याग्रह के परिणाम की प्रतीक्षा करने लगे। आर्य-सत्याग्रह देखने में भारत की सबसे जबर्दस्त रियासत के विरुद्ध एक धार्मिक संस्था का शान्तिमय युद्ध था; परन्तु वह सांसारिक शक्ति के विरुद्ध आत्मिक शक्ति का एक जबर्दस्त विद्रोह था, जिसके परिणाम की प्रतीक्षा न केवल आर्य-समाजी, और न केवल हिन्दू कर रहे थे, अपितु देश के बड़े-से-बड़े राष्ट्रीय नेता और लगभग सारा राष्ट्र यह देखने को व्यग्र था कि शक्ति और सत्य में से किसकी जीत होती है।

इस प्रकार देशी राज्यों की प्रजा अपने अधिकारों को प्राप्त करने, और देश के स्वाधीनता-संग्राम में सारे राष्ट्र के साथ बराबरी का सहयोग देने के लिए उतावली हो रही थी, जब १९३९ के प्रारम्भ में राष्ट्र के भावी कार्यक्रम का निर्धारण करने के लिए देश के प्रतिनिधि त्रिपुरी में एकत्र होने लगे।

: ६० :

कांग्रेस में अन्तःसंघर्ष

जब किसी देश में राजनीतिक क्रान्ति की भावना गहराई तक पहुंच जाती है, तब उसके क्रान्तिदल के नेताओं में समय-समय पर अन्तःकलह का उत्पन्न होना

अनिवार्य हो जाता है। कारण स्पष्ट है। क्रान्ति की भावना वर्तमान अवस्थाओं में उग्र असन्तोष के कारण उत्पन्न होती है। जो व्यक्ति उस असन्तोष को भली प्रकार प्रकट कर सकते हैं, और वर्तमान दशाओं को बदलने के उपाय करने की आशा दिलाते हैं, जनता उन्हें अपना नेता मान लेती है, और उनके बताये मार्ग पर चलने लगती है। क्रान्ति का मार्ग सर्वथा निष्कण्टक नहीं हो सकता। उसमें तरह-तरह की बाधाएं खड़ी होती रहती हैं। यदि क्रान्ति प्रबल शक्ति-सम्पन्न विदेशी शासन के विरुद्ध हुई, तब तो बाधाओं की कोई सीमा नहीं रहती। नेता लोग उन बाधाओं के बढ़ने पर बीच-बीच में ठहरकर सावधानी से चलने लगते हैं, परन्तु क्रान्ति की गर्मी से तपी हुई जनता में इतना सन्तोष कहां? वह ठहरने या गति को मन्द करने को उद्यत नहीं होती। उसका जोशीला भाग सावधानी को कायरता, या अशक्ति का सूचक मानकर निरन्तर आगे बढ़ने के लिए उतावला हो उठता है। इस तरह क्रान्तिकारी दल में समय-समय पर अन्तःकलह का उत्पन्न होना सर्वथा नैसर्गिक-सा हो जाता है।

१९३९ में देश की परिस्थिति राजनीति में किसी बड़े परिवर्तन की मांग कर रही थी। जिस नीति पर कांग्रेस देश को २० वर्षों से ले जा रही थी, वह व्यवहार में खोखली-सी हो रही थी। उस नीति की सफलता का मुख्य आधार सत्याग्रह था, जो स्थगित हो चुका था। महात्माजी ने और उनकी सलाह से कांग्रेस ने क्रियात्मक कार्यक्रम की खाली जगह को भरने के लिए रियायत के तौर पर धारा-सभाओं का कार्यक्रम स्वीकार कर लिया था, जो लगभग असफल हो चुका था। उसकी असफलता के सम्बन्ध में अधिक विस्तार में न जाकर पं० जवाहरलाल नेहरू की 'डिस्कवरी आव इण्डिया' का उद्धरण[1] पर्याप्त होगा। उन्होंने लिखा था:—

> "(कांग्रेसी) मन्त्रियों ने बहुत मेहनत से काम किया, और उनमें से बहुत-सों की सेहत बिलकुल बरबाद हो गई। उनकी सेहत गिर गई, और ताजगी जाती रही, जिस कारण वे (१९३९ के अन्तिम भाग में) सर्वथा कुम्हलाये और थके हुए थे।.....जब १९३९ के नवम्बर में कांग्रेसी सरकार ने त्यागपत्र

---

1. " The ministers worked hard and many of them broke-down under the strain. Their health deteriorated and all the freshness faded away, leaving them haggerd and utterly weary..... When the Congress Governments resigned early in November 1939, there were many a sigh of relief .... The brief period during which the Congress Governments functioned in the provinces confirmed our belief, that the major obstruction to progress in India was the political and economic structure imposed by the British. "

दे दिये, तब बहुत लोगों ने सन्तोष का सांस लिया। . . . जितने थोड़े समय तक कांग्रेसी सरकार कार्य करती रही, उसने हमारे इस विश्वास को दृढ़ कर दिया कि भारत की उन्नित के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा देश पर इंग्लैण्ड द्वारा थोपा हुआ राजनीतिक और आर्थिक ढांचा है।"

कारण कुछ भी हुए हों, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि १९३९ में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को, कांग्रेस के नेताओं को, और जनता को भी यह विश्वास हो रहा था कि जब तक देश में विदेशी राज्य विद्यमान है, धारासभाओं द्वारा कांग्रेसी लोग देश का कल्याण नहीं कर सकते, और न ही अन्दर से नौकरशाही के किले को तोड़ सकते हैं। देशवासी यह अनुभव कर रहे थे कि सत्याग्रह का स्थानापन्न धारासभा-प्रवेश सर्वथा निष्फल सिद्ध हो चुका है।

हम देख चुके हैं कि कांग्रेस १९१५-१६ से, हिन्दू-मुसलमानों की एकता के सम्बन्ध में जिस नीति को निर्धारित करती आ रही थी, और जिसे महात्मा गान्धी ने अपने कार्यक्रम का एक मुख्य आधारस्तम्भ बना लिया था, अंग्रेजी सरकार की कूटनीति और मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिकता के कारण उसकी जड़ें तक हिल गई थीं, और नेताओं की बीस वर्षों तक देशी राज्यों के शासकों को पुकारकर सीधे रास्ते पर लाने की सभी चेष्टाएं व्यर्थ हो चुकी थीं। इस तरह कांग्रेस ने देश के सामने पराधीनता से छूटने के जो उपाय रखे थे, जनता अनुभव कर रही थी कि अंग्रेजी सरकार रियासतों के शासकों और सम्प्रदायवादी लोगों की सहायता से उन्हें व्यर्थ करने में सफल हो रही है। स्वाभाविक ही था कि ऐसी परिस्थिति के कारण देशवासियों के हृदयों में बेचैनी उत्पन्न होती, और उसकी जोरदार प्रतिक्रिया भी होनी ही थी।

ऐसी सार्वजनिक प्रतिक्रियाएं प्राय: निर्वाचनों के समय प्रकट हुआ करती हैं। वह अवसर भी आ गया। १९३९ के आरम्भ में त्रिपुरी में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होनेवाला था। उसके लिए अध्यक्ष का निर्वाचन आवश्यक था। अध्यक्ष-पद के लिए दो नाम प्रस्तुत हुए। सुभाष बाबू उस समय अध्यक्ष थे। पहला नाम उनका था। यह भी प्रकट कर दिया गया था कि वह प्रारम्भ किये हुए कार्यों की पूर्ति के लिए अध्यक्ष बनने को न केवल तैयार हैं, अपितु उत्सुक हैं। दूसरा नाम मौलाना अबुल कलाम आज़ाद का था। मौलाना कांग्रेस की कार्य समिति की ओर से उम्मीदवार थे। उन्हें महात्मा गान्धी का समर्थन प्राप्त था। कहा जाता है कि कार्यसमिति ने मौलाना का समर्थन इसलिए किया कि वह मुसलमान थे, और मुसलमानों से समझौता करने के लिए एक मुसलमान अध्यक्ष अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता था। परन्तु सामान्य रूप से यह समझा जा रहा था कि सुभाष बाबू का विरोध उनकी गर्म नीति के कारण किया जा रहा था। यह खुला रहस्य बन चुका था कि कार्यसमिति के अधिकांश बुजुर्ग सदस्य सुभाष बाबू की तीव्र कार्यनीति से असहमत थे। पहले तो मौलाना साहब अध्यक्ष-पद के लिए उम्मीदवार बनने को उद्यत हो गए, परन्तु जब चुनाव-संघर्ष

में गर्मी आती दिखाई दी, तब उन्होंने शतरंज का मोहरा बनने से इनकार कर दिया।

मैदान से मौलाना साहब के हट जाने पर सुभाष बाबू का अकेला नाम रह जाता, यदि डा० पट्टाभि सीतारामय्या का नया नाम उपस्थित न कर दिया जाता। इस प्रसंग में हम कुछ पंक्तियां स्वयं डा० पट्टाभि के 'कांग्रेस के इतिहास' से उद्धृत करते हैं:

> "इन पंक्तियों के लेखक को बारडोली से रवाना होते समय गान्धीजी से सूचना मिली की यदि मौलाना ने स्वीकार न किया तो वह (गान्धीजी) यह कांटों का ताज उस (लेखक) के सिर पर रखना चाहते हैं। सौभाग्यवश एक दिन पहले ही मौलाना अपनी रज़ामन्दी दे चुके थे, और बम्बई के लिए रवाना हो चुके थे। अगले दिन बम्बई में मौलाना ने अपनी राय बदल दी, और अपनी उम्मीदवारी वापिस लेने का फैसला किया। बाद में मौलाना के कहने पर इन पंक्तियों के लेखक का नाम फिर सामने आया, और इस तरह लेखक और सुभाष बाबू, दो ही प्रतियोगिता के लिए रह गए।.... इस प्रकार मौलाना के हट जाने पर सुभाष बाबू को अपने प्रतियोगी के विरुद्ध लगभग ९५ मतों से सफलता प्राप्त हुई।"

मौलाना ने अपना नाम क्यों वापिस लिया इस सम्बन्ध में डा० पट्टाभि ने केवल इतना लिखा है कि "परन्तु मौलाना ने अपनी उम्मीदवारी क्यों वापिस ली? यह मौलाना ही जानें या गान्धीजी!" हमारा विचार है कि मौलाना के नाम वापिस लेने का कारण इतना अस्पष्ट नहीं है, जितना उसे डा० पट्टाभि समझाना चाहते हैं। मौलाना अत्यन्त चतुर और अनुभवी खिलाड़ी थे। वह परिस्थिति को समझ गए और नाम वापिस लेकर नाकामयाबी के खतरे में पड़ने से बच गए।

उस समय महात्माजी और कार्यसमिति के परामर्श का खुला विरोध होते हुए भी सुभाष बाबू की सफलता देश की मनोवृत्ति की सूचक थी; कांग्रेस के अधिकांश कार्यकर्ता अनुभव कर रहे थे कि प्रचलित नीति राष्ट्र की समस्या को सुलझाने में सफल नहीं हुई और न हो सकती है, अतः कांग्रेस को कोई नया और उग्र कार्यक्रम अपनाना चाहिए। सुभाष बाबू को उग्र कार्यक्रम का समर्थक माना जाता था, इस कारण देश के प्रतिनिधियों का बहुमत उन्हें प्राप्त हो गया। २० वर्षों में शायद यह पहला अवसर था कि कांग्रेस के निर्वाचित प्रतिनिधियों के बहुमत ने महात्माजी के स्पष्ट शब्दों में प्रकाशित निर्देश के विरुद्ध सम्मति दी।

अध्यक्ष के इस चुनाव ने कांग्रेस में एक बहुत ही भद्दा अन्तःकलह आरम्भ कर दिया। कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त होने से पूर्व ही कार्यसमिति के पुराने १३ सदस्यों ने त्यागपत्र दे दिये, और कार्यसमिति के केवल दो सदस्य रह गए—एक सुभाष बाबू, और दूसरे उनके भाई श्री शरद्चन्द्र बोस।

इधर सुभाष बाबू का स्वास्थ्य प्रतिदिन बिगड़ता जा रहा था। जेल के कष्टों से जो शरीर रुग्ण हुआ था, वह गत वर्ष की लम्बी-लम्बी प्रचार-यात्राओं

से जर्जरित हो गया। दशा यहां तक खराब हो गई कि अधिवेशन के दिनों में उनका तापमान दिन के समय १०४-१०५ तक पहुंच जाता था। कई आवश्यक अवसरों पर, रोगी होने के कारण वह खुले अधिवेशन में भी उपस्थित नहीं हो सके। अखिल भारतीय समिति में जब उपस्थित हुए तब स्ट्रेचर पर लाये गए, और मंच पर लेटकर अध्यक्षता करते रहे। उनकी दशा के बिगड़ने का कारण जितना शारीरिक था, उतना ही मानसिक भी था। पुराने सदस्यों के कार्यसमिति से त्यागपत्र देने का उनके हृदय पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था।

अधिवेशन पर अध्यक्ष की शारीरिक दशा और परस्पर मतभेदों के कारण उदासी छाई रही। कई अवसरों पर तो कार्य चलना असम्भव हो गया। प्रतिनिधियों और दर्शकों में इतना गुलगपाड़ा मचा कि कार्रवाई स्थगित कर देनी पड़ी। अधिवेशन में जो प्रस्ताव स्वीकार किये गए, उनमें कोई विशेषता नहीं थी। वही रिवाजी प्रस्ताव स्वीकृत हुए, देश को कोई आशा-भरा सन्देश न दिया जा सका।

सुभाष बाबू को त्रिपुरी से विदा होने के समय स्टेशन तक, एम्बुलेंस कार में ले जाया गया। वहां से वह सीधे झरिया के पास एक स्थान पर स्वास्थ्य-सुधार के लिए चले गए। इस बीच में कांग्रेस का कार्य सर्वथा ठप्प हो गया क्योंकि अध्यक्ष की ओर से कार्यकारिणी के सदस्यों के नाम की घोषणा भी न की जा सकी। इस गतिरोध को तोड़ने के लिए अप्रैल १९३९ के अन्त के दिनों में कलकत्ते में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक बुलाई गई। सुभाष बाबू ने उससे पहले ही अध्यक्ष-पद से अपना त्यागपत्र भेज दिया था, जिसे कमेटी ने स्वीकार करके डा० राजेन्द्रप्रसाद को अध्यक्ष निर्वाचित कर दिया। नये कांग्रेस अध्यक्ष ने शीघ्र ही अपनी कार्यसमिति की घोषणा कर दी, जिसमें पुराने सब महारथी विद्यमान थे।



डा० राजेन्द्रप्रसाद

पारस्परिक विरोध यहीं समाप्त नहीं हुआ। कार्यसमिति की ओर से एक घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ, जिसमें आगामी वर्ष के लिए कार्यनीति की घोषणा की गई। जिन कांग्रेसजनों अथवा कांग्रेस कमेटियों की कार्यसमिति की नीति से असहमति थी, उन्होंने सार्वजनिक रूप से कार्यसमिति के घोषणा-पत्र के विरोध में मत प्रकट करने में देर न लगाई। सुभाष बाबू के नेतृत्व में अग्रगामी दल ने ९ जुलाई को देश के कई नगरों में विरोध-दिवस मनाया, जिसमें समिति की नीति से मतभेद प्रकट किया गया। पर बात इतनी महत्वपूर्ण मानी गई कि कांग्रेस के अध्यक्ष ने सुभाष बाबू से इस अनुशासन-विरोधी कार्य का स्पष्टीकरण मांगना आवश्यक समझा। सुभाष बाबू ने अपने उत्तर में इस बात पर जोर दिया कि कार्यसमिति की नीति से विरोध प्रकट करने में उन्होंने

कोई अपराध नहीं किया। यह प्रत्येक नागरिक का अधिकार है कि वह अपनी सम्मति स्वतंत्रता से प्रकट करे। उन्होंने लिखा था:

"आप अनुशासन शब्द का जो अर्थ लगा रहे हैं उसे मैं स्वीकार नहीं करता। अनुशासन का अभिप्राय यह तो नहीं कि नागरिकों से वैध तथा लोकतन्त्रीय अधिकार छीन लिये जायं।....महात्मा गान्धी ने 'यंग इण्डिया' में लिखा था कि अल्पसंख्यक समुदाय को विद्रोह करने का अधिकार है। हमने तो केवल जो प्रस्ताव हमारा विरोध होते हुए भी बहुमत द्वारा स्वीकार किये गए थे, उनकी आलोचना करने के अपने अधिकार का उपयोग किया है।....अन्त में मेरा यह भी अनुरोध है कि यदि इस प्रसंग में ९ जुलाई की घटनाओं के बारे में किसी को दण्ड दिया जाय तो आप मेरे विरुद्ध भी कार्रवाई कर सकते हैं। यदि ९ जुलाई को अखिल भारतीय दिवस मनाना अपराध था तो मैं मानता हूं कि मुझसे बड़ा अपराधी कोई नहीं था।"

सुभाष बाबू के इस स्पष्टीकरण को कार्यकारिणी ने इकबाली बयान मानकर यह दण्ड दिया कि वह अगस्त १९३९ से तीन वर्ष के लिए किसी भी निर्वाचित कांग्रेस कमेटी में चुने जाने के लिए अयोग्य ठहरा दिये गए।

इस प्रकार परस्पर मतभेद और व्यक्तिगत संघर्षों के कारण राष्ट्रीयता की खेती ह्रास की ओर जा रही थी, जब पश्चिम के अन्तरिक्ष में बादलों की घोर गड़गड़ाहट सुनाई दी। सितम्बर १९३९ को पहली तारीख को जर्मनी की सेनाओं ने, विश्व-विजय की महत्वाकांक्षा से पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। जर्मनी की तोपों की ध्वनि योरप से होती हुई भारत की सीमाओं के अन्दर प्रविष्ट हो गई, जिसने राजनीति के रंगमंच का रूप ही बदल दिया।

: ६१ :

दूसरे संसारव्यापी युद्ध का भारत पर प्रभाव

जब योरप का पहला विश्वव्यापी युद्ध हो रहा था, तब मित्रदल की ओर से संसार को यह विश्वास दिलाया गया था कि यह युद्ध अपने ढंग का अन्तिम युद्ध है, क्योंकि इसका उद्देश्य युद्ध को सदा के लिए समाप्त करना है। उस समय जिन सुनहरे सिद्धान्तों की घोषणा की गई थी, उनका अन्तिम और सुन्दरतम रूप हमें अमरीका के उस समय के राष्ट्रपति डा० वुडरो विल्सन के चौदह सूत्रोंवाले घोषणा-पत्र में मिलता है। उन चौदह सूत्रों की मुख्य-मुख्य बातें ये थीं:

१. सब सन्धियां प्रत्यक्ष रूप में की जायंगी, कोई गुप्त अहदनामे न होंगे।
२. समुद्र में यातायात और व्यापार की सब जातियों को समान स्वतंत्रता होगी।
३. सब जातियों को आत्मनिर्णय का अधिकार होगा।
४. सब राष्ट्र युद्ध-सामग्री का उत्पादन परिमित कर देंगे।
५. एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बनाई जायगी जिसमें सब राष्ट्र सम्मिलित होंगे। उसका उद्देश्य सब बड़े और छोटे देशों की स्वाधीनता का समान रूप से संरक्षण करना होगा।

युद्ध प्रारम्भ होने के लगभग ३ वर्ष बाद जब अमरीका युद्ध के अखाड़े में उतरा, तब संसार ने यही समझा था कि अब स्वाधीनता का स्वर्ग-युग आने को है। अमरीका और उसके साथियों को विजय प्राप्त हो गई, तो पृथ्वी पर कोई देश पराधीन न रहेगा।

इधर अमरीका युद्ध में सम्मिलित हुआ और उधर जर्मन कैसर के साथी आस्ट्रियन सम्राट का राज्यासन डगमगा गया। रूस में जारशाही की समाप्ति हो गई, और वहां साम्यवादी सरकार स्थापित हो गई। परिणाम यह हुआ कि एक ओर जर्मनी की अजेय समझी जानेवाली सेना थकान और पराजय के कारण लड़ाई से पराङ्मुख हो गई और दूसरी ओर जार तथा आस्ट्रिया के सम्राट के अधःपतन के कारण जर्मन कैसर की सत्ता भी शून्य के बराबर रह गई। फलतः जर्मनी का अभिमानी सम्राट कैसर विलियम द्वितीय, ८ नवम्बर १९१८ की रात के अन्धकार में स्पेशल ट्रेन द्वारा जर्मनी से भागकर हालैण्ड में शरणार्थी बन गया।

मित्रदल विजयी हुआ। वह अमरीका, इंग्लैण्ड और उनके साथियों की परीक्षा का समय था। मनुष्य-जाति यह देखने के लिए उत्सुक थी कि युद्ध के संकट काल में उन्होंने जो वायदे किये थे, विजय की मस्ती में वे उन्हें स्मरण रखते हैं या नहीं। मित्र-देशों के मुख्य नेता सन्धि-वार्ता करने के लिए फ्रांस के प्रख्यात महल वार्सेल्स में एकत्र हुए और १९१९ के जनवरी मास में सन्धि की चर्चा आरम्भ की। वह चर्चा पांच मास तक चलती रही। बहुत-से उतार-चढ़ाव के पश्चात् २८ जून को मित्रों द्वारा तैयार किया हुआ सुलहपत्र जर्मनी के प्रतिनिधियों के सामने हस्ताक्षरों के लिए पेश किया गया। प्रायः सुलह करने में दोनों पक्ष सम्मिलित होते हैं, परन्तु उस सुलहनामे की यही सब से बड़ी विशेषता थी कि उसके तैयार करने में जर्मनी के प्रतिनिधियों से कोई सलाह नहीं ली गई थी। विजेताओं ने अपनी इच्छानुसार सन्धिपत्र तैयार किया और जर्मनी के प्रतिनिधियों को कैदियों की तरह भवन में लाकर उस पर हस्ताक्षर करने का आदेश दे दिया। आदेश यह था कि या तो इस सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करो, अथवा हमारी सेनाएं जर्मनी में घुसकर तबाही मचा देंगी। दिल में आग लेकर, झुके हुए सिरों और कांपते हुए हाथों से जर्मन प्रतिनिधियों ने उस सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर कर दिये, और खुली

सांस तब ली जब सन्धिभवन से बाहर आये। उस सन्धिपत्र में जर्मनी के प्रति जिस कठोर अन्याय का व्यवहार किया गया था, उसने वस्तुतः विल्सन के १४ सूत्रों की धज्जियां उड़ा दी थीं।

सभ्यताभिमानी विजेता देशों ने जर्मनी पर जो 'सन्धिपत्र' थोपा, उसका सारांश यह था कि योरप में उसकी भूमि से २५,००० वर्ग मील के टुकड़े काट दिये गए, उसकी आबादी में ६० लाख की कमी कर दी गई, और अफ्रीका में उसके जितने उपनिवेश थे, वे छीनकर संरक्षण के नाम पर मित्र राष्ट्रों की गोद में डाल दिये गए। उसकी आर्थिक हानि की तो कोई सीमा ही नहीं रही। एल्सेस, लोरेन, सार आदि प्रदेशों के छिन जाने से वह खनिज-सम्पत्ति से लगभग शून्य हो गया। इसके साथ ही उसे बाध्य किया गया कि वह अपनी सारी स्थल सेना को तोड़ दे, केवल इतने सिपाही रखे, जो आन्तरिक प्रबन्ध के लिए पर्याप्त हों। उसकी सामुद्रिक शक्ति को आत्मसात करने के लिए जो फैसला हुआ, उसे व्यर्थ करने के लिए जर्मनी के नाविकों ने उसे शत्रु के हाथ में देने की अपेक्षा समुद्र के गर्भ में विलीन करना अधिक सम्मानजनक समझा। इस तरह सब पंख काटकर विजेताओं ने जर्मनी पर जो अन्तिम प्रहार किया वह यह था कि उस पर हर्जाने और जुर्माने के रूप में करोड़ों डालरों की राशि लगा दी।

जर्मनी के प्रतिनिधियों के सामने ऐसी अपमानजनक 'सन्धि' पर हस्ताक्षर करने के सिवाय कोई चारा नहीं था। उस समय जर्मनी का सिर नीचा हो गया, परन्तु उस अन्याय और अपमान के कारण जर्मन लोगों के हृदय में घृणा और विद्वेष की जो भावना उत्पन्न हो गई, वह प्रतिदिन गहरी-ही-गहरी होती गई। लगभग २० वर्षों तक जर्मनी के अभिमानी निवासियों ने बदले की आग को हृदय में प्रज्वलित रखा और अन्त में वह दिन आ गया जब सारा जर्मन राष्ट्र हिटलर के नेतृत्व में 'वार्सेल की सन्धि' का उत्तर देने के लिए मैदान में उतर आया। यह ठीक है कि वह आक्रमण न्यायपूर्ण नहीं था, परन्तु यह भी सत्य है कि वह पश्चिमी योरप की विजयनी जातियों द्वारा थोपी हुई अन्यायपूर्ण सन्धि का ही सुदूरवर्ती परिणाम था।

पहले महायुद्ध में सम्मिलित होते ही, इंग्लैंण्ड ने अपना पिछलग्गू बनाकर भारत को भी घसीट लिया था। यह समझकर कि यदि हम युद्ध के संकट में इंग्लैण्ड का साथ देंगे तो इंग्लैण्ड भी हमारे स्वाधीन शासन के अधिकार को सहर्ष स्वीकार कर लेगा, भारत के नेताओं, देशी राज्यों के शासकों और सर्वसाधारण जनता ने दिल खोलकर धन और जनशक्ति द्वारा मित्र देशों का साथ दिया, परन्तु जब युद्ध में विजय प्राप्त हो गई, तब ब्रिटेन ने अंगूठा दिखा दिया। पहले युद्ध के अनुभव से भारतवासी इस परिणाम पर पहुंच चुके थे कि युद्ध के दिनों में पश्चिमी योरप और अमरीका ने स्वाधीनता तथा न्याय की जो दुहाई दी थी और संसार को जो सब्ज बाग़ दिखाये थे, वे सब झूठे थे। युद्ध के अन्त में उन देशों ने जर्मनी के साथ जो अन्याय किया, उससे प्रायः सभी भारतवासियों की जर्मनी के साथ सहानुभूति हो गई थी, और जब १९३९ में अन्याय का बदला लेने के लिए जर्मनी मैदान में उतरा तब उसके

इस कार्य को अनुचित समझते हुए भी भारतवासियों ने उसे वर्साई के अन्याय का स्वाभाविक उत्तर समझा। यही कारण था कि जब दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होने पर, ब्रिटिश सरकार ने अपने साथ भारत को भी घसीटकर रणक्षेत्र में डालना चाहा, तब राष्ट्रीय भारत ने स्पष्ट और जोरदार प्रतिवाद करने में विलम्ब न किया।

कांग्रेस लगभग १२ वर्षों से ब्रिटिश सरकार को चेतावनी दे रही थी कि यदि भारत को फिर किसी विदेशी युद्ध में घसीटा गया तो उसे भारतवासियों से किसी प्रकार की सहायता की आशा नहीं रखनी चाहिए। जिस लड़ाई से भारत का कोई सीधा सम्बन्ध न हो, उसमें बिना उससे सलाह लिये, उसे शामिल कर लेना, और फिर जबर्दस्ती या भुलावा देकर उससे सहायता ले लेना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। परिणाम यह हुआ कि जब १ सितम्बर १९३९ के दिन योरप में दूसरा महायुद्ध छिड़ा, तब भारत ने उसमें साझीदार न बनने का निश्चय प्रकट कर दिया। बादशाह की घोषणा, वायसराय की अपील और गवर्नरों की प्रेरणा—सभी कुछ व्यर्थ हुआ। परन्तु अंग्रेजी सरकार को इसकी क्या पर्वाह थी। उस समय भारत के ११ प्रान्तों में स्वायत्त शासन था। किसी प्रान्त से भी यह नहीं पूछा गया कि तुम लोग युद्ध में भागीदार बनना चाहते हो या नहीं? केन्द्रीय धारा-सभा के सदस्य भी मुंह ताकते रह गए, और भारत को एक छोटी नाव की तरह इंग्लैण्ड के जाहज के पीछे बांधकर महायुद्ध के तूफानी समुद्र में धकेल दिया गया। १४ सितम्बर १९२९ को कांग्रेस की कार्यसमिति की एक विशेष बैठक युद्ध से उत्पन्न हुई परिस्थिति पर विचार करने के लिए बुलाई गई। उसमें यह स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर दिया गया कि "पिछले महायुद्ध के अनुभव ने हमें सिखा दिया है कि ब्रिटिश सरकार या भारत सरकार के युद्धकालीन वचनों या वक्तव्यों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इसलिए समिति सरकार से अनुरोध करती है कि भारत के भविष्य के सम्बन्ध में सिर्फ स्थिति का स्पष्टीकरण ही नहीं चाहिए बल्कि उन सिद्धान्तों पर अमल भी चाहिए।" अन्त में समिति ने घोषणा की कि जब तक स्थिति का पूरी तरह स्पष्टीकरण न हो जाय, तब तक वह देश को सरकार से सहयोग करने की सलाह नहीं दे सकती।

यह तो थी देश की सबसे बड़ी जिम्मेदार संस्था की घोषणा, परन्तु देश की आम जनता की मनोवृत्ति इससे भी आगे बढ़ी हुई थी। वह कांग्रेस के परिमित प्रतिवाद से सन्तुष्ट नहीं थी। यदि हम यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि देश के राजनीतिक मनोवृत्ति रखनेवाले लोगों के निन्यानवे फीसदी भाग की जर्मनी से आन्तरिक सहानुभूति और इंग्लैण्ड तथा उसके साथियों के प्रति विरोध की भावना थी। इस मनोवृत्ति का यह कारण नहीं था कि भारतवासी हिटलर की तानाशाही या जर्मनी के पौलैण्ड पर किये गए अकारण आक्रमण को उचित समझते थे। उनसे तो आमतौर पर भारत की जनता को घृणा थी; परन्तु असल बात यह थी कि वे अंग्रेजों की कूटनीति और प्रतिज्ञा-भंगों से इतने खिन्न हो गए थे कि उसके शत्रुओं से सहा-

नुभूति रखना उनके लिए स्वाभाविक-सा हो गया था। इसमें सन्देह नहीं कि यदि उस समय 'वर्तमान महायुद्ध में किसकी जीत होनी चाहिए? जर्मनी की या इंग्लैण्ड की?' इस प्रश्न पर भारतवासियों का लोकमत लिया जाता तो बहुत बड़ा बहुमत जर्मनी के पक्ष में होता। वह बहुमत इस बात का प्रमाण था कि भारतवासी अंग्रेजों के सम्पर्क से थक गए थे। यों, भारत के कई नरेशों ने सरकार की भरपूर सहायता की, गरीब प्रजा से चूसा हुआ धन युद्ध की सहायता में दे दिया, स्वयं लड़ाई में गये, और सिपाही भेजे। अनेक नेता कहलानेवाले लोगों ने भी सरकार की हां में हां मिलाई, पर देश का हृदय इंग्लैण्ड के विरुद्ध ही रहा। विशेष महत्वपूर्ण बात यह थी कि सरकार भारतवासियों की उस विरोध भावना से भली प्रकार परिचित थी। उसे मालूम था कि विरोध की वह भावना प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से महात्मा गान्धी से लेकर कट्टर-से-कट्टर साम्यवादी भारतवासी तक व्याप्त है।

महात्मा गान्धी जहां एक ओर महायुद्ध में भारतवासियों द्वारा सहायता देने के विरुद्ध थे, वहां इंग्लैण्ड के संकट के समय में सत्याग्रह या अन्य किसी विरोधात्मक कार्रवाई करने को भी सत्याग्रह की भावना के प्रतिकूल मानते थे। पं० जवाहरलाल-जी ऐसे अवसर पर हाथ-पर-हाथ रखकर बैठने के पक्ष में नहीं थे, इस कारण कांग्रेस की कार्यसमिति ने बीच का रास्ता यह निकाला कि एक युद्ध-समिति बनाई, जिसके प्रधान पं० जवाहरलालजी बनाये गए, और सदस्य नियत किये गए मौलाना अबुल कलाम आजाद तथा सरदार वल्लभभाई पटेल। युद्ध समिति को यह काम सौंपा गया कि वह परिस्थितियों के अनुसार कार्यनीति का निर्णय करती रहे। उसका यह कर्तव्य था कि वह युद्ध की प्रगति, सरकार की गति-विधि और देशवासियों की भावनाओं को ध्यान में रखकर सामयिक निर्देश देती रहे।

किसी राज्य की सामयिक नीति के वास्तविक रूप को पहिचानने के लिए दो बातों पर दृष्टि डालनी चाहिए। एक उसकी उद्घोषित नीति पर, और दूसरे उस नीति के चलानेवाले व्यक्तियों की मनोवृत्ति पर। केवल उद्घोषित नीति पर दृष्टि रखने से प्रायः धोखा हो जाता है। युद्ध के आरम्भ होने पर ब्रिटिश सरकार की ओर से जो घोषणाएं प्रकाशित की गईं वे बहुत आकर्षक थीं; परन्तु उन दिनों भारत के भाग्यविधाता जो दो अफसर थे, उनकी नस-नस में टोरी रक्त था। इंग्लैण्ड की टोरी पार्टी अपनी अनुदारता के लिए प्रख्यात थी। वायसराय थे लार्ड लिनलिथगो, और भारत मन्त्री बनाये गए थे मि० एमरी। दोनों ही अंग्रेजों की स्वभावसिद्ध अनुदार नीति के नमूने थे। लार्ड लिनलिथगो की नौकरशाही मनोवृत्ति प्रत्येक घोषणा और प्रत्येक मुलाकात में अधिक स्पष्ट होती जाती थी। इसमें देशवासियों को कोई सन्देह नहीं रहा था कि अंग्रेजी सरकार भारत से सब प्रकार की सहायता तो भरपूर मात्रा में लेना चाहती है, परन्तु भारत को स्वाधीन शासन का कोई पक्का वायदा तक देने को तैयार नहीं। महात्माजी इंग्लैण्ड से सम्मानपूर्ण समझौता करने के लिए इतने उत्सुक थे कि वह वायसराय से दो बार

मिले, परन्तु कोई फल न निकला। अन्त में कांग्रेस की युद्ध-समिति इस परिणाम पर पहुंची कि अब सरकार के कार्य में किसी प्रकार का सहयोग देना देश के लिए अपमानजनक है। तदनुसार पार्लियामेण्टरी उपसमिति ने प्रान्तों के कांग्रेसी मन्त्रियों तथा कांग्रेस-दलों के सदस्यों को आदेश दिया कि वे सब ३१ अक्तूबर १९३९ से पूर्व अपने-अपने त्यागपत्र सरकार के हाथों में दे दें।

इस आदेश के अनुसार प्रान्तों के कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये।

ये त्यागपत्र सर्वसाधारण जनता की उस भावना के चिह्न-मात्र थे, जो देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैली हुई थी। भारत की प्रजा की यह दृढ़ धारणा हो गई थी कि ब्रिटेन भारत को स्वाधीनता नहीं देना चाहता। संकट काल आने पर जब ब्रिटेन के शासक, या उनके प्रतिनिधि मीठी-मीठी बातें करने लगते थे, तब भारतवासियों के हृदयों पर उनका केवल इतना असर होता था कि 'यह सब ढोंग है—इसमें कोई सार नहीं है। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र जनता की उसी भावना के स्थूल रूप थे।'

युद्ध से हानि तो थी ही, पर हमारे राष्ट्रीय जीवन को एक लाभ भी हुआ। त्रिपुरी के बाद स्वाधीनता-संग्राम की सेनाओं में जो फूट-सी दिखाई देने लगी थी, और उसके कारण जो उदासी छा रही थी, युद्ध के झोंके ने उन्हें उड़ाकर दूर फेंक दिया। राष्ट्रीय आन्दोलन का मानो दलदल से उद्धार हो गया।

: ६२ :

समुद्र-मन्थन का पहला पर्व

कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने १९३९ के अक्तूबर मास में अपने त्यागपत्र गवर्नरों के हाथों में दिये, और ४ दिसम्बर १९४१ के दिन जापान ने पर्लहार्बर पर आक्रमण करके धूमधड़ाके के साथ महायुद्ध में प्रवेश किया। इन बीच के लगभग दो वर्षों में भारत के राजनीतिक क्षेत्र में जो होता रहा, उसे हम 'समुद्र-मन्थन का पहला पर्व' के नाम से पुकार सकते हैं। अगले चार वर्षों में भारतीय राष्ट्र और अंग्रेजी राज्य कभी मिलकर और कभी लड़कर समस्या के किसी उभयसम्मत हल की खोज करने में लगे रहे। भारतीय राष्ट्र पहले स्वाधीनता और पीछे युद्ध में सहयोग देना चाहता था, और अंग्रेजी राज्य पहले युद्ध में सहयोग और पीछे जो कुछ भी हो, यह चाहता था। जो 'कुछ' अंग्रेजी राज्य पेश कर रहा था, उसे भारतीय राष्ट्र इस योग्य भी नहीं समझता था कि छू सके; और जो कुछ भारतीय राष्ट्र चाहता था, उसे अभी तक इंग्लैण्ड के राजनीतिक नेता भारतीय बच्चों के लिए चांद का टुकड़ा बनाये हुए थे। इस प्रकार दोनों के उद्देश्य भिन्न-भिन्न थे।

कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र मिलने पर सरकार ने सन्तोष की सांस

ली। गवर्नरों और नौकरशाही के अन्य पुर्जों को कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल की उपस्थिति से ऐसा अनुभव हो रहा था मानो पेट में कोई दुष्पच पदार्थ पड़ गया हो। जिन्हें कल वे राजद्रोही होने के कारण लाठी और जेल का कानूनी शिकार मानते थे, वे आज हाकिम बन बैठे, यह देखकर सरकारी लोग मन-ही-मन कुढ़ते रहते थे। वे लोग फिर शिकार बन गए, और शिकारियों को अपने करतब दिखाने की आजादी मिल गई। इससे शिकारियों ने बड़े सन्तोष का अनुभव किया।

मानसिक सन्तोष तो हो गया, परन्तु युद्ध में देश का सक्रिय सहयोग तो न मिला। इस बात से नौकरशाही को चिन्ता से मुक्ति न मिली। विलायत तो संग्राम की अग्नि में झोंकने के लिए भारत से ईंधन चाहता था, वह केवल कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र से नहीं मिल सकता था। त्यागपत्र के पश्चात् सरकार ने एक कड़ा-सा अध्यादेश भी निकाला, परन्तु उससे भी देश के झुकाव में कोई परिवर्तन न हुआ। तब लाचार होकर सरकार को सुलह की चर्चा करनी पड़ी।

अक्तूबर में त्यागपत्र दिये गए, और पहली नवम्बर को लार्ड लिनलिथगो ने महात्मा गान्धी और कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष राजेन्द्र बाबू को मुलाकात के लिए बुलाया। उस समय यद्यपि मि० जिन्ना भी वायसराय के भवन में उपस्थित थे, परन्तु वायसराय उनसे और गान्धीजी से अलग-अलग मिले। लार्ड लिनलिथगो उन व्यक्तियों में से थे, जो शायद साधारण दशा में किसी छोटे देश के प्रबन्ध का कार्य सफलतापूर्वक कर सकते थे, परन्तु संकटकाल में किसी उलझन को सुलझाना जिनके बलबूते से बाहर होता है। पं० जवाहरलाल नेहरू ने 'भारत की खोज' में लार्ड लिनलिथगो का वर्णन इन शब्दों में किया है:

"लार्ड लिनलिथगो का शरीर बोझिल था, और मन सुस्त। वह चट्टान की तरह ठोस था, और चट्टान की ही भांति अचेतन। वह एक पुराने ढंग के अंग्रेज रईस (एरिस्टोक्रेट) के दोषों और गुणों से युक्त था। इसमें सन्देह नहीं कि वह ईमानदारी और सच्चाई से उलझन में से निकलने का यत्न करता रहा; परन्तु उसमें बहुत-सी न्यूनताएं थीं। उसका मन पुराने घेरे से बाहर नहीं जा सकता था, और नई सूझ से घबराता था। उसकी दृष्टि अपनी शासक-श्रेणी के खयालों से परिमित थी, जिसमें उसने जन्म लिया था। वह सिविल सर्विस और इर्द-गिर्द के लोगों की आंखों से देखता और कानों से सुनता था। वह उन लोगों को अविश्वास की नजर से देखता था जो मौलिक, राजनीतिक या सामाजिक परिवर्तनों की बात करते थे, और उन लोगों को


लार्ड लिनलिथगो

नापसन्द करता था जो इस बात पर विश्वास नहीं करते थे कि ब्रिटिश साम्राज्य, और उसके भारत में आये प्रतिनिधियों का परोपकारमय लक्ष्य बहुत ऊंचा है।"

ऐसा था वायसराय, जिस पर भारतवासियों से महायुद्ध में इच्छापूर्वक सहयोग प्राप्त करने का बोझ पड़ा था, मानो लंगड़े को भागने की प्रतिस्पर्धा में डाल दिया गया हो। भाग-दौड़ तो बहुत हुई। वायसराय ने गान्धीजी को, मि० जिन्ना को और अन्य कई जननेताओं को बुलाकर बातचीत की, पत्र-व्यवहार भी बहुत-सा हुआ, परन्तु परिणाम कुछ भी न निकला। तब कांग्रेस की ओर से वायसराय के सामने कुछ प्रश्न रखे गए, जिनमें पूछा गया कि :

(१) युद्ध के उद्देश्य क्या हैं? और उनका भारत के साथ क्या सम्बन्ध है?

(२) क्या ब्रिटेन भारत को एक स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित करने को तैयार है?

कांग्रेस का मत था कि यदि ब्रिटेन भारत को स्वतन्त्र राष्ट्र मान ले, तो भारत इस विषय पर विचार कर सकेगा कि उद्देश्यों पर दृष्टि रखते हुए भारत युद्ध में ब्रिटेन की सहायता करे या नहीं? वायसराय ने अपने उत्तरों में स्पष्ट कर दिया कि इस समय भारत को स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित करना अप्रासंगिक और अनावश्यक है। ब्रिटेन अधिक-से-अधिक यह कर सकता है कि केन्द्रीय सरकार में कुछ भारतवासियों को सम्मिलित कर ले। प्रारम्भ से ही स्वाधीनता की मांग के उत्तर में वायसराय ने जो दूसरा अड़ंगा लगाया वह यह था कि शासन-सुधार की केवल वही योजना स्वीकार की जायगी, जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों मान लें और हिन्दू और मुसलमान से वायसराय का अभिप्राय था कांग्रेस और मुस्लिम लीग से, यह ब्रिटिश साम्राज्य की उसी पुरानी भेद-नीति का नया संस्करण था और भारत के दुर्भाग्य से जैसे अंग्रेजों को उसमें सदा सफलता मिलती रही थी, इस बार भी मिली। वायसराय के दिये हुए इशारे से मुस्लिम लीग के सर्वेसर्वा मि० मुहम्मद अली जिन्ना ने पूरा लाभ उठाया और उस विषवृक्ष का बीज बोया, जिसके अन्तिम फल भारत का विभाजन, पाकिस्तान का निर्माण, और महान् जनसंहार के रूप में प्रकट हुए।

मि० जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने इस अवसर को साम्प्रदायिक सौदा करने के लिए गनीमत समझा। कांग्रेस सदस्यों की ओर से धारासभाओं में भारत को लोकतन्त्र राज्य के दिये जाने की मांग के विषय में जो प्रस्ताव उपस्थित किये गए, उस पर मुस्लिम लीगी सदस्यों ने निम्नलिखित संशोधन उपस्थित किया :

"यह असेम्बली सरकार से सिफारिश करती है, कि वह भारत सरकार और उसके जरिये ब्रिटिश सरकार को सूचित करे कि युद्ध के दौरान में या उसके पश्चात् भारत के विधान की समस्या पर विचार करते समय उसे ध्यान रखना चाहिए कि मौजूदा विधान में लोकतन्त्रीय पार्लियामेण्टरी प्रणाली भारत की परिस्थिति और उसकी जनता की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विरुद्ध होने के कारण असफल सिद्ध हुई है। इसलिए १९३५ के भारतीय शासन-

विधान के अतिरिक्त भारत के भावी विधान की सम्पूर्ण समस्या पर नये सिरे से विचार होना चाहिए, और नये सिरे से विचार करते हुए अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की, जो भारत के मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था है, और उनकी तरफ से कुछ कह सकती है, अनुमति या स्वीकृति के बिना, और साथ ही दूसरे महत्वपूर्ण अल्पसंख्यकों अथवा वर्गों की रजामन्दी के बिना अन्तिम रूप से कोई फैसला न करना चाहिए।"

मुस्लिम लीग के संशोधन का अभिप्राय यह था कि भारत का जो भी नया विधान बने उसकी अन्तिम स्वीकृति मुस्लिम लीग से प्राप्त करनी चाहिए अन्यथा मुसलमान उसे स्वीकार नहीं करेंगे।

अंग्रेजी सरकार मन में मुस्लिम लीग के दल को चाहे कितना ही निर्मूल और निर्हेतुक समझती हो, परन्तु कांग्रेस की मांग की काट करने के लिए न केवल लीग के दावे को चुपचाप सुन लेती थी, प्रत्युत उसे प्रोत्साहित भी करती थी। इन परिस्थितियों में यह स्वाभाविक ही था कि बहुत-सी भाग-दौड़ के बावजूद इंग्लैण्ड और भारत में कोई समझौता न हो सका। उन्हीं दिनों इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध मजदूर दल के अन्यतम नेता सर स्ट्रैफर्ड क्रिप्स ने भारत की जो यात्रा की, उसका उद्देश्य भी किसी मध्यमार्ग की खोज करना था। वह अफसरों से मिले, और वर्धा की यात्रा भी की, परन्तु उस समय समझौते की कोई सूरत न देखकर केवल परिस्थिति की जानकारी प्राप्त कर के लौट गए।

यह थी निराशाजनक परिस्थिति, जब रामगढ़ में कांग्रेस का वृहद् अधिवेशन हुआ। उस अधिवेशन के अध्यक्ष के चुनाव के अवसर पर फिर संघर्ष हुआ। कांग्रेस कार्यकारिणी ने मौलाना आजाद का समर्थन किया था। सोशलिस्ट ग्रुप की ओर से श्री एम० एन० राय का नाम आगे रखा गया था। श्री एम० एन० राय विलायत से भारत के नेतृत्व की महत्वाकांक्षा लेकर अपने देश में आये थे। चुनाव-संघर्ष ने उस पर पानी फेर दिया। मौलाना को १८६४ और श्री राय को केवल १८३ वोट मिले। इस चुनाव में जितना सिद्धान्तों का संघर्ष था, उससे अधिक व्यक्तित्व का संघर्ष था। श्री एम० एन० राय काफी लिख और बोलकर भी जनता के हृदयों पर अपना आसन नहीं जमा सके थे, क्योंकि देश-सेवा में किये गए किन्हीं बलिदानों का श्रेय उनको प्राप्त नहीं था।

रामगढ़ अधिवेशन के सब प्रस्तावों को यदि किसी एक शीर्षक के नीचे लाना चाहें तो वह है 'सत्याग्रह-युद्ध की घोषणा'। प्रत्येक कांग्रेस कमेटी को हिदायत की गई थी कि वह सत्याग्रह-कमेटी के रूप में परिवर्तित हो जाय। सत्याग्रह प्रारम्भ करने से पूर्व आवश्यक होगा कि छुआछूत की भावना का त्याग कर दिया जाय, और सब कांग्रेसी न केवल खद्दर पहिनें, प्रतिदिन कातने का भी प्रण करें। मनसा-वाचा-कर्मणा अहिंसक रहना तो सबके लिए आवश्यक था ही।

रामगढ़ का अधिवेशन १९३९ के अन्त में हुआ। १९४० के मध्य में, इंग्लैण्ड के राजनीतिक वातावरण में भारी परिवर्तन आ गया। डावांडोल और ठंडी

तबीयत के मि० नैविल चैम्बरलैन के स्थान पर पक्के साम्राज्यवादी मि० विन्सेण्ट चर्चिल ने प्रधानमन्त्री का पद संभाल लिया और भारत मन्त्री को गद्दी को लार्ड जैटलैंड के स्थानापन्न मि० एमरी ने सुशोभित किया। मि० चर्चिल का भारत की महत्वाकांक्षा के प्रति द्वेषभाव प्रसिद्ध था। महात्मा गान्धी और कांग्रेस के बारे में एक बार उसने कहा था—"जल्दी या देर में, तुम्हें गान्धी, इण्डियन कांग्रेस और उनके आदर्शों को कुचलना ही पड़ेगा।" एमरी को चर्चिल का पट्टशिष्य कह सकते हैं। जब जापान ने चीन पर आक्रमण किया था, तब मि० एमरी ने जापान के कार्य का समर्थन करते हुए कहा था कि यदि अंग्रेज लोग चीन पर जापान के हमले की निन्दा करेंगे तो उन्हें इंग्लैण्ड द्वारा भारत में किये गए सब कार्यों की भी निन्दा करनी पड़ेगी। ऐसे दो ठेठ अनुदार नीतिज्ञों के हाथ में पड़कर भारत की समस्या के सुलझने की आशा ही क्या हो सकती थी। तो भी प्रयत्न होते ही रहे। बीच में एक बार ऐसा अवसर भी आया जब कांग्रेस सत्याग्रह प्रारम्भ करनेवाली थी कि योरप के युद्धक्षेत्र में चमत्कारिक परिवर्तन हो गया। जर्मनी की सेनाएं पोलैण्ड को सर करके नार्वे और स्वीडन पर चढ़ गई, और उन पर अधिकार जमाकर हालैण्ड तथा बैल्जियम पर पांव रखती हुई न केवल फ्रांस में घुस गई, अपितु उसे सर्वथा परास्त करने में सफल भी हो गई।

महात्माजी के सत्याग्रह-शास्त्र का एक अंग यह भी था कि विरोधी की निर्बलता से लाभ नहीं उठाना चाहिए। फ्रांस की पूर्ण पराजय ने इंग्लैण्ड और उसके साथियों को संकट में डाल दिया था, इस कारण कांग्रेस ने अपनी म्यान से निकली हुई तलवार फिर म्यान में डाल ली और रामगढ़ के निश्चय के बावजूद सत्याग्रह स्थगित रहा।

भारत सरकार और कांग्रेस में समझौते की चर्चाएं फिर जारी हो गई। इस बार भारतीय उदार दल के सर तेज बहादुर सप्रू, मि० जयकर आदि नेता भी सक्रिय हुए। वायसराय ने फिर कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना आजाद से बातचीत की। उधर मि० जिन्ना और मौ० आजाद में भी पत्र-व्यवहार हुआ। परन्तु क्योंकि सरकार और कांग्रेस दोनों के ध्येय अलग-अलग थे, इस कारण समझौता न हो सका। कांग्रेस ने अपना हाथ कुछ आगे भी बढ़ाया। ३ जुलाई १९४० को कांग्रेस कार्यसमिति का जो महत्वपूर्ण अधिवेशन हुआ, उसमें निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया गया:

> "हमारा दृढ़ विश्वास है कि इस समय ब्रिटेन और भारत को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, उन्हें सुलझाने का एकमात्र उपाय ब्रिटेन द्वारा भारत की पूर्ण स्वाधीनता को स्वीकृति है, और इसे तत्काल कार्यरूप में परिणत करने के लिए उसे केन्द्र में एक अस्थायी राष्ट्रीय सरकार कायम करनी चाहिए, जो यद्यपि एक अस्थायी साधन के रूप में बनाई जाय, परन्तु वह इस प्रकार से स्थापित हो कि उसे केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सभी निर्वाचित वर्गों का विश्वास प्राप्त रहे, और इसके अतिरिक्त उसे प्रान्तों को

जिम्मेदार सरकारों का सहयोग भी मिलता रहे। यदि इन उपायों को अपनाया गया तो कांग्रेस देश की रक्षा के लिए बनाये गए संगठन में पूरा-पूरा महयोग देने को तैयार हो जायगी।"

यह स्मरण रखने योग्य महत्वपूर्ण बात है कि महात्मा गान्धी इस प्रस्ताव के उत्तर भाग से सहमत नहीं थे। यदि इंग्लैण्ड भारत की स्वाधीनता को अंगीकार करे तो भारत उसका मित्र बना रहे, यहां तक तो महात्माजी स्वीकार करते थे, परन्तु अपने अहिंसा के सिद्धान्त को छोड़कर युद्ध में इंग्लैण्ड को सैनिक सहायता देना महात्माजी को संगत नहीं प्रतीत होता था। परन्तु उस समय कार्यसमिति ने श्री राजगोपालाचार्य के नेतृत्व को स्वीकार करने में भलाई समझी। यहां तक कि कांग्रेस के तापमान को कायम रखनेवाले पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी राजाजी के परामर्श को स्वीकार कर लिया। वस्तुतः कांग्रेस किसी समझौते पर पहुंचने की प्रबल अभिलाषा से प्रेरित होकर सरकार से हाथ मिलाने के लिए दो-तीन सीढ़ियां नीचे उतर आई थी।

दिल्ली का प्रस्ताव पूना में होनेवाले अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के अधिवेशन में पुष्ट किया गया। वहां अनेक राष्ट्रीय नेताओं ने उसका कड़ा विरोध किया। विरोधियों में बा० राजेन्द्रप्रसाद, आचार्य कृपालानी-जैसे प्रभावशाली व्यक्ति भी थे। वे महात्माजी के मत के समर्थक थे। फिर भी बहुसम्मति से दिल्ली का सैनिक-सहयोग-सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया।

कांग्रेस इतना झुक गई, परन्तु चर्चिल की सरकार टस-से-मस न हुई। लार्ड लिनलिथगो अपनी जिद पर कायम रहे। उलटा कांग्रेस की स्वयंसेवक संस्था पर रोक लगाने के लिए एक कठोर आर्डिनेंस जारी कर दिया। साथ ही ४ जुलाई को वायसराय ने एक वक्तव्य प्रकाशित कराया, जिसका सारांश यह था कि सरकार यहां तक तो तैयार है कि भारतवासियों को शासन-यंत्र का एक अंग बना ले, परन्तु उनकी राजनीतिक स्वाधीनता के दावे को मानने को तैयार नहीं थी। उसके बाद लगभग एक सप्ताह में भारत मन्त्री, मि० एमरी ने विलायत में भारत के सम्बन्ध में दो भाषण दिये, जिनमें सिद्धान्त रूप में वायसराय का समर्थन किया। भाषणों का आशय यह था कि ब्रिटिश सरकार छोटी-मोटी रियायतें देने को उद्यत है, परन्तु शासन की स्वाधीन सत्ता भारतवासियों के हाथों में सौंपने को तैयार नहीं। वह चर्चिल की इस घोषणा पर दृढ़ता से कायम थी कि "मैं ब्रिटिश साम्राज्य का प्रधानमन्त्री इसलिए नहीं बना कि साम्राज्य का दीवाला निकाल दूं।"

अगस्त की समाप्ति होते-होते कांग्रेस के प्रायः सभी नेताओं को विश्वास हो गया कि अंग्रेजी सरकार अपनी शर्तों पर युद्ध में भारत का सहयोग तो चाहती है, पर भारतवासियों की शर्तों पर नहीं। पं० जवाहरलाल तथा उनके साथी अनुभव करने लगे थे कि कांग्रेस द्वारा समझौते का हाथ बढ़ाने को अंग्रेजी सरकार ने भारतवासियों की निर्बलता का चिह्न समझा है। फलतः कांग्रेस ने अपनी नीति में परिवर्तन करना आवश्यक समझा। अगस्त के अन्त में घटनाचक्र तेजी से घूमने

लगा। पं० जवाहरलाल ने सार्वजनिक रूप से घोषणा कर दी कि अब सरकार की दमन-नीति के कारण कांग्रेस का पूना प्रस्ताव लागू नहीं रह सकता। अब रामगढ़ कांग्रेस के प्रस्ताव को ही कार्यान्वित किया जायगा। जवाहरलालजी का यह मत वस्तुतः सारे देश की मनोवृत्ति का ही प्रतिबिम्ब था। देशवासी अनुभव कर रहे थे कि सरकार से किसी प्रकार का समझौता होने की आशा नहीं है। उनकी दृष्टि एक बार फिर उस सत्तर वर्ष की आयुवाले सन्त सेनापति की ओर लग रही थी, जो समझौते की नीति से असहमत होकर अलग हुआ बैठा था।

सन्त ने देशवासियों को निराश नहीं किया। उन्होंने आगे बढ़कर कार्य-संचालन का भार अपने ऊपर लेना स्वीकार कर लिया।

१५ और १६ सितम्बर को बम्बई में कांग्रेस महासमिति ने पिछले दो महीने में देश की जो हालत हो गई थी, उसकी समीक्षा की और यह घोषणा की कि दिल्ली का वह प्रस्ताव, जिसकी पुष्टि पूना में की गई थी, अब अमल में नहीं रहा। साथ ही समिति ने यह भी निश्चय किया कि कांग्रेस अपने ध्येय की पूर्ति के लिए अहिंसा के सिद्धान्त पर दृढ़ रहती हुई सब आवश्यक उपायों को काम में लायगी।

समिति के वे प्रस्ताव सत्याग्रह-युद्ध की घोषणा के समान थे। अगले ही दिन महात्माजी के नेतृत्व में देश व्यक्तिगत सत्याग्रह के रणक्षेत्र में उतर आया।



विनोबा भावे

१७ सितम्बर को व्यक्तिगत सत्याग्रह के पहले सत्याग्रही श्री विनोबा भावे ने सत्याग्रह किया और गिरफ्तार कर लिये गए। दूसरे सत्याग्रही पं० जवाहरलाल ७ नवम्बर के दिन सत्याग्रह करनेवाले थे। उन्हें महात्माजी से मिलने वर्धा बुलाया गया। वहां से वापिस लौटते हुए वह इलाहाबाद के पास छिउकी स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिये गए। उनपर एक पुराने भाषण के सम्बन्ध में अभियोग लगाया गया, और रिवाज के अनुसार कानूनी नाटक करके ४ साल के कारागार का दण्ड दे दिया गया।

१७ नवम्बर को सरदार पटेल हिरासत में ले लिये गए। कांग्रेस कमेटी की इच्छानुसार महात्माजी ने सत्याग्रह के संचालन के लिए स्वयं कुछ समय तक बाहर रहने का निश्चय कर लिया था। आन्दोलन पर वह बहुत कड़ा नियंत्रण रख रहे थे। सरकार पूरी कठोरता पर उतर आई थी, फिर भी सत्याग्रह सूखे जंगल में लगी आग की तरह बड़े वेग से देश-भर में फैल गया। नगर-नगर और गांव-गांव में सत्याग्रही लोग कानून भंग करके गिरफ्तार हो रहे थे, और उनका स्थान लेने के लिए नये सत्याग्रही अगली पंक्ति में आ रहे थे।

इसी प्रसंग में एक नई घटना हो गई। १९४० के मध्य में सरकार ने सुभाष बाबू को गिरफ्तार करके नजरबन्द कर दिया था। लगभग ६ महीनों तक वह एक काले पर्दे द्वारा देश की आंखों से ओझल रखे गए। १९४१ के जनवरी मास में संसार ने आश्चर्यपूर्वक सुना कि सुभाष बाबू सरकारी प्रतिबन्धों की खाई को लांघकर अकस्मात् अन्तर्धान हो गए। इस समाचार से सरकार स्तब्ध रह गई, और भारत-वासियों के दिल विस्मययुक्त हर्ष से उछल पड़े। लोगों को हठात् छत्रपति शिवाजी का बादशाह औरंगजेब की कैद से निकल भागना याद आ गया।

व्यक्तिगत सत्याग्रह लगभग एक वर्ष तक चलता रहा। इससे पहले के सत्याग्रहों से इसमें विशेष अन्तर यह था कि इसमें प्रत्येक देशवासी को भाग लेने का अधिकार नहीं था। केवल उन्हीं लोगों को सत्याग्रह करने का अधिकार दिया गया था, जो गान्धीजी की कड़ी कसौटी पर खरा उतर गया हो, मनसा-वाचा-कर्मणा सत्याग्रही हो, कातने और खद्दर पहिनने के नियमों का दृढ़ता से पालन करता हो, और छुआ-छूत न मानता हो। स्वाभाविक ही था कि ऐसे कठोर व्रत के पालन करनेवालों की संख्या न्यून हो। निम्नलिखित तालिका से प्रतीत होगा कि १९३९-४० के सत्याग्रह में इससे पूर्व के सत्याग्रहों से क्या भेद था :

१९२१ के सत्याग्रह में ३० हजार सत्याग्रही जेल गये।
१९३० के आन्दोलन में ६० हजार ने जेलयात्रा की।
१९३२-३३ में १,२०,००० जेलयात्री बने; पर
१९४० के व्यक्तिगत सत्याग्रह में सत्याग्रहियों की संख्या केवल ४७६९ थी।

सत्याग्रहियों को आदेश था कि सत्याग्रह करने से पूर्व मजिस्ट्रेट को उसकी सूचना दे दें। सत्याग्रह वही कर सकता था जिसे महात्माजी की स्वीकृति प्राप्त हो जाती। जो एक बार जेल चला गया, सजा समाप्त होने पर उसका कर्त्तव्य था कि फिर जेल जाय। व्यक्तिगत सत्याग्रह का यह आधारभूत सिद्धान्त था कि जो एक बार सत्याग्रह में सम्मिलित हो गया, वह तब तक सत्याग्रह करता रहेगा, जब तक कांग्रेस की ओर से सत्याग्रह स्थगित नहीं किया जाता। ऐसी कड़ी शर्तों का यह स्वाभाविक परिणाम हुआ कि सत्याग्रहियों की संख्या बहुत परिमित रही, और कुछ दूर जाकर वह क्रमशः घटने लगी। ऐसी दशा देखकर श्री राजगोपालाचार्य तथा अन्य अनेक राष्ट्रीय नेताओं का यह मत बन रहा था कि व्यक्तिगत सत्याग्रह को बन्द करके सत्याग्रह की उस डोर को फिर से पकड़ा जाय जो १० अक्तूबर १९४० के दिन सत्याग्रह आरम्भ होने पर टूट गई थी।

इस बार के सत्याग्रह में यह विशेष बात थी कि युद्ध के अर्वाचीन नियमों के अनुसार, सेना-संचालन के लिए प्रधान सेनापति महात्मा गान्धी रणक्षेत्र से अलग रहे थे। वह अभी सत्याग्रह स्थगित करने के विरुद्ध थे।

अक्तूबर (१९४१) मास में कांग्रेस के वे नेता जो जेलों से बाहर थे, महात्माजी से परामर्श करने के लिए वर्धा में एकत्र हुए। उस अवसर पर जो मत प्रकट किये गए, उनमें एक यह भी था कि व्यक्तिगत सत्याग्रह सर्वथा असफल रहा है, अब उसे

जारी रखने से कोई लाभ नहीं। कई प्रमुख कांग्रेसी संसद-सदस्य यह जोर दे रहे थे कि उन्हें संसद में जाकर सरकार की नीति पर असर डालने का अवसर दिया जाय। यह विचार भी प्रकट किया गया कि सरकार ने वस्तुतः व्यक्तिगत सत्याग्रह की पर्वाह करनी छोड़ दी है। उसने कई स्थानों पर सत्याग्रह की उपेक्षा कर दी थी, और अनेक सत्याग्रहियों को यह समझकर छोड़ दिया था कि वे खतरनाक नहीं हैं।

सत्याग्रह के सेनानी इस दुविधा में ही थे कि सरकार ने सत्याग्रह के कैदियों को सामूहिक रूप में जेलों से छोड़ना आरम्भ कर दिया। २७ अक्तूबर १९४१ को वैलोर के सेण्ट्रल जेल से कुछ नजरबन्द कैदी छोड़े गए, जिनमें मद्रास की विधान सभा के अध्यक्ष और ६ अन्य प्रमुख कांग्रेसी भी शामिल थे। कुछ दिनों बाद भारत सरकार ने अचानक नई दिल्ली से एक विज्ञप्ति प्रकाशित की, जिसमें बतलाया कि भारत सरकार को यह निश्चय हो गया है कि सभी विचारों के भारतवासी युद्ध में सरकार की सहायता देने के लिए उत्सुक हैं, इस कारण सरकार ने यह निश्चय किया है कि सविनय कानून-भंग के कैदियों को बिना शर्त के रिहा किया जा सकता है। इसके पश्चात् पं० जवाहरलाल नेहरू और मौलाना अबुल क़लाम आज़ाद भी कारागार से मुक्त कर दिये गए। इस प्रकार सत्याग्रह के जारी रहते हुए ही सरकार की ओर से समुद्र-मन्थन का पहला दौर समाप्त कर दिया गया। ४ दिसम्बर १९४१ तक प्रायः सभी प्रमुख राजनीतिक बन्दी छोड़े जा चुके थे।

उसके तीन दिन बाद, समाचारपत्रों में यह सनसनीदार समाचार आ गया कि जापान ने पर्ल हार्बर के बन्दरगाह पर समुद्री आक्रमण करके इंग्लैण्ड और उसके साथियों के विरुद्ध युद्ध का बिगुल बजा दिया है। योरप के महायुद्ध ने मूर्तरूप से भारत की सीमाओं के समीप पहुंचकर पूर्वी और मध्य एशिया को प्रकम्पित कर दिया।

: ६३ :

हिंसा-अहिंसा का विवाद

महात्माजी ने कांग्रेस का नेतृत्व १९१९ में संभाला था। प्रारम्भ से ही जहां प्रत्यक्ष में राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं ने उनको अपना मार्गदर्शक मान लिया था, वहां कई मौलिक विषयों पर उनसे अपना मतभेद भी प्रकट कर दिया था। महात्माजी अपने सिद्धान्तों की व्याख्या 'हिन्द स्वराज्य' नाम की पुस्तिका में कर चुके थे। 'हिन्द स्वराज्य' का विषय राजनीतिक था, परन्तु महात्माजी का दृष्टिकोण आध्यात्मिक तथा राजनीतिक मिला हुआ था। वह राजनीति में असत्य या अर्धसत्य के प्रयोग के कट्टर विरोधी थे, हिंसा अर्थात् मारकाट या शस्त्रास्त्र के प्रयोग को

वह बिलकुल त्याज्य मानते थे, मशीनरी के विरोधी और अत्यन्त सादे जीवन के पक्षपाती थे। पाश्चात्य ढंग की टीमटामवाली शिक्षा महात्माजी को सर्वथा अप्रिय थी। जब रौलट ऐक्ट के विरुद्ध कांग्रेस ने सत्याग्रह को अपनाया, तब कांग्रेस के सब नेताओं ने यह नहीं समझा था कि युद्ध की सत्याग्रह शैली को स्वीकार करने का यह अभिप्राय होगा कि हमने महात्माजी के सम्पूर्ण सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया। परन्तु महात्माजी तो आधे रास्ते तक जाकर सन्तुष्ट होनेवाले नहीं थे। वह ऐसे आदर्शवादी थे, जो अपने आदर्शों को क्रियात्मक रूप देना भी जानते थे। धीरे-धीरे महात्माजी अपने पूर्णरूप में कांग्रेस पर छा गए। व्यक्तिगत रूप से कोई नेता या अनुयायी महात्माजी के किसी सिद्धान्त को माने या न माने, कांग्रेसी होने की हैसीयत से तो उसे पूरे 'हिन्द स्वराज्य' के सिद्धान्तों को स्वीकार करना ही पड़ता था।

यह सभी लोग जानते थे कि कांग्रेस के बहुत-से ऐसे प्रमुख नेता, जो महात्माजी के दायें हाथ समझे जाते थे, मूल सिद्धान्तों पर महात्माजी से मतभेद रखते थे। पं० जवाहरलाल नेहरू के निम्नलिखित वाक्य उस समय की वस्तुस्थिति को बहुत विशदता से प्रकट करते हैं:

> "देश में उन (महात्माजी) के अहिंसा-सम्बन्धी तथा आर्थिक सिद्धान्तों को पूर्ण रूप से माननेवाले बहुत ही कम लोग हैं, तो भी अधिकतर ऐसे हैं जो उनसे किसी-न-किसी रूप में प्रभावित हुए हैं।"

जवाहरलाल भी उन लोगों में से थे जिनकी बुद्धि ने महात्माजी के अहिंसा सम्बन्धी तथा आर्थिक सिद्धान्तों को उन दिनों में भी पूर्ण रूप से कभी नहीं माना, फिर भी यह मानी हुई बात है कि जवाहरलालजी महात्माजी के सबसे अधिक विश्वासपात्र पट्टशिष्य थे। जब उनकी यह दशा थी तो अन्यों का तो कहना ही क्या? जो थोड़े-से लोग महात्माजी से पूर्ण रूप में सहमत थे, उनका बड़ा हिस्सा राजनीति से अलग रहकर उनके रचनात्मक कार्यों का संचालन करता था। राजनीति में भाग लेनेवालों में से ९० फीसदी लोग ऐसे थे, जो महात्माजी को अपना राजनीतिक गुरु और नेता तो मानते थे, परन्तु उनके आध्यात्मिक-राजनीतिक सिद्धान्तों में विश्वास नहीं रखते थे। उनमें से कुछेक ऐसे थे, जो अहिंसा और सत्य को प्रस्तुत अवसर के लिए उपयोगी समझकर मान लेते थे, और शेष उन्हें महात्माजी की खातिर 'बर्दाश्त' कर रहे थे। सबसे अद्भुत बात तो यह थी कि महात्माजी भी जानते थे कि उनके अधिकांश अनुयायी हिंसा का अवसर न देखकर अहिंसा को मानते हैं—सिद्धान्त रूप से अहिंसावादी नहीं है।

उपयोगितावादी अहिंसकों की सूचि बहुत लम्बी थी। नाम लिखना उचित नहीं, और आवश्यक भी नहीं। परन्तु इस पुस्तक के लेखक को व्यक्तिगत रूप से विदित है कि कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के कई सदस्य भी अहिंसा को समयोपयोगी समझकर ही कांग्रेस के फार्म पर हस्ताक्षर करते थे।

सामान्य दशा में तो बाहर का सत्याग्रही वातावरण खूब बना रहता था, परन्तु आन्दोलन जरा ढीला हुआ या प्रधान सेनापति कारागार में बन्द हो गया, अथवा भड़काने का कोई विशेष कारण हो गया, तो लोग अहिंसा की लक्ष्मण-रेखा को पार कर जाते थे। मन में विद्यमान हिंसा की भावना एकदम जागृत हो जाती थी। सत्याग्रह का लम्बा इतिहास ऐसे व्यक्तियों से भरा पड़ा है।

अहिंसा के सम्बन्ध में महात्माजी से असहमत होनेवालों की कई श्रेणियां थीं। ऊंची श्रेणी के नेता, जिनमें हम पं० जवाहरलाल नेहरू को भी सम्मिलित करते हैं, यद्यपि अहिंसा में पूरी तरह वैसा ही विश्वास नहीं रखते थे, जैसा महात्माजी, तो भी उनका नेता के प्रति वफ़ादारी का भाव इतना प्रबल था कि वे व्यवहार में महात्माजी की खींची हुई सीमा का उल्लंघन नहीं करते थे।

महात्माजी के मुसलमान सहयोगियों में से सरहदी गान्धी खान अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ां, डा० अन्सारी तथा वैसे ही कुछेक अन्य तपस्वियों को छोड़कर अहिंसा पर पूरा एतक़ाद रखनेवाले शायद ही कोई हों। मौ० शौक़त अली, और मुहम्मद अली एक समय गान्धीजी के दायें-बायें हाथ समझे जाते थे। लेकिन उनका अहिंसा का चोग़ा बहुत ही महीन था। उसमें से सत्याग्रह के प्रबल-से-प्रबल दिनों में भी व्याघ्र के नख दिखाई देते रहते थे। हिन्दू नेताओं में से भी अनेक नेता अहिंसा को लाचारी का अस्त्र समझते थे।

प्रारम्भ से ही अहिंसा और उसके समानान्तर अन्य सिद्धान्तों के सम्बन्ध में राष्ट्रवादियों का परस्पर विचार-संघर्ष बीच-बीच में अव्यक्त रूप में सिर उठाता रहता था। १९४०-४१ में जो राजनीतिक परिस्थिति उत्पन्न हो गई, उसने उस संघर्ष को बहुत तीव्र और प्रत्यक्ष कर दिया। जब कांग्रेस के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि यदि ब्रिटिश सरकार भारत की स्वराज्य-सम्बन्धी मांग को पूरा, कर दे तो भारतवासी अंग्रेजों को युद्ध जीतने में हर प्रकार की सहायता देंगे या नहीं तब मौलिक मतभेद स्पष्ट रूप में सामने आ गया। महात्माजी अहिंसा के आधार पर किसी दशा में भी सैनिक सहायता देने के विरुद्ध थे, परन्तु राजाजी तथा अन्य अनेक प्रमुख कांग्रेसी नेता सैनिक सहायता देने के पक्ष में थे। इसी मतभेद के कारण महात्माजी ने कांग्रेस से त्यागपत्र भी दे दिया। यह विषय उन दिनों कुछ समय के लिए राष्ट्र-भर में विवादग्रस्त हो गया था।

१९४१ के जून मास में हिंसा-अहिंसा की समस्या स्थूल रूप में कांग्रेस के सामने आ गई। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी गान्धीजी के दाहिने हाथ समझे जाते थे और बम्बई के कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल में गृह मन्त्री रह चुके थे। वह सत्याग्रह के प्रत्येक दौरे में गान्धीजी के पार्श्ववर्ती बनकर रहे थे। उन्होंने महात्माजी के पास कांग्रेस से अपना त्यागपत्र भेजते हुए यह लिखा कि यदि "हमारे जीवन, घर और मन्दिरों पर आततायी आक्रमण करें तो भी हमें प्रत्युत्तर न देकर चुपचाप बैठे रहना चाहिए, यदि अहिंसा का यह अभिप्राय है तो मुझे दुःख से कहना पड़ता है कि मैं 'अहिंसावादी' नहीं हूं।" महात्माजी ने उत्तर में लिखा कि "मैंने पहले

ही यह बात स्पष्ट कर दी थी कि आततायी को हिंसात्मक उत्तर वही दे सकता है जिसका अहिंसा पर विश्वास न हो।" अन्त में महात्माजी ने श्रीयुत मुंशी को कांग्रेस से त्यागपत्र देने की अनुमति दे दी।

उन्हीं दिनों दिल्ली की प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के भूतपूर्व प्रधान, तथा १९३६ के राष्ट्रीय कन्वेन्शन के स्वागताध्यक्ष श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति ने भी कांग्रेस के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करते हुए इतना जोड़ दिया था कि "आत्मरक्षा के लिए किये गए शस्त्र-प्रयोग को मैं पाप नहीं मानता।" इस पर उस समय के प्रान्तीय अध्यक्ष ने महात्माजी से पत्र-व्यवहार किया। महात्माजी ने यह मालूम किया कि क्या केवल इतना ही मतभेद है या अलग होने के कुछ और भी कारण हैं। जब उन्हें यह उत्तर मिला कि केवल इतना ही मतभेद है तो उन्होंने परामर्श दिया कि केवल इतने मतभेद पर कांग्रेस से त्यागपत्र देने या अलग होने की कोई आवश्यकता नहीं। बात यह थी कि महात्माजी स्वयं विशेष अवस्थाओं में आततायी का हाथ रोकने के लिए बल-प्रयोग के विरोधी नहीं थे। १९४२ के मार्च मास में महात्माजी ने गुण्डों से स्त्रियों की सतीत्व-रक्षा के प्रश्न पर सम्मति देते हुए लिखा था कि जब तक स्त्रियां आध्यात्मिक दृष्टि से पूरी तरह साधन-सम्पन्न न हों तब तक

> "जिस स्त्री पर इस तरह का हमला हो वह हमले के समय हिंसा-अहिंसा का विचार न करे। उस वक्त जो साधन उसे सूझे उसका उपयोग करके वह अपनी पवित्रता की रक्षा करे। ईश्वर ने उसे नाखून दिये हैं, दांत दिये हैं, और ताकत दी है। वह उनका उपयोग करे, और करते-करते मर जाय।"

एक बार आश्रम में दुःख से तड़पते हुए बछड़े को यातना से बचाने के लिए मार डालने की अनुमति भी महात्माजी दे चुके थे। इन सब कारणों से १९४१ और १९४२ में भारत के राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं में विचारों की उथल-पुथल-सी मची हुई थी, जो नेताओं को किंकर्तव्यविमूढ़-सी बना रही थी।

जो घटनाचक्र श्री सुभाषचन्द्र बोस के कांग्रेस से अलग होने, नजरबन्द होने और फिर चमत्कारिक ढंग से लापता होने की घटनाओं में समाप्त हुआ, उसका मौलिक कारण भी रूपान्तर में उपर्युक्त विचार-संघर्ष ही था। कांग्रेस के अनेक बड़े नेताओं से सुभाष बाबू के मतभेदों की चर्चा यथास्थान होती रही है। जब १९४० में व्यक्तिगत सत्याग्रह जारी हुआ तब सुभाष बाबू ने गान्धीजी को एक पत्र लिखा, जिसमें अपनी सेवाएं सत्याग्रह को समर्पण करते हुए लिखा कि "मेरी सेवाएं आपके अधीन हैं, आप जैसा चाहें उनका उपयोग करें।" गान्धीजी ने इस आधार पर उनकी सेवाएं अस्वीकार कर दी थीं कि "हम दोनों की विचारधाराओं में बुनियादी और महत्वपूर्ण मतभेद है।" इस पत्र-व्यवहार पर टिप्पणी करते हुए डा० पट्टाभि ने 'कांग्रेस के इतिहास' में लिखा है कि :

> "साधारणतः श्री सुभाष बोस की कोटि के कांग्रेसजन को, जो दो बार कांग्रेस के अध्यक्ष रह चुके थे, इस तरह की आज्ञा लेना कोई जरूरी नहीं था—परन्तु

स्पष्ट है कि उन्होंने ९ जुलाई के बाद की घटनाओं को ध्यान में रखते हुए इस प्रश्न को उठाना ज़रूरी समझा।"

इस घटना के दोनों अंग महत्वपूर्ण हैं। पुरानी बातों को पीछे डालकर सुभाष बाबू का महात्माजी को आत्मसमर्पण का पत्र लिखना, और महात्माजी का उन्हें स्वीकार करने से इनकार—देश के लिए अच्छा हुआ या बुरा, इस पर सम्मति देना कठिन है, क्योंकि घटना अपने-आपमें अप्रिय परन्तु परिणाम में शुभ हुई। यदि उस समय सुभाष बाबू को अस्वीकृति न मिलती तो भारत की स्वाधीनता के इतिहास में आई० एन० ए० का गौरवशाली अध्याय न लिखा जाता।

: ६४ :

'पाकिस्तान' का प्रादुर्भाव

उस समय, राजनीतिक परिस्थिति में उलझन पैदा करनेवाली जो एक नई समस्या स्पष्ट रूप में दिखाई देने लगी थी, अब उसका थोड़ा-सा प्रारम्भिक इतिहास देना आवश्यक प्रतीत होता है।

पाकिस्तान की भावना का जन्मदाता कौन था, यह एक विवादग्रस्त विषय है। कुछ लोगों का मत है कि उर्दू का वह प्रसिद्ध कवि इक़बाल, जिसने एक दिन "सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा" का तराना सुनाया था, जीवन के उत्तर भाग में पाकिस्तान-रूपी विषवृक्ष के बीज का वपन करनेवाला बना। जब तक मुहम्मद इक़बाल भारत में रहे, देशभक्ति का गीत गाते रहे। बैरिस्टरी पास करने के लिए विलायत गये तो कुछ ऐसा चमत्कार हुआ कि पूरे साम्प्रदायिक मुसलमान बनकर लौटे। भारत वापिस आकर आपने जो नई कविताएं कीं वे इस्लाम के गहरे रंग में रंगी हुई थीं। आपने उस समय की अपनी प्रसिद्ध कविता में ख़ुदा को बतलाया था :

हमसे पहले था अजब तेरे जहां का मंज़र[1]।
कहीं मस्जूद[2] थे पत्थर कहीं माबूद[3] शजर[4]॥

... ...

तुझको मालूम है लेता था कोई नाम तेरा।
क़ुव्वते बाज़ूए मुस्लिम ने किया काम तेरा॥

अर्थात् हे ईश्वर, इस्लाम के आने से पहले तुझे कोई नहीं पूछता था, मुसलमानों के बाहुबल से ही तेरी पूछ होने लगी।

---

१. दृश्य २. पूज्य ३. पूज्य ४. वृक्ष

इतने बड़े उपकार के बदले में ख़ुदा ने मुसलमानों से जो सलूक किया, उसके बारे में इक़बाल ने कहा है :

ख़न्दाज़न कुफ़्र है, अहसास तुझे है कि नहीं।
अपनी तौहीद का कुछ पास तुझे है कि नहीं ?
कभी हमसे कभी ग़ैरों में शनासाई है।
बात कहने की नहीं—तू भी तो हरजाई है।।

अर्थात काफिर लोग मुस्करा रहे हैं, क्या तुझे यह बुरा नहीं लगता ? क्या तू अपने आदेशों को स्वयं भूल गया ? तू कभी हमसे प्रेम करता है तो कभी काफिरों से—आखिर तो तू हरजाई है।

इस दुर्दशा से निकलने के लिए इक़बाल ने अपने रब से दुआ की :

या रब दिले मुस्लिम को वोह जिन्दा तमन्ना दे।
जो कल्ब को गरमा दे, जो रूह को तड़पा दे।।

हिन्दुस्तान का तराना सुनानेवाले इक़बाल ने ज़ब केवल मुसलमानों के क़ल्ब (हृदय) को गरमाने की दुआ मांगनी आरम्भ कर दी तो उत्तरी भारत के मुसलमानों में साम्प्रदायिकता का जजबा उभरते देर न लगी। कहा जाता है कि पेशावर से सहारनपुर तक के प्रदेश को मुसलमानों के अर्पण करने की मांग पहले-पहल शेख़ मुहम्मद इक़बाल ने ही की थी।

परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इक़बाल को पाकिस्तान की योजना का उद्भावक कहना ठीक नहीं है। पाकिस्तान की योजना इंग्लैण्ड में ही गढ़ी गई थी, परन्तु उसको गढ़नेवाला कवि इक़बाल नहीं, अपितु चौधरी रहमतअली नाम का एक व्यक्ति था, जो 'पाकिस्तान नैशनल मूवमेण्ट' का संस्थापक और अध्यक्ष था। चौधरी रहमतअली ने अपने देश में एम० ए० और एल्-एल्० बी० की परीक्षाएं पास कीं, और बैरिस्टर बनने के लिए इंग्लैण्ड की यात्रा की। लन्दन उन दिनों पढ़े-लिखे भारतवासियों का तीर्थ बना हुआ था। वहां पहुंचकर चौधरी रहमतअली ने बैरिस्टरी की सनद प्राप्त करने के साथ-ही-साथ यह पाठ भी पढ़ा कि भारत के मुसलमानों का भला हिन्दुओं के साथ मिलकर रहने में नहीं है। १९३३ में चौधरी रहमतअली ने पाकिस्तान-आन्दोलन के सम्बन्ध में जो घोषणापत्र प्रचारित किया था, उसमें निम्नलिखित मन्तव्यों की घोषणा की थी :

(१) हिन्दुस्तान एक देश नहीं है, वह देश-समूह (continent) है।
(२) हिन्दुस्तान में एक राष्ट्र नहीं रहता—दो राष्ट्र रहते हैं, एक हिन्दू दूसरा मुसलमान।
(३) 'हिन्दुस्तान' का 'इण्डिया' नाम ग़लत है, उसका नाम 'दीनिया' होना चाहिए।

(४) हिन्दुस्तान में बंगिस्तान (बंगाल), उस्मानिस्तान (हैदराबाद), म्यूनिस्तान (राजस्थान) आदि प्रदेशों को पृथक्-पृथक् मुसलमान प्रदेशों के रूप में संगठित करके सबका एक संघ 'पाकिस्तान' के नाम से स्थापित करना चाहिए।

यह थी पाकिस्तान की पहली योजना। पाकिस्तान नैशनल मूवमेण्ट का केन्द्र-स्थान १६, मांटेगू रोड, कैम्ब्रिज (इंग्लैण्ड) में था। वहीं से सारी दुनिया में 'पाक प्लैन' का समर्थक साहित्य बांटा जाता था।

हम देख चुके हैं कि जब भारत में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के कारण अंग्रेज़ों को अपना प्रभुत्व खतरे में पड़ता दिखाई दिया तब उन्होंने अलीगढ़ में भिन्नता की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया था। १९२९ के और १९३० के सत्याग्रह आन्दोलनों ने ब्रिटिश साम्राज्य को ज़ोरदार चुनौती दी। उसका उत्तर अंग्रेजी कूटराजनीतिज्ञों ने १६ माण्टेगू रोड के दफ्तर से चौ० रहमतअली की ज़बानी दिया। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि यदि पाकिस्तान का आन्दोलन सोलहों आने अंग्रेजी दिमाग की उपज नहीं थी, तो भी उसके आविर्भाव में अंग्रेज कूटनीतिज्ञों का ५१ फीसदी भाग अवश्य था। शेख मुहम्मद इक़बाल का विलायत जाकर साम्प्रदायिकता के रंग में रंगा जाना, और पाकिस्तान का हामी बनना भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। वह इस बात का निश्चित प्रमाण है कि भेद-नीति द्वारा भारत का शासन करने के साथ-साथ अंग्रेज़ों के दिमाग में सदा यह बात बनी रही थी कि यदि लाचारी से भारत को छोड़ना ही पड़े तो उसे दो टुकड़ों में बांटकर सदा के लिए निर्बल बना देना चाहिए।

१९४० में पाकिस्तान के अखाड़े में मि० मुहम्मद अली जिन्ना ने धूमधाम से प्रवेश किया। मि० जिन्ना ने सार्वजनिक जीवन का प्रारम्भ एक कट्टर राष्ट्रीय नेता के रूप में किया था। उस समय बम्बई के निवासी फड़क उठे थे, जब नगर के प्रमुख बैरिस्टर मि० जिन्ना ने कारपोरेशन की विशाल भवन की सीढ़ियों पर खड़े होकर बम्बई के गवर्नर लार्ड विलिंगडन को अभिनन्दन-पत्र देने के विरोध में प्रभावशाली भाषण दिया था। उस वीर कृत्य के प्रभाव से बम्बई के गली-कूचे 'जिन्नासाहब' के जयकारों से गूंज उठे थे; बम्बई का जिन्ना हाल उसी युग का स्मारक है।

मि० जिन्ना को प्रकृति ने नेतृत्व के अनेक गुण दिये थे। बहुत पैनी प्रतिभा, उससे भी अधिक पैनी और जोरदार वक्तृत्व-शक्ति जो वकीलोंवाली कैंची की तरह काट करनेवाली समालोचना शक्ति के साथ मिलकर लगभग अप्रतिम हो गई थी, जबर्दस्त इच्छाशक्ति, और उसके इशारे पर चलनेवाला सिद्धान्तों का लचकीलापन—ये सब विशेषताएं थीं, जिन्होंने मि० जिन्ना को प्रारम्भ से ही अत्यन्त प्रभावशाली राजनीतिक नेता बना दिया था। इन उपर्युक्त विशेषताओं की चमक इतनी प्रबल थी कि उसमें छोटी-छोटी कमियां सर्वथा दबी रहती थीं। जब मि० जिन्ना को पक्का राष्ट्रीय समझा जाता था, तब भी उन्होंने विलायती कपड़े पहिनना नहीं छोड़ा और जब मुस्लिम लीग के नेता बने तब न दाढ़ी रखी, और न लम्बा चोग़ा

पहिना। सारांश यह कि वह जिस रंग में भी रहे रहे मि० जिन्ना ही। कारण यह कि मि० जिन्ना पूर्णरूप से बुद्धिवादी व्यक्ति थे, वहां हृदय नाम की वस्तु का यदि अत्यन्त अभाव नहीं, तो आंशिक अभाव अवश्य ही था।

समय आया जब मि० जिन्ना को मुस्लिम लीग का अध्यक्ष चुना गया। उस युग के प्रारम्भ में लीग कांग्रेस से मिलकर भारत की वैधानिक समस्या को हल करने का यत्न करती रही, परन्तु जब महात्माजी ने कांग्रेस की बागडोर संभालकर सत्याग्रह का बिगुल बजाया, तब मि० जिन्ना और उनके साथियों ने अपना रास्ता अलग कर लिया, और १९१६ का राष्ट्रवादी जिन्ना १९३०-३५ में कट्टर सम्प्रदायवादी मुसलमान बन गया। उसके पश्चात् वायसराय और महात्मा गान्धी में जितनी बार समझौते की बातचीत हुई, उतनी बार किस प्रकार मि० जिन्ना के डाले हुए अड़ंगे उसे असफल बनाते रहे, यह हम इस ग्रन्थ में यथास्थान दिखा आये हैं। अड़ंगा डालने की नीति में मि० जिन्ना को सफलता न मिलती, यदि अंग्रेजी सरकार की ओर से प्रोत्साहन न मिलता। अंग्रेजी सरकार अपनी प्रभुता को क़ायम रखने के लिए जिन औजारों से काम लेती थी, उनमें से एक मुस्लिम लीग भी थी। सरकार उसका सब अवसरों पर प्रयोग करती रही, परन्तु उससे मुसलमानों को कुछ मिला हो, ऐसा दिखाई नहीं देता। चतुर जिन्ना ने इस बात को ताड़ लिया कि सरकार मुसलमानों के विरोध से लाभ तो उठाती है, परन्तु उनकी भावनाओं से केवल खिलवाड़ करती है। ऐसी मानसिक दशा थी, जब चौधरी रहमतअली की 'पाकिस्तान योजना' मि० जिन्ना के सामने आई। मि० जिन्ना के चतुर दिमाग़ ने झटपट समझ लिया कि एक ओर हिन्दुओं पर आतंक जमाने और दूसरी ओर अंग्रेजों को घबराहट में डालने का यही सर्वोत्तम उपाय है कि फेडरेशन का विरोध करके अलग पाकिस्तान की मांग की जाय। फलत: १९४० में १९१० का राष्ट्रवादी और १९१६ का एकतावादी मि० जिन्ना भारत का अंग-भंग करके पाकिस्तान बनाने का समर्थक बन गया। इस दुर्घटना को ब्रिटिश कूटनीति की सबसे बड़ी सफलता कहें तो अतिशयोक्ति न होगी।

सन् १९४० के मार्च में लाहौर में मुस्लिम लीग ने फेडरेशन की योजना का विरोध करते हुए निश्चय किया कि :

> "आल इण्डिया मुस्लिम लीग की यह दृढ़ सम्मति है कि कोई ऐसी वैधानिक योजना इस देश में सफल नहीं हो सकती, और न वह मुसलमानों को मंजूर हो सकेगी, जिसमें इस मौलिक सिद्धान्त को न मान लिया जाय कि देश के ऐसे प्रदेशों को जिनमें मुसलमान अधिक संख्या में हैं, अलग मण्डलों के रूप में संगठित करके स्वतंत्र राज्यों के रूप में परिणत कर दिया जाय।"

लीग ने अपनी वर्किंग कमेटी को यह अधिकार दिया कि वह उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार संविधान तैयार करके लीग के अगले अधिवेशन में उपस्थित करे।

इस प्रकार अंग्रेजी सरकार के प्रोत्साहन और कुछ मुसलमान नेताओं के हठवाद के कारण उस समुद्र-मन्थन में से, जो स्वाधीनता-रूपी अमृत-प्राप्ति के लिए किया गया था, पाकिस्तान-रूपी विष का प्रादुर्भाव हुआ।

: ६५ :

समुद्र-मन्थन का दूसरा पर्व

क्रिप्स-मिशन और 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव

४ दिसम्बर १९४१ को राष्ट्र के बहुत-से काराबद्ध नेता रिहा कर दिये गए। १७ दिसम्बर को जापान युद्ध में आ कूदा और प्रशान्त सागर के महत्वपूर्ण अमरीकी, ब्रिटिश और अन्य अड्डों पर अधिकार करता हुआ शीघ्र ही सिंगापुर में दाखिल हो गया। महान् पराक्रमी ब्रिटिश सिंह वहां से वीरतापूर्वक पीछे हटता गया और अन्त में अंग्रेजी सेना के ७० हजार सैनिकों ने आत्म-समर्पण कर दिया।

ये समाचार ब्रिटिश सरकार के लिए काफ़ी चिन्ताजनक थे। उन्हें अपने ताज का सबसे चमकीला हीरा—भारत हिलता दिखाई देने लगा। तब दूसरी बार अंग्रेजी सरकार ने समुद्र-मन्थन में भाग लेना आरम्भ किया। वह अनुभव कर रही थी कि जापान का आक्रमण होने की दशा में ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा का एकमात्र उपाय यह है कि भारतवासी शान्त रहें, और जापान का प्रतिरोध करने में ब्रिटेन के सक्रिय सहायक बनें।

१९४२ के मार्च मास में ब्रिटिश सरकार ने सुलह का सन्देश देकर सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा। इस घटना के सम्बन्ध में ११ मार्च को पार्लियामेण्ट में प्रधानमन्त्री मि० चर्चिल ने जो वक्तव्य दिया था, उसके प्रारम्भिक शब्द सरकार के हृदयंगत भाव की सूचना देनेवाले थे—उसने कहा था :

> "जापानियों की प्रगति के कारण भारत के लिए जो खतरा पैदा हो गया है उसे देखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि आक्रमण से देश की रक्षा करने के लिए भारत के सभी वर्गों का संगठन किया जाय।"

२३ मार्च को सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारत की किस्मत का पुलिन्दा अटैची केस में लिये नई दिल्ली पहुंच गए। मि० क्रिप्स का भारत से पुराना परिचय था। १९३९ में स्वतंत्र रूप से भारत आकर वह वर्धा में महात्माजी से मिले थे। उस समय भारतवासियों पर उनके उदार विचार और सहानुभूतिपूर्ण मनोवृत्ति का बहुत अच्छा असर पड़ा था। भारत के अनेक नेता, जिनमें पं० जवाहरलाल नेहरू भी

शामिल थे, मानते थे कि मि० क्रिप्स भारत के हितैषी हैं। जब दिल्ली में आकर उन्होंने अपनी बातचीत का ताना-बाना बुनना आरम्भ किया, तो देश के वातावरण में आशा की हल्की-सी हवा चलने लगी थी, परन्तु जब वे प्रस्ताव, जो ब्रिटिश सरकार ने भारतवासियों के सामने रखने के लिए तैयार किये थे, प्रकाशित हुए और उन पर गम्भीरता से विचार किया गया तो देश के नेताओं को एक धक्का-सा लगा। प्रस्तावों को लेकर जब मि० क्रिप्स महात्मा गान्धी से मिले तो महात्माजी ने कहा बतलाते हैं कि

"यदि आपके यही प्रस्ताव थे तो फिर आपने यहां आने का कष्ट क्यों उठाया? यदि भारत के सम्बन्ध में आपकी यही योजना है तो मैं आपको सलाह दूंगा कि आप अगले ही हवाई जहाज से ब्रिटेन लौट जायं।"

पं० जवाहरलालजी ने लिखा था:

"मुझे याद है, जब मैंने उन प्रस्तावों को पहली बार पढ़ा तो मेरा दिल बुरी तरह बैठ-सा गया। मेरी उस उदासीनता का मुख्य कारण यह था कि मैं सर स्टैफर्ड क्रिप्स से उस अवसर पर अधिक सारयुक्त चीज की आशा रखता था। ज्यों-ज्यों मैंने उन प्रस्तावों को पढ़ा, मेरी निराशा बढ़ती गई।"

प्रस्ताव ऐसे निराशाजनक और निस्सार थे, तो भी राष्ट्र के नेता कुछ ऐसी मानसिक स्थिति में थे कि सर क्रिप्स में और नेताओं में बातचीत का सिलसिला दो सप्ताह तक चलता रहा।

संक्षेप में प्रस्ताव ये थे:

युद्ध समाप्त होने पर ब्रिटिश सरकार भारत का शासन-विधान तैयार करने के लिए एक निर्वाचित संस्था कायम करेगी। वह संस्था कुछ मौलिक सिद्धान्तों के अनुसार संविधान बनाएगी। वे मौलिक सिद्धान्त ये हैं:

(१) यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रान्त नये विधान को स्वीकार न करना चाहे, तो उसे वर्तमान वैधानिक स्थिति को कायम रखने का पूरा अधिकार रहे, किन्तु साथ ही यह व्यवस्था भी रहे कि वह प्रान्त यदि पीछे से विधान में आना चाहे तो आ सके। नये विधान में न सम्मिलित होनेवाले प्रान्तों को, यदि वे चाहें तो सम्राट् की सरकार अलग विधान देना स्वीकार कर लेगी, और उनका पद भी पूर्ण रूप से संघ के समान ही होगा।

(२) भारत के सम्मुख जो संकटकाल उपस्थित है, उसके बीच में और जब तक कि नया विधान लागू न हो, तब तक सम्राट् की सरकार भारत की रक्षा, नियंत्रण और निर्देशन का उत्तरदायित्व अपने हाथ में रखेगी। भारतीय जनता के सहयोग से देश के सम्पूर्ण सैनिक, नैतिक तथा आर्थिक साधनों को संगठित करने की जिम्मेदारी भारत सरकार पर रहेगी।

कुछ मौलिक सिद्धान्त और भी थे। परन्तु मुख्य ये दो ही थे, जिन पर सर क्रिप्स ने एक ओर सरकार के प्रतिनिधियों से और दूसरी ओर जनता के नेताओं से बातचीत की। भारत सरकार की और ब्रिटिश सरकार की तो सधी-बधी बात थी

उसे औपचारिक परामर्श ही कह सकते हैं। असली परामर्श तो देश के नेताओं से था, जिसका उद्देश्य उन्हें क्रिप्स-योजना की कड़वी गोली को गले के नीचे उतारने के लिए तैयार करना था। पहले सिद्धान्त का अभिप्राय था, देश का बीसों टुकड़ों में विभाजन और दूसरे का अभिप्राय था युद्ध के संचालन से भारतीयों का पूर्ण रूप से बहिष्कार। उस समय महात्मा गान्धी और अन्य अनेक कांग्रेसी नेताओं को देश का विभाजन एक महान् पाप मालूम होता था। जिस एकता के लिए देश ने अगणित बलिदान किये थे, अपने हाथ से उसके गले पर छुरी फेरना देशभक्तों को आत्म-हत्या के समान जंचता था। सरकार की घोषणा का यह आशय तो स्पष्ट ही था कि युद्ध के दिनों में भारत को अपनी महत्वाकांक्षा केवल युद्ध में सहायक बनने तक परिमित रखनी चाहिए, युद्ध की समाप्ति के पश्चात् उसे नया शासन-विधान देने के प्रश्न पर विचार किया जायगा। उन दिनों कहा जाता था कि देश के कुछ नेता, जिनके मुखिया श्री राजगोपालाचार्य थे, क्रिप्स-योजना को स्वीकार कर लेने के पक्ष में थे, परन्तु सामान्य रूप से देश की जनता और जनता के नेताओं ने असन्दिग्ध शब्दों में उसका विरोध किया। मिलनेवाले लोग कहते थे कि सर क्रिप्स बहुत ही मीठा बोलनेवाले और विनीत सौदागर थे, परन्तु जो सौदा लेकर वह विलायत से आये थे, वह इतना निकम्मा और बासी था कि खरीदार उसे लेने को उद्यत न हुए। फलतः १० अप्रैल को सर क्रिप्स ने अपना माल बक्स में बन्द कर लिया और अपने परम हितैषी मि० मुहम्मद अली जिन्ना की कोठी पर पहुंचकर नाकामयाबी की रिपोर्ट सुना दी। रात को असफलता से झुंझलाये हुए सौदागर की तरह सर क्रिप्स ने सरकारी रेडियो से एक विषभरा ब्राडकास्ट किया, जिसमें अपनी असफलता का सारा दोष कांग्रेस पर डालकर सुर्खरू होने का प्रयत्न किया। अगले दिन वह इंग्लैण्ड लौट गए और वहां जाकर भी अपनी असफलता के कारणों पर वैसे ही भ्रामक वक्तव्य देते रहे, जैसे भारत में दिये थे।

क्रिप्स-योजना के भारत-विरोधी प्रस्तावों का और उनके स्वीकार न होने पर दिये गए सर क्रिप्स के झुंझलाहट-भरे वक्तव्यों का भारत पर बहुत गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा। भारत से लौटकर संसार के सामने अपनी सफाई देते हुए सर क्रिप्स ने समाचारपत्रों को जो वक्तव्य भेजे, उनमें कांग्रेस पर यह दोष लगाया कि वह अपने बहुमत के बल पर अल्पसंख्यकों को दबाकर रखना चाहती है, और अंग्रेजी सरकार अल्पसंख्यकों और नरेशों की रक्षा के लिए कृतसंकल्प है, इस कारण सरकार और कांग्रेस में सुलह नहीं हो सकती।

पूर्व में युद्ध की परिस्थिति का भारत की पूर्वी सीमा पर बहुत बुरा असर पड़ रहा था। जब बर्मा पर जापान के आक्रमण की आशंका उत्पन्न होने लगी, तब स्वभावतः बर्मा-स्थित अंग्रेज और भारतवासी बर्मा से भागकर भारत आने लगे। यह निष्कासन का काम सरकार को करना चाहिए था। उसने किया तो सही, परन्तु किया ऐसी पक्षपातपूर्ण नीति से कि भारतवासियों के हृदय जल उठे। बर्मा से भारत आने का जो पास का और आसान रास्ता था, वह अंग्रेजों के लिए

सुरक्षित कर दिया। उसे उन दिनों 'श्वेत मार्ग' (White Road) कहा जाने लगा था। भारतवासियों को लम्बा और कष्टप्रद मार्ग दिखा दिया गया। उस रास्ते पर जो भारतीय पड़ गए, उनमें से कुछ थकान और बीमारी के शिकार हुए, कुछ रास्ते में डाकुओं द्वारा लूट लिये गए, और जो थोड़े-से भारत पहुंचने में सफल हो गए, वे बेघर-बार और बेसरोसामान होकर अंग्रेजी सरकार को शाप देने लगे।

भारत पर जापान के आक्रमण का खतरा तो बढ़ ही रहा था, उसके साथ-साथ जब रेडियो द्वारा सिंगापुर में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की क्रान्तिवाहिनी सेना के समाचार, और नेताजी के भाषण सुनाई देने लगे तब तो देश में बेचैनी चरम बिन्दु पर पहुंच गई। देशवासी ऐसा अनुभव करने लगे कि मानो उनके चारों ओर दावानल जल रहा हो, और वे हाथ-पांव बंधे होने के कारण लाचार दशा में पड़े जल मरने की प्रतीक्षा कर रहे हों। धुएँ से दम घुट रहा था, पर उससे बचने का कोई उपाय नहीं था।

राष्ट्र के नेता भी उलझन में थे। उनमें से अधिकतर लोग ऐसे थे जो यह घोषणा कर चुके थे कि युद्ध के संकटकाल में वे कोई ऐसा आन्दोलन नहीं उठायेंगे, जिससे सरकार को कठिनाइयां बढ़ें। उधर सरकार क्रिप्स-जाल के असफल हो जाने से रोष के मारे आपे से बाहर हो रही थी। श्री रफी अहमद किदवई आदि कई राष्ट्रीय नेता पकड़कर जेलों में डाले जा चुके थे, और मशहूर था कि अन्य नेताओं के वारंट भी तैयार हो रहे थे। इस प्रकार नेता किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे, जिससे जनता का धैर्य टूट रहा था, और यह आशंका होने लगी थी कि देश में आकस्मात् अन्धी और अनुशासनहीन मार-काटभरी क्रान्ति आरम्भ हो जायगी। तभी महात्माजी की अन्तरात्मा ने उन्हें एकान्तवास छोड़कर तूफानी दरिया में देश की नौका की पतवार संभालने की प्रेरणा की। जिस अन्धकार को अनेक विद्वान नेता न मिटा सके, महात्माजी की अन्तर्दृष्टि ने उसे भेदकर राष्ट्र के लिए आगे बढ़ने का मार्ग खोल दिया।

महात्माजी में एक विशेषता थी, जो उन्हें अन्य सब राजनीतिक कार्यकर्ताओं से ऊंचा उठा देती थी। वह जेल में बन्द हों या स्वतंत्र हों, कांग्रेस के डिक्टेटर हों या उसकी सदस्यता से भी अलग-थलग बैठे हों—उनका हाथ सदा भारत की जनता की नब्ज़ पर रहता था। वह जितनी स्पष्टता से सर्वसाधारण के दिल की धड़कन को पहिचान सकते थे, उतनी स्पष्टता से अन्य कोई नहीं पहिचान सकता था। भारतीय स्वाधीनता-युद्ध के उस घोर अन्धकार काल में गांधीजी की उसी स्वाभाविक प्रतिभा ने राष्ट्र को सही रास्ता दिखाया।

सर क्रिप्स के भारत से चले जाने पर, महात्माजी ने 'हरिजन सेवक' के लेखों द्वारा, और समय-समय पर दिये गए वक्तव्यों द्वारा अपने हृदय को तड़पन देश और सरकार के सामने रख दी। आपने उस समय जो विचार-धारा जनता के सम्मुख रखी उसका सारांश यह था कि भारत को जापान के गोलों और संगीनों से

बचाने का एक ही उपाय है कि भारत की प्रजा और सरकार मिलकर आक्रान्ता का मुकाबिला करें। अंग्रेजों की शासन-नीति ने भारतवासियों के दिल तोड़ दिये हैं, इस कारण जब तक देश को स्वाधीनता नहीं मिल जाती, जापान के विरुद्ध मोर्चा लेने में अंग्रेजी सरकार को भारतवासियों का सहयोग प्राप्त नहीं हो सकता। इस युक्ति-शृंखला के आधार पर गान्धीजी इस परिणाम पर पहुंच गए थे, कि यदि भारत की स्वाधीनता के लिए राष्ट्र कोई प्रभावशाली और सफल आन्दोलन करना चाहता है तो उसका समय आ गया है। यदि इस समय चूक गए तो शायद सदियों तक फिर ऐसा अनुकूल अवसर न आयेगा। यदि जापान जीत गया तो भारत फिर नये सिरे से पराधीन हो जायगा। और अगर सरकार भारतवासियों के सहयोग के बिना असम्भव को सम्भव बनाने में समर्थ हो गई, और जापान को परास्त कर सकी तो फिर वह भारतवासियों से सीधे मुंह बात भी न करेगी। फलतः महात्माजी इस परिणाम पर पहुंच गए कि स्वराज्य की अन्तिम लड़ाई लड़ने का समय आ गया है। या तो स्वराज्य अब मिलेगा या फिर चिरकाल तक उसकी कोई सम्भावना नहीं।

महात्माजी के लेखों और वक्तव्यों ने थोड़े ही समय में सारे देश की मनोवृत्ति में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। जनता में गान्धीजी के विचारों की ऐसी जोरदार अनुकल प्रतिक्रिया हुई कि दूरदर्शी नेताओं के मानसिक सन्देह भी काफूर हो गए। वे अनुभव करने लगे कि उनके तर्कशास्त्र की अपेक्षा सन्त गान्धी की आत्मानुभूति कहीं अधिक यथार्थ और बलवती है।

जुलाई १९४२ के दूसरे सप्ताह में, वर्धा में, कांग्रेस की कार्यसमिति का अधिवेशन हुआ। परिस्थिति की गम्भीरता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि अधिवेशन निरन्तर ८ दिन तक चलता रहा। अन्त में समिति ने जो महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकार किया उसका अन्तिम भाग सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। उसमें कहा गया था :

> "अतएव, यदि यह अपील (अंग्रेजी सरकार से उत्तरदायित्वपूर्ण स्वाधीन शासन की अपील) व्यर्थ गई तो कांग्रेस वर्तमान स्थिति के स्थायित्व को, जिससे परिस्थिति का धीरे-धीरे बिगड़ना और भारत की आक्रमण-विरोधी शक्ति और इच्छा का दुर्बल होना स्वाभाविक है, घोर आशंका की दृष्टि देखेगी। उस स्थिति में कांग्रेस को अपनी सारी अहिंसात्मक शक्ति का, जो सन् १९२० के बाद संचित की गई है, अनिच्छापूर्वक उपयोग करने को बाधित होना पड़ेगा। इस प्रकार के व्यापक संघर्ष का नेतृत्व अनिवार्य रूप से महात्मा गान्धी करेंगे। क्योंकि जो प्रश्न यहां उठाये गए हैं, वे भारतीय जनता एवं मित्र राष्ट्रों की जनता के लिए दूर तक परिणाम उत्पन्न करनेवाले और महत्वपूर्ण हैं। इसलिए अन्तिम निर्णय के लिए कार्यसमिति उन्हें अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सुपुर्द करती है। इस कार्य के लिय ७ अगस्त १९४२ को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक होगी।"

तदनुसार ७ अगस्त को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का युगान्तरकारी अधिवेशन हुआ। न केवल पराधीन भारतवासियों की, अपितु इंग्लैण्ड की शक्तिशाली सरकार की आंखें भी उस अधिवेशन पर लगी हुई थीं। देशवासियों की उत्सुकता इतनी बढ़ी हुई थी कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन ने राष्ट्रीय महासभा का-सा रूप धारण कर लिया था। कहा जाता है कि पण्डाल में सब मिलाकर २० हजार से कम व्यक्ति नहीं थे। प्रत्येक प्रान्त ने प्रतिनिधियों का लगभग पूरा जत्था युद्ध की अन्तिम घोषणा सुनने के लिए भेजा था।

भाषण तो अनेक हुए, परन्तु इतिहास का निर्माता-भाषण केवल महात्मा गान्धी का था। वह उस रात ऐसे बोल रहे थे, मानो उनकी अन्तरात्मा में से परमात्मा बोल रहा हो। महात्माजी ने अपने लम्बे भाषण में अपने शान्तिपूर्वक स्वाधीनता प्राप्त करने के प्रयत्नों का सिंहावलोकन करते हुए उस समय की परिस्थिति का यथार्थ चित्र खींचकर यह बतलाया कि अब अधिक विलम्ब नहीं किया जा सकता। या तो अंग्रेजी सरकार हमें अविलम्ब स्वराज्य देना स्वीकार कर ले, अन्यथा भारतवासियों को लाचार होकर सत्याग्रह की लड़ाई छेड़नी पड़ेगी। आपने यह भी सूचना दी कि मैं एकदम लड़ाई नहीं छेड़ूंगा। मैं पहले वायसराय से मिलकर अपनी मांग पेश करूंगा। वह मान गए तो ठीक है अन्यथा फिर अहिंसक युद्ध प्रारम्भ करने के अतिरिक्त कोई उपाय न रह जायगा। अपनी कार्य-प्रणाली की व्याख्या करते हुए गांधीजी ने देशवासियों से कहा :

"मैं इस लड़ाई में आपका नेतृत्व करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता हूं, सेनापति अथवा नियंत्रक के रूप में नहीं, आपके तुच्छ सेवक के रूप में, और जो कोई सर्वाधिक सेवा करेगा, वही मुख्य सेवक माना जायगा।"

कुछ लोग महात्माजी को सलाह दे रहे थे कि वे ऐसे संकटपूर्ण मार्ग पर देशवासियों को न डालें, और चुप रहें। उनका उत्तर देते हुए गान्धीजी ने कहा था :

"यदि मैं आपकी बात मानूं तो मुझे अपने अन्दर की आवाज को दबा देना होगा। मेरी अन्तरात्मा कहती है कि मुझे अकेले ही संसार से लोहा लेना पड़ेगा। वह मुझे यह भी कहती है कि जब तक तुममें निःशंक होकर संसार का सामना करने की शक्ति है, तब तक तुम सुरक्षित हो, भले ही तुम्हें दुनिया किसी और दृष्टि से देखे। तुम उस दुनिया की पर्वाह न करो और केवल उस परमात्मा से डरते हुए अपना कार्य पूरा करो।"

भाषण के अन्त में आपने कहा :

"अबकी जो लड़ाई छिड़ेगी, वह सामूहिक लड़ाई होगी। हमारी योजना में गुप्त कुछ भी नहीं है। हमारी तो खुली लड़ाई है।. . . .हम एक साम्राज्य से लड़ाई लड़ने जा रहे हैं, और हमारी लड़ाई बिलकुल सीधी लड़ाई होगी। इस बारे में आप किसी भ्रम में न रहें। लुक-छिपकर कोई काम न करें। जो लुक-छिपकर काम करते हैं, उन्हें पछताना पड़ता है।"

महात्माजी ने एक भूगोलव्यापी अभिमानी साम्राज्य के साथ बिना शस्त्रास्त्र के युद्ध की यह अद्भुत खुली घोषणा, जिस प्रस्ताव का समर्थन करते हुए की थी, उसमें कहा गया था :

"इस अन्तिम क्षण में विश्व स्वातन्त्र्य का ध्यान रखते हुए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी फिर ब्रिटेन और मित्र राष्ट्रों से अपील करना चाहती है। परन्तु वह यह भी अनुभव करती है कि उसे अब राष्ट्र को एक ऐसी साम्राज्यवादी सरकार के विरुद्ध अपनी इच्छा प्रदर्शित करने से रोकने का कोई अधिकार नहीं है, जो उस पर आधिपत्य जमाती है, और जो उसे अपने तथा मानव-समाज के हित का ध्यान रखते हुए काम करने से रोकती है। अतः यह कमेटी भारत के स्वाधीनता के अटल अधिकार का समर्थन करने के उद्देश्य से अहिंसात्मक प्रणाली से और देशव्यापी पैमाने पर विशाल संघर्ष चालू करने की स्वीकृति देने का निश्चय करती है, जिससे देश में गत २२ वर्षों के शान्तिपूर्ण संग्राम में संचित की गई समस्त अहिंसात्मक शक्ति का उपयोग हो सके। यह संग्राम गान्धीजी के नेतृत्व में होगा। यह कमेटी उनसे, प्रस्तावित कार्रवाइयों में राष्ट्र, का नेतृत्व करने की प्रार्थना करती है।"

यह था कांग्रेस कमेटी का सर्वसम्मत प्रस्ताव, जिसे स्वीकार करते हुए महात्माजी ने अंग्रेजों को बलपूर्वक चेतावनी दे दी थी कि या तो इच्छापूर्वक भारत का शासन भारतवासियों के हाथों में सौंपकर यहां से चले जाओ, अन्यथा तुम्हें सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र की उमड़ती हुई शक्ति का सामना करना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में अंग्रेजों को भारत छोड़ जाने का आदेश था। इसी कारण यह 'भारत छोड़ो प्रस्ताव (Quit India Resolution)' कहलाया। भारतवासियों के लिए महात्माजी का सन्देश था—'करो या मरो (Do or Die)' या तो स्वाधीनता प्राप्त कर लो, अथवा मर जाओ। यह सन्देश महात्माजी ने ८ अगस्त को रात के १० बजे बम्बई के ग्वालिया टैंक के मैदान में अपने देशवासियों को दिया था। ९ अगस्त को प्रातःकाल पौ फटने से पहले ही वह सन्देश देश के कोने-कोने में गूंज गया।

: ६६ :

१९४२ की राज्य-क्रान्ति

८ अगस्त को रात के १०॥ बजे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का ऐतिहासिक अधिवेशन समाप्त हुआ। सब लोग ग्वालिया टैंक से अपने-अपने ठिकानों पर पहुंचे तो लगभग आधी रात व्यतीत हो चुकी थी। चारपाइयों पर लेटते-लेटते लगभग दो बज गए। यह अफवाह तो कई दिनों से उड़ रही थी कि यदि कोई ऐसा

प्रस्ताव स्वीकार किया गया, जो सरकार को अप्रिय हुआ तो नेता शीघ्र ही गिरफ्तार कर लिये जायंगे; परन्तु यह अनुमान नहीं था कि सरकार इतनी जल्दी गिरफ्तारियां करेगी। अभी प्रभात के पांच भी नहीं बजे थे, कि बिड़ला हाउस को, जिसमें गान्धीजी ठहरे हुए थे, पुलिस ने घेर लिया। दरवाजा खुलने में जरा देर हुई तो पुलिस के सिपाही दीवारें कूद-फांदकर अन्दर पहुंच गए, और महात्माजी के निवास-स्थान पर घेरा डाल दिया। तब तक गान्धीजी उठकर बकरी के दूध और सन्तरे के रस का नाश्ता कर चुके थे। इतने में पुलिस पहुंच गई। महात्माजी तो तैयार ही थे। उन्होंने 'वैष्णवजन तो तेने कहिए जे पीड़ पराई जाणे रे' तथा अपने कुछ अन्य प्यारे भजनों का श्रवण किया और पुलिस के साथ चल दिये।

कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना आजाद ने अहमदनगर के किले में पहुंचकर अपनी जेल-यात्रा का जो वृत्तान्त लिखा था उससे प्रतीत होता है कि वह भी लगभग ५ बजे गिरफ्तार किये गए। गिरफ्तारियों से कुछ समय पूर्व ही सारे शहर के टेलीफोन बेकार कर दिये गए थे, ताकि हंगामा न हो। जब पं० गोविन्दवल्लभ पन्त के ठिकाने पर पुलिस पहुंची, तो उन्होंने बिस्तर पर से कहला भेजा कि मैं अभी आराम करना चाहता हूं; कुछ समय तक मुझे परेशान न किया जाय। उन्हें छोड़कर शेष सब नेता लारियों द्वारा विक्टोरिया टर्मिनस स्टेशन पर पहुंचा दिये गए जहां उन्हें दक्षिण की ओर जानेवाली गाड़ी तैयार मिली। ७ बजते-बजते गाड़ी स्टेशन से चल दी। गाड़ी लगभग ४ घण्टों में पूना पहुंची। गान्धीजी, श्रीमती सरोजनीदेवी, मीराबहन और श्री महादेव देसाई उससे पहले ही एक छोटे-से किंचवद स्टेशन पर उतार लिये गए थे। वहां से वे यरवदा जेल में पहुंचा दिये गए। पं० जवाहरलाल नेहरू, मौलाना आजाद आदि नेताओं को अहमदनगर ले जाकर वहां के पुराने किले में बन्द कर दिया गया।

इस प्रकार यद्यपि युद्ध की घोषणा भारतवर्ष की ओर से की गई थी, पर पहला आक्रमण ब्रिटेन ने किया। जब ९ अगस्त के प्रातःकाल सूर्योदय हुआ, तब भारत की स्वाधीनता के लिए लड़ी जानेवाली दूसरी राज्य-क्रान्ति का प्रारम्भ हो चुका था। मुख्य सेनापति बन्दी बन चुके थे, परन्तु देश की जनता ब्रिटेन के आक्रमण का उत्तर देने के लिए मैदान में उतर आई थी।

९ अगस्त १९४२ के प्रातःकाल भारत के वक्षस्थल पर जो व्यापक संघर्ष आरम्भ हुआ, उसे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने अपने दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं। महात्माजी ने ८ अगस्त से पूर्व ही आनेवाले संघर्ष को 'खुला विद्रोह' का नाम दे दिया था। सरकार उस संघर्ष को दंगा-फिसाद, मार-काट और तोड़-फोड़ आदि नामों से निर्दिष्ट करना अधिक उपयुक्त समझती थी। परन्तु इतिहास का विद्यार्थी उसके रूप तथा परिणाम पर विचार करने के अनन्तर उसे एक ही नाम दे सकता है, और वह है देश-भर में 'व्यापक राज्य-क्रान्ति'। १८५७ के बाद यह दूसरा अवसर था जब क्रान्ति के भूकम्प ने देश के अंग-प्रत्यंग को प्रकम्पित कर दिया। क्रिया और प्रतिक्रिया भी दोनों क्रान्तियों में एक ही हुई। समानताओं पर दृष्टि

डालें तो आश्चर्य होता है। पहली समानता यह थी कि अंग्रेजी सरकार की स्वार्थ-पूर्ण नीति के कई वर्षों के अनुभव ने भारतवासियों के हृदयों को निराश और विक्षुब्ध करके विप्लव के लिए तैयार कर दिया था।

दूसरी स्पष्ट समानता यह दिखाई देती है कि आक्रमण द्वारा युद्ध में पहले सरकार ने की। ५७ की क्रान्ति में मेरठ के सिपाहियों से हथियार छीनने की मूर्खता करके सरकार ने बारूद के ढेर में चिनगारी फेंकी थी, तो ४२ की क्रान्ति में ब्राह्ममुहूर्त में सोये हुए नेताओं को गिरफ्तार करके मानो देश-भर को ठोकर मारकर जगा दिया गया और कहा गया कि "हे लम्बी नींद के सोनेवालो, उठो, तुम्हारे जागरण का समय आ गया।"

जनता का उत्थान, और उसके उत्तर में अंग्रेजों के अमानुषीय अत्याचार, क्रान्ति का विस्तार और सरकार की घबराहट यह सब-कुछ फिर से दुहराया गया। अन्त में परिणाम भी लगभग एक-से हुए। ५७ की क्रान्ति ने कम्पनी के शासन का अन्त कर दिया था तो ४२ की क्रान्ति ने अंग्रेजी ताज के शासन की समाप्ति कर दी।

लेकिन दोनों क्रान्तियों में भिन्नता भी कम नहीं थी। १९४२ में देश की जनता राजनीतिक दृष्टि से जागृत हो चुकी थी, क्रान्तिकारियों के सामने देश की स्वाधीनता के रूप में एक निश्चित लक्ष्य था, लगभग दो सदियों तक एक सत्ता के नीचे रहने के कारण स्वाधीन होने की अभिलाषा हिमाचल से कन्याकुमारी तक और अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तक व्याप्त हो चुकी थी, और सब से बड़ी बात यह थी कि कमान एक ऐसे नेता के हाथ में थी जो विशुद्ध सोना था, जिसका नाम और मान केवल देश में ही नहीं, वरन् विदेशों में भी विख्यात था, जो जनता को जानता था, जिसे जनता जानती थी, और जिसके पास अनुशासन में रहकर लड़नेवाले सैकड़ों वीर सेनानी विद्यमान थे। इन समानताओं और भिन्नताओं के साथ ९ अगस्त के दिन राज्य-क्रान्ति का जो युद्ध आरम्भ हुआ, और लगभग ३ वर्षों तक चला, उसकी मुख्य-मुख्य घटनाओं का ही वर्णन इस ग्रन्थ में किया जा सकता है।

: ६७ :

खुला विद्रोह

महात्मा गान्धी ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव को उपस्थित करते हुए यह स्वीकार कर लिया था कि यदि अंग्रेजी सरकार ने हमारी मांग को पूरा न किया तो जो सत्याग्रह किया जायगा, वह खुला विद्रोह होगा। उस खुले विद्रोह को रोकने के लिए सरकार ने आक्रमण करने में पहल की। महात्माजी सुलह की शर्तें वायसराय के सामने रखते इससे पहले ही सरकार ने उन्हें और अन्य नेताओं को कारावद्ध कर दिया।

परिणाम क्या हुआ ? खुले विद्रोह का रुकना तो एक ओर रहा, गान्धीजी के स्वतंत्र रहने की दशा में सम्भवतः जो आन्दोलन शान्तिमय होता, वह प्रारम्भ से ही विस्फोटक हो गया। देश के एक छोर से दूसरे छोर तक विप्लव-सा छा गया।

प्रारम्भ बम्बई में हुआ। ८ अगस्त को ही यह घोषणा हो चुकी थी कि ९ अगस्त के प्रातःकाल ग्वालिया टैंक के मैदान में राष्ट्रीय झण्डे की सलामी दी जायगी। जनता को यह भी सूचना दी गई थी, कि उस अवसर पर बम्बई में उपस्थित नेता लोग भी सम्मिलित होंगे। प्रातःकाल उठते ही जनता ने नेताओं की गिरफ्तारी का समाचार सुना, फिर भी सब लोग ग्वालिया टैंक की ओर चल पड़े। वहां पहुंचे तो मालूम हुआ कि सारे मैदान पर पुलिस ने कब्जा कर लिया है। पुलिस की पर्वाह न करके जनता निर्भय और निःशंक समारोह के स्थान पर एकत्र हो गई, इतने में एक मोटर आई, जिसमें श्री भूलाभाई देसाई के सुपुत्र थे।

उन्होंने आते ही राष्ट्रीय झण्डा अपने हाथ में ले लिया। पुलिस पहले से उद्यत थी। एक यूरोपियन सार्जेण्ट ने आगे बढ़कर ऊंचे स्वर से कहा—"इस मैदान पर अब पुलिस और मिलिटरी का कब्जा है—इस कारण तुम सब लोग यहां से हट जाओ अन्यथा अश्रुगैस का प्रयोग किया जायगा।" समारोह की संचालिका श्रीमती अरुणा आसिफ अली थीं। उन्होंने छोटे लड़कों और लड़कियों को वहां से दूर हटा दिया, और स्वयं भाषण देना आरम्भ कर दिया। इस पर पुलिस के सिपाही अश्रुगैस के थैले लेकर सभास्थान पर पहुंच गए। अफसर ने एक बार फिर सभा को विसर्जित करने की आज्ञा दी, परन्तु जब उसका कोई फल न हुआ तो अश्रुगैस छोड़ने की आज्ञा दे दी गई।

उपस्थित जनता को नेता की ओर से पहले चेतावनी दे दी गई थी कि अश्रुगैस छूटने पर भूमि पर लेट जाना चाहिए। लोगों ने वैसा ही किया। दो मिनट तक नीचे लेटे रहे। परन्तु जब उठकर खड़े हुए तब अश्रुगैस फिर छोड़ी गई। लोग फिर लेट गए, इस पर पुलिस के सिपाही लाठियां तानकर जनता पर पिल पड़े। बहुत-से स्वयंसेवक और स्वयंसेविकाएं, जिनमें श्रीमती मृदुला साराभाई भी सम्मिलित थीं, लाठियों से घायल हो गए।

इस समाचार से आन-की-आन में शहर के बाजार बन्द हो गए। केवल बाजार ही बन्द नहीं हुए, कल-कारखानों का काम भी ठप हो गया। कुछ समय तक ट्राम तथा बस का चलना जारी रहा। जनता इससे बहुत विक्षुब्ध हो गई और बल-प्रयोग करके वाहनों को रोकने लगी। इसी खींचातानी में कई बसें जला दी गईं, और ट्राम के डिब्बों को भी हानि पहुंचाई गई। भड़की हुई भीड़ ने तार और टेलीफोन के खम्भों और तारों पर भी गुस्सा निकाला। दिन के १० बजते-बजते सारा बम्बई शहर खुले विद्रोह का अखाड़ा बन गया।

दोपहर होते-होते पुलिस गोलियों पर उतर आई। दिन के दो बजे प्रार्थना समाज के समीप उस दिन का पहला बलिदान हुआ। एक नौजवान पुलिस की गोली

का शिकार हो गया। उसके पश्चात् तो मानो बलिदानों की बाढ़-सी आ गई। डा० जीवराज मेहता ने अपने एक बयान में बतलाया था कि एक छोटा बच्चा, जो भीड़ में नहीं था, दूर खड़ा होकर 'महात्मा गान्धी की जय' बोल रहा था, गोली का निशाना बना दिया गया। लोग अपने घरों से घसीट-घसीटकर बाहर निकाले गए, और उन्हें लाठियों से घायल करके सड़कों पर डाल दिया गया। दिन-भर निहत्थी जनता और सशस्त्र पुलिस का यह संघर्ष जारी रहा। जब दूसरे दिन प्रातःकाल के समय सूर्योदय हुआ, तब पूरा नगर विद्रोह का रणक्षेत्र बना हुआ था।

बम्बई में घटनाचक्र जैसे चला, अन्य स्थानों पर भी थोड़े-बहुत अन्तर से उसी की पुनरावृत्ति हुई। दिल्ली का एक दृश्य इस पुस्तक के लेखक ने स्वयं आंखों से देखा था, जो अपने ढंग का एक ही था। प्रातःकाल ५ बजे के लगभग समाचार-पत्रों ने शहर-भर में यह समाचार फैला दिया कि बम्बई में नेता लोग पकड़ लिये गए हैं। अनायास ही शहर-भर में यह ध्वनि गूंज गई कि 'आज हड़ताल होगी।' फलतः समय पर बाजार न खुले, परन्तु स्कूल खुल गए। इस पर लाहौरी दरवाजे के पास एक म्युनिसिपल स्कूल के कुछ लड़कों ने निश्चय किया कि स्कूल बन्द कराने का प्रयत्न करना चाहिए। कोई दस-बारह लड़के इकट्ठे होकर नये बाजार में घूमते हुए हड़ताल की घोषणा करने लगे। एक जत्था बोलता, "आज क्या होगा?" दूसरा उत्तर देता, "आज हड़ताल होगी।" जुलूस तो बन गया, परन्तु उसके पास कोई झण्डा नहीं था। सामने एक समाचारपत्र का कार्यालय था। वहां राष्ट्रीय झण्डा लगा हुआ था। दो लड़के कार्यालय में जाकर झण्डा मांग लाये, और तत्काल जुलूस बनाकर उसी बाजार में चक्कर लगाने लगे। झण्डे का आकर्षण ऐसा तीव्र था कि लगभग १५ मिनट में उस जुलूस ने लगभग एक सहस्र व्यक्तियों को खींच लिया। पास ही रेलवे के क्लियरिंग आफिस की छहमंजली इमारत थी। उन दिनों वह इमारत दिल्ली में सबसे ऊंची समझी जाती थी। जुलूस ने उसके सामने पहुंचकर हड़ताल का नारा लगा दिया। दो-चार लड़के अन्दर घुस गए, और अफसर को तलाश करने लगे। मालूम हुआ, कि बड़ा अंग्रेज अफसर तो शोर-शराबा सुनकर पहले ही रफूचक्कर हो गया था, जिम्मेदारी बेचारे हिन्दुस्तानी असिस्टेण्ट पर पड़ गई। वह जुलूस के नेताओं की अनुमति लेकर कांपते हुए पैरों से समाचारपत्र के कार्यालय में पहुंचा और बड़े अफसरों से किंकर्तव्यता के बारे में परामर्श करने लगा। अफसरों ने कोई निश्चित उत्तर न देकर सारा उत्तरदायित्व पूछनेवाले पर ही डाल दिया। वह बेचारा क्या करता। लाचार होकर दफ्तर बन्द करने की बात सोच ही रहा था कि कुछ लोगों ने किसी पास की दूकान से मिट्टी के तेल का कनस्तर लाकर इमारत की सबसे निचली मंजिल में रख दिया और उसमें आग लगा दी। फिर क्या था? कागजों का दफ्तर, निचली मंजिल में आग और पश्चिम की हवा—वह छहमंजिला मकान बारूद के ढेर की तरह जल उठा। आग की लपटें इतनी ऊंची उठीं कि सचमुच बादलों को छूती प्रतीत होती थीं। आग लगने के एक घण्टे बाद आग बुझाने की कल आई, परन्तु बिलकुल बेकार। फलतः

अंग्रेजी सरकार का वह कार्यालय सूखे घास के ढेर की तरह जलकर राख हो गया। इस अग्निकाण्ड में एक पुलिस का सब-इन्स्पेक्टर भी आ फंसा था। उसने जनता को डराने के लिए रिवाल्वर चला दिया। गोली से एक व्यक्ति घायल भी हो गया। इस पर लोग भड़क उठे और उस सब-इन्स्पेक्टर को ईंट, पत्थर या ठोकर, जो कुछ भी मिला, उसी से मार-मारकर समाप्त कर दिया।

ये दो उदाहरण यह दिखाने के लिए दिये गए हैं कि अगले वर्षों में देश-भर में जो उत्तेजनात्मक घटनाएं हुईं, वे किसी पूर्व निश्चित योजना का परिणाम नहीं थीं, अपितु स्वाधीनता के लिए उतावली, और प्रतीक्षा से थकी हुई जनता पर सरकार की ओर से जो आतंकजनक प्रयोग किये गए, उनसे उत्पन्न हुई थीं। उन घटनाओं में तोड़-फोड़ का जो भाग था, वह सरकार के अदूरदर्शितापूर्ण आक्रमणों का ही परिणाम था।

९ अगस्त को प्राय: सभी बड़े नगरों में खुले विद्रोह का श्रीगणेश हो गया था। गुजरात के अहमदाबाद खेड़ा, सूरत आदि इलाकों में भी आग पहुंचने में विलम्ब न हुई। विद्रोह की पहली निशानी बाजार की हड़ताल थी। दूसरा चिह्न था, स्कूलों-कालिजों की हड़ताल, और छात्रों का आन्दोलन के लिए खड़े हो जाना। झण्डों का प्रदर्शन, जुलूस आदि आयोजन दोनों प्रकार की हड़तालों के अवान्तर परन्तु आवश्यक परिणाम होते थे। क्रोध में भरी हुई सरकार इन शान्तिपूर्ण प्रदर्शनों को अश्रुगैस, लाठी और गोली से दबाने का यत्न करती थी। हिंसा और आतंकवाद के सरकारी प्रयोगों से जनता में जो प्रतिक्रिया उत्पन्न होती थी, वह विविध रूपों में प्रकट होती थी। वह १९४२ के खुले विद्रोह का हिंसात्मक और विस्फोटक रूप था। शान्ति के प्रचारक नेता लोग जेलों में बन्द कर दिये गए थे। सरकार जनता की सोई हुई हिंसात्मक प्रवृत्तियों को बार-बार उकसाती थी। फलत: शीघ्र ही ४२ का आन्दोलन देशव्यापी, खुली और सर्वतोमुखी राज्य-क्रान्ति के रूप में परिणत हो गया।

प्रान्तों में उग्र क्रान्ति न्यूनाधिक और भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट हुई। संयुक्त प्रान्त में उसने यातायात के साधनों के तोड़-फोड़ का रूप धारण किया। अनेक स्थानों पर तार काट दिये गए। बी० बी० सी० आई० आदि रेलवे की लाइनों को बिगाड़कर कई जगह गाड़ियों को पटरी से उतारने का यत्न किया गया। डाकखाने के लेटर-बक्सों में तेजाब अथवा आग डालकर सरकार के डाक-महकमे को हानि पहुंचाने का यत्न तो अनेक प्रान्तों में हुआ। रेल द्वारा सरकारी अफसरों तथा पुलिस और मिलिटरी के सिपाहियों का आवागमन अधिक होता था इस कारण उत्तेजित जनता का क्रोध रेलवे के प्रति अधिक तीव्रता से प्रकट हुआ। न केवल रेलवे लाइनें बिगाड़ी गईं, कई स्टेशन भी जला दिये गए। दिल्ली और हुबली के समीप स्टेशनों को लूटने और जलाने की अनेक रोमांचकारी घटनाएं ऐसी हुई जिनके होने की सरकार को स्वप्न में भी आशंका नहीं थी।

सरकार के अत्याचारों से क्रान्ति का रूप अधिकाधिक उग्र होता गया।

बलिया और बिहार में तो उसने खुले आक्रमणात्मक विद्रोह का रूप धारण कर लिया था।

बम्बई की गिरफ्तारियों की प्रतिक्रिया अन्य नगरों की तरह बलिया में भी हड़ताल से आरम्भ हुई। १० अगस्त को पूरी हड़ताल मनाई गई। यहां तक कि कचहरियां भी बन्द कर देनी पड़ीं। ११ अगस्त को जनता का एक विराट जुलूस शहर से कचहरी की ओर जा रहा था तो सिटी मजिस्ट्रेट ने उसे सशस्त्र सिपाहियों के साथ पहुंचकर रास्ते में रोक दिया। जुलूस ने रुकने से इनकार कर दिया। इस पर पुलिस ने लाठी चला दी। बहुत-से लोग, जिनमें छात्रों की संख्या अधिक थी, घायल हो गए। कुछ गिरफ्तारियां भी हुईं, परन्तु जुलूस का आगे बढ़ना न रुका। पुलिस रात तक गिरफ्तारियां करती रही। १२ अगस्त को शहर में फिर पूरी हड़ताल रही, और उसके साथ ही तार काटने, रेल की पटरी उखाड़ने, पुल तोड़ने और यातायात के साधनों को नष्ट करने का विनाशात्मक कार्य आरम्भ हो गया।

इन सब घटनाओं का परिणाम यह हुआ कि बाजार ६ दिनों तक बन्द रहा। लोगों को कष्ट होने लगा। यह देखकर यह घोषणा कर दी गई कि अगले रविवार को बाजार खोला जायगा। सूचना के अनुसार उस दिन पूरा बाजार खुल गया और खरीदारी होने लगी। यह बात स्थानीय अधिकारियों को सह्य न हुई। पुलिस लारियों में भरकर बाजार-भर में फैल गई, और नियंत्रण रखने के बहाने गोलियां चलाने लगी। सैकड़ों व्यक्ति घायल हो गए और आधा दर्जन के लगभग मर गए।

इस दानवी-काण्ड से जिले-भर में इतना घोर विक्षोभ फैल गया कि जनता को ब्रिटिश शासन असह्य प्रतीत होने लगा। एक सप्ताह के अन्दर उत्तेजित जनता ने सहनवार, नरवर, सिकन्दरपुर, गढ़वर, हलधर आदि के थानों पर अधिकार कर लिया। वहां के अधिकतर सिपाही तो भाग निकले, जिन्होंने प्रतिरोध किया उन्हें मार-पीटकर अलग कर दिया गया। बांसडीह और रसड़ा में न केवल तहसीलों पर ही अधिकार कर लिया गया, वहां का खजाना भी क्रान्तिकारियों के हाथ आ गया। रसड़ा में यह विशेषता रही कि जब क्रान्तिकारी तहसील पर अधिकार करके राष्ट्रीय झण्डा फहरा रहे थे तब उन्हें सिपाहियों ने चारों ओर से घेर लिया, और दनादन गोलियां छोड़कर दूसरे जलियांवाला बाग का दृश्य उपस्थित कर दिया। इस हत्याकाण्ड से शासन की सत्ता कायम होने के स्थान पर और भी अधिक निर्बल हो गई। सरकार ने अपने बयानों में स्वीकार किया है कि १८ और १९ अगस्त को बलिया जिले की बागडोर सरकार के हाथ से लगभग निकल चुकी थी।

बिहार की घटनाएं भी कम रोमांचक नहीं थीं। सेंट्रल असेम्बली में विद्रोह का विवरण सुनाते हुए होम मेम्बर ने बिहार के सम्बन्ध में कहा था—"इन क्षेत्रों में तुरन्त ही यह आग बड़े शहरों से सुदूरवर्ती ग्रामों में पहुंच गई। हजारों उपद्रवकारी आने-जाने के साधनों और दूसरी सरकारी सम्पत्तियों के नाश में जुट गए। रक्षा करनेवाले सरकारी अधिकारियों और पुलिस के छोटे-छोटे दलों के साथ

जिलों के जिले कई दिनों तक प्रान्त के अन्य केन्द्रों से अलग हो गए थे। इस क्षेत्र में रेल का बहुत-सा हिस्सा बेकार कर दिया गया था। और यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं कि पर्याप्त समय तक बंगाल का उत्तरी भारत से सम्बन्ध-विच्छेद-सा हो गया था। लगभग २५० रेलवे स्टेशन बर्बाद कर दिये गए, जिनमें से १८० केवल विहार और संयुक्त प्रान्त के पूर्वी हिस्सों में अवस्थित थे।"

पटना, शाहाबाद, मुंगेर आदि शहरों और उन जिलों के देहातों में क्रान्ति की ज्वाला इस जोर से प्रज्वलित हो उठी थी, कि सरकार को उसे दवाने के लिए हवाई जहाजों से बमवर्षा करनी पड़ी। जो कुछ बलिया में हुआ, बिहार के कई शहरों और ग्रामों में उसकी पुनरावृत्ति की गई।

बंगाल, मध्यप्रदेश आदि मध्यवर्ती और आसाम, पंजाब आदि सीमावर्ती प्रदेशों में समान रूप में विद्रोह की ज्वालाएं प्रचण्ड हुई और १९४३ का वर्ष समाप्त होने से पूर्व सारा देश एक धधकता ज्वालामुखी बन गया।

इस वार के आन्दोलन में पहले से ही एक विशेष प्रवृत्ति ने प्रवेश कर लिया था। वह प्रवृत्ति थी, अण्डर-ग्राउण्ड जाने की। जो नेता तथा मशहूर कार्यकर्ता गिरफ्तारी से बच गए वे छिपकर काम करने लगे। देश-भर में सैकड़ों ऐसे नेता और कार्यकर्ता पर्दे के पीछे से विद्रोह का संचालन करते रहे। उन लोगों का जीवन कितना संकटमय था, इसकी कल्पना केवल वही कर सकते हैं, जिन्होंने उस भयंकर समय का थोड़ा-बहुत अनुभव किया हो। वे लोग जान हथेली पर लेकर घूमते थे। एक घर में एक रात से अधिक रहना खतरे से भरा हुआ होता था। जिस भलेमानस के घर में वे गुप्त रूप से रहते थे, उसके लिए भी कुछ कम संकट नहीं होता था। कुछ नौजवान थे, जो उन गुप्त नेताओं और खुले क्रान्तिकारियों के बीच सन्देश-वाहक का कार्य करते थे। पुलिस के दूत उनके पीछे छाया की तरह लगे रहते थे। तो भी महीनों तक पुलिस के हाथ कुछ नहीं लगता था—यह सचमुच आश्चर्य की बात थी।

यहां स्वयं अपने अनुभव में आई हुई घटनाओं का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। लेखक को भी अनेक बार अपने घर में दो-दो दिन तक गुप्त नेताओं को छुपाने का अवसर प्राप्त हुआ था। उस समय एक बात देखी गई। खुफिया पुलिस के सिपाही अपने शिकार को ढूंढ़ने प्रायः उस दिन आते थे, जिस दिन वह उड़ चुका होता था। तब हमारे मन में यह विचार उठता था, और अब भी उठता है कि शायद खुफिया पुलिस के जवानों के हृदय भी हमारे साथ थे। वे खानापूरी तो कर देते थे, परन्तु राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को पकड़ने से उनकी अन्तरात्मा घबराती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि पुलिस के अन्वेषण विभाग की छिपी सहानुभूति न रहती तो कांग्रेस के इतने बहुसंख्यक कार्यकर्ता इतने लम्बे समय तक गुप्त रहकर विद्रोह का संचालन न कर पाते।

दो उदाहरण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्री जयप्रकाश नारायण ४२ का आन्दोलन आरम्भ होने के समय हजारीबाग सेण्ट्रल जेल में नजरबन्द थे।

जब तक आन्दोलन ने उग्र रूप नहीं धारण किया, जयप्रकाशजी चुपचाप जेल में पड़े रहे; परन्तु जब देश का वातावरण हिंसाक्रान्त हो गया, और सरकार की ओर से खुलेबन्दों आतंक का प्रयोग होने लगा, तब जयप्रकाशजी से बन्द होकर न रहा गया, ओर ११ नवम्बर १९४२ को दीवाली की रात्रि के अन्धकार में कुछ मित्रों की सहायता से वह पांच अन्य साथियों के साथ जेल की दीवार फांदकर भाग निकले। बाहर पहले से ही मोटर की व्यवस्था विद्यमान थी। मोटर से और फिर पैदल रांची, गया आदि होते हुए जयप्रकाशजी बम्बई पहुंच गए, और अन्य समाजवादी नेताओं से मिलकर काम करने लगे। १९४३ के मई मास में नैपाल की तराई में राष्ट्रीय सेना तैयार करते हुए वे और उनके कई साथी पकड़े जाकर जेल में बन्द कर दिये गए, परन्तु साथियों ने उन्हें वहां भी देर तक न रहने दिया। रात के समय बहुत-से नवयुवकों ने जेल पर चारों ओर से आक्रमण कर दिया, जेल का फाटक तोड़ डाला गया, और जयप्रकाशजी अपने साथियों के साथ बाहर हो गए। उस समय श्री राममनोहर लोहिया भी उनके साथ थे।

इस प्रकार लगभग दो वर्ष तक वीर जयप्रकाश ने सरकार की सारी शक्ति को अंगूठा दिखाकर क्रान्ति के संचालन में भाग लिया। इस भाग-दौड़ में उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया। तब मित्रों की सलाह से काश्मीर जाकर कुछ समय तक आराम करने का निश्चय करके वह पंजाब जा पहुंचे जहां शारीरिक निर्बलता की दशा में पहिचान लिये गए और जेल के निवासी बना दिये गए।

दूसरा दृष्टान्त श्रीमती अरुणा आसफ अली का है। ९ अगस्त की गिरफ्तारियों के बाद ग्वालिया टैंक के मैदान में ध्वजारोहण का जो काण्ड हुआ था, उसका वृत्तान्त हम लिख आये हैं। उस प्रदर्शन की मुख्य नेत्री श्रीमती अरुणा आसफ अली थीं। जब धर-पकड़ आरम्भ हुई तो पुलिस अरुणाजी को तलाश करने लगी। चारों ओर ढूंढ़ने पर भी वे कहीं न मिलीं। उस समय से जो वह गुम हुईं तो फिर आन्दोलन के अन्त तक सरकार के हाथ न आईं। उनकी प्रतिभा और फुर्तीलेपन के सामने खुफिया पुलिस के सिपाही मात खाकर रह गए। वह पुलिस के हाथ से कैसे बचती रहीं इसके दो दृष्टान्त पर्याप्त होंगे।

सरकार ने उनके पकड़ानेवालों को ५०००) रु० का इनाम देने की घोषणा कर रखी थी। एक बार अरुणाजी को सन्देह हो गया कि पुलिस को उनके ठिकाने का पता चल गया है। निश्चय किया गया कि एकदम स्थान बदल दिया जाय। उस दिन के समाचारपत्र में एक विज्ञापन था कि एक अंग्रेज परिवार किसी योरोपियन अतिथि को किराये पर रखने को तैयार है। अरुणाजी टैक्सी लेकर तुरन्त उस मकान पर पहुंच गईं, ओर उस अंग्रेज महिला के सामने स्पष्टता से अपना परिचय दे दिया। अरुणाजी के व्यक्तित्व का जादू चल गया। अंग्रेज परिवार ने काफी समय तक एक विद्रोहिणी महिला को अंग्रेज महिला के स्थान पर अपने घर पर रखने में गौरव का अनुभव किया।

दूसरी घटना भी कुछ कम साहसिकतापूर्ण नहीं। अरुणाजी बहुत रोगी हो

गई थीं और एक हितैषी के घर पर इलाज कराने के लिए ठहरी हुई थीं। हितैषी के एक मित्र थे, जो सरकार के ऊंचे अधिकारी थे। अकस्मात् वह मित्र से मिलने आ गए, और सीधे वहीं पहुंच गए जहां अरुणाजी विद्यमान थीं। अधिकारी अरुणाजी को पहिचानता था। परिस्थिति से घर का स्वामी और अधिकारी दोनों ही स्तब्ध रह गए, परन्तु अरुणाजी जरा भी नहीं घबराईं। उन्होंने अधिकारी का उसी तपाक से स्वागत किया, जैसे दिल्ली के अपने मकान में करती थीं। मुस्कराती हुई उठीं, कुर्सी पेश की, और कुशल-क्षेम पूछने की रस्म अदा की। तब तो अधिकारी की भी स्तब्धता जाती रही, और दोनों में देश की परिस्थिति के बारे में देर तक बातें होती रहीं। अन्त में अधिकारी महोदय स्वागत के लिए धन्यवाद देकर चले गए। इस सारी घटना पर एक मित्र से उन्होंने केवल इतनी ही टिप्पणी की बतलाते हैं कि "मुझे आज जिन्दा इतिहास देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।"

सन् बयालीस की क्रान्ति में जनता की ओर से जो तोड़फोड़ के कार्य किये गए उनके सम्बन्ध में सरकार के बयान का सारांश निम्नलिखित है—

२५० रेलवे स्टेशन नष्ट किये गए या बिगाड़े गए। ५०० डाकखानों पर आक्रमण हुए, जिनमें ५० जला दिये गए, और २०० को हानि पहुंची। बिहार और संयुक्त प्रान्त के उत्तरीय भाग में रेलवे का यातायात बहुत-कुछ रुक गया था। तारों के कट जाने से टेलीग्राम पत्रों से भी अधिक देर में पहुंचते थे। पुलिस की १५० चौकियों पर आक्रमण किये गए, पुलिस के ३० से अधिक सिपाही जान से मारे गए। कुछ अन्य सरकारी आदमी भी जनता के क्षोभ के शिकार हुए।

सरकार की रिपोर्ट थी कि उसी समय में ६० हजार आदमी गिरफ्तार किये गए, १८ हजार आदमी बिना अभियोग चलाये नजरबन्द किये गए, पुलिस-फौज की गोलियों तथा डंडों से १६३० आदमी घायल हुए, जिनमें से ९४० मर गए।

यह बात निर्विवाद रूप से मानी जा सकती है कि सरकार के बयान में मृत नागरिकों की संख्या न्यून-से-न्यून और मृत सरकारी नौकरों की संख्या अधिक-से-अधिक दिखाने की प्रवृत्ति अवश्यम्भावी है।

: ६८ :

सरकार की खूनी प्रतिक्रिया

क्रिप्स के वापिस जाने के पश्चात् इंग्लैण्ड के राजनीतिक नेता खुलकर खेलने लगे। प्राइम मिनिस्टर चर्चिल ने घोषणा कर दी कि "मैं ब्रिटिश साम्राज्य को दीवालिया बनाने के लिए प्रधानमन्त्री नहीं बना।" भारत सचिव एमरी ने कांग्रेस की कार्यसमिति के वर्धा प्रस्ताव पर टिप्पणी करते हुए संसार-भर को सूचना दे दी कि "जब तक कांग्रेस अपना प्रस्ताव वापिस नहीं लेती और उसके पास करने

पर खेद प्रकट नहीं करती तब तक सरकार कांग्रेस के साथ कोई समझौता नहीं कर सकती।" इधर वायसराय ने बिलकुल मौन साधा हुआ था। उसका कारण यह था कि भारत सरकार पहले से ही कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन का सिर कुचलने के लिए मुग्दर तैयार कर रही थी। महात्माजी ने ६ अगस्त ४२ को सरकार की जो गोपनीय गश्ती चिट्ठियां प्रकाशित की थीं उनमें एक के लेखक भारत सरकार के इन्फार्मेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग विभाग के सेक्रेटरी मि० पकल थे, और दूसरी के नीचे असिस्टेंट सेक्रेटरी रा० सा० डी० सी० दास का नाम था। दोनों में देश-भर के स्थानीय अधिकारियों को जो निर्देश और आदेश दिये गए थे, उनके लक्ष्य थे—कांग्रेस पर से जनता की आस्था को हटाना, लोगों को राजभक्त बनाना और आन्दोलन आरम्भ होने की दशा में उसे असफल बनाने के उपाय बतलाना। इस बार सरकार पहल करने पर तुली हुई थी। ८ अक्तूबर से पहले ही नेताओं के वारंट तैयार हो चुके थे, उनके नजरबन्द करने के स्थान निश्चित किये जा चुके थे, और जनता पर जिन शस्त्रों और अस्त्रों का प्रयोग होनेवाला था, वे झाड़-पोंछ कर सिपाहियों को बांटे जा चुके थे।

अश्रुगैस और लाठियां तो ९ अगस्त के प्रातःकाल ही मैदान में आ गई थीं, गोली और गोलों के आविर्भाव में भी देर न लगी। अगले कुछ महीनों में सरकार की ओर से जिन अकथनीय साधनों का प्रयोग किया गया, यहां उनका पूरा काला चिट्ठा उपस्थित करने का स्थान नहीं है। केवल थोड़ा-सा दिग्दर्शन कराना काफी होगा।

गुजरात के कई देहाती इलाकों में हड़ताल या आन्दोलन-सम्बन्धी अन्य कार्रवाइयों पर दण्ड देने के लिए सामूहिक जुर्माने का प्रयोग किया गया। उसका ढंग यह था कि सूर्योदय से पहले ही सशस्त्र सेना गांव को घेर लेती थी, और वहां कोई आन्दोलनकारी हो या न हो, सब घरों से जुर्माना वसूल करने लगती थी। वसूली के लिए बल-प्रयोग, नीलामी, लूट, गिरफ्तारी आदि सभी उपाय काम में लाये जाते थे।

१९४२ के आन्दोलन में छात्रों ने विशेष भाग लिया। प्रायः सभी विश्वविद्यालयों के छात्र पढ़ाई छोड़कर अपना सारा समय क्रान्ति के प्रचार और व्यावहारिक कार्य में लगाने लगे। उन पर सरकारी अधिकारियों और सिपाहियों की विशेष कृपा रहती थी। कई केन्द्रों से इस प्रकार की रिपोर्टें प्राप्त हुई कि छात्रों को घेरकर सिपाहियों ने उनकी छातियों पर संगीनें रख दीं और तब गोली चलाने का हुक्म हुआ। प्रत्येक बार में कई-कई छात्र धराशायी हो जाते थे। कपड़े उतारकर नंगे बदन पर बेंत लगाना, या घण्टों तक भूखे-प्यासे रखकर सरकारी गवाह बनाना आदि जो पुलिस के दैनिक हथकण्डे समझे जाते थे, उनका प्रयोग तो बेखटके किया ही जाता था।

१९४२ की राज्य-क्रान्ति में महिलाओं ने विशेष भाग लिया। भारत की जिन महिलाओं को अंग्रेज लोग बहुत पिछड़ी हुई असूर्यम्पश्या समझने के आदी हो

चुके थे, उन्हें क्रान्ति के रणक्षेत्र में सामने खड़ा देखकर वे लोग मानो बौखला गए। उनकी सारी वीरता काफूर हो गई। समाचारपत्रों तथा कांग्रेस द्वारा नियुक्त की हुई तहकीकाती कमेटियों द्वारा लगाये गए आरोप इतने अधिक और भयानक थे कि उनका पूरा विवरण देने से एक वीभत्स पुस्तक तैयार हो जायगी। हम यहां उनमें से कुछ ऐसे दृष्टान्तों का ही उल्लेख करेंगे, जिनकी प्रामाणिकता में सन्देह नहीं, और जिनका प्रतिवाद सरकार की ओर से भी नहीं किया गया।

यह मिदनापुर की घटना है। एक जुलूस निकला, जिसका नेतृत्व ७३ वर्ष की वीरांगना श्रीमती मातंगिनी हाजरा कर रही थीं। पुलिस ने रास्ता रोकना चाहा, परन्तु सत्याग्रही लोग आगे बढ़ते गए। इस पर सिपाहियों ने बन्दूकों के मुंह खोल दिये। राष्ट्रीय झण्डा श्रीमती मातंगिनी देवी के हाथ में था। वह उसे लिये हुए आगे बढ़ीं। इस पर एक सिपाही ने उनके हाथों पर जोर से डंडा मारा। हाथ लटक गए, परन्तु झंडा हाथ से नहीं छूटा। सरकार के प्रतिनिधि को भला यह कैसे सह्य हो सकता था! उसने मातंगिनी देवी का निशाना लगाकर गोली चलाई। वीरांगना नीचे गिर गई, तो भी वह झण्डा उनके शरीर से अलग नहीं हुआ। इस पर एक सिपाही आगे बढ़ा और पांव को ठोकर मारकर झंडे को अलग कर दिया।

मिदनापुर में आन्दोलन का कार्य खूब संगठित रूप से किया गया था। वहां के कार्यकर्ताओं ने एक विद्युतवाहिनी नाम की स्वयंसेवक सेना संगठित की थी, जिसके तीन भाग थे: (१) गुरिल्ला विभाग, (२) सेविकाओं का दल (३) शान्ति और कानून विभाग। गुरिल्ला स्वयंसेवक आगे बढ़कर सत्याग्रह करते थे, सेविकाएं मृतकों और घायलों को संभालती थीं; और जहां से सरकार के आदमी चले जाते थे, शान्ति विभाग वहां व्यवस्था कायम रखता था। ऐसे अनेक दृष्टान्त विद्यमान हैं, जिनमें पुलिस ने सेविकाओं को भी डंडों और गोलियों का निशाना बनाया, यद्यपि युद्ध-शास्त्र में रेड-क्रास की स्वयंसेविकाओं पर शस्त्र-प्रहार करना अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के अनुसार अपराध माना जाता है।

मिदनापुर जिले के समाचारों की छानबीन करने से पता चलता है कि वहां ७४ स्त्रियों पर पुलिस के आदमियों द्वारा बलात्कार करने के सम्बन्ध में आरोप लगाये गए। बहुत-सी स्त्रियों ने स्वयं तहकीकाती कमेटी के सामने बयान दिये, जिन्हें पढ़कर रोमांच हो जाता है। पढ़नेवाला आंखें मलकर सोचने लगता है कि कहीं मेरे पढ़ने में तो भूल नहीं, क्योंकि वह २०वीं सदी का मध्य था, और अंग्रेजी सरकार एक सभ्य सरकार समझी जाती थी। बलात्कार के आरोप केवल बंगाल तक ही परिमित नहीं अन्य प्रान्तों में भी इस प्रकार के पैशाचिक काण्डों की घटनाएं घटित हुईं जो छानबीन करने पर सच पायी गई।

आसाम के गोहपुर गांव में २० सितम्बर को जनता का एक जुलूस निकला। उसका नेतृत्व कनकलता नाम की एक कन्या कर रही थी। जुलूस में सहस्रों नर-नारी सम्मिलित थे। जुलूस गांव से होता हुआ थाने के द्वार पर पहुंचा, तो पुलिस के

अफसर ने लोगों को आगे बढ़ने से मना किया। सबसे आगे कनकलता थी, उसने रोकने की पर्वाह न की और आगे बढ़ती गई। इसपर अफसर ने कहा कि आगे बढ़ोगी तो मारी जाओगी। कनकलता ने उत्तर दिया कि "मैं अपना कर्तव्य पूरा करती हूं, तुम अपना करो।" यह कहकर वह थाने में घुस गई। इस पर पुलिस ने गोली चला दी। पहली गोली कनकलता की छाती पर लगी। वह गिर गई। इस पर मुकुन्द नाओती नाम का एक नवयुवक कूदकर आगे आ गया, और जुलूस का अगुआ बन गया। वह भी गोली का शिकार हुआ। तब तो जनता और गोलियों में संघर्ष आरम्भ हो गया। न जाने कितने लोग धराशायी हुए, परन्तु अन्त में उस समय जीत जनता के हाथ में रही। राष्ट्रीय झण्डा थाने की छत पर फहरा ही दिया गया।

उड़ीसा की घटनाएं और भी अधिक रोमांचक हैं। वहां के कोरापुर गांव में पुलिस ने जो कारनामे किये, उनमें यह भी शामिल था कि पुरुषों और स्त्रियों को सर्वथा नंगे करके पेड़ों से टांग दिया गया और उनके कपड़ों में आग लगा दी गई।

गोरखपुर जिले की पुलिस के कारनामे और भी अधिक वीभत्स थे। पुलिस को समाचार मिला कि परसागांव के कुछ लोगों ने विद्रोह में भाग लिया है। बस फिर क्या था, सरकार के दूत विनाश के चारों अस्त्र हाथ में लेकर गांव पर टूट पड़े। तिलक नायक के घर को छोड़कर शेष सब घर लूट लिये गए। घरों में आग लगा दी गई। बहुत-से ग्रामवासियों को बेदर्दी से पीटा गया। अन्त में बचे हुए गांव को लूटने की योजना बनाई गई। लुटेरों की दो टोलियां, पुलिस के थानेदार और नायब तहसीलदार की कमान में गांवों में फैल गई। बीसों घर लूट लिये गए, लोग घरों को छोड़-छोड़कर जंगलों में भाग गए। जो नहीं भागे, उन्हें या तो जेलों में ठूंस दिया गया, अथवा घर से निकालकर बाहर खड़ा कर दिया गया। लोग बन्दूक के कुन्दों और बेतों से पीटे गए। उनके पशु भी लूट लिये गए।

जब आन्दोलन की लहर बनारस में पहुंची तो हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्र सब से पहले मैदान में आये, और उनमें भी लड़कियों ने पहल की। छात्राओं की जिस मण्डली ने बनारस की कचहरी पर राष्ट्रीय झण्डा फहराने का साहस किया था, उनका नेतृत्व कुमारी स्नेहलता, जो एम० ए० की छात्रा थीं, कर रही थीं। सरकार को छात्राओं पर इतना क्रोध आया कि जब फौज विश्वविद्यालय पर कब्जा करने के लिए गई, तो कन्याओं के होस्टल पर सब से कड़ा आक्रमण किया गया। छात्राओं को घसीट-घसीटकर होस्टल से बाहर निकाला गया, और कपड़ा-लत्ता लिये बिना ही सड़कों पर खड़ा कर दिया गया। नगर कांग्रेस कमेटी ने जिले की घटनाओं की तहकीकात के लिए जो कमेटी नियुक्त की थी उसने रिपोर्ट दी कि उन दिनों सिपाहियों ने २३ स्थानों पर गोलियों के २००२ राउंड चलाये, जिनमें १८ व्यक्ति जान से मारे गए, ८५ घायल हुए, और बहुत-से व्यक्तियों को कोड़े लगाये गए।

इस प्रकार की घटनाओं की सूचि इतनी लम्बी है कि उनका पूरा उल्लेख करने के लिए हजार पृष्ठ की पुस्तक भी पर्याप्त न होगी। हम सभ्यता का दम भरनेवाली अंग्रेजों की सरकार के एक और कारनामे का उल्लेख करके महिलाओं के प्रकरण को समाप्त करते हैं। यह घटना कोल्हापुर में हुई। १४ अक्तूबर १९४४ को पुलिस का दारोगा इंगवले चिखावल गांव से काशीबाई हणबर नाम की एक महिला को पकड़ ले गया। उसका पुत्र मल्ला हणबर कुछ समय से लापता था। पुलिस उसकी खोज में थी। पुलिस ने थाने में लाकर काशीबाई से मल्ला का पता पूछा, और उसके यह उत्तर देने पर कि "मुझे मल्ला का कुछ पता नहीं" उसके पति और उसके पुत्र की उपस्थिति में उसे नंगा करके पीटा। पीटने के लिए चमड़े का कोड़ा काम में लाया गया। उतने से भी सन्तुष्ट न होकर पुलिस ने उसके गुप्तांग में मिर्चें भर दीं, जिससे उसके रुधिर जारी हो गया, और गर्भ गिर गया।

जब यह सारा मामला सरकार के ऊंचे अधिकारियों तक पहुंचाया गया, तो उन्होंने महकमे की तहकीकात का नाटक करके अन्तिम फैसला दे दिया कि "कोई विशेष बात नहीं हुई।" तब कोल्हापुर राज्य-परिषद् ने मामले की स्वतंत्र तहकीकात के लिए एक समिति बनाई, जिसके अध्यक्ष श्री वी० जी० खेर थे। इस समिति में चार वकील थे, और एक महिला कार्यकर्त्री थीं। समिति ने अपनी रिपोर्ट में घटना की सत्यता को प्रमाणित करते हुए लिखा था कि "कोल्हापुर पुलिस के असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट श्री निबालकर ने समिति के सदस्य श्री करमारकर से बातचीत करते हुए स्वीकार किया है कि पुलिस पर जो अभियोग लगाये गए हैं, वे सही हैं, मगर उन्हें अब दबा देना ही अच्छा है।"[1]

जब अन्य सब उपाय क्रान्ति को दबाने में सफल न हुए, तो सरकार अपने ब्रह्मास्त्र पर उतर आई। गांव की निरस्त्र निरीह प्रजा पर हवाई जहाजों से गोले बरसाकर उसने देश की अंकुरित होती हुई स्वाधीनता को कुचलने का यत्न किया। मुंगेर, बलिया आदि जिलों में एक से अधिक बार हवाई जहाजों का प्रयोग किया गया। राज्य की ओर से अपनी निरस्त्र प्रजा पर आकाश से गोलियां बरसाने का उदाहरण शायद ही किसी देश के इतिहास में मिले। परन्तु उससे एक लाभ यह हुआ कि सारे संसार के सामने अंग्रेजी सरकार ने यह स्वीकार कर लिया कि भारत की जमीन अंग्रेजों के लिए सुरक्षित नहीं। इस प्रकार उन्होंने भारत में धधकती हुई राज्य-क्रान्ति को अपने कार्य द्वारा स्वीकार कर लिया।

---

१. 'अगस्त १९४२' सम्पादक श्री गिरधालाल गर्ग।

: ६९ :

'दिल्ली चलो' का नारा

जिन वर्षों में भारत का अन्तरिक्ष 'अंग्रेजो, भारत छोड़ जाओ' की ललकार से गूंज रहा था, उन्हीं वर्षों में पूर्व दिशा से, 'दिल्ली चलो' का नारा लगाती हुई भारत की राष्ट्रीय सेना, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में अंग्रेजों द्वारा खाली की हुई गद्दी को संभालने के लिए आगे बढ़ रही थी। ये दोनों क्रान्ति की सेना के दो मोर्चे थे, और थे एक दूसरे के पूरक। देश को स्वाधीन करने में इन दोनों मोर्चों का अपना-अपना योग था।

दोनों मोर्चों का सम्बन्ध सर्वथा स्पष्ट था। ८ अगस्त को कांग्रेस महासमिति ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव स्वीकार किया। ९ अगस्त को देश-भर में क्रान्ति की ज्वाला भड़क उठी, और १९४२ के सितम्बर मास में आई० एन० ए० (इण्डियन नैशनल आर्मी) की स्थापना की गई। इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं कि यदि भारत में क्रान्ति का आरम्भ न हो चुका होता, तो सिंगापुर में आई० एन० ए० का श्री गणेश न होता।

जापान ने १९४१ के दिसम्बर मास में पर्ल हार्बर पर आक्रमण करके महा-युद्ध में प्रवेश किया था। कुछ महीनों तक उसकी सेनाएँ बेरोक-टोक आगे बढ़ती रहीं। हांगकांग और थाईलैण्ड को अपने वश में करती हुई जनवरी १९४२ के अन्त में सिंगापुर जा पहुंची। सिंगापुर इंग्लैण्ड के अत्यन्त प्रबल जलीय अड्डों में अन्य-तम समझा जाता था। अंग्रेजों ने जल के मार्ग से होनेवाले आक्रमणों की रोक-थाम के लिए ४० करोड़ पौण्ड खर्च करके इस बन्दरगाह को अभेद्य बनाया था, परन्तु आक्रमण हो गया स्थल की ओर से। सिंगापुर की रक्षक सेना के अंग्रेज़ अफसर घेरे में आकर सर्वथा किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए। जब उन्हें बचाव का कोई उपाय न सूझा तो उन्होंने १५ फरवरी १९४२ के दिन अपनी सेना के ७०,००० सिपाहियों को जापानियों के सामने हथियार रख देने की आज्ञा दे दी।

अंग्रेजी सेना के जिन सिपाहियों को अंग्रेज अफसरों ने जापानियों के हवाले किया, उनमें लगभग ४०,००० हिन्दुस्तानी थे। अंग्रेज सेना के मुख्य सेनापति कर्नल हण्ट ने हिन्दुस्तानी सिपाहियों को फरार पार्क (Farrar Park) में एकत्र करके जापानी सेनापति कर्नल फुजीवारा को सौंप दिया। और कर्नल फुजीवारा ने उसी समय यह घोषणा कर दी कि सब हिन्दुस्तानी सिपाही कैप्टेन मोहनसिंह की कमान में दिये जाते हैं, ताकि वे अपने देश की आजादी के लिए युद्ध कर सकें। कैप्टेन मोहनसिंह ने जापानी सेनापति को धन्यवाद देते हुए यह घोषणा की कि हम सब हिन्दुस्तानी सिपाही अपने देश को स्वाधीन कराने की जी-जान से चेष्टा करेंगे। इस प्रकार स्वयं अंग्रेज़ अफसर ने लाचारी की अवस्था में भारत की उस प्रसिद्ध

राष्ट्रीय सेना का सूत्रपात कर दिया। यह घटना भारत में क्रान्ति के आरम्भ होने के लगभग एक मास पश्चात् सितम्बर १९४२ में हुई।

कैप्टेन मोहनसिंह ने आजाद हिन्द फौज का प्रबन्ध तो संभाल लिया, परन्तु आपस के मतभेद के कारण गाड़ी आगे न चल सकी। कैप्टेन मोहनसिंह बहुत अच्छे संगठनकर्ता थे, परन्तु जापानी अफसर उनसे असन्तुष्ट रहते थे। कारण यह था कि कैप्टेन मोहनसिंह आई० एन० ए० को जापान की सेना का अधीन अंग बनाने के विरोधी थे। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्रीयुत रासबिहारी बोस बहुत पहले से जापान में रहते थे। उनके जापानियों से बहुत अच्छे सम्बन्ध थे। वह जापानियों पर विश्वास करते थे, और जापानी उन पर। फलतः कैप्टेन मोहनसिंह और श्री रासबिहारी बोस में आई० एन० ए० की नीति के सम्बन्ध में उग्र मतभेद उत्पन्न हो गया। कैप्टेन मोहनसिंह को यह भान हो गया कि जापान का हाई कमाण्ड उन्हें स्वतंत्र नहीं छोड़ेगा। इसलिए उन्होंने यह वसीयत-सी कर दी कि यदि मुझे गिरफ्तार कर लिया जाय तो आई० एन० ए० को जापानियों का पिछलग्गू बनाने की अपेक्षा तोड़ देना अच्छा होगा। जिसकी आशंका थी, वही हुआ। आई० एन० ए० को स्थापित हुए चार मास भी व्यतीत न हुए थे कि १९४२ के दिसम्बर मास में कैप्टेन मोहनसिंह लापता कर दिये गए। समझा जाता है कि जापानियों ने उन्हें गुप्त रूप से गिरफ्तार करके कहीं छुपा दिया था। परिणाम यह हुआ कि कुछ किये बिना ही राष्ट्रीय सेना को तोड़ देना पड़ा।

कुछ महीनों तक आई० एन० ए० पर ऐसा ही ग्रहण लगा रहा। जुलाई के महीने में रंगमंच ने ऐसा पलटा खाया कि उसका रूप ही सर्वथा बदल गया। ग्रहण जाता रहा और भारत की राष्ट्रीय सेना पहले से भी अधिक दीप्ति के साथ चमक उठी। १९४३ के जुलाई मास में श्रीयुत सुभाषचन्द्र बोस भारत से काबुल और बर्लिन होते हुए पूर्वीय युद्धक्षेत्र में अवतीर्ण हुए। उनके आने से आई० एन० ए० के मरणोन्मुख शरीर में नई प्राणप्रतिष्ठा हो गई।

भारत में सुभाष बाबू अपने बंगले में ही नजरबन्द किये गए थे। वह अन्दर रहते थे, बाहर पुलिस का पहरा था। पुलिस का काम था सुभाष बाबू को बंगले से बाहर न जाने देना, और उनसे मिलने-जुलनेवालों पर दृष्टि रखना। सुभाष बाबू ने स्वयं अपनी व्यवस्था से पुलिस को अन्यथा सिद्ध कर दिया था। वह जिस कमरे में रहते थे, उसके द्वार पर पर्दा पड़ा रहता था, कमरे में एक व्याघ्रचर्म बिछा हुआ था, उसी पर बैठकर वह पूजा-पाठ किया करते थे। हजामत बनाना छोड़कर मूंछ-दाढ़ी बढ़ा ली थी, और मित्रों तक से मिलना-जुलना छोड़ दिया था। उनके लिए पर्दे के पीछे से दूध और पानी के बर्तन दिन में एक बार रख दिये जाते थे, और दूसरे दिन उठा लिये जाते थे। यदि उन्हें कुछ कहना होता था तो काग़ज़ पर लिखकर पर्दे के बाहर डाल देते थे। इस प्रकार उन्होंने स्वयं अपने-आपको संसार से ओझल कर लिया था।

२६ जनवरी को सुभाष बाबू के भतीजे श्री अरविन्द बोस ने देखा कि खाने

के बर्तन जैसे रखे गए थे, वैसे ही पड़े हैं। इस पर घर-भर में घबराहट फैल गई। सम्बन्धियों ने जब पर्दा उठाकर देखा तो वहां न सुभाष बाबू थे, और न उनका कोई निशान।

दूसरे दिन के समाचारपत्रों ने सुभाष बाबू के लुप्त होने का समाचार सुनाकर संसार को आश्चर्य में डाल दिया। अंग्रेजी सरकार ने दांत पीसकर चारों दिशाओं में सुभाष बाबू को पकड़ने की आज्ञाएँ प्रचारित कर दीं, और सरकार के पास जो कुशल-से-कुशल गोइन्दे थे, वे काम पर लगा दिये गए, किन्तु सब व्यर्थ हुआ। उनके जीवित रहने के समाचार लोगों को तब विदित हुए जब वह भारत से काबुल और रूस होते हुए मार्च के अन्त में बर्लिन जा पहुंचे। जिस समय राष्ट्रीय महासभा ने बम्बई के ग्वालिया मैदान में खुले विद्रोह की खुली घोषणा की उस समय सुभाष बाबू बर्लिन पहुंचकर भारत को स्वाधीन कराने की योजना बनाने में लगे हुए थे। वह बर्लिन में हिटलर से मिलकर यह आश्वासन पा चुके थे कि समय आने पर जर्मनी और उसके साथी भारत को स्वाधीन कराने में पूरा सक्रिय सहयोग देंगे।

जुलाई १९४३ के प्रारम्भ में पूर्वी युद्धक्षेत्र की परिस्थिति इस योग्य हो गई थी कि उससे भारत के स्वाधीनता-संग्राम में लाभ उठाया जा सकता था। सिंगापुर पर अधिकार करने के पश्चात् जापान की सेनाओं ने भारत की ओर बढ़ना जारी रखा। मलाया को पार करके वह मार्च १९४२ में बर्मा की सीमा पर पहुंच गई। इंग्लैण्ड और चीन की सम्मिलित सेनाओं ने उसकी गति को रोकने का भरसक यत्न किया, परन्तु सारे पूर्वी रणक्षेत्र में जापान को इतनी अधिक सफलता मिल रही थी कि उसे कई दिशाओं से आक्रमण करने की सुविधा प्राप्त हो गई थी। १९४२ के मध्य में जापान का बर्मा के मुख्य भाग पर अधिकार हो गया, और इस प्रकार उसके लिए आसाम के रास्ते से भारत पर आक्रमण करने का मार्ग खुल गया।

इसके पश्चात् लगभग एक वर्ष तक जापान को अमरीका और नैदरलैण्ड से उलझे रहना पड़ा। पहले हल्ले में उसने अपने हाथ-पांव दूर-दूर तक फैला लिये थे, अमरीका को शक्ति-संचय करते कुछ समय लगा। १९४२ के अन्त में उसका प्रत्याक्रमण आरम्भ हो गया, जिसको रोकने में जापान की सम्पूर्ण शक्ति लग गई। पूर्वी देशों में फैले हुए राष्ट्रवादी भारतवासियों ने यह विश्वास कर रखा था कि जब जापान बर्मा तक पहुंच जायगा, तब वह भारत को स्वतंत्र कराने का प्रयत्न अवश्य करेगा; परन्तु न तो जापान ने कभी इस आशय की घोषणा की थी और न १९४२ के अन्त में उसकी सामरिक स्थिति ही ऐसी थी कि वह भारत को जीतने या स्वतंत्र कराने के लिए चढ़ाई करता। वह स्वयं साम्राज्यवादी देश था, उसे भारतवासियों की स्वाधीन होने की इच्छा से विशेष सहानुभूति नहीं थी। प्रतीत होता है कि जब वहां के हिन्दुस्तानी नेताओं की ओर से जापान के शासकों से यह मांग की गई कि वह भारत को स्वाधीन कराने में सहायता दें तो उनको यह उत्तर दिया गया कि यदि भारतवासी स्वयं सेना संगठित करके भारत को आजाद कराने के लिए,

आगे बढ़ेंगे, तो हम उनकी सहायता करने का प्रयत्न करेंगे। जापान, मलाया आदि देशों में रहनेवाले भारतवासी दुर्लभ अवसर आया देखकर उससे लाभ उठाने के लिए उतावले हो रहे थे। आई० एन० ए० के लगभग ४० हजार जवानों की भुजाएं स्वाधीनता का संग्राम लड़ने के लिए फड़क रही थीं, और भारत में क्रान्ति उग्र-से-उग्रतर होती जा रही थी। ऐसी परिस्थिति थी, जब १९४३ के जुलाई मास की दूसरी तारीख के दिन एक जर्मन हवाई जहाज़ द्वारा श्रीयुत सुभाषचन्द्र बोस सिंगापुर में अवतीर्ण हुए।

सुभाष बाबू के रंगभूमि पर पहुंच जाने पर उस यशस्वी नाटक का प्रारम्भ हुआ, जिसका भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति के साथ अटूट सम्बन्ध है।

सुभाष बाबू के सिंगापुर पहुंचने पर पहला कार्य यह हुआ कि आई० एन० ए० का स्वयंसेवक दल पुनर्जीवित हो गया, और सर्वसम्मति से सुभाष बाबू उसके मुख्य नेता निर्वाचित हुए। उस समय से सुभाष बाबू 'नेताजी' कहलाने लगे।

१९४३ के जुलाई महीने में नेताजी के अनुशासन में आई० एन० ए० का पुनः संगठन हुआ। २५ अगस्त को सुभाष बाबू ने एक विशेष घोषणा द्वारा उसका नेतृत्व संभाला। देशभक्तों की इस सेना में केवल उन्हीं भारतीयों को भर्ती किया गया, जिन्होंने अपनी इच्छा से देश की स्वाधीनता के लिए लड़ना स्वीकार किया। १९४५ में आई० एन० ए० के तीन प्रमुख कार्याकर्ता—कैप्टेन शाहनवाज़, कैप्टेन पी० के० सहगल और लैफ्टिनेण्ट गुरुबख्शसिंह ढिल्लन पर अंग्रेज़ी सरकार की ओर से जो कोर्ट-मार्शल का अभियोग चलाया गया, उसमें सरकारी गवाहों ने भी स्वीकार किया था, कि नेताजी केवल उन्हीं को आई० एन० ए० में भर्ती करते थे, जो स्वेच्छा से भर्ती होना चाहें।

आई० एन० ए० को पुनर्जीवित करने के पश्चात् दूसरा पग नेताजी ने यह उठाया कि ग्रेटर ईस्ट एशिया (वृहत्तर पूर्वी एशिया) के रहनेवाले भारतवासियों का एक विशाल सम्मेलन बुलाया। उसमें इण्डियन इण्डिपेंडेंस लीग के सदस्य एकत्र हुए, और निश्चय किया कि स्वतंत्र भारत की एक अस्थायी सरकार की स्थापना की जाय। इस निश्चय के अनुसार २१ अक्तूबर १९४३ को स्वतंत्र भारत की अस्थायी सरकार (Provisional Government of Free India) की स्थापना की गई। इस सरकार के प्रमुख और अध्यक्ष नेताजी सुभाषचन्द्र बोस निर्वाचित हुए।

अस्थायी सरकार की स्थापना के अवसर पर जो घोषणा-पत्र प्रचारित किया गया उसका महत्वपूर्ण भाग इस प्रकार है:

"१८५७ के बाद अंग्रेजों ने जबर्दस्ती हथियार छीनकर और आंतक और क्रूरता द्वारा कुचलकर भारतवासियों को कुछ समय के लिए सर्वथा निर्जीव-सा कर दिया था। १८८५ में इण्डियन नैशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। उसके और प्रथम महायुद्ध के मध्यकाल में भारतवासियों ने अपने खोये हुए अधिकारों की प्राप्ति के लिए आन्दोलन, प्रचार, विदेशी-वस्तु-बहिष्कार, आतंकवाद

और तोड़-फोड़ आदि सभी साधनों का प्रयोग किया, और अन्त में उन्हें सशस्त्र विद्रोह का भी आश्रय लेना पड़ा; परन्तु उस समय ये सब उपाय सफल न हुए। अन्त में १९२० में, जब भारतवासी बेकली और निराशा के अन्धकार में नए रास्ते टटोल रहे थे, महात्मा गान्धी असहयोग और सविनय कानून-भंग के नये हथियारों को लेकर कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए।

"इस प्रकार, वर्तमान महायुद्ध से कुछ समय पूर्व, भारत की स्वाधीनता के अन्तिम संघर्ष का अवसर आ चुका था . . .

"इतिहास में पहली बार, देश से बाहर रहनेवाले भारतीय भी राजनीतिक दृष्टि से जागृत होकर एक संगठन में आबद्ध हो गए हैं। इतना ही नहीं, वे अपने भारत में रहनेवाले देशवासियों के समान ही सोचने और अनुभव करते हैं, और स्वाधीनता के मार्ग पर उनके कदम से कदम मिलाकर चल रहे हैं। विशेषतः पूर्वी एशिया में, २० लाख हिन्दुस्तानी पूरी सन्नद्धता की भावना से प्रेरित होकर सेना के रूप में संगठित हो रहे हैं।

"अस्थायी सरकार का यह काम होगा कि वह अंग्रेजों और उनके साथियों को भारत से निकालने के लिए युद्ध करे। इसके पश्चात् अस्थायी सरकार आजाद हिन्द में लोकप्रिय प्रजातन्त्र शासन की स्थापना करेगी।

"जब तक अंग्रेज भारत से न निकल जायं, और जब तक आजाद हिन्द की राष्ट्रीय सरकार मातृभूमि में स्थापित न हो, तब तक अपने अधिकार में आये हुए प्रदेशों का शासन अस्थायी सरकार भारतीय प्रजा के ट्रस्टी के तौर पर करेगी।"

इन भावनाओं और उद्देश्यों को सामने रखकर सुभाष बाबू के नेतृत्व में अस्थायी सरकार की स्थापना की गई। अस्थायी सरकार बनने पर आई० एन०ए० का नाम आजाद हिन्द दल रखा गया।

सरकार के अध्यक्ष नेताजी सुभाषचन्द्र बोस घोषित किये गए। उनकी सहायता के लिए मन्त्रियों की एक परिषद् बनाई गई। मन्त्रियों को सेना-संचालन, धन-संग्रह और जीते हुए प्रदेशों के प्रबन्ध के काम बांट दिये गए। सबसे पहले अस्थायी सरकार के प्रति पूर्ण भक्ति की शपथ नेताजी ने ली, और उनके पश्चात् उनके सामने अन्य मन्त्रियों, आजाद हिन्द फौज के अफसरों, सिपाहियों और अन्य कर्मचारियों ने ली। विश्वास किया जाता है कि केवल मलाया में २ लाख से अधिक भारतवासियों ने भक्ति की शपथ लेकर देश-प्रेम का परिचय दिया।

सरकार तो बन गई परन्तु उसका खर्च कैसे चले? जर्मनी या जापान की ओर से कोई विशेष सहायता मिलने की आशा नहीं थी। तब नेताजी ने प्रवासी भारतवासियों के नाम एक सन्देश निकाला, जिसमें स्वाधीनता-युद्ध और अस्थायी सरकार के लिए धन की अपील की। उस अपील का जो उत्तर मिला, वह नेताजी और उनके साथियों की आशाओं से भी अधिक था। थोड़े ही समय में नेताजी के कोष में २० करोड़ रुपया एकत्र हो गया, जो 'आजाद हिन्द बैंक' की स्थापना करके अस्थायी सरकार के खर्चों के लिए उसमें जमा कर दिया गया।

स्वाधीन भारत की अस्थायी सरकार बन जाने पर जर्मनी, इटली और जापान ने उसे मान्यता दे दी। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से भी अस्थायी सरकार सर्वथा प्रामाणिक बन गई।

दृढ़ता से आसन जम जाने पर अस्थायी सरकार ने पहला काम यह किया कि इंग्लैण्ड और अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। उस समय जापान की सेना बर्मा को जीतकर आसाम पर आक्रमण के लिए तैयार हो रही थी। युद्ध में सम्पूर्ण शक्ति से भाग लेने के लिए १९४४ के आरम्भ में अस्थायी सरकार और आजाद हिन्द दल के मुख्य केन्द्र सिंगापुर से हटाकर रंगून में स्थापित कर दिये गए। उस समय दल में लगभग ४० सहस्र सैनिक थे। रेजिमेण्टों के नाम राष्ट्रीय युद्ध के नेताओं के नामों पर रखे गए थे। गुरिल्ला युद्ध करनेवाली रेजिमेण्ट का नाम सुभाष रेजिमेण्ट था और अन्य रेजिमेण्टों के नाम गान्धी, आजाद, नेहरू, लक्ष्मीबाई आदि के नामों पर थे।

अस्थायी सरकार के शासनाधिकार में कुछ प्रदेश भी थे। अण्डमन और निकोबार के द्वीप, जो जापान ने अंग्रेजों से जीत लिये थे, शासन की दृष्टि से आजाद हिन्द की सरकार को दे दिये गए थे। युद्ध चल रहा था, इस कारण उन द्वीपों का सैनिक प्रबन्ध जापान सरकार ने अपने हाथ में रखा था। परन्तु उनकी आन्तरिक न्यायादि की व्यवस्था अस्थायी सरकार ने संभाल ली थी। एक छोटा-सा प्रदेश, जिसका नाम ज़ियावाड़ी था, और जिसका क्षेत्र ५० वर्गमील था, अस्थायी सरकार को प्राप्त हो गया था। उसका प्रबन्ध भी अण्डमन द्वीप की भांति ही चलता था।

अण्डमन और निकोबार द्वीपों के विदेशी नाम हटाकर 'शहीद' और 'स्वराज्य' नाम रख दिये गए। १९४४ में जब जापान की सेनाओं के साथ मिलकर आजाद हिन्द सेनाओं ने आसाम पर चढ़ाई की, तब मनीपुर और विष्णुपुर नामक दो स्थान उनके अधिकार में आ गए थे। उन दोनों का शासन अस्थायी सरकार की ओर से आजाद हिन्द दल करता था। इस प्रकार वह सरकार केवल नाम-मात्र की सरकार नहीं थी, उसके पास प्रदेश भी था, और शासनाधिकार भी।

युद्ध के लिए आगे बढ़ने के समय स्वतंत्र भारत दल का मुख्य नारा था—'दिल्ली चलो'। सहायक नारे तीन थे।

दल का राष्ट्रीय गीत यह था :

शुभ सुख चैन की वर्षा बरसे
भारत भाग्य है जागा।

पंजाब सिन्ध गुजरात मराठा द्राविड़ उत्कल बंगा।
चंचल सागर विन्ध्य हिमालय नीला जमना गंगा।।

तेरे नित गुन गायें
तुझ से जीवन पायें
सब नित पायें आशा।

सूरज बनकर जग पर चमके भारत नाम सुभागा।

जय हो, जय हो, जय हो
जय जय भारत जय हो।

शुभ की दिल में प्रीत बसायें तेरी मीठी वानी।
हर सूबे के रहने वाले हर मजहब के प्रानी॥

सब भेद औ फरक मिटा के
सब गोद में तेरे आ के
गूंथे प्रेम की माला।

सूरज बनकर जग पर चमके भारत नाम सुभागा।

सुबह सवेरे पंख पखेरू तेरे ही गुण गावें।
बस भारी भरपूर हवाएं जीवन में ऋतु लावें॥

सब मिल कर हिन्दी पुकारें
जय आजाद हिन्द के नारे
प्यारा देश हमारा।

सूरज बनकर जग पर चमके भारत नाम सुभागा।

जिन दिनों सिंगापुर और रंगून में क्रान्ति के ये तराने गाये जा रहे थे, और भारत के सपूत देश की आजादी के सपने को पूरा करने के लिए जान की बाजी लगा रहे थे, उन दिनों भारत में सिंगापुर का रेडियो बड़े चाव से सुना जाता था। भारत में आन्तरिक क्रान्ति की जलती हुई आग पर नेताजी की घोषणाएं, आजाद हिन्द सेना के नारे तथा आसाम की सीमाओं के प्रवेश के समाचार घी का काम करते थे। इसमें सन्देह नहीं कि आजाद हिन्द सेना की मंगलध्वनि भारतीय क्रान्तिकारियों के हृदयों में आशा का संचार कर देती थी।

सुभाष बाबू ने अपने सैनिकों को प्रोत्साहित करने के लिए जो आदेश दिये वे मुर्दों में भी जान डालनेवाले थे; उनका अपना व्यक्तित्व ही चिड़िया को बाज़ बनानेवाला था। जो लोग अपनी इच्छा से सेना में भर्ती हुए थे, वे भी सिर पर कफन बांधकर मैदान में उतरे थे। ऐसा मसाला था, जिससे सन्नद्ध होकर आजाद

हिन्द सेना के बांके बीर दिल्ली जीतने के लिए आगे बढ़े थे। परन्तु एक न्यूनता भी थी। आजाद हिन्द सेना को जितनी युद्ध-सामग्री मिली थो, वह जापान की देन थी। यह शिकायत प्रायः सुनी जाती थी कि जापान ने हमारी सेना को जो शस्त्रास्त्र दिये वे घटिया थे। सर्वथा अर्वाचीन और बढ़िया शस्त्रास्त्र जापानी सिपाहियों को बांटे जाते थे और उनके उतरे हुए शस्त्रास्त्र नेताजी के सैनिकों को मिलते थे। हिन्दुस्तानियों को युद्ध में शामिल करके अपनी शक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से प्रारम्भ में जापान के हाई कमाण्ड ने आजाद सेना का पूरा साथ देने के वायदे कर दिये, परन्तु जब रणक्षेत्र में आगे बढ़ने का समय आया तो सब से कठिन और विकट मोर्चे भारतीय सैनिकों को सौंपे गए, और जब उन लोगों पर कठिनाइयां पड़ने लगीं, तब जापानी युद्ध-विभाग ने उपेक्षा धारण कर ली। परिणाम यह हुआ कि स्वाधीनता के मतवाले वे भारतीय सपूत कोहिमा की पहाड़ियों में पहुंचकर ऐसे फंस गए कि उनका निकलना कठिन हो गया।

इधर १९४४ के अन्तिम महीनों में जापान के आक्रमण का सिर टूट चुका था। धीरे-धीरे अमरीका और इंग्लैण्ड की जहाजी और हवाई शक्तियां निप्पन की आगे बढ़ी हुई सेनाओं को पीछे धकेलने में सफल हो रही थीं। इस भाग्य-परिवर्तन ने जापान के युद्ध-नेताओं को गहरी चिन्ता में डाल दिया था कि एक नई आपत्ति न केवल जापान पर अपितु सारे मनुष्य समाज पर अवतीर्ण हो गई। ६ अगस्त १९४५ को अमरीका ने जापान के हिरोशिमा नाम के शहर पर आकाश से अणुबम बरसा दिया। अणुबम ने न केवल हिरोशिमा नगर बल्कि उसके अड़ोस-पड़ोस के स्थान और वहां के निवासियों को भी नष्टप्राय: कर दिया, जापान की सब आशाओं पर पानी फेर दिया। सभी मोर्चों पर जापानी सैनिकों के पांव उखड़ गए, और वे भारत की राष्ट्रीय सेना की टुकड़ियों को आसाम की पहाड़ियों, और दल-दलों में अंग्रेजी सिपाहियों से घिरा हुआ छोड़कर भाग निकले। वैसे तो जापानियों ने अप्रैल और मई में ही आसाम के मोर्चे से अपने पांव निकालने आरम्भ कर दिये थे। उनके मैदान छोड़ जाने के कारण भारतीय सैनिकों की परिस्थिति इतनी गम्भीर हो गई, कि उन्हें स्थान-स्थान पर अंग्रेजी सेनाओं के सामने हथियार डाल देने पड़े। कैप्टेन सहगल २८ अप्रैल को अंग्रेजों के बन्दी बन गए, मई की १७ तारीख को कैप्टेन शाहनवाज़ पेगू के अंग्रेज़ी जेल में पहुंचा दिये गए। इसके पश्चात् एक-एक करके आजाद हिन्द सेना के सभी मुख्य-मुख्य अधिकारी या तो पकड़ गए, अथवा रणक्षेत्र से हट गए। जब हिरोशिमा पर अमरीका ने अणुबम का प्रयोग किया, उस समय आजाद हिन्द के सैनिक आसाम के मोर्चे को खाली कर चुके थे।

नेताजी पर इन सब घटनाओं का क्या असर हुआ होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है।

तेरे नित गुन गायें
तुझ से जीवन पायें
सब नित पायें आशा।

सूरज बनकर जग पर चमके भारत नाम सुभागा।

जय हो, जय हो, जय हो
जय जय भारत जय हो।

शुभ की दिल में प्रीत बसायें तेरी मीठी वानी।
हर सूबे के रहने वाले हर मजहब के प्रानी।।

सब भेद औ फरक मिटा के
सब गोद में तेरे आ के
गूंथे प्रेम की माला।

सूरज बनकर जग पर चमके भारत नाम सुभागा।

सुबह सवेरे पंख पखेरू तेरे ही गुण गावें।
बस भारी भरपूर हवाएं जीवन में ऋतु लावें।।

सब मिल कर हिन्दी पुकारें
जय आजाद हिन्द के नारे
प्यारा देश हमारा।

सूरज बनकर जग पर चमके भारत नाम सुभागा।

जिन दिनों सिंगापुर और रंगून में क्रान्ति के ये तराने गाये जा रहे थे, और भारत के सपूत देश की आजादी के सपने को पूरा करने के लिए जान की बाजी लगा रहे थे, उन दिनों भारत में सिंगापुर का रेडियो बड़े चाव से सुना जाता था। भारत में आन्तरिक क्रान्ति की जलती हुई आग पर नेताजी की घोषणाएं, आजाद हिन्द सेना के नारे तथा आसाम की सीमाओं के प्रवेश के समाचार घी का काम करते थे। इसमें सन्देह नहीं कि आजाद हिन्द सेना की मंगलध्वनि भारतीय क्रान्तिकारियों के हृदयों में आशा का संचार कर देती थी।

सुभाष बाबू ने अपने सैनिकों को प्रोत्साहित करने के लिए जो आदेश दिये वे मुर्दों में भी जान डालनेवाले थे; उनका अपना व्यक्तित्व ही चिड़िया को बाज़ बनानेवाला था। जो लोग अपनी इच्छा से सेना में भर्ती हुए थे, वे भी सिर पर कफन बांधकर मैदान में उतरे थे। ऐसा मसाला था, जिससे सन्नद्ध होकर आजाद

हिन्द सेना के बांके बीर दिल्ली जीतने के लिए आगे बढ़े थे। परन्तु एक न्यूनता भी थी। आजाद हिन्द सेना को जितनी युद्ध-सामग्री मिली थी, वह जापान की देन थी। यह शिकायत प्रायः सुनी जाती थी कि जापान ने हमारी सेना को जो शस्त्रास्त्र दिये वे घटिया थे। सर्वथा अर्वाचीन और बढ़िया शस्त्रास्त्र जापानी सिपाहियों को बांटे जाते थे और उनके उतरे हुए शस्त्रास्त्र नेताजी के सैनिकों को मिलते थे। हिन्दुस्तानियों को युद्ध में शामिल करके अपनी शक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से प्रारम्भ में जापान के हाई कमाण्ड ने आजाद सेना का पूरा साथ देने के वायदे कर दिये, परन्तु जब रणक्षेत्र में आगे बढ़ने का समय आया तो सब से कठिन और विकट मोर्चे भारतीय सैनिकों को सौंपे गए, और जब उन लोगों पर कठिनाइयां पड़ने लगीं, तब जापानी युद्ध-विभाग ने उपेक्षा धारण कर ली। परिणाम यह हुआ कि स्वाधीनता के मतवाले वे भारतीय सपूत कोहिमा की पहाड़ियों में पहुंचकर ऐसे फंस गए कि उनका निकलना कठिन हो गया।

इधर १९४४ के अन्तिम महीनों में जापान के आक्रमण का सिर टूट चुका था। धीरे-धीरे अमरीका और इंग्लैण्ड की जहाजी और हवाई शक्तियां निप्पन की आगे बढ़ी हुई सेनाओं को पीछे धकेलने में सफल हो रही थीं। इस भाग्य-परिवर्तन ने जापान के युद्ध-नेताओं को गहरी चिन्ता में डाल दिया था कि एक नई आपत्ति न केवल जापान पर अपितु सारे मनुष्य समाज पर अवतीर्ण हो गई। ६ अगस्त १९४५ को अमरीका ने जापान के हिरोशिमा नाम के शहर पर आकाश से अणुबम बरसा दिया। अणुबम ने न केवल हिरोशिमा नगर बल्कि उसके अड़ोस-पड़ोस के स्थान और वहां के निवासियों को भी नष्टप्राय: कर दिया, जापान की सब आशाओं पर पानी फेर दिया। सभी मोर्चों पर जापानी सैनिकों के पांव उखड़ गए, और वे भारत की राष्ट्रीय सेना की टुकड़ियों को आसाम की पहाड़ियों, और दल-दलों में अंग्रेजी सिपाहियों से घिरा हुआ छोड़कर भाग निकले। वैसे तो जापानियों ने अप्रैल और मई में ही आसाम के मोर्चे से अपने पांव निकालने आरम्भ कर दिये थे। उनके मैदान छोड़ जाने के कारण भारतीय सैनिकों की परिस्थिति इतनी गम्भीर हो गई, कि उन्हें स्थान-स्थान पर अंग्रेजी सेनाओं के सामने हथियार डाल देने पड़े। कैप्टेन सहगल २८ अप्रैल को अंग्रेजों के बन्दी बन गए, मई की १७ तारीख़ को कैप्टेन शाहनवाज़ पेगू के अंग्रेज़ी जेल में पहुंचा दिये गए। इसके पश्चात् एक-एक करके आजाद हिन्द सेना के सभी मुख्य-मुख्य अधिकारी या तो पकड़ गए, अथवा रणक्षेत्र से हट गए। जब हिरोशिमा पर अमरीका ने अणुबम का प्रयोग किया, उस समय आजाद हिन्द के सैनिक आसाम के मोर्चे को खाली कर चुके थे।

नेताजी पर इन सब घटनाओं का क्या असर हुआ होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है।

: ७० :

बंगाल में १९४३ का घोर दुर्भिक्ष

भारत में ब्रिटिश राज्य का श्रीगणेश बंगाल के भयंकर दुर्भिक्ष से हुआ था। सन् १७७० के उस अमंगलपूर्ण दुर्भिक्ष का वृत्तान्त पढ़ने से हृदय कांप उठता है। किसी कार्य का अमंगल से प्रारम्भ होना काफी बुरा समझा जाता है। परन्तु यदि उसका अन्त भी वैसी ही अमंगल घटना के साथ हो तो कार्य की बुराई और अभद्रता असंदिग्ध हो जाती है। जब ब्रिटिश राज्य का भारत में जीवन डावांडोल हो रहा था उस समय बंगाल में फिर वैसा ही भयंकर दुर्भिक्ष पड़ गया जैसा सन् १७७० में पड़ा था। उस दुर्भिक्ष में कितने लोगों की मृत्यु हुई इसका ठीक-ठीक अन्दाजा लगाना तो कठिन है, परन्तु सरकार का अपना बयान यह था कि दुर्भिक्ष और उसके पश्चात् आनेवाली बीमारी के कारण १० लाख जानें गईं। भारत मन्त्री मि० एमरी ने एक प्रश्न के उत्तर में इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट में बड़े सन्तोष से कहा था कि जहां तक हमारा ख्याल है दुर्भिक्ष और बीमारी से केवल १० लाख जानें गईं। मानो एमरी के लिए १० लाख भारतवासियों की जानें 'केवल' शब्द के प्रयोग से सर्वथा अकिंचन हो गईं। यह थी उस समय के अंग्रेज शासकों की मनोवृत्ति। यह समझा जा सकता है कि वास्तविक प्राणहानि ब्रिटिश सरकार के अनुमान से दुगुनी या तिगुनी होगी। कितने पशुओं का नाश हुआ, कितने घर नष्ट हुए और कितनी सम्पत्ति बर्बाद हुई, इन प्रश्नों के निश्चित उत्तर देना तो सम्भव नहीं, अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है।

उस दुर्भिक्ष के रोमांचकारी दृश्यों और उसके उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में कुछ उद्धरण देना पर्याप्त होगा। लन्दन के 'न्यूज क्रौनिकल' ने लिखा था, "मि० एमरी ने (पार्लियामेण्ट में) कहा था कि गत पांच वर्षों में दुर्भिक्ष और बीमारी के कारण जितनी मृत्यु हुई है, भारत सरकार का ख्याल है कि उनकी संख्या दस लाख से ऊपर नहीं। जब यह सन्तोष-भरी घोषणा की गई तब पार्लियामेण्ट में किसी प्रकार की हर्ष-ध्वनि नहीं हुई। ब्रिटिश साम्राज्य के एक कोने में दुर्भिक्ष और उससे उत्पन्न होनेवाले रोगों के कारण दस लाख मौतें—यह एक ऐसी भयानक घटना है जो हमारी इज्जत और नीतिज्ञता को चुनौती देती है।"

लन्दन की 'ट्रेड यूनियन' के नेता मि० विलियम डोबी ने कहा था—"इस समय जो दुर्भिक्ष भारत पर छाया हुआ है वह मनुष्य का पैदा किया हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि शासन करनेवालों ने जनता का सहयोग न प्राप्त करके देश में उत्पात और अव्यवस्था उत्पन्न कर दी है।"

मि० मोहम्मद अली जिन्ना ने असेम्बली में कहा था—"मैं चर्चिल की सरकार से पूछता हूं कि यदि इंग्लैण्ड में हजारों नहीं केवल सैकड़ों जीवन दुर्भिक्ष के अर्पण हो जाते तो क्या तुम लोग २४ घण्टों तक भी शासन की कुर्सियों पर बैठ रह सकते

थे? मुझे ऐसा निश्चय है कि तुम लोग (अंग्रेजी सरकार) बहुत बड़ी लापर्वाही के अपराधी हो। तुमने अपने कर्तव्यों और जिम्मेवारियों का भली प्रकार पालन नहीं किया।"

१९४३ के उस दुर्भिक्ष ने ब्रिटिश राज्य को अंगुली का इशारा दिखाकर कह दिया था कि अब तुम्हारा भारत में जाने का समय आ गया है।

: ७१ :

इंग्लैण्ड में मानसिक परिवर्तन

इतिहास के विद्यार्थी के लिए यह भी एक आवश्यक और मनोरंजक प्रश्न है कि क्या १८५८ से लेकर १९४६ तक के ८८ वर्षों में इंग्लैण्ड की मनोवृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ; और यदि हुआ, तो क्या वह अकस्मात् १९४६ में उद्भूत हो गया, या उसका क्रमिक विकास हुआ? इन प्रश्नों के उत्तर सामने रखे बिना हम १९४६-४७ की घटनाओं को भली प्रकार न समझ सकेंगे।

यह बात असन्दिग्ध है कि चिरकाल के स्वाधीन और जनतन्त्रात्मक शासन के अनुभव के कारण इंग्लैण्ड के निवासियों की राजनीतिक प्रतिभा काफी विकास पा चुकी है। नैपोलियन ने एक बार कहा था कि अंग्रेज जाति एक दूकानदारों की जाति है। उसका अभिप्राय यह था कि अंग्रेज राजनीति के क्षेत्र में जाकर भी दूकानदारी को नहीं भूलते। जैसे दूकानदार बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे सौदे करता हुआ भी अपनी तिजौरी के हानि-लाभ पर सदा दृष्टि रखता है वैसे ही अंग्रेज भी शासन और युद्ध के मैदान में हो, चाहे घुड़दौड़ में भाग ले रहा हो, घाटे-नफे की चिन्ता नहीं छोड़ता। यह गुण है। परन्तु दूकानदारी मनोवृत्ति का एक अवगुण भी है। दूकानदार का मुख्य काम सौदा करना है। सौदे का अभिप्राय है कि ग्राहक से अधिक-से-अधिक लाभ उठाया जाय। चाहे सौदा पूरा होने में विलम्ब ही हो जाय, पर होना चाहिए लाभ ही। यदि सौदे में घाटा दिखाई दे तो दूकानदार कुछ समय के लिए माल बेचना बन्द भी कर देता है। अंग्रेज की राजनीतिक प्रतिभा में भी यही विशेषता है कि वह हर समय भाव-ताव करने में लगी रहती है। इस विशेषता का ही प्रभाव है कि जहां इंग्लैण्ड के राजनैतिक व्यवहार में, प्रत्यक्ष में, स्थिरता दिखाई देती है, भाव-ताव की उलझन के कारण उसकी राजनीति प्रायः समय से पीछे रह जाती है। अंग्रेज किसी भी समस्या की उग्रता को तब तक नहीं समझ पाता जब तक वह यह न देख ले कि घाटा हो रहा है।

१९४७ में अंग्रेज भारत को छोड़कर चले गए, परन्तु १९४४ के अन्त तक वह भारत को पराधीन रखने के लिए प्रत्येक उपाय का प्रयोग करते रहे। इससे यह न समझना चाहिए कि इन तीन वर्षों में अंग्रेजों को इलहाम हो गया, जिससे

प्रेरित होकर उन्होंने भारत को स्वराज्य दे दिया। वस्तुतः इतिहास पर दृष्टि डाली जाय तो प्रतीत होता है कि बहुत समय पहले से, कई अंग्रेज विचारक, ज्ञानचक्षुओं से उस समय को देख चुके थे जब उन्हें भारत से जाना पड़ेगा। लार्ड मैकाले ने अपने शिक्षा-सम्बन्धी विवरणपत्र में लिखा था :

"यह हो सकता है कि हमारी प्रणाली के प्रभाव से हिन्दुस्तान का ऐसा मानसिक विकास हो जाय कि वह उस प्रणाली की सीमाओं को पार कर जाय। हो सकता है कि अच्छा शासन करके हम अपनी प्रजा को और भी अधिक अच्छे शासन के योग्य बना दें, और यह भी सम्भव है कि योरप का ज्ञान प्राप्त करके, किसी दिन वे योरप की शासन-पद्धति मांगने लगें। मुझे मालूम नहीं कि वह दिन कभी आयेगा या नहीं, परन्तु मैं इतना कह सकता हूँ कि यदि कभी ऐसा दिन आनेवाला है, तो मैं उसके रोकने या उसके रास्ते में रुकावट डालने का यत्न नहीं करूंगा।"

लार्ड मैकाले एक प्रतिभाशाली लेखक और विद्वान था। यद्यपि भारत के सम्बन्ध में उसकी भावना बहुत ही मिथ्या थी, क्योंकि वह अधूरे ज्ञान पर आश्रित थी, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसकी कल्पना प्रौढ़ थी। भारत और योरप के सम्पर्क से जो परिणाम उत्पन्न हो सकते थे, उनकी कल्पना करने में उसने भूल नहीं की थी।

बीसवीं सदी के आरम्भ में इंग्लैण्ड का भारत पर प्रभुत्व काफी दृढ़ हो चुका था। योरप के दार्शनिक और विचारक पाश्चात्य सभ्यता की उत्कृष्टता का ढिंढोरा पीटकर यह सिद्ध कर रहे थे कि विकासवाद के सिद्धान्तों के अनुसार पूर्व का राजनीतिक दास बने रहना, और पश्चिम का हुकूमत करना स्वाभाविक और सृष्टि के नियम के अनुसार आवश्यक है। उस समय भारत के स्वाधीन होने की आशंका भी नहीं हो सकती थी। उन दिनों इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता जे० आर० सीले (J. R. Seeley) के कुछ भारत-सम्बन्धी व्याख्यान 'इंग्लैण्ड का विस्तार' (The Expansion of England) नाम की पुस्तक में प्रकाशित हुए थे। उसमें प्रो० सीले ने इन तीन प्रश्नों के उत्तर दिये थे :

(१) भारत को इंग्लैण्ड ने कैसे जीता ?

(२) इंग्लैण्ड भारत का शासन कैसे करता है ? और

(३) भारत और इंग्लैण्ड के सम्बन्ध का भविष्य क्या है ?

पहले प्रश्न का उत्तर प्रो० सीले ने निम्नलिखित वाक्य में दिया है—"यह कहना ठीक न होगा कि भारत को विदेशियों ने जीता। वस्तुतः भारत ने अपने को स्वयं जीता है।" इसका अभिप्राय यह है कि अंग्रेज ने भारत को भारतीय सेनाओं की सहायता से ही जीता, और उन्हीं की सहायता से उसकी रक्षा की। भारत को जीतकर ब्रिटिश सरकार को सौंपनेवाले अंग्रेज सिपाही नहीं थे, अपितु स्वयं भारतीय सैनिक थे।

दूसरे प्रश्न का उत्तर प्रो० सीले के इन वाक्यों से मिलता है :

"आप लोग देखें कि म्युटिनी (सन् ५७ का विद्रोह) का दमन भारत की एक जाति को दूसरी जाति से लड़ाकर किया गया। जब तक ऐसा किया जा सकता है, और जब तक प्रजा में सरकार की आलोचना करने की और उसके विरुद्ध विद्रोह करने की प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती तब तक इंग्लैण्ड द्वारा भारत का शासन सम्भव रहेगा। इसमें कुछ भी चमत्कारिक बात न होगी।"

तीसरे प्रश्न का उत्तर प्रो० सीले ने बहुत विस्तार से दिया है। वह उनके व्याख्यानों का सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग है। प्रो० सीले ने बतलाया कि भारत में राष्ट्रीयता का अभाव है, इसी कारण अंग्रेज उस पर शासन कर रहे हैं। राष्ट्रीयता के आवश्यक आधार ये हैं: (१) जाति की एकता, (२) भाषा की एकता, (३) धर्म की एकता और (४) राजनीतिक अभिलाषा की एकता। इन चारों आधारों की विस्तृत विवेचना करके प्रो० सीले ने लिखा है कि इस समय भारत में इन चारों एकताओं का अभाव है, इस कारण राष्ट्रीयता का भी अभाव है। परन्तु साथ ही प्रो० सीले ने भविष्य की कल्पना करते हुए वस्तुतः ऐतिहासिक बुद्धि का अद्भुत परिचय दिया है। उन्होंने लिखा है :

"इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत की कोई राष्ट्रीयता नहीं है, यद्यपि ऐसे बीज विद्यमान हैं, जिनसे राष्ट्रीयता उत्पन्न हो सकती है। यही (राष्ट्रीयता का अभाव ही) कारण है जिससे भारत में हमारा साम्राज्य सम्भव हुआ है---यह समझना कि साम्राज्य अंग्रेज जाति की किसी बहुत बड़ी उत्कृष्टता पर आश्रित है, गलत है। यदि किसी दिन भारत में वैसा राष्ट्रीय आन्दोलन उठ खड़ा होगा, जैसा इटली में हुआ था, तो इंग्लैण्ड उतना प्रतिरोध भी न कर सकेगा, जितना इटली में आस्ट्रिया ने किया था। वह एकदम हार मान जायगा क्योंकि इंग्लैण्ड, जो कि कोई युद्ध-प्रधान राष्ट्र भी नहीं है, २५ करोड़ प्रजा के विद्रोह को किन साधनों से दबा सकेगा? क्या आप कह सकते हैं कि हमने उन्हें जैसे पहले जीत लिया था, वैसे फिर भी जीत सकेंगे?"

वे बीज, जिनसे भारत में राष्ट्रीयता पनप सकती थी, प्रो० सीले की सम्मति में ये थे---ब्राह्मनिज्म (हिन्दू धर्म), हिन्दी भाषा और राजनीतिक एकता की भावना। राजनीतिक एकता की भावना के सम्बन्ध में प्रो० सीले ने लिखा था :

"यदि वहां (भारत में) राष्ट्रीय भावना हल्के-से रूप में भी उत्पन्न हो गई, यदि विदेशियों को बाहर निकालने की प्रबल अभिलाषा के बिना भी यह विचार पैदा हो गया कि विदेशी को राज्य में सहायता देना लज्जाजनक है, तो उस दिन से हमारे साम्राज्य का अन्त हो जायगा।"

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि प्रो० सीले के ये व्याख्यान बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित हुए थे। उस समय तक भारत के राजनीतिक नेताओं की मांग भी सरकारी नौकरियों और कृपापूर्वक दिये हुए उपहारों से आगे नहीं पहुंची थी। उस समय प्रो० सीले ने ५० वर्ष बाद पर्दे पर आनेवाले चित्र की लगभग ठीक कल्पना कर ली थी।

परन्तु लार्ड मैकाले या प्रो० सीले-जैसे प्रतिभाशाली अंग्रेज अपवाद थे, नियम नहीं। सामान्य रूप से बीसवीं सदी के आरम्भ तक भी अंग्रेजों को विश्वास था कि वे भारत की रक्षा के लिए ईश्वर की ओर से नियुक्त किये गए हैं, भारत पर राज्य करना उनका अधिकार है, क्योंकि भारतवासी अपना राज्य करने में सर्वथा असमर्थ हैं। सन् १८५८ के पश्चात् भारत में सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक जागृति के कारण राष्ट्रीयता का विकास किस प्रकार हुआ, और धीरे-धीरे उसने प्रचण्ड रूप कैसे धारण किया, इन प्रश्नों का उत्तर इस ग्रन्थ में विस्तार से दिया जा चुका है। हम यह भी देख आये हैं कि भारत की बढ़ती हुई जागृति और बेचैनी का अंग्रेजों की ओर से क्या उत्तर मिलता रहा। इस अध्याय में हम उस घटनाक्रम का संक्षिप्त पर्यवेक्षण करेंगे, जिसने अंग्रेज जाति को यह अनुभव करने के लिए विवश किया कि अन्त में वह समय आ गया है, जिसका लार्ड मैकाले ने स्वागत किया था, और जिसकी प्रो० सीले ने कल्पना की थी।

जब अंग्रेज भारत से अपना बोरिया-बदना उठाकर सचमुच चले गए, तब बहुत-से भारतवासियों को भी आश्चर्य हुआ था। कुछ लोगों ने इसे अंग्रेजों की उदारता का प्रमाण समझा, तो कुछ ने अन्तर्राष्ट्रीय कारणों का परिणाम। वस्तुतः वह अंग्रेजों की राजनीतिक दूरदर्शिता का फल था। उस दूरदर्शिता में स्वार्थ-बुद्धि और विवशता दोनों मिश्रित थीं।

भारत में राष्ट्रीय भावना का पूरे दलबल के साथ आविर्भाव हो गया था। इस अध्याय में हम यह बतलायेंगे कि उस भावना को पूरी तरह अनुभव करने में अंग्रेज जाति को लगभग एक शताब्दी कैसे लग गई?

भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास किस प्रकार हुआ, और सरकार पर उसकी प्रतिक्रिया क्या होती रही, इनका दिग्दर्शन निम्नलिखित विवरण से हो जायगा :—

इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना १८८५ में हुई। उसके प्रारम्भिक अधिवेशनों में कांग्रेस ने जो राजनीतिक मांगें उपस्थित कीं, उनमें से मुख्य निम्न-लिखित थीं :

(१) इंग्लैण्ड में भारत मन्त्री की जो कौंसिल है, उसका आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया जाय। उसका व्यय ब्रिटिश कोष पर पड़े, और सदस्यों का कुछ भाग निर्वाचित हो।

(२) कौंसिलों के आकार में वृद्धि हो, और उनमें निर्वाचित सदस्यों का बहुमत रहे। बजट कौंसिलों द्वारा स्वीकृत हों, और सदस्यों को प्रश्न पूछने का अधिकार रहे।

(३) सरकार की सब उच्चतम नौकरियों के द्वार भारतवासियों के लिए खोल दिये जायं।

(४) न्याय और शासन-विभाग को पृथक् किया जाय।

(५) नमक-कर में की गई वृद्धि को वापिस ले लिया जाय।

अधिवेशनों में स्वीकृत प्रस्तावों की संख्या तो दर्जनों तक पहुंचती थी, परन्तु प्रारम्भ में कांग्रेस की ओर से ये पांच मुख्य राजनैतिक मांगें ही सरकार के सामने उपस्थित की जाती थीं।

१८९२ में पार्लियामेण्ट में इण्डिया कौंसिल ऐक्ट पास हुआ। उस समय तक कांग्रेस अपनी उपर्युक्त मांगों को वार्षिक अधिवेशनों में ६ बार दोहरा चुकी थी। लेकिन इंडिया कौंसिल ऐक्ट में भारतवासियों की मांगें जितनी नर्म थीं, उनकी उपेक्षा उससे कहीं कठोरता से की गई।

देश की पहली मांग यह थी कि लन्दन की इण्डिया कौंसिल को उड़ा दिया जाय। लेकिन कौंसिल्स ऐक्ट में भारत के भाग्य का निर्णय उस कौंसिल के कुछेक सरकारी सदस्यों के हाथ में ही बना रहा।

दूसरी मांग यह थी कि कौंसिलों का आकार बढ़ाया जाय और उनमें निर्वाचित सदस्यों का बहुमत हो। आकार में तो कुछ वृद्धि की गई, परन्तु मनोनीत (नामजद) और निर्वाचित सदस्यों के अनुपात में कोई अन्तर न हुआ। नये ऐक्ट के अनुसार कौंसिल के सदस्यों की संख्या २५ कर दी गई, परन्तु उनमें पूरी तरह निर्वाचित सदस्यों की संख्या केवल ५ थी।

सरकारी नौकरियों के बारे में सरकार की नीति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। सिविल सर्विस की परीक्षाएं विलायत में ही होती थीं और स्वभावतः उनमें सफलता प्राप्त करना भारतवासियों की अपेक्षा अंग्रेजों के लिए अधिक आसान था। ऊंची नौकरियों पर अंग्रेजों को नियुक्त करने की नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र का वह भाग जिसमें सरकारी नौकरियों में समान अधिकार देने का वायदा किया गया था, केवल मृगतृष्णा बना हुआ था।

सरकार ने नमक कर को कम करने के सम्बन्ध में विचारना भी आरम्भ नहीं किया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सरकार अभी अत्यन्त नर्म विचारवाले भारतवासियों की, सर्वथा प्रारम्भिक मांगों के बीसवें हिस्से पर भी ध्यान देने के लिए तैयार नहीं हुई थी, जो कुछ स्वीकार किया गया, वह केवल आंसू पोंछने के लिए, और दिखावा-मात्र था, क्योंकि अंग्रेजों को विश्वास था कि भारतवासी राजनीति में केवल बच्चे हैं, उन्हें बहला-फुसलाकर सन्तुष्ट करना आसान है।

१८९२ का कौंसिल्स ऐक्ट लागू हो गया, परन्तु उससे शिक्षित भारतवासियों को अणुमात्र भी सन्तोष नहीं हुआ। १८९२ से लेकर १९०६ तक भारत में जो राजनीतिक उथल-पुथल हुई, और राष्ट्रीय जागृति का जो विकास हुआ, वह कांग्रेस के उस अधिवेशन के प्रस्तावों से स्थूल रूप में प्रकट होता है, जो १९०६ में, राजर्षि दादाभाई नौरोजी के सभापतित्व में, कलकत्ते की कांग्रेस में स्वीकार किये गए थे।

सब से मुख्य प्रस्ताव स्वायत्त शासन के सम्बन्ध में था। उसमें कहा गया था कि स्वराज्य-प्राप्त उपनिवेशों में जो शासन-प्रणाली है, वही भारत में भी चलाई जाय, और इस दृष्टि से निम्नलिखित सुधार तुरन्त किये जायं :

(क) जो परीक्षाएं केवल इंग्लैण्ड में होती हैं, वे भारत और इंग्लैण्ड दोनों में हों, और सब ऊंची नौकरियां खुली प्रतियोगिता परीक्षाओं द्वारा दी जायं।

(ख) भारत सचिव की कौंसिल में भारतीय प्रतिनिधि पर्याप्त संख्या में हों।

(ग) कौंसिलों में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत रहे।

(ङ) स्थानीय बोर्डों को वैसे अधिकार दिये जायं, जैसे इंग्लैण्ड में प्राप्त हैं।

इस प्रस्ताव में प्रारम्भिक प्रस्तावों से सबसे पहला अन्तर यह है कि औपनिवेशिक ढंग के स्वराज्य की मांग की गई है। १८९२ से लेकर १९०६ तक देश में जो राजनीतिक जागृति हुई, उसका यह स्थूल रूप था।

दूसरा—न्याय और शासन विभागों को पृथक् करने की मांग को दोहराया गया था।

तीसरा—बंग-विच्छेद की घोर निन्दा की गई थी और उसके प्रति रोष प्रकट करने के लिए जनता को विदेशी-बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा की प्रेरणा की गई थी।

इन मुख्य प्रस्तावों के अतिरिक्त पुराने सभी प्रस्ताव संक्षिप्त रूप में दुहराये गए थे। १८९२ में अंग्रेजों ने भारतवासियों की नर्म-से-नर्म मांगों की जो उपेक्षा की थी, उसका परिणाम यह हुआ कि जहां उनका ध्येय नौकरियों से आगे बढ़कर औपनिवेशिक स्वराज्य तक पहुंच गया, वहां सरकार के प्रति विरोध भावना और रोष प्रकट करने के लिए एक क्रान्तिमय रचनात्मक कार्यक्रम का भी प्रारम्भ हो गया।

देश की इन बढ़ती हुई उमंगों का सरकार ने जो उत्तर दिया वह १९०९ के मिण्टो-मार्ले शासन-विधान की समीक्षा से प्रकट होगा। १९०६ से १९०८ तक भारत में बहुत व्यापक और उग्र राजनीतिक आन्दोलन का दौरदौरा रहा। असन्तोष के चंचल वातावरण में आतंकवाद ने भी जन्म ले लिया था। परन्तु मिण्टो-मार्ले-सुधार भारतवासियों को प्रजातन्त्रात्मक शासन के सामान्य अधिकार भी देने को तैयार न हुए। लार्ड मार्ले ने सुधार-सम्बन्धी बिल को हाउस आव लार्ड्स में उपस्थित करते हुए स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि १९०९ के इण्डियन कौंसिल्स् ऐक्ट में पार्लियामेण्ट के ढंग के विधान के बीज ढूंढ़ना भी भ्रमात्मक होगा। मिंटो-मार्ले सुधार के बारे में, १० वर्ष पीछे, मौण्टफोर्ड रिपोर्ट के लेखकों ने यह सम्मति दी थी कि "वह इस भावना का अन्तिम फल था कि भारत का शासन कृपापूर्ण तानाशाही पर आश्रित होना चाहिए।" भारत ने औपनिवेशिक स्वराज्य मांगा,

तो इंग्लैण्ड के उदार-दल की सरकार ने उसे कृपापूर्ण तानाशाही का उपहार प्रदान किया।

पहले महायुद्ध के दिनों में भारत में राजनीतिक बेचैनी बहुत बढ़ गई, काफी जागृति हुई और १९१८ में, सय्यद हसन इमाम की अध्यक्षता में, बम्बई में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, उसमें राष्ट्र के प्रतिनिधियों ने अपनी मांग निम्नलिखित प्रस्तावों में उपस्थित की:

"यह कांग्रेस प्रकट करती है कि भारत की जनता स्वायत्त शासन के योग्य है और वैध सुधारों की रिपोर्ट में इसके विपरीत जो बात कही गई है, उसका प्रतिवाद करती है।"

"दिसम्बर १९१६ की लखनऊ की कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग, और दिसम्बर १९१७ की कांग्रेस द्वारा स्वीकृत शासन-सम्बन्धी प्रस्ताव में सुधारों के जो सिद्धान्त बतलाये गए उन्हें यह कांग्रेस फिर से दुहराती है, और यह जाहिर करती है, कि साम्राज्य के भीतर स्वायत्त शासन से कम में भारतवासी सन्तुष्ट नहीं हो सकते।"

अन्य प्रस्तावों में भारतवासियों के नागरिक अधिकारों की घोषणा की गई थी, इण्डिया आफिस को तोड़ देने की मांग को दुहराया गया था, सेना में भारतवासियों को अंग्रेजों के बराबर ही कमीशन देने की मांग पेश करते हुए इस बात पर दुःख प्रकट किया था कि "युद्ध के मध्य में इस विषय में सरकार ने जो वायदे किये थे, वे पूरे नहीं किये गए।"

लेकिन १९१९ में पार्लियामेण्ट में जो शासन-विधान-सम्बन्धी विधेयक स्वीकार किया गया, वह भारतवासियों की मांग को देखते हुए एकदम अपर्याप्त था। कांग्रेस के प्रस्तावों से स्पष्ट है कि अब देश पूर्ण स्वायत्त शासन की भाषा में सोचने लगा था; परन्तु जो संविधान दिया गया, उसमें केन्द्र में देश के प्रतिनिधियों को कोई विशेष शासनाधिकार नहीं दिये गए, प्रान्तों में द्वैधशासन जारी किया गया, और भारत मन्त्री के अधिकार यथापूर्व रखे गए। प्रान्तों में स्वाधीन शासन के नाम पर जो द्वैधशासन जारी किया गया था, वह स्वयं एक बड़ा भारी धोखा था। उसमें फल का रस गवर्नर और उसके सलाहकारों को दिया गया था, और जनता के प्रतिनिधियों की झोली में केवल छिलके डाले गए थे। मुसलमानों के विशेष अधिकार-रूपी विष को मौण्डफोर्ट ने पहले से भी अधिक विषैला बना दिया था। उसके विस्तार और घनता दोनों में वृद्धि हो गई थी।

बहुत ढोल बजाकर और धूमधाम के पश्चात् जो शासन-सुधार-सम्बन्धी प्रस्ताव पार्लियामेण्ट में स्वीकार किया गया, वही काफी निराशाजनक था। उसके साथ-साथ इंग्लैण्ड की ओर से भारत को रौलट ऐक्टों के रूप में जो उपहार दिया गया वह तो हलाहल विष से भी अधिक तीव्र था। उस समय यह ठीक ही कहा गया था कि युद्ध में सहायता देने के बदले में भारत ने इंग्लैण्ड से रोटी की आशा की थी, परन्तु इंग्लैण्ड ने दिया पत्थर।

कांग्रेस ने १९३० में यह घोषणा कर दी थी कि हमारा ध्येय पूर्ण स्वाधीनता है। औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग अब बोसीदा चीज़ों के मालगोदाम में डाली जा चुकी थी। पूर्ण स्वाधीनता की मांग का समर्थन भारत के लाखों नर-नारी सत्याग्रह द्वारा कर चुके थे। राष्ट्र की भावना के इतने स्पष्ट प्रमाण पाकर भी इंग्लैण्ड ने जो कुछ दिया, उसे एक विशाल उपहास ही कह सकते हैं। दावा यह किया गया कि संघ-शासन की बुनियाद रखी गई है, और प्रान्तों का जो ढांचा बनाया गया, उसे 'प्रान्तीय स्वायत्त शासन' के नाम से पुकारा गया, परन्तु बातें दोनों ही भ्रामक थीं। केन्द्र में स्वायत्त शासन का नितान्त अभाव था; प्रान्तों में कहने को मन्त्रिमण्डलों की स्थापना की गई थी, परन्तु वस्तुतः मन्त्रियों की गर्दन गवर्नरों के हाथों में थी, प्रमाणीकरण (certification) और निषेध (veto) की तलवार से जब इच्छा हो जनतन्त्र की गर्दन तराशी जा सकती थी।

कालचक्र आगे चला। दूसरा महायुद्ध आया, और भारतवासियों की असन्तोषाग्नि पर घृताहुति का काम कर गया। सरकार ने संकट के समय भारतवासियों को सन्तुष्ट करने के लिए फिर वही हथकण्डे बरतने शुरू किये, जो पहले युद्ध के समय बरते गए थे। आश्वासन दिये, विश्वास बंधाये, और इशारे फेंके। 'गान्धी की कहानी' के अमरीकन लेखक मि० लूई फिशर ने अपनी पुस्तक में लिखा है—"वायसराय (लिनलिथगो) की कौंसिल के गृह सदस्य सर रेजिनाल्ड मैक्सवैल ने मुझसे कहा था—युद्ध समाप्त होने के दो वर्ष बाद हम यहां से चले जायंगे।" आगे चलकर लूई फिशर ने लिखा है—"वायसराय ने मुझसे कहा—हम भारत में ठहरनेवाले नहीं है, अलबत्ता कांग्रेस इसपर विश्वास नहीं करती, परन्तु हम यहां नहीं ठहरेंगे। हम अपने प्रस्थान की तैयारी कर रहे हैं।"

द्वितीय महायुद्ध के मध्य में ही अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने इंग्लैण्ड पर यह जोर डालना आरम्भ कर दिया था कि अब भारत को स्वायत्त शासन देने में विलम्ब नहीं करना चाहिए। उन दिनों इंग्लैण्ड की जीवनाशा अमरीका की सहायता के डोरे से लटक रही थी। चर्चिल में भी इतना साहस नहीं था कि वह अमरीका के आग्रह की उपेक्षा करता, फिर भी दिल तो उसका यही चाहता था कि किसी-न-किसी तरह इंग्लैण्ड के ताज में सबसे अधिक चमकनेवाले हीरे—भारतवर्ष—को न खोना पड़े। इंग्लैण्ड के राजनीतिज्ञों की अदूरदर्शितापूर्ण और दूकानदारी-वृत्ति का ही परिणाम था कि भारत के अहिंसात्मक आन्दोलन ने देश के अन्दर और बाहर उग्र हिंसात्मक रूप धारण कर लिया। आश्चर्य यह था कि २०वीं सदी के ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने प्रो० सीले-जैसे अंग्रेज़ विचारकों की चेतावनियों पर ध्यान देना छोड़ दिया था। भारत में राष्ट्रीयता विशद रूप में प्रकट हो रही थी, परन्तु अंग्रेज तब भी यह आस लगाये हुए थे कि शायद हम भारत में फैले हुए विद्रोहरूपी दावानल को समझौते और सौदे के छींटों से बुझा सकेंगे। अंग्रेजों ने समुद्र-मन्थन का तीसरा दौर सम्भवतः इसी इच्छा से आरम्भ किया था।

: ७२ :

समुद्र-मन्थन का तीसरा पर्व : कैबीनेट मिशन और उसके पश्चात्

१९४३ के आरम्भ में जहां एक ओर देश के विशाल रंगमंच पर राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद में घोर संघर्ष चल रहा था, वहां साथ ही गुत्थी को सुलझाने के लिए समुद्र-मन्थन का तीसरा दौर भी प्रारम्भ हो गया था। उस दौर का प्रारम्भ महात्मा गान्धी के प्रसिद्ध उपवास से हुआ।

१४ अगस्त १९४२ को जेल में बन्द हो जाने पर महात्माजी ने वायसराय लार्ड लिनलिथगो को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने आन्दोलन के सम्बन्ध में सरकार द्वारा दिये गए वक्तव्यों को भ्रमात्मक और उनमें लगाये गए आरोपों को निर्मूल बतलाया। वायसराय ने उत्तर दिया कि "आपकी आलोचना से सहमत होना मेरे लिए सम्भव नहीं है; और न नीति में परिवर्तन करना ही सम्भव है।" यहां से जो पत्र-व्यवहार आरम्भ हुआ, उसके मध्य में गान्धीजी ने लिनलिथगो को सूचना दी कि "(ऐसी परिस्थिति में) मैंने उपवास द्वारा शरीर को सूली पर चढ़ाने का निश्चय किया है। मुझे मेरी गलती या गलतियों का यकीन दिला दें तो मैं सुधार करने को तैयार हूँ।....अगर आप चाहें तो बहुत-से रास्ते निकल सकते हैं। नया साल हम सब के लिए शान्ति लेकर आये।" महात्माजी के इस पत्र में भंवर में से निकलने के रास्तों का काफी स्पष्ट निर्देश था। वह वायसराय से बात-चीत करने को तैयार थे, परन्तु वायसराय के मन पर दो में से एक बात का प्रभाव अवश्य था। या तो उसे अपनी शक्ति का इतना मद था कि उसने मि० चर्चिल से सहमत होते हुए 'नंगे फकीर' से मिलना अनावश्यक समझा, या मन-ही-मन वह डरता था कि यदि गान्धीजी को बातचीत का अवसर दिया, तो बाज़ी गान्धीजी के हाथ में रहेगी। कारण दोनों में कुछ भी हो, वायसराय ने महात्माजी के पत्र का उत्तर देते हुए लिखा—"आपकी तन्दुरुस्ती और आयु के ख्याल से आपके उपवास-सम्बन्धी निश्चय पर मुझे बहुत खेद है। आशा है, आप उपवास का ख्याल छोड़ देंगे।....मैं तो राजनीतिक उद्देश्यों के लिए किये गए उपवास को एक प्रकार की राजनीतिक धौंस मानता हूं, जिसका कोई भी राजनीतिक औचित्य नहीं है।"

इस उपेक्षा से भरे उत्तर के पश्चात् महात्माजी के पास उपवास आरम्भ करने के अतिरिक्त कोई मार्ग खुला नहीं था। १० फरवरी को उपवास आरम्भ हो गया। चर्चिल ने जिसे 'नंगा फकीर' कहकर अपमानित करना चाहा था, यह देखकर ब्रिटिश सरकार चकित हुई होगी कि उसके उपवास के समाचारों ने भारत की सीमाओं को लांघकर विश्वव्यापी प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी। महात्मा-जी ने अपने उपवास का उद्देश्य बतलाते हुए वायसराय को लिखा था कि—"मेरे

लिए तो यह उस न्याय के लिए सर्वोच्च अदालत को अपील है जिसे मैं आपसे नहीं प्राप्त कर सका।" कहा जाता है कि जनता का शब्द भगवान के शब्द का प्रतिनिधि होता है। न केवल भारत की जनता में अपितु सारे सभ्य संसार में महात्माजी के उपवास का ऐसा चमत्कारिक असर हुआ कि उसे भगवान की इच्छा का प्रकाश ही कह सकते हैं।

अमरीका में, उपवास के समाचारों से, भारत के साथ एक गहरी सहानुभूति का भाव प्रकट हुआ। वहां के 'न्यूयार्क टाइम्स' 'शिकागो डेली न्यूज़' आदि अखबारों ने यह सम्मति दी कि उपवास के कारण भारत की राजनीतिक दशा में जो बिगाड़ होगा, अमरीका को उसके रोकने का प्रयत्न करना चाहिए।

इंग्लैण्ड में गैर-सरकारी क्षेत्रों में उपवास पर बहुत चिन्ता प्रकट की गई। वहां की 'फ्रेण्ड्स् आव इण्डिया' (भारत मित्र-समिति) के मि० हौरेस अलेक्ज़ेन्डर ने सरकार से मिलकर बीच-बचाव करने का यत्न किया, जिस पर उन्हें सरकार की ओर से लाल झण्डी दिखाई गई।

भारत में तो मानो चिन्ता और दुःख का सागर उमड़ पड़ा। माडरेट-से-माडरेट विचारों का भारतवासी भी यह नहीं सह सकता था कि महात्मा गान्धी भूखे रहकर अपने स्वास्थ्य और शरीर को संकट में डालें। उन दिनों ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश जाति के प्रति भारतवासियों का क्षोभ अपनी चरम-सीमा तक पहुंच गया था। सर होमी मोदी, श्री नीलरंजन सरकार और श्रीयुत अणे ने सरकार की नीति से अपना विरोध प्रकट करने के लिए वायसराय को कौंसिल से त्यागपत्र दे दिये। देश में स्थान-स्थान पर सभाएं करके महात्माजी की रिहाई की मांग की गई। पूर्व के अन्य देशों में भी ब्रिटेन-भारत-संघर्ष में भारत के साथ सहानुभूति प्रकट की जाने लगी।

इधर संसार का लोकमत और उधर अमरीका के राष्ट्रपति प्रेसीडेंट रूजवेल्ट का विशेष आग्रह कि भारत की परिस्थिति को शीघ्र ही संभाला जाय, इसलिए इंग्लैण्ड को अपने व्यवहार में कुछ नर्मी लाने के लिए बाध्य होना पड़ा, जिससे यह सम्भव हो सका कि २ मार्च को महात्माजी का अन्तिम उपवास उचित विधि-विधान के साथ समाप्त हुआ।

श्रीमती कस्तूरबा गान्धी के लिए यह अन्तिम अवसर था, जब वह अपने विश्वविख्यात पति की परिचर्या कर सकीं। बासठ वर्षों की घोर तपस्या ने उनके शरीर को छलनी कर दिया था। जब महात्माजी ने अपना अन्तिम उपवास तोड़ा तब भी वह बीमार थीं। धीरे-धीरे उनका रोग बढ़ता गया। १९४३ के दिसम्बर मास में उनका कष्ट बहुत बढ़ गया और लगभग दो महीनों की कठिन बीमारी के पश्चात् २२ फरवरी को उस पतिपरायणा तपस्विनी देवी ने गान्धीजी की गोद में सिर रखे हुए प्राण त्याग दिये। अन्त्येष्टि क्रिया करने के पश्चात् अकेले बैठकर महात्माजी ने रुक-रुककर जो वाक्य कहे, उनमें उन संस्कारी आत्माओं के पारस्परिक सम्बन्धों का निचोड़ आ जाता है। महात्माजी ने कहा :

"बा के बिना जीवन की मैं कल्पना नहीं कर सकता।. . . उसकी मृत्यु से जो स्थान खाली हुआ है, वह कभी नहीं भरेगा।. . . .हम दोनों बासठ वर्षों तक साथ रहे।. . . .और वह मेरी गोद में मरी। इससे अच्छा क्या हो सकता है। मैं सीमा से अधिक प्रसन्न हूं।"

इस बार के जेल में महात्माजी को यह दूसरा वियोग सहना पड़ा था। महात्माजी के निकटतम शिष्य और विश्वासपात्र मन्त्री महादेव देसाई इससे पूर्व ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर चुके थे।

उपवास टूटने के पश्चात् देश में महात्माजी की रिहाई का आन्दोलन उग्र वेग से आरम्भ हो गया। लन्दन की सरकार पर न केवल भारत से, अपितु अमरीका आदि मित्र-देशों की ओर से भी दबाव पड़ने लगा। फलतः १९४३ के मई मास की ६ तारीख को, प्रातःकाल ८ बजे सरकार ने महात्माजी को अत्यन्त रुग्णावस्था में जेल से मुक्त कर दिया। डाक्टरों के परामर्श से गान्धीजी पूना से बम्बई जाकर कुछ समय तक जुहू के समुद्र-तट पर विश्राम करते रहे।

परन्तु स्वाधीनता-पथ के यात्री को विश्राम कहां? मई में गान्धीजी जेल से मुक्त हुए और जून में नये वायसराय लार्ड वेवल से पत्र-व्यवहार आरम्भ हो गया। गान्धीजी ने वायसराय से मिलकर विचार-विनिमय करने की इच्छा प्रकट की, जिसका वेवल ने उत्तर दिया कि "हमारे दोनों के दृष्टिकोण में इतना मतभेद है कि मिलकर बातचीत करने से कोई लाभ न होगा।"

सरकार की ओर से निराशाजनक उत्तर पाकर गान्धीजी मुसलमानों की ओर झुके। उनका यह मौलिक विश्वास था कि यदि पूरी तरह यत्न किया जाय तो मुसलमानों को स्वराज्य की लड़ाई में अपना सहायक बनाया जा सकता है। उस युग में मि० जिन्ना मुस्लिम लीग के अध्यक्ष की हैसियत से देश-भर के साम्प्रदायिक मुसलमानों का नेतृत्व प्राप्त कर चुके थे; इस कारण महात्माजी ने वायसराय का द्वार बन्द होने पर जिन्ना का द्वार खटखटाना आवश्यक समझा। पहले पत्र-व्यवहार चला। महात्माजी ने राष्ट्र की एकता के नाम पर सुलह की अपील की। मि० जिन्ना ने इसके उत्तर में यह स्थापना दुहराई कि भारत में एक नहीं, दो राष्ट्र निवास करते हैं; हिन्दू और मुसलमान परस्पर इतने भिन्न हैं कि उन्हें एक राष्ट्र कहना भूल है। पत्र-व्यवहार के पश्चात् गुत्थी को सुलझाने के लिए गान्धीजी स्वयं मि० जिन्ना के बंगले पर जा कर मिले। गान्धीजी और मि० जिन्ना के व्यक्तित्व जहां इस बात में समान थे, कि दोनों अपने-अपने क्षेत्रों में देश के अग्रगण्य नेता थे, वहां उनमें असमानताएं भी बहुत विशाल और स्पष्ट थीं। एक अमरीकन पत्रकार ने दोनों के चरित्रों का विश्लेषण इस प्रकार किया था :

"मि० जिन्ना धर्मनिष्ठ मुसलमान नहीं थे। वह शराब पीते थे, और सूअर का मांस खाते थे, जो इस्लामी शरीयत के खिलाफ है। वह शायद ही कभी मस्जिद में जाते हों। वह न अरबी जानते थे और न उर्दू। चालीस वर्ष की आयु

में उन्होंने अपने धर्म से बाहर एक १८ वर्षीय पारसी युवती से विवाह किया . . .।"

यह था मि० जिन्ना का निजी रूप और दूसरी ओर गान्धीजी थे, जिनका दिन ईश्वर-प्रार्थना से प्रारम्भ होता और ईश्वर-प्रार्थना से ही समाप्त होता था। उनके जीवन का प्रत्येक कार्य भगवान् की आन्तरिक प्रेरणा से प्रभावित होता था। इस भिन्नता को दिखाते हुए अमरीकन पत्रकार ने आश्चर्य के साथ लिखा है:

"अधार्मिक जिन्ना एक मजहबी राज्य बनाना चाहते थे और पूर्णतया धार्मिक गान्धी एक धर्म-निरपेक्ष राज्य चाहते थे।"

इस अद्भुत घटना का मूल कारण यह था कि मि० जिन्ना के लिए मजहब राजनीति का केवल एक औजार था, और गान्धीजी के लिए राजनीति धर्म का केवल एक छोटा-सा अंग थी। जो स्वयं धर्म का अंग है, उसे परिशिष्ट रूप में धर्म की क्या आवश्यकता!

जहां दोनों के व्यक्तित्व और मूल सिद्धान्तों में इतना भेद हो वहां अनुकूल परिणाम की आशा ही क्या हो सकती थी। वस्तुतः महात्माजी तो इस विमर्श-काण्ड के लिए उत्सुक भी नहीं थे। यह श्री राजगोपालाचार्य के विशेष आग्रह का ही परिणाम था, कि महात्माजी मि० जिन्ना से मिलने गये। यह बातचीत ९ सितम्बर से २६ सितम्बर तक जारी रही; परन्तु परिणाम कुछ भी न निकला। मि० जिन्ना दो राष्ट्रों के सिद्धान्त और पाकिस्तान की मांग पर दृढ़ता से जमे रहे। अन्त में अनथक गान्धीजी भी थक गए और बातचीत समाप्त कर दी।

१९४५ के आरम्भ में इंग्लैण्ड को महायुद्ध का परला किनारा दिखाई देने लगा था। पूर्व में जापान की सेनाओं ने आगे बढ़ना छोड़कर पीछे हटना आरम्भ कर दिया था। ब्रिटेन के शासक खूब समझते थे कि युद्ध के समाप्त होते ही भारत फिर एक बार अंगड़ाई लेकर स्वाधीनता की मांग पेश करेगा। इस कारण वे पहले से चौकन्ने हो गए, और भारत की राजनीतिक गाड़ी के पहिये को दलदल में से निकालने के उपायों पर विचार करने के लिए वायसराय लार्ड वेवल को लन्दन बुलाया गया। वहां कैबिनेट के सदस्यों के साथ दो महीनों तक विचार करने के पश्चात् लार्ड वेवल ने भारत लौटकर देश के सामने यह प्रस्ताव रखा कि वायसराय की कौंसिल के सब सदस्य भारतवासी हों, केवल वायसराय और कमाण्डर-इन-चीफ अंग्रेज हों। भारतीय सदस्यों में से आधे मुसलमान होंगे, और आधे हिन्दू। इस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिए लार्ड वेवल ने १९४५ के जून मास में कांग्रेस के नेताओं को जेल से मुक्त कर दिया, और २५ जून को देश के प्रमुख नेताओं को परामर्श के लिए शिमला में निमंत्रित किया। गान्धीजी सम्मेलन में सदस्य के तौर पर निमंत्रित नहीं थे, परन्तु राष्ट्रीय नेताओं के आग्रह पर परामर्श में सम्मिलित होने के लिए शिमला जाकर रहे। सम्मेलन में हिन्दू, मुसलमान, सिख और अनुसूचित सभी वर्गों के प्रतिनिधि निमंत्रित किये गए। कई दिनों तक चर्चा चलती रही, परन्तु कोई परिणाम न निकला। मुख्य कारण यह था कि मि० जिन्ना तब तक किसी समझौते पर

पहुंचने को तैयार नहीं थे, जब तक यह पक्का वायदा न कर दिया जाय कि अन्त में पाकिस्तान नाम का अलग राज्य बना दिया जायगा। मि० जिन्ना का यह भी आग्रह था कि वायसराय की कौंसिल में केवल वे ही मुसलमान लिये जा सकें, जिन्हें मुस्लिम लीग मनोनीत करे। राष्ट्रीय विचारों के मुसलमान को मुसलमान की हैसियत से सदस्य न माना जायगा। फलतः सम्मेलन पूर्णरूप से असफल हो गया।

१९४५ के जुलाई मास में इंग्लैण्ड के राजनीतिक भाग्य ने फिर पलटा खाया। साम्राज्यवाद के महागुरु मि० चर्चिल की सरकार चुनाव में बुरी तरह हार गई, और मजदूर-दल विजयी हुआ। इस परिवर्तन के साथ ही इंग्लैण्ड की भारत-सम्बन्धी नीति में भी परिवर्तन हो गया।

इस वर्ष के अन्त में देश में एक और भी घटना ऐसी हुई, जिसका देश के वातावरण पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। यह बताया जा चुका है, कि इस वर्ष के आरम्भ में आजाद हिन्द सेना के मुख्य व्यक्ति अंग्रेजी सेना के बन्दी बन चुके थे। सरकार को क्या सूझी कि उनमें से तीन मुख्य नेताओं पर राजद्रोह का अभियोग चला दिया। वे तीन नेता कैप्टन शाहनवाज़, कैप्टेन पी० के० सहगल और लैफ्टिनेंट गुरुबख्श-सिंह ढिल्लन थे। अभियोग दिल्ली के प्रसिद्ध लाल किले में चलाया गया। यह लाल किले में अपने ढंग का दूसरा अभियोग था। पहला अभियोग सन् १८५७ की राज्य-क्रान्ति के अन्त में बादशाह बहादुरशाह पर चलाया गया था। दूसरा अभियोग पहले अभियोग से भी अधिक सनसनीखेज और महत्वपूर्ण था। सरकार ने कोर्ट-मार्शल की पूरी व्यवस्था करके धूमधाम से अभियोग आरम्भ किया। सफाई की योजना भी कुछ कम शानदार नहीं थी। सफाई के वकीलों में पं० जवाहरलाल नेहरू, सर तेजबहादुर सप्रू, श्री भूलाभाई देसाई, डा० कैलासनाथ काटजू, रा० ब० दीवान बद्रीदास, मि० आसिफ अली, कुंअर सर दिलीपसिंह, बख्शी सर टेकचन्द, श्री पी० एन० सेन, श्री जुगलकिशोर खन्ना, श्री सुल्तानयार खां आदि देश के नेता और नामी वकील थे। परन्तु सरकारी गवाहों से जोरदार जिरह और सफाई की बहस का सम्पूर्ण श्रेय समुचित रीति से श्री भूलाभाई देसाई को प्राप्त हुआ। श्री देसाई ने केन्द्रीय कौंसिल में विरोधी दल के नेता के रूप में जो प्रचुर यश कमाया था, इस अभियोग के संचालन ने उसमें चार चांद लगा दिये। सफाई में दिया हुआ आपका भाषण न केवल कानून की दृष्टि से एक अध्ययन करने योग्य मसविदा है, भारत की स्वाधीनता के इतिहास का अमर अध्याय भी है।

अंग्रेजी सरकार ने भारत के दो शताब्दियों के शासन-काल में मूर्खताएं तो कई कीं, परन्तु इस अभियोग को चलाने की मूर्खता के बराबर कोई न थी। अभियोग का आरम्भ ९ नवम्बर १९४५ को दिन के १० बजे हुआ, और फैसला ३ जनवरी १९४६ को प्रकाशित हुआ। इन लगभग दो महीनों में भारत का राजनीतिक तापमान बराबर ऊंचा-ही-ऊंचा जाता रहा। आजाद हिन्द फौज और नेताजी की वीर गाथाएं, जो भारत की जनता ने पहले केवल आकाशवाणी या जनश्रुति द्वारा सुनी थीं, साक्षियों और वकीलों के मुंह से कही जाकर

देश-भर के समाचारपत्रों में उद्घोषित होने लगीं। देशभक्तों के हृदय उन्हें सुन-सुनकर उछलने लगे और सबसे बड़ी बात यह हुई कि ब्रिटिश शासन के प्रति विद्रोह के कीटाणु सेनाओं में भी प्रवेश करने लगे। अभियोग के लम्बे पर्वत-खनन का जो परिणाम निकला, वह हंसी के योग्य था।

जनरल कोर्ट-मार्शल ने जो फैसला सुनाया वह संक्षेप में यह था—कैप्टेन शाहनवाज, कैप्टेन सहगल और लेफ्टिनेंट ढिल्लन पर सम्राट के विरुद्ध युद्ध करने का जो आरोप लगाया गया था, वह सिद्ध हो गया। कै० शाहनवाज पर यह अभियोग भी सिद्ध हो गया कि उसने हत्या की प्रेरणा की। इन अपराधों पर अभियुक्तों को जन्म-भर के लिए निर्वासन का दण्ड दिया जाता है, और उनकी तलब आदि की जो राशि शेष है वह जब्त की जाती है।

कोर्ट-मार्शल का कोई फैसला प्रयोग में नहीं लाया जाता जब तक बड़े अधिकारी द्वारा उसकी पुष्टि नहीं कर दी जाती। पुष्टि करने का अधिकार प्रधान सेनापति (कमाण्डर-इन-चीफ) को है। प्रधान सेनापति ने सब बातों पर विचार करके निश्चय किया कि तीनों अभियुक्तों का आमरण निर्वासन का दण्ड माफ कर दिया जाय, उन्हें केवल यह दण्ड मिले कि उनके वेतनादि की शेष राशियां जब्त कर ली जायं।

पहाड़ खोदकर चूहा निकालना इसे कहते हैं। बात यह है कि जब सरकार ने देखा कि अभियोग के समाचारों से देश में जोश की ज्वाला-सी भड़क उठी है, तब उसके पांव डगमगा गए और उसने उक्त फैसला किया। अभियोग से मुक्त होकर जब तीनों वीर सैनिक बाहर आये, तो देश में स्थान-स्थान पर उनका ऐसा शानदार स्वागत हुआ कि विजयी सेनापति के अभिनन्दन भी मात हो गए।

१९४६ के फरवरी मास की १९ तारीख को ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास में एक अनहोनी घटना हो गई। रायल इण्डियन नेवी (शाही जहाजी बेड़ा) के बहुत-से भारतीय नाविकों ने विद्रोह कर दिया। उनके विद्रोह का कारण यह था कि वे सरकार द्वारा भारतीय और अंग्रेज नाविकों के प्रति भेदभावपूर्ण व्यवहार से अत्यन्त असन्तुष्ट थे। विद्रोह कई दिनों तक चला। उसके कारण देश-भर में हलचल मच गई, यहां तक कि स्थल और हवाई सेनाओं में भी विद्रोह के अंकुर दिखाई देने लगे। नाविकों के विद्रोह का सामान्य कारण तो देशव्यापी राजनीतिक विक्षोभ था, परन्तु विशेष कारण आजाद हिन्द के तीन सेनानियों पर चलाया गया असफल अभियोग ही था।

अंग्रेज जाति संसार में स्वभाव से कंजरवेटिव (अनुदार और मन्दगति) मानी जाती है। उसके दिमाग पर किसी नई बात का असर जरा देर में होता है। जो बात अंग्रेजों को बहुत पहले सन् १९१९-२० में समझ लेनी चाहिए थी, और जिसकी आशंका मैकाले और सीले-जैसे इतिहास विशारदों ने बीसियों साल पहले की थी उसके समझने में २५ वर्ष लग गए। वह बात समझ में तब आई जब सत्याग्रह-आन्दोलन, आजाद हिन्द सेना का उद्भव, और सैनिकों के विद्रोह ने सत्ताधारी अंग्रेजों के दिमाग पर चोट के पीछे चोट पहुंचाई। तब इंग्लैण्ड के राजनीतिज्ञों ने अनुभव किया कि

पानी गले से ऊपर तक पहुंच गया है, अब यदि डूबने से बचना है तो हाथ-पांव मारने का कष्ट उठाना ही होगा और वह भारत को स्वतंत्रता देने की योजना पर गम्भीरता से विचार करने के लिए विवश हो गए।

: ७३ :

अस्थायी सरकार

इंग्लैण्ड के मजदूर-दलीय प्रधानमन्त्री मि० एटली ने १६ फरवरी १९४६ को इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट में घोषणा की कि कैबिनेट के तीन सदस्य इस उद्देश्य से भारत जायंगे कि भारतीय लोकमत के नेताओं से मिलकर भारत की राजनीतिक स्वाधीनता की योजना बनायें। एक मास बाद १६ मार्च को मि० एटली ने दूसरी घोषणा की, जिसमें यह प्रकट किया गया कि सम्भवतः भारत को पूर्ण स्वाधीनता दी जायगी। मार्च में कैबिनट के तीन सदस्य भारत पहुंच गए और समुद्र-मन्थन का अन्तिम अध्याय आरम्भ हो गया। कैबिनेट का जो मिशन भारत में आया उसमें भारत मन्त्री लार्ड पैन्थिक लारेंस के अतिरिक्त सर स्टैफर्ड क्रिप्स और मि० एलेग्जैण्डर भी थे। यह मिशन 'कैबिनट मिशन' के नाम से प्रसिद्ध है क्योंकि तीनों सदस्य इंग्लैण्ड की मंत्रि-परिषद् के सदस्य थे।

दिल्ली पहुंचकर मिशन के सदस्यों ने भिन्न-भिन्न दलों के प्रमुख व्यक्तियों से मिलने का क्रम जारी कर दिया। गर्मी का मौसम था, फिर भी देशहित की भावना नेताओं को दिल्ली खींच लाई। कई सप्ताह तक परस्पर और मिशन के साथ विचार-विनिमय होता रहा, परन्तु परिणाम कुछ भी न निकला। तब मिशन के सदस्य ऋतु और राजनीतिक वातावरण की गर्मी से बचने के लिए शिमला चले गए, जहां उन्होंने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के चार-चार प्रतिनिधियों को निमंत्रित किया। वहां गान्धीजी का स्थान नेहरूजी ने ले लिया। वहीं जिन्ना से मिलकर समझौता का कोई मार्ग निकालने का यत्न करते रहे। परन्तु सब प्रयत्न व्यर्थ गए। मि० जिन्ना पाकिस्तान के अतिरिक्त और कोई बात सुनने को तैयार न थे।

तब यह घोषणा करके कि भारत के नेता किसी समझौते पर नहीं पहुंच सके, 'कैबिनेट मिशन' ने अपनी ओर से एक योजना प्रकाशित की, जिसके मुख्य अंश ये थे, भारत का स्वतंत्र राज्य-विधान संघ (Federation) के ढंग का होगा, जिसमें रियासतें भी सम्मिलित होंगी। संघ सरकार विदेशी मामलों को, सुरक्षा को और यातायात आदि के साधनों को संभालेगी। अन्य विभाग प्रान्तीय सरकारों के हाथ में होंगे। भारत का संविधान तीन भागों में बांटा जायगा—पहले भाग में पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, सिन्ध और बिलोचिस्तान सम्मिलित होंगे, दूसरे में बंगाल और आसाम का समावेश होगा, और शेष प्रान्त तीसरे भाग मे आ जायंगे।

संघ का संविधान बनाने के लिए एक संविधान-निर्मात्री सभा बनाई जायगी, जिसके सदस्य प्रान्तीय धारासभाओं द्वारा साम्प्रदायिक आधार पर निर्वाचित किये जायंगे। तीनों भागों के प्रान्तों और रियासतों के प्रतिनिधि मिलकर अपने-अपने क्षेत्र के संविधान का निश्चय करेंगे; प्रत्येक प्रान्त तथा रियासत को पूर्ण अधिकार होगा, कि वह नये संविधान के अनुसार पहली धारासभा निर्वाचित हो जाने पर, यदि चाहे तो संघ से अलग हो जाय।

मिशन का अन्तिम परामर्श यह था कि नया संविधान बनने और प्रचलित होने तक वायसराय अपनी कैबिनट का ऐसी रीति से निर्माण करे कि उसमें देश के विभिन्न दलों के प्रतिनिधि हों, ताकि वह देश की अस्थायी (अन्तरिम, interim) सरकार समझी जा सके।

मिशन की इस योजना का देश में बहुरंगा स्वागत हुआ। सबसे प्रथम सम्मति महात्मा गान्धी की प्रकाशित हुई। घोषणा पढ़ने के पश्चात् अपनी पहली प्रार्थना सभा में गान्धीजी ने कहा था—"कैबिनट प्रतिनिधि-मण्डल की घोषणा को आप पसन्द करें या न करे, परन्तु भारत के इतिहास में यह घोषणा गुरुतम महत्व रखती है।"

चार दिन तक उसका मनन करने के पश्चात् महात्माजी ने सम्मति दी थी—"खोजपूर्ण परीक्षा के बाद.....मेरा विश्वास कायम है कि ब्रिटिश सरकार का एकमात्र अभिप्राय जल्दी-से-जल्दी अंग्रेजी शासन का अन्त करना है।"

कुछ समय के पश्चात् देश की मुख्य राजनीतिक संस्थाओं की प्रतिक्रियाएं प्रकाशित होने लगीं। मुस्लिम लीग ने ४ जून की बैठक में मिशन योजना को इस शर्त के साथ स्वीकार कर लिया कि पाकिस्तान बनने के मार्ग में कोई बाधा नहीं डाली जायगी।

कांग्रेस कमेटी ने कई दिनों तक विचार किया, परन्तु किसी परिणाम पर न पहुंच सकी। तब १६ जून को लार्ड वेवल ने घोषणा की कि अस्थायी सरकार के बारे में कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच समझौता नहीं हो सका, इस कारण "मैं अपनी कौंसिल के १६ भारतीय सदस्यों की नियुक्ति कर रहा हूं।"

कांग्रेस ने वायसराय के अन्तरिम सरकार-सम्बन्धी प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए विधान-निर्मात्री सभा में सम्मिलित होने को स्वीकृति दे दी। इस पर मि० जिन्ना ने वायसराय पर जोर डाला कि यदि कांग्रेस अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होना स्वीकार न करे, तो भी अन्य दलों के प्रतिनिधियों को सदस्य बनाकर कैबिनेट मिशन की योजना को कार्यान्वित कर दिया जाय। वायसराय ने इसे स्वीकार नहीं किया, इस पर रूठकर मुस्लिम लीग ने सारी मिशन योजना को ही अस्वीकार कर दिया। वायसराय को लीग की यह कलाबाजी पसन्द नहीं आई, और उसने लीग के बिना ही अपनी कार्यकारिणी नियुक्त कर दी। मि० जिन्ना और उनके अनुयायियों ने इससे झल्लाकर १६ अगस्त १९४६ का दिन 'प्रतिवाद-दिवस' के रूप में मनाया।

प्रतिवाद—दिवस एक ऊधम का प्रदर्शन ही था। काले झण्डे, कोलाहलपूर्ण जुलूस और आगभरे भाषण तो सभी केन्द्रों पर हुए। कलकत्ते में प्रतिवाद ने खूनी उत्पात का रूप धारण कर लिया। हजारों हिन्दुओं के घर लूट लिये गए, सैकड़ों जला दिये गए, और अनगिनत व्यक्ति घायल किये गए। दो दिन के बाद हिन्दू संगठित हो गए, तो उन्होंने उत्पात का उत्तर उत्पात से देना शुरू किया, जिससे भारत का सब से बड़ा और समृद्धिशाली नगर गुंडागर्दी का आखाड़ा बन गया।

२ सितम्बर को पं० जवाहरलाल नेहरू और उनके साथियों ने वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्यों की हैसियत से शपथ ले ली। उसपर लीग की ओर से फिर प्रतिवाद-दिवस मनाया गया, जिसका परिणाम नौआखाली के हत्याकान्ड के रूप में प्रकट हुआ। नेहरूजी ने जो मन्त्रिमण्डल बनाया, उसमें एक हरिजन सहित छः कांग्रेसी हिन्दू, एक ईसाई, एक सिख, एक पारसी, और दो गैर-लीगी मुसलमान थे। इसपर लीग की ओर से वह मातम का दिन मनाया गया, जिसने भारत में उस गृह-युद्ध का प्रारम्भ कर दिया, जिसमें करोड़ों भारतवासी मरे या घायल हुए, अनगिनत स्त्रियों का सतीत्व लूटा गया, और लाखों बच्चे अनाथ हो गए। उस रक्तरंजित भीषण नाटक का पहला दृश्य नौआखाली में प्रदर्शित हुआ। लीग द्वारा भडकाये गए मुसलमानों ने पूर्वी बंगाल के नौआखाली और टिपरा के देहाती क्षेत्रों में हिन्दुओं पर अकारण आक्रमण कर दिया। हिन्दू पुरुषों, स्त्रियों, और बच्चों तक पर जो अत्याचार हुए उनके समाचारों से सारा देश कांप उठा था। वर्षों पूर्व मलाबार में मोपलों ने जो हत्याकाण्ड मचाया था, नौआखाली के मुसलमानों ने उसे मात कर दिया। पुरुष जान से मारे गए, स्त्रियों पर बलात्कार किये गए, और हिन्दुओं के घरों और मन्दिरों को जला दिया गया, या नष्ट कर दिया गया।


पं० जवाहरलाल नेहरू

महात्माजी उन दिनों दिल्ली में थे। नौआखाली के समाचारों ने उन्हें उद्विग्न कर दिया। उनकी अन्तरात्मा साम्प्रदायिकता के उस नग्न नृत्य को देखकर रो उठी और वह नौआखाली की आग पर शान्ति का जल छिड़कने के लिए तत्काल रवाना हो गए। दिल्ली से महात्माजी कलकत्ता पहुंचे तो वहां उपद्रवों का दौरदौरा था। कलकत्ते में अंग्रेज गवर्नर भी था, मुसलमान मुख्यमन्त्री श्री हसन सुहरावर्दी भी था, पुलिस और फौज के सिपाही भी थे, इस कारण वहां अधिक न रुककर महात्माजी नौआखाली चले गए। नौआखाली के इलाके में गान्धीजी ६ नवम्बर को गए और २ मार्च को बिहार के लिए रवाना हुए। इन चार महीनों में महात्माजी और उनके तपस्वी साथियों ने विरोधी वातावरण में असीम शारीरिक कष्टों

और मानसिक वेदनाओं को सहते हुए पैदल घूम-घूमकर शान्ति, अहिंसा और प्रेम-धर्म का जो प्रचार किया, उसकी केवल भारत के ही नहीं, संसार के इतिहास में भी उपमा मिलनी कठिन है।

नौआखाली की प्रतिक्रिया बिहार में हुई। वहां २५ अक्तूबर के दिन नौआ-खाली दिवस मनाया गया। उस दिन बिहार के हिन्दुओं ने नौआखाली के बदले के रूप में मुसलमानों पर आक्रमण कर दिया। महात्माजी ने अपने एक वक्तव्य में कहा था कि बिहार के उपद्रवों में न्यून-से-न्यून १० हजार व्यक्ति मारे गए। इन समाचारों ने महात्माजी को और भी अधिक व्यस्त कर दिया, परन्तु अभी नौआखाली में शान्ति नहीं हुई थी, इस कारण वह मार्च से पहले बिहार न जा सके। नेहरूजी तब तक प्रधानमन्त्री का कार्य संभाल चुके थे। उन्होंने रोष में आकर घोषणा की कि "यदि बिहार के हिन्दुओं ने मारकाट बन्द न की तो वह बिहार पर हवाई जहाजों से बम गिरवा देंगे।"

गान्धीजी ने जब यह घोषणा सुनी तो उन्होंने कहा था—"यह अंग्रेजों का ढंग है। सेना या बमों की सहायता से दंगों को दबाकर हम लोग भारत को आजादी को ही दबा देंगे।"

इसी बीच इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री मि० एटली ने यह घोषणा कर दी कि १९४८ के जून मास तक अंग्रेज भारतवर्ष को छोड़ देंगे। १९४२ में कांग्रेस ने अंग्रेजों को ललकारकर कहा था कि 'भारत छोड़ जाओ'। इस ललकार को सुनने में अंग्रेजों को लगभग ५ साल लगे। २० फरवरी १९४७ के दिन इंग्लैण्ड ने यह संकल्प प्रकट कर दिया कि वह अगले वर्ष के मध्य तक भारत से विदा हो जायगा। इस घोषणा ने देश का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया, जिससे अन्य सब मामले गौण पड़ गए।

: ७४ :

समुद्र-मन्थन के फल : विष, अमृत, सुरा

इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री की इस घोषणा ने, कि सन् १९४८ की समाप्ति से पूर्व अंग्रेज भारत को स्वतंत्र कर देंगे, देश के भिन्न-भिन्न राजनीतिक क्षेत्रों में, नई हलचल उत्पन्न कर दी। सबसे मुख्य प्रश्न यह था कि अंग्रेज भारत को छोड़ने से पूर्व उसका विभाजन करके पाकिस्तान की स्थापना कर देंगे या नहीं? मि० जिन्ना का कहना था कि मुसलमान पाकिस्तान से कम किसी चीज को स्वीकार नहीं करेंगे। दूसरी ओर महात्मा गान्धी भारत के विभाजन के विरुद्ध अपना मत अनेक बार स्पष्ट शब्दों में प्रकाशित कर चुके थे। वह तो यहां तक कह चुके थे कि यदि देश का विभाजन स्वाधीनता का अनिवार्य अंग समझा जाय, तो वह स्वाधीनता प्राप्त करने में कुछ विलम्ब करने को उद्यत हैं। मि० जिन्ना ने अपनी

धमकी को स्थूल रूप देने के लिए फिर एक प्रतिवाद-दिवस मनाने की घोषणा की। उस अवसर से लाभ उठाकर पंजाब के मुसलमानों ने हिन्दुओं पर आक्रमण जारी कर दिये। मार्च-अप्रैल में पंजाब को दशा नौआखाली से भी बदतर हो गई।

उन दिनों वायसराय की कार्यकारिणी के कांग्रेसी सदस्यों की दशा बहुत शोचनीय हो रही थी। अस्थायी कार्यकारिणी मे वित्त-सचिव का पद मुस्लिम लीगी मि० लियाकत अली को मिला हुआ था। प्रसार-विभाग पर भी मुसलमान सदस्य का कब्जा था। परिणाम यह था कि कांग्रेसी सदस्यों की सब योजनाएं वित्त-विभाग से टकराकर टूट-फूट जाती थीं।

जिन दिनों कांग्रेस-लीग-मन्त्रिमण्डल का शासन चल रहा था, उन दिनों इस पुस्तक के लेखक को प्रधानमन्त्री तथा अन्य कई कांग्रेसी मन्त्रियों से मिलने का अवसर मिला था। वे सब अत्यन्त खिन्न और विक्षुब्ध थे। पंजाब और पूर्वी बंगाल में साम्प्रदायिक मार-काट बढ़ती जा रही थी, और मन्त्रिमण्डल में घर की फूट के कारण पूरा गतिरोध उत्पन्न हो गया था। उस समय दिखाई देता था कि स्वराज्य एक बरदान नहीं, अभिशाप होकर आयगा।

देश की राजनीति इस गहरे भंवर में फंसी हुई थी जब १९४६ के अन्त में इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री ने पं० जवाहरलाल नेहरू, सरदार बलदेवसिंह, मि० जिन्ना और मि० लियाकत अली को परामर्श के लिए लन्दन बुलाया। संविधान सभा ९ दिसम्बर को नई दिल्ली में बैठनेवाली थी। मि० जिन्ना ने घोषणा कर दी थी कि लीग उसमें भाग नहीं लेगी। मि० एटली का उद्देश्य यह था कि किसी तरह मुस्लिम लीग को संविधान सभा में सम्मिलित किया जाय। कई दिनों तक परामर्श होता रहा, परन्तु जिन्ना और लियाकत अली टस-से-मस न हुए। पाकिस्तान, और यदि पाकिस्तान नहीं तो देश में निरन्तर गृह-युद्ध—लीग के ये दो ही अस्त्र थे। लीग के नेता इन शस्त्रों को दृढ़ता से पकड़े रहे। परिणाम यह हुआ कि लन्दन का यह नया सम्मेलन भी असफल हुआ।

२२ मार्च १९४७ के दिन भारत के नये वायसराय लार्ड माउंटबेटन अपनी पत्नी लेडी माउंटबेटन के साथ दिल्ली पहुंच गए। लार्ड माउंटबेटन का इंग्लैण्ड के राज-परिवार से अत्यन्त निकट सम्बन्ध था। वह अपने आकर्षक व्यक्तित्व, और नीति-निपुणता के कारण इस योग्य समझे गए कि भारत की जटिल समस्या को हल करें। उनका अपना व्यक्तित्व ही काफी आकर्षक था, लेडी माउंटबेटन के अत्यन्त मधुर और सहृदयतापूर्ण संग ने मानो सोने पर सुहागा लगा दिया था। भारत के राजनीतिक क्षेत्रों में उनका आशापूर्ण स्वागत किया गया।

अपने दिल्ली पहुंचने के चार दिन पश्चात् ही लार्ड माउंटबेटन ने गान्धीजी और मि० जिन्ना को वायसराय भवन में निमंत्रित किया। महात्माजी उस समय बिहार का दौरा कर रहे थे। वायसराय का बुलावा पाकर वह तुरन्त

दिल्ली आ गए। दिल्ली में उन्हीं दिनों 'एशियन रिलेशन्स कान्फ्रेन्स' का अधिवेशन हो रहा था। वह कान्फ्रेंस भारत के निमंत्रण पर आयोजित हुई थी। पं० नेहरू उसके केन्द्र थे। वह पहला अवसर था जब एशिया के देशों ने मिलकर अपनी एकता को अनुभव किया, और संसार के सामने उसकी घोषणा भी की।



लार्ड माउंटबेटन

लार्ड माउंटबेटन गान्धीजी और मि० जिन्ना से अलग छः बार, और एक साथ भी मिले, परन्तु कांग्रेस और लीग के दृष्टिकोण में समानता उत्पन्न करने की कोई सूरत बनती दिखाई नहीं दी। कांग्रेस भारत को एक राष्ट्र मानती थी, और मि० जिन्ना दो राष्ट्र, तब दृष्टिकोण में समानता कैसे होती!

नेताओं से बातचीत करके लार्ड माउंटबेटन ने जो परिणाम निकाला, उसे लेकर वह मई मास में अन्तिम निर्णय के लिए लन्दन चले गए। लन्दन में वायसराय और कैबिनेट मिशन के सलाह-मशविरे का जो परिणाम निकला, उसकी घोषणा प्रधानमन्त्री एटली ने पार्लियामेण्ट में और वायसराय ने नई दिल्ली में एक साथ की। यह घोषणा ३ जून १९४७ को हुई। उस घोषणा में यह सूचना दी गई थी, कि स्वाधीन होने के साथ ही न केवल भारत का विभाजन होगा, पंजाब और बंगाल का भी विभाजन किया जायगा।

देश पर यह घोषणा वज्र की तरह पड़ी। कांग्रेस ने प्रारम्भ से ही भारत की एकता को अपना मूलमन्त्र बनाया हुआ था। राष्ट्रीय विचारों के सब भारतवासी विभाजन को अपनी मातृभूमि का अंग-भंग मानते थे; हिन्दू तो उसे आत्महत्या का दर्जा देते थे। महात्मा गान्धी अनेक बार स्पष्ट शब्दों में उसका विरोध कर चुके थे। उन्होंने भारत को इस आपत्ति से बचाने का अन्त में भरपूर यत्न किया। फिर भी जब लन्दन की सरकार ने निश्चित रूप से उसकी घोषणा कर दी तो सारा देश आश्चर्यचकित और स्तब्ध रह गया। देशवासी महात्माजी के अतिरिक्त अन्य नेताओं की ओर उत्सुकताभरी दृष्टि से देखने लगे कि उनकी क्या प्रतिक्रिया होती है।

शीघ्र ही देश ने विस्मय के साथ सुना कि कांग्रेस के प्रमुख नेताओं ने विवश होकर विभाजन को स्वीकार कर लिया है। अब नेताओं के सामने दो ही विकल्प थे। या तो वे पाकिस्तान बनाने की अनुमति देकर हिन्दू-मुस्लिम फिसाद को सदा के लिए समाप्त कर दें, या उसका विरोध करके गृहयुद्ध, गतिरोध और सर्वनाश को निमंत्रण दें। सम्मिलित सरकार का परीक्षण नेहरूजी और सरदार पटेल के सामने था। वह परीक्षण इतना असफल हुआ था कि कांग्रेस उसे दुहराने का साहस नहीं कर सकती थी। ऐसी विषम परिस्थिति में कांग्रेस के नेताओं ने लाचार होकर

यही उचित समझा कि एक बार छाती पर पत्थर रखकर देश के विभाजन की अनुमति दे दी जाय।

दूसरी ओर जिन्ना और उनकी लीग भी सरकार की घोषणा से पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं थी। वे सारे पंजाब और सारे बंगाल को पाकिस्तान में सम्मिलित करना चाहते थे। सरकार की घोषणा के अनुसार दोनों प्रान्त विभक्त होते थे। अन्दर से लीग का कुछ भी भाव रहा हो, ऊपर से उसने भी सरकारी घोषणा को लाचारी बतलाकर प्रतिवाद के साथ स्वीकार किया।

अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति ने १५ जून को १५३ के विरुद्ध २९ मत होने के कारण बहुमत से विभाजन को स्वीकार कर लिया। प्रस्ताव स्वीकार होने के पश्चात् कांग्रेस के अध्यक्ष आचार्य जे० बी० कृपलानी ने यह समझाने का यत्न किया कि कांग्रेस ने विभाजन के बारे में महात्माजी की सम्मति की अवहेलना क्यों की है? उन्होंने कहा :

"हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच मार-काट के बुरे-से-बुरे कृत्यों की होड़ चल रही है।....डर यह है कि यदि हम इस तरह एक-दूसरे से बदला लेते और एक-दूसरे का तिरस्कार करते चले जायंगे तो धीरे-धीरे हम नरभक्षकों अथवा उससे भी बुरी स्थिति में जा गिरेंगे।....मैं तीस साल से गान्धीजी के साथ हूं। उनके प्रति मेरी भक्ति कभी विचलित नहीं हुई। यह भक्ति केवल व्यक्तिगत नहीं, राजनीतिक है। जब कभी मैं उनसे सहमत नहीं हुआ तब भी मैंने उनकी अन्तःप्रेरणा को अपने खूब तर्कपूर्ण विचारों की अपेक्षा अधिक सही माना है। आज भी मैं मानता हूं कि अपनी महती निर्भयता को लिये हुए वह सही हैं और मेरी युक्तियां त्रुटिपूर्ण हैं। तो फिर मैं उनके साथ क्यों नहीं हूं : इसलिए कि मैं अनुभव करता हूं कि वह अभी तक इस समस्या को सामूहिक रूप से हल करने का कोई रास्ता नहीं निकाल पाये हैं।"

महात्माजी विभाजन को 'एक आध्यात्मिक दुर्घटना' मानते थे। उन्होंने कांग्रेस कमेटी के निश्चय के पश्चात् स्पष्ट रूप से कहा था कि "मेरे निकटतम मित्रों ने जो कुछ किया है, या वे जो कुछ कर रहे हैं उससे मैं सहमत नहीं हूं।" गान्धीजी की सम्मति थी कि "हमारे ३२ वर्षों के सत्याग्रह-संग्राम का यह 'लज्जाजनक' परिणाम है।"

विभाजन को स्वीकार करके कांग्रेस ने अच्छा किया या बुरा, इस विषय में देश में उस समय भी मतभेद था, और अब भी है। विभाजन के पश्चात् जो कुछ हुआ, उसने उस प्रारम्भिक मतभेद को हलका करने की जगह गहरा ही किया है। देशवासियों का बहुमत तब भी महात्माजी की अन्तःप्रेरणा को सबल और नेताओं के तर्क को निर्बल मानता था; आज भी स्थिति लगभग ऐसी ही है, परन्तु इतिहास-लेखक का कार्य कल्पनाओं और सम्भावनाओं पर विचार करना नहीं है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि उस समय अनिवार्य समझकर कांग्रेस के नेताओं ने विभाजन

के साथ स्वाधीनता को स्वीकार कर लिया। यदि वह स्वीकृति न देती तो क्या परिणाम होता ? इस प्रश्न का उत्तर इतिहास की सीमा से बाहर है।

भारतीय संविधान सभा की बैठक ९ दिसम्बर १९४६ को आरम्भ हुई। लीग के सदस्य उसमें सम्मिलित नहीं हुए। डा० राजेन्द्रप्रसाद सभा के अध्यक्ष निर्वाचित किये गए। २० फरवरी १९४७ के दिन इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री ने एक घोषणा करके भारत के भावी संविधान पर विभाजन की मुहर लगा दी, जिसमें यह सूचना भी दी गई थी कि इंग्लैण्ड अगले वर्ष तक भारत से विदा हो जायगा, और जाते हुए उसे इण्डिया और पाकिस्तान इन दो भागों में विभाजित कर जायगा। १ जुलाई को ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने सर्वसम्मति से एक बिल पास किया, जिसमें निश्चय किया गया कि १५ अगस्त के दिन इंग्लैण्ड भारत का शासन भारतवासियों के हाथों में दे देगा। उसके अनुसार १४-१५ अगस्त की आधी रात के समय नई दिल्ली में संविधान सभा का एक विशेष अधिवेशन हुआ, जिसमें यह घोषणा की गई कि भारत एक स्वतंत्र देश होगा, परन्तु ब्रिटिश कामनवेल्थ का सदस्य बना रहेगा। यह भी घोषणा की गई कि जब तक स्वतंत्र भारत का नया संविधान न बन जाय, तब तक लार्ड माउंटबेटन ही गवर्नर जनरल के पद पर प्रतिष्ठित रहेंगे। पाकिस्तान का गवर्नर जनरल मि० जिन्ना को नियुक्त किया गया।

इस प्रकार, समुद्र-मन्थन का वह आयोजन, जो १९४२ में प्रारम्भ हुआ था, पांच वर्षों के कई उतार-चढ़ाव के पश्चात् १९४७ के अगस्त मास में फलीभूत हुआ। जब देवताओं और असुरों ने मिलकर समुद्र-मन्थन किया था, तो उसमें से सबसे पहला जो पदार्थ निकला था, वह था हलाहल विष। बीसवीं सदी के इस समुद्र-मन्थन में से जो पहला पदार्थ आविर्भूत हुआ, वह था विभाजन। वह भारत को ब्रिटिश राज्य की अन्तिम देन थी। पौराणिक गाथा के अनुसार उस विष को महादेवजी ने पीकर अपने गले में रख लिया था। बीसवीं सदी में पंजाब, बंगाल, सिन्ध आदि पाकिस्तान में सम्मिलित प्रान्तों को वह विष पीना पड़ा, परन्तु यह परिस्थिति का प्रभाव था कि वह विष उनके गले में न रह सका, सारे शरीर में व्याप्त हो गया।

विष के पश्चात् अमृत का घड़ा प्रकट हुआ। वह अमृत स्वाधीनता का था। बीच में जो अन्य पदार्थ निकले, उनमें एक सुरा भी थी। सुरा उस पागलपन को लाई, जो लज्जाजनक मार-काट और बर्बादी के रूप में प्रकट हुई; परन्तु इस ग्रन्थ में हमारे इतिहास के उस काले पृष्ठ का समावेश नहीं हो सकता। यह ग्रन्थ तो १५ अगस्त के स्वाधीनता-समारोह के साथ समाप्त हो जाता है। यूं तो इतिहास की रिवाजी पुस्तकों में हमारे स्वाधीनता-आन्दोलन का प्रारम्भ कांग्रेस की स्थापना के साथ किया जाता है, परन्तु वस्तुतः उसका प्रारम्भ उस दिन हुआ जिस दिन मंगल पाण्डे ने अपने अंग्रेज अफसर पर गोली चलाकर क्रान्ति का श्री-गणेश किया था। उस गोली के धड़ाके के साथ जिस क्रान्ति का प्रारम्भ हुआ, वह

अनेक पड़ावों और दशाओं में से गुजरती हुई १९४७ के अगस्त मास की १५ तारीख को पूर्ण हुई। अंग्रेजों ने विवश होकर भारत की सत्ता भारतवासियों के हाथ में दे दी। १५ अगस्त देश-भर में असीम उत्साह और धूम-धाम से मनाया गया। नई दिल्ली के इण्डिया गेट के मैदान का दृश्य तो अपूर्व था। जिन्होंने उसे देखा, वह उसे भुला नहीं सकते। भारतवासियों के हृदय बांसों उछल रहे थे। जिन नर-नारियों ने जवानी का बड़ा हिस्सा आन्दोलन और कारागारों में व्यतीत किया था, उन्होंने भी कभी नहीं सोचा था कि उनके जीवन-काल में देश स्वतंत्र हो जायगा। वे अपने-आपको और दूसरों को समझाया करते थे कि यदि हमने स्वराज्य का सुख न भोगा, तो भी हमारी सन्तान या उनकी सन्तानें तो स्वाधीनता का आनन्द भोगेंगी ही। अपने जीवन-काल में स्वाधीनता को सामने खड़ा देखकर वे आश्चर्य और हर्ष के मारे आपे से बाहर हो रहे थे। विधिपूर्वक स्वाधीनता के आगमन का तोपों और हवाई जहाजों द्वारा स्वागत किया गया। लाखों नर-नारियों के जयकारों के मध्य में अंग्रेजो ताज के प्रतिनिधि-वायसराय लार्ड माउंटवेटन ने स्वतन्त्र भारत का राजदण्ड सामयिक गवर्नर-जनरल लार्ड माउंटबेटन को सर्मपित किया।

उस सारे कोलाहलपूर्ण महोत्सव के चन्द्रमा पर एक ही धब्बा था। स्वतंत्र भारत के पिता महात्मा गान्धी ने उत्सव में भाग लेने से इनकार कर दिया था। उस दिन वे कलकत्ते में साम्प्रदायिक दंगे को रोकने के प्रयत्न में लगे हुए थे। उन्होंने सारा दिन उपवास रखा, और स्वदेशवासियों की सुमति के लिए प्रभु से प्रार्थना की। महात्माजी ने उत्सव में भाग लेने से क्यों इनकार किया, इस प्रश्न का एक ही उत्तर है। उनकी आन्तरिक दृष्टि अमृत के साथ-साथ राष्ट्र के शरीर में फैलते हुए उस विष को भी देख रही थी जो साधारण लोगों की दृष्टि से तिरोहित था।

अनुक्रमणिका

